अष्टाध्यायी-प्रकाशिका

देवप्रकाशपातञ्जलः शास्त्री, बी०ए०
व्याकरणाचार्यः निरुक्ताचार्यः

पूज्य श्री पं. चारुदेव शास्त्री जी की सेवा में
सादर भेंट

सत्यप्रकाशयतिना
20-1-56



अष्टाध्यायी-प्रकाशिका

श्रीमत्पद-वाक्य-प्रमाणपारावारपारीण-आचार्य-श्रीब्रह्मदत्त
जिज्ञासु-महोदयानामन्तेवासिना व्याकरण-निरुक्ता-
चार्येण शास्त्रिणा बी० ए० इन्द्रप्रस्थीय-
पाणिनि - महाविद्यालयस्याचार्येण
देवप्रकाशपातञ्जलेन

व्याख्याता

सा च

"संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का इतिहास"-आदि-नैकविध-
प्राचीन-प्रबन्धानां सम्पादयित्रा
श्रीयुधिष्ठिरमीमांसकेन
परिष्कृता

भूमिका-लेखकः
प्रो० डा० रघुवीरः एम०ए०, पी०एच०डी०,
डि० लिट्० एट्० फिल्०

विजयादशमी   कार्त्तिकः, २०१२

प्रकाशको वितरकश्च
देवप्रकाशपातञ्जलः शास्त्री बी०ए०
अध्यक्षः पाणिनिअनुसन्धानमन्दिरस्य
१, जी० जवाहरनगर, देहली

मूल्यम् ५॥)

मुद्रक—
जगदेवसिंह शास्त्री 'सिद्धान्ती'
सम्राट् प्रेस
पहाड़ी धीरज, देहली

समर्पणम्

श्रीमिश्रान्वय-मञ्जुमौक्तिकमणिः साहित्य-सेवा-व्रती
नानाशास्त्र-विचार-चारु-चतुरो गीर्वाण-वाङ्-नन्दनः ।
धीरोदात्त-मना गुणैक-रसिकः सच्छासनाधिष्ठितः
सोऽयं पाणिनिपद्धतेः प्रणयवान् श्रीसत्यदेवो बुधः ।
बुद्धिसागर-सम्भूत—निष्कलङ्क-सुधांशवे ।
तस्मै श्रीसत्यदेवाय ग्रन्थ एष समर्प्यते ।।

समर्पणम्

श्रीमतां विविधानवद्यविद्योतितान्तःकरणानां

सुहृद्वरश्रीसत्यदेवमिश्राणां

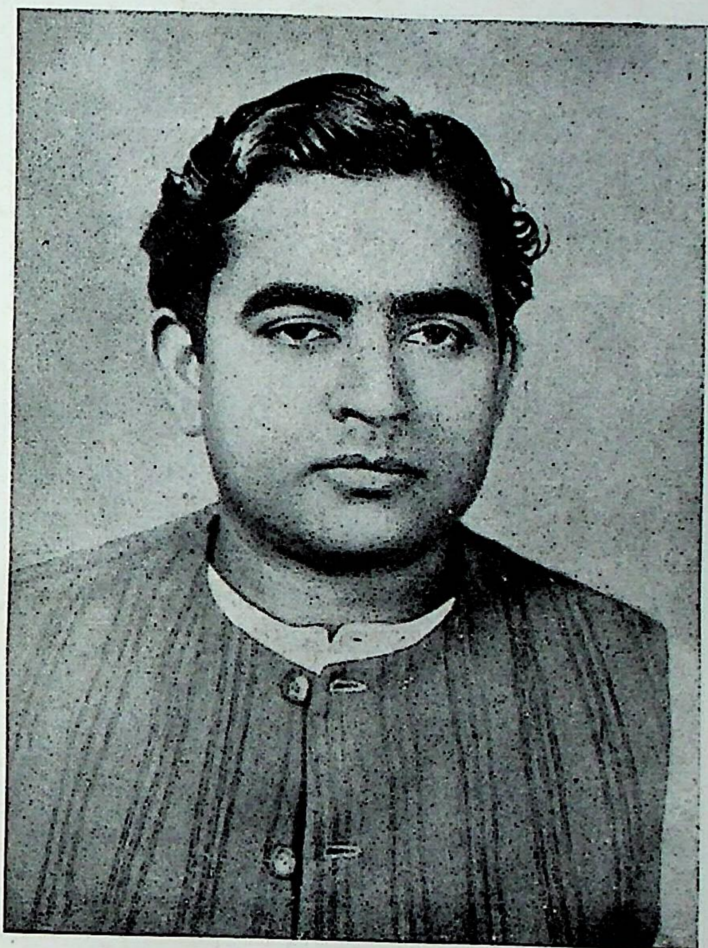
कर-कमलयोः

अष्टाध्यायी-प्रकाशिकेयं

सादरं समर्प्यते

विजयादशमी
२०१२

तदीयगुणमुग्धेन—
श्रीदेवप्रकाशपातञ्जलेन



श्रीमान् पण्डितसत्यदेवमिश्रः

भूमिका

श्री देवप्रकाश पातञ्जल शास्त्री की नवीन कृति अष्टाध्यायी-प्रकाशिका मैंने देखी। इसमें १३, १४ सौ अष्टाध्यायी के सूत्र और उसकी सुन्दर व्याख्या है। अष्टाध्यायी का क्रम होने से विद्यार्थियों को वृत्ति रटने की आवश्यकता न पड़ेगी। उदाहरण की सिद्धियों को इस प्रकार से समझाया गया है कि विद्यार्थी अत्यन्त सुगमता से इसको समझ सकते हैं।

सूत्रों को समझने में हिन्दी में अनुवाद तथा उसकी व्याख्या अत्यन्त सहायक है। सूत्रों के पहले स्थान-स्थान पर प्रकरण का भी निर्देश है। सूत्रों की व्याख्या में महाभाष्य न्यासादि से उद्धरण लिये गये हैं। ग्रन्थ सुन्दर है। इस ग्रन्थ का वही क्षेत्र है जो लघुकौमुदी का है। मुझे आशा है, पाठक इससे लाभ उठावेंगे।

५·१०·५५ (हस्ताक्षर)

प्रो० डा० रघुवीर एम.ए., पी. एच. डी.
(लंदन) डी० लिट० एट० फिल०
[सदस्य राज्य सभा, नयी देहली;
डाईरेक्टर, इण्टरनेशनल एकेडेमी आफ
इण्डियन कल्चर, नागपुर]

विषय-सूची



पृष्ठभूमि

पाणिनीय अष्टाध्यायी और उसका उद्धार

संस्कृत वाङ्मय में व्याकरण शास्त्र अपना प्रमुख स्थान रखता है। इसका वाङ्मय अति विशाल है। इस समय विभिन्न आचार्यों के लिखे लगभग २० व्याकरण उपलब्ध हैं। उनके ऊपर टीका टिप्पणी के रूप में वे लिखे गए शतशः ग्रन्थ विद्यमान हैं। इन सब उपलब्ध व्याकरणों में पाणिनीय व्याकरण ही सब से श्रेष्ठ है इसमें किसी भी बुद्धिमान् को विप्रतिपत्ति नही है।

आचार्य पाणिनि से पूर्व भी अनेक व्याकरण शास्त्र प्राचीन ऋषि मुनि तथा आचार्यों ने लिखे थे उन में दस का नाम स्वयं पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में लिखे हैं। पाणिनि से प्राचीन कोई भी व्याकरण शास्त्र इस समय उपलब्ध नहीं। इसलिए उनके विषय में कुछ भी कहना कठिन है। हमने अपने ',संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास" नामक ग्रन्थ में पाणिनि से पूर्ववर्त्ती २३ आचार्यों का और उससे उत्तर-वर्त्ती १५ वैयाकरणों का पूरा परिचय दिया है पाठक इस विषय के लिए उक्त ग्रन्थ का अवलोकन करें।

पाणिनि का कालः––पाणिनीय व्याकरण की रचना विक्रम से २८०० वर्ष पूर्व हुई थी। उस समय संस्कृत भाषा शिष्ट-वर्ग की बोल चाल की भाषा थी। उस काल में भाषा में उदात्तादि स्वरों का यथा स्थान व्यवहार होता था। इसलिए पाणिनि ने लोक और वेद दोनों में व्यवहृत उदात्तादि स्वरों का प्रतिपादन अत्यन्त विस्तार से किया है। यदि पाणिनि के काल में उदात्तादि स्वरों का यथायोग्य उच्चारण न होता तो वह अपने ग्रन्थ में इनको स्थान न देता और उसका ग्रन्थ एक चतुर्थांश छोटा हो सकता था।

सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय को ईसा से लगभग १४०० वर्ष पूर्व के अल्प काल में समेटने वाले पाश्चात्य विद्वान् पाणिनि का काल ईसा

से ३ शताब्दी पूर्व से ६ शताब्दी पूर्व तक विभिन्न समय में स्वीकार करते हैं। हमने अपने "संस्कृत व्याकरण का इतिहास" ग्रन्थ में पाश्चात्य मत की सम्यक् आलोचना करके अनेक प्रमाणों के आधार पर पाणिनि का काल विक्रम से २८०० वर्ष पूर्व स्थापित किया है। पाणिनि, उसकी अष्टाध्यायी तथा उस पर वार्तिक, महाभाष्य तथा वृत्ति आदि लिखने वाले लगभग १०० ग्रन्थकारों का वर्णन अपने उक्त ग्रन्थ में कर चुके हैं इसलिए इस विषय में यहां लिखना उचित नहीं समझते। पाठकों को चाहिये कि इस विषय के यथार्थ ज्ञान के लिए हमारा उक्त ग्रन्थ देखें।

पाणिनीय व्याकरण के पठन पाठन में विपर्यास

विक्रम १२ वीं शताब्दी पर्यन्त पाणिनीय व्याकरण का पठन पाठन उसे अपने अष्टाध्यायी के क्रमानुसार ही होता रहा। इतना ही नहीं, १२ शताब्दी से पूर्व संस्कृत व्याकरण पर जितने ग्रन्थ रचे गए उनकी रचना पाणिनीय अष्टाध्यायी के प्रकरणानुसार ही हुई। विक्रम की १२ वीं शताब्दी में सरलता की दृष्टि से प्रयोगसिद्धि-क्रमानुसारी अनेक छोटे-छोटे व्याकरणों की रचना होने लगी। उनके प्रचार के कारण पाणिनीय व्याकरण के पठन पाठन में शिथिलता आने लगी। इसलिए उस समय के पाणिनीय वैयाकरणों ने उस शिथिलता को दूर करने तथा नवीन व्याकरणों के प्रचार को रोकने के लिए रूपावतार रूपमाला आदि आदि ग्रन्थों की रचना की, जिनमें प्रयोगसिद्धि के अनुसार पाणिनीय सूत्रों का संकलन किया। इस प्रयास से पाणिनीय व्याकरण के तात्कालिक ह्रास को रोकने में कुछ सफलता मिली, और उस से प्रयोग सिद्धि-अनुसारी सूत्र संकलन की प्रतिष्ठा बढ़ने लगी। इस कारण रामचन्द्राचार्य प्रक्रिया कौमुदी नामक बृहद् ग्रन्थ रचा जिस में अष्टाध्यायी के तीन सहस्र से ऊपर सूत्र संकलित किए गए। तदनन्तर भट्टोजि दीक्षित ने उत्तर भारत में और नारायण भट्ट ने दक्षिण भारत में एक काल में ही ऐसे ग्रन्थों का निर्माण किया जिनमें अष्टाध्यायी के समस्त सूत्रों का प्रयोगसिद्धि क्रम के अनुसार यथास्थान सन्निवेश कर दिया। व्याकरण शास्त्र का पठन पाठन दक्षिण भारत की अपेक्षा उत्तर भारत में अधिक होता रहा और अब भी होता है इस कारण भट्टोजि दीक्षित का सिद्धान्त कौमुदी ग्रन्थ अत्यन्त प्रसिद्ध हो गया और नारायण

भट्ट का प्रक्रिया-सर्वस्व विशेष ख्याति को प्राप्त न हो सका। वस्तुतः व्याकरण ज्ञान में नारायण भट्ट भट्टोजि दीक्षित से कहीं बढ़ा चढ़ा था यह दोनों के ग्रन्थों का अनुशीलन करने से स्पष्ट ज्ञात होता है।

इस प्रकार प्रक्रियानुसारी सूत्र संकलन में वृद्धि होते-होते जब पूर्णता को प्राप्त हो गया तब उसकी दुरुहता की प्रतीति होने लगी। अतः उत्तर काल में वरदराज आदि ने लघु कौमुदी और मध्य कौमुदी की रचना की। इस प्रकार लगभग ४०० वर्ष से पाणिनीय व्याकरण का पठन पाठन पाणिनीय सूत्र क्रम को छोड़कर प्रक्रियानुसार संकलित ग्रन्थों के आधार पर हो रहा है।

प्रक्रियानुसारी ग्रन्थों से हानि

प्रक्रियानुसारी ग्रन्थों के द्वारा पाणिनीय व्याकरण के अध्ययन में छात्रों की कठिनाई बहुत बढ़ गई। पाणिनि ने सूत्र के संक्षेप के लिए जो अनुवृत्ति का प्रकार अपने ग्रन्थ में वर्ता था और जिसके द्वारा उत्तरोत्तर सूत्रार्थ स्वतः स्पष्ट होता जाता था। अष्टाध्यायी सूत्रों का प्रक्रियानुसार संकलन से अनुवृति का बोध सर्वथा असम्भव हो गया। अनुवृत्ति का ज्ञान न होने से सूत्रार्थ का बोध होना अत्यन्त कठिन हो गया। अतः छात्रों को सूत्र के साथ-साथ सूत्र से ५ : ६ गुनी वृत्ति को भी कण्ठस्थ करना पड़ता है। इतना महान् परिश्रम करने पर भी अष्टाध्यायी सूत्रपाठ क्रम से सम्बन्ध करने वाला पूर्वापर विप्रतिषेध तथा पूर्वत्रासिद्धम् का प्रकरण उनके बुद्धि से बाहर हो गया।

प्रक्रियानुसारी ग्रन्थों द्वारा पाणिनीय व्याकरण के अध्ययन में छात्रों को कितनी कठिनाई का सामना करना पड़ता है और अष्टाध्यायी के स्वाभाविक क्रमानुसार कितनी सरलता से व्याकरण शास्त्र का बोध हो जाता है, इसकी विवेचना हमने अपने संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' ग्रन्थ के १६ वें अध्याय में विस्तार से की है। हम उसका यहां पुनः पिष्ट पेषण करना उचित नहीं समझते।

अष्टाध्यायी क्रम का पुनरुद्धार

विगत ३ : ४ शताब्दियों से पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन सिद्धान्त कौमुदी आदि प्रक्रियानुसार संकलित ग्रन्थों के अनुसार प्रच-

लित हो चुका था। और अष्टाध्यायी सूत्र पाठ क्रमानुसारी पठन पाठन सर्वथा लुप्त हो चुका था। ऐसे काल में विक्रम सं० १६१२ के लगभग पाणिनीय व्याकरण के अप्रतिभ विद्वान् मथुरा निवासी श्री दण्डी स्वामी विरजानन्द जी को अष्टाध्यायी सूत्र क्रम से व्याकरण पढ़ने की विशेषता और प्रक्रियानुसारी ग्रन्थों से होने वाली हानि की उपज्ञा हुई। उन्होंने ३:४ शताब्दियों से विलुप्त अष्टाध्यायी क्रम का पुनरुद्धार किया और घोषणा की—"अष्टाध्यायीमहाभाष्ये व्याकरणस्य द्वे पुस्तके" अर्थात्—व्याकरण के अष्टाध्यायी और महाभाष्य ये दो ही ग्रन्थ है।

श्री दण्डी विरजानन्द ने सं० १६१२ से अपनी पाठशाला में अष्टाध्यायी और महाभाष्य का पठन पाठन प्रारम्भ किया। इस समय श्री स्वामी विरजानन्द जी की आयु लगभग ७० वर्ष की थी। संवत् १६१७ में श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती मथुरा पहुँचे और श्री दण्डी स्वामी विरजानन्द जी से महाभाष्य के द्वारा पाणिनीय व्याकरण का अभूतपूर्व पाण्डित्य प्राप्त किया। तत्पश्चात् उन्होंने न केवल अष्टाध्यायी और महाभाष्य के पठन पाठन पर विशेष बल ही दिया अपितु सिद्धान्त कौमुदी आदि के पठन पाठन की हानियां भी दर्शा कर उसका घोर विरोध किया।

ऋषि दयानन्द सरस्वती ने अपने सत्यार्थ'प्रकाश ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका और संस्कार विधि में पठन पाठन का विस्तार से प्रतिपादन किया।

ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों को पढ़ कर आर्य समाज के प्रारम्भिक मनीषियों ने गुरुकुलों में अष्टाध्यायी के पठन पाठन का उपक्रम किया, परन्तु अष्टाध्यायी में निष्ठावान् अध्यापकों के अभाव में वह क्रम उचित रूत से प्रचलित न हो सका। पौराणिक अध्यापक स्पष्टतया कहने लगे कि अष्टाध्यायी से पण्डित नहीं वन सकता। इसका प्रभाव शनैः शनैः आर्य व्यक्तियों पर भी पड़ने लगा। और अनेक व्यक्ति तथा गुरुकुल अष्टाध्यायी से विमुख होने लगे।

अष्टाध्यायी क्रम के पुनः प्रवर्तक

ऐसे भीषण समय में ऋषि दयानन्द सरस्वती के वचनों में परम

निष्ठावान् दो व्यक्तियों ने अष्टाध्यायी क्रम के पुनः प्रवर्तन का बीड़ा उठाया। इनके नाम हैं "श्री पूज्य पं० शङ्कर देव जी" और "श्री पूज्य पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु।" दैवयोग से इन दोनों का परस्पर सहयोग हो गया और इन्होंने मिलकर स्वर्गीय स्वामी सर्वदानन्द जी महाराज के साधुआश्रम (अलीगढ़) में सं० १९७७ में विरजानन्द आश्रम की (कुछ समय पश्चात् यह आश्रम साधु आश्रम अलीगढ़ से हटकर अमृतसर काशी लाहौर आदि स्थानों में प्रतिष्ठित होता रहा) स्थापना की। उक्त दोनों महानुभावों के अथक परश्रिम और परम श्रद्धा से न केवल अष्टाध्यायी के वास्तविक पठन पाठन क्रम का परिष्कार ही हुआ अपितु ऋषि दयानन्द सरस्वती के लेख की "अष्टाध्यायी और महाभाष्य के द्वारा ही व्याकरण का पूर्ण विद्वान् हो सकता है" कि पूर्ण सत्यता प्रकट हो गई। यद्यपि सं० १९८५ में किन्हीं परिस्थियों के कारण दोनों पृथक् पृथक् हो गए, तथापि अष्टाध्यायी क्रम पुनः प्रतिष्ठित और उसे परिष्कृत करने में दोनों का बराबर हाथ रहा यही कहना ठीक होगा।

यद्यपि आर्य समाज के क्षेत्र में अन्य अनेक महानुभावों ने अष्टाध्यायी के पठन पाठन क्रम को प्रचलित करने का प्रयत्न किया, परन्तु जैसी पूर्ण सफलता इन दोनों को प्राप्त हुई वैसी अन्यों को उपलब्ध न हो सकी। अष्टाध्यायी के पठन पाठन वास्तविक शैली इन दोनों महानुभावों की शिष्य परम्परा में ही प्रतिष्ठित है, यह कहना अत्युक्ति नहीं, सर्वथा सत्य है।

अष्टायायी और महाभाष्य के पठन पाठत में सफलता प्राप्त करने के पश्चात् श्री पूज्य पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ने निरुक्त और दर्शन शास्त्रों के ऋषि दयानन्द सरस्वती के दृष्टि कोण से अध्ययन अध्यापन पर परिश्रम किया और उन्हें इस विषय में भी पर्याप्त सफलता मिली। सन् १९४७ में देश विभाजन के काल में लाहौर से बलात् हटना पड़ा। सारी परिस्थियां बदल गईं, पुनरपि आप अब भी यथा साधन अपनी साधना में बराबर लगे हुए हैं और उसी का यह फल है कि अष्टाध्यायी के सफल पठन पाठन क्रम को देख कर काशी के अनेक पौराणिक विद्वान् भी अष्टाध्यायी क्रम की सरलता को स्वीकार कर चुके हैं। उन्हीं के महान् परिश्रम से काशी राजकीय संस्कृत महाविद्यालय की परीक्षाओं में अष्टाध्यायी महाभाष्य क्रमानुसारी व्याकरणाध्ययन को स्थान

प्राप्त हो चुका है और वेद सम्बन्धी परीक्षाओं में भी नैरुक्त प्रक्रिया का सन्निवेश हो चुका है।

श्री पूज्य शंकर देव जी भी आज तक अष्टाध्यायी महाभाष्य के पठन पाठन में संलग्न हैं और निष्काम भावना से ऋषि दयानन्द के आदेश का पालन कर रहे हैं।

आर्य समाज के विद्या क्षेत्र में और विशेष कर ऋषि दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रतिपादित पठन पाठन विधि को वास्तविक रूप में सफल करने में इन महानुभावों ने जो मूक सेवा की है, वह अपनी उपमा नहीं रखता। सत्य है, सफलता तभी प्राप्त होती है जब मनुष्य निष्काम भाव से सतत् श्रद्धापूर्वक किसी कार्य में लगा रहे। इसलिए वेद ने कहा है—"श्रद्धया सत्यमाप्यते" (यजुः)।

किञ्चिन्निवेदनम्

समस्त भारतीय प्राचीन वाङ्मय संस्कृत भाषा में निबद्ध है। उस वाङ्मय में सभी विषयों पर महान् ग्रन्थ-राशि विद्यमान है। प्रत्येक विषय का जितना वैज्ञानिक वर्णन प्राचीन आर्ष ग्रन्थों में उपलब्ध होता है उतना संसार की किसी भी भाषा के ग्रन्थों में नहीं मिलता। संसार की किसी भी भाषा का वाङ्मय भारतीय आर्ष वाङ्मय जितना प्राचीन और प्रामाणिक नहीं है। उस में न केवल भारत का, अपितु संसार के अधिकांश भाग का अति प्राचीन इतिहास सुरक्षित है।

भारतीय प्राचीन संस्कृति और सत्य इतिहास का ज्ञान करना प्रत्येक भारतीय का आवश्यक कर्त्तव्य है। इस के लिए जब तक मूल संस्कृत ग्रन्थ न पढ़े जाएंगे तब तक उन ग्रन्थों का वास्तविक अभिप्राय कदापि समझ में नहीं आ सकता। जो व्यक्ति अंग्रेजी अनुवादों को पढ़ कर भारतीय संस्कृति और इतिहास को जानने और जनाने का प्रयत्न करते हैं वे स्वयं भी धोखे में रहते हैं और दूसरों को भी धोखा देते हैं। इसलिए प्रत्येक भारतीय को चाहिए कि वह न्यूनातिन्यून इतनी संस्कृत अवश्य सीखे जिससे रामायण महाभारत गीता मनुस्मृति आदि ग्रन्थों को समझने में समर्थ हो सके।

संस्कृत भाषा के अध्ययन का मार्ग

सम्प्रति संस्कृत के दो मार्ग विशेष रूप से आ रहे हैं एक है

कतिपय शताब्दियों से चल रही संस्कृतज्ञों की परिपाटी, और दूसरी स्कूल कालेजों के अंग्रेजी माध्यम द्वारा संस्कृत में पढ़े हुए बी० ए०, एम० ए०, पी एच डी०, डीलिट् आदिकों की। पुरानी परपाटी के अनुसार काशी आदि स्थानों में जिस क्रम से संस्कृत पढ़ाई जाती है उसके अनुसार बारह वर्ष पढ़ कर भी छात्र को व्याकरण का बोध नहीं होता अन्य विषयों का तो कहना ही क्या। दूसरे मार्ग में न केवल व्याकरण की उपेक्षा की जाती है अपितु उसके प्रति घृणा उत्पन्न करके संस्कृत ग्रन्थों के पाठ मात्र द्वारा संस्कृत सिखाने का प्रयत्न किया जाता है। उसका फल यह होता है कि एम० ए और पी० एच डी० आदि उत्तीर्ण करने पर भी संस्कृत भाषा के साधारण सन्धि के नियमों का भी बोध नहीं होता।

इन दोनों परिपाटियों में उभयत्र समान रूप से एक दोष और है और वह है बड़ी आयु के छात्रों को बिना समझे रटने के लिए प्रेरित करना। इसका यह फल होता है कि स्कूल और कालेजों में लड़के संस्कृत लेने से घबराते हैं।

उचित मार्ग

संस्कृत सीखने का उचित मार्ग यह है कि संस्कृत पढ़ाते हुए साथ साथ उसके व्याकरण के नियमों का भी शनैः शनैः यथा शक्ति उचित बोध कराया जाए। इसी लिए महामुनि पत्तञ्जलि ने "व्याकरण" का लक्षण करते हुए लिखा है—

लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्

अर्थात्—लक्ष्य और लक्षण=उदाहरण और नियम दोनों के समुदाय का नाम व्याकरण है।

लक्षणों का लक्ष्य=प्रयोगों के साथ समन्वय करके ज्ञान न कराया जाएगा तब तक न व्याकरण का बोध होगा और न भाषा का। इसी दृष्टि से भगवान् पाणिनि ने भी अष्टाध्यायी रूपी लक्षण ग्रन्थ के प्रवचन में साथ साथ लक्ष्य रूप जाम्बवती विजय नामक महाकाव्य की रचना भी की थी।❀

व्याकरण के नियमों के परिज्ञान के विषय में क्रमशः स्थूलता से

❀ पाणिनि के काल और उसके रचे अष्टाध्यायी, धातुपाठ, गणपाठ, जाम्बवती विजय महाकाव्य आदि के विषय में हम अपने 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, नामक ग्रन्थ में विस्तार से लिख चुके हैं।

सूक्ष्मता की ओर बढ़ना चाहिए। जब विद्यार्थी को न्यूनातिन्यून पञ्चतन्त्र समझने की योग्यता हो जाए तब उसे व्याकरण के सूक्ष्म नियम बताए जाएं जिनके द्वारा संस्कृत सीखने वाले थोड़े प्रयत्न से अधिक से अधिक प्रयोगों की ऊहा करने में स्वयं समर्थ हो सके।

इस कार्य के लिए पुरानी परिपाटी से पढ़ाने वाले लघु कौमुदी का आश्रय लेते हैं, परन्तु वह छोटा सा ही ग्रन्थ इतना दोषपूर्ण है कि विद्यार्थी रटते रटते दो वर्ष में भी उसका पार नहीं पाते। अतः वह ग्रन्थ सुकुमार मति बालकों तथा प्रौढ़ व्यक्तियों दोनों के लिए न केवल अहित कर ही है अपितु संस्कृत भाषा के प्रसार में महती बाधा स्वरूप है। उसकी अपेक्षा तो साहित्य ग्रन्थों के द्वारा संस्कृत का बोध प्राप्त कर लेना श्रेयस्कर है।

सरलतम मार्ग

संस्कृत भाषा सिखाने के लिए अध्यापक के लिए आवश्यक है कि वह पञ्चतन्त्र आदि ग्रन्थों को पढ़ाता हुआ साथ साथ व्याकरण के उन नियमों का भी बोध करावे जिनके द्वारा साधारण संस्कृत जानने वाला सरलता पूर्वक अधिक से अधिक शब्दराशि को स्वायत्त कर सके। व्याकरण के वे नियम चाहे अपने शब्दों में बताए जाएँ या किसी व्याकरण ग्रन्थ के आश्रय से। सम्प्रति उपलब्ध समस्त व्याकरणों का अनुशीलन करके हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि व्याकरण के नियमों का बोध कराने के लिए पाणिनीय व्याकरण सर्वश्रेष्ठ है। परन्तु उसका बोध पाणिनीय क्रम अर्थात् अष्टाध्यायी के अपने क्रम के अनुसार ही कराया जाए तभी पढ़ने वाले छात्र के लिए हितकर होता है।

पाणिनि ने संस्कृत भाषा की अनन्त शब्दराशि का बोध केवल चार सहस्र सूत्रों द्वारा संपन्न करा दिया। इन सूत्रों द्वारा वैदिक तथा लौकिक सभी शब्दों का बोध हो जाता है। पाणिनि की शैली इतनी सरल सुबोध और वैज्ञानिक है कि उसके द्वारा साधारण संस्कृत जानने वाला व्यक्ति भी अल्प समय में इसे स्वायत्त करके शब्द शास्त्र का पारङ्गत हो जाता है।

अष्टाध्यायी का दो प्रकार का पठन-पाठन

जो व्यक्ति संस्कृत भाषा का प्रकाण्ड पण्डित बनना चाहता है विशेष कर वैदिक वाङ्मय का उसके लिए सम्पूर्ण अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य का अध्ययन करना परम आवश्यक है। यद्यपि साहित्य ग्रन्थों के

अध्ययन के लिए अष्टाध्यायी से भिन्न अन्य व्याकरण ग्रन्थों का भी आश्रय लिया जा सकता है, परन्तु वैदिक वाङ्मय का ज्ञान विना अष्टाध्यायी के कदापि सम्भव नहीं है। वैदिक वाङ्मय में उदात्तादि स्वरों का ज्ञान हुए बिना उसका सूक्ष्म तात्पर्य प्रकट नहीं होता।* स्वर शास्त्र का सूक्ष्म ज्ञान एक मात्र अष्टध्यायी में निहित है। प्रातिशाख्य आदि भी स्वर की उतनी सूक्ष्म विवेचना नहीं करते जिससे अर्थ ज्ञान में सहायता मिल सके।

सम्पूर्ण अष्टाध्यायी और महाभाष्य का सम्यक् अध्ययन अष्टाध्यायी के क्रम से लगभग ४ वर्ष में बड़ी सरलता पूर्वक हो सकता है। अष्टाध्यायी के क्रम से ४ वर्ष में शब्दशास्त्र का जितना बोध हो जाता है उतना लघुकौमुदी, सिद्धान्तकौमुदी और शेखर आदि ग्रन्थों के द्वारा १२ वर्ष में भी नहीं होता। इसलिए जो व्यक्ति संस्कृत भाषा की अनन्त शब्द राशि को स्वायत्त करना चाहता है और विशेष करके वैदिक वाङ्मय के वास्तविक अभिप्राय तक पहुँचना चाहता है उसे पाणिनीय व्याकरण का ही अध्ययन करना चाहिए और वह भी भगवान् पाणिनि द्वारा रचित अष्टाध्यायी सूत्रपाठ के क्रम से ही। तभी वह अपने इष्ट लक्ष्य तक पहुँच सकता है, अन्यथा असम्भव है।

अष्टाध्यायी का संक्षिप्त संस्करण

आज कल के बहु व्यवसाय युग में और विशेष कर उन व्यक्तियों के लिए जो आजीविका के लिए दिन रात संघर्ष करते हुए संस्कृत सीखने के अभिलाषी हैं उनके लिए सम्पूर्ण अष्टाध्यायी का पठन-पाठन क्रम युक्त नहीं है। उनके लिए अष्टाध्यायी का एक संक्षिप्त संस्करण तैयार करना चाहिये। व्याकरण के प्रधान नियमों का बोध कराने के लिए सूत्र पाठ क्रम से ही सूत्रों का संकलन करना चाहिए और इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि सूत्रार्थ समझने में प्रधान सहायक अनुवृत्ति का नाश न हो और सभी मुख्य-मुख्य विषय तथा सूत्र संकलित हो जाएँ।

---

* अनधीत व्याकरण शास्त्र अवलोकित साहित्य शास्त्र पण्डितम्मन्य अनेक व्यक्ति वेदार्थ में स्वर की न केवल उपेक्षा करते हैं अपितु उसे वेदार्थ में घातक मानते हैं। ऐसे व्यक्तियों को पहले स्वर शास्त्र का सम्यक् ज्ञान करके उसकी आलोचना करनी चाहिए। स्वर ज्ञान वेदार्थ में कितना सहायक है इसके लिए देखो हमारा 'वैदिकशास्त्र' नामकलेख।

अष्टाध्यायी के संक्षिप्त संस्करण का प्रयास

मैंने संवत् १९९० में काशी में दर्शन शास्त्र का अध्ययन करते हुए अपने मित्र स्वर्गीय पं० मुरारीलाल जी वैद्य को व्याकरण का बोध कराने के लिए अष्टाध्यायी के लगभग ७०० सूत्रों का संकलन किया था और उन्हें उसी के आधार पर संस्कृत का बोध भी कराने की चेष्टा की थी। उसमें सफलता मिलने से मेरी उसी समय से यह धारणा हो गई थी कि अष्टाध्यायी का भी एक संक्षिप्त संस्करण सरल व्याख्या सहित प्रकाशित करना चाहिए, जिससे उन व्यक्तियों को भी संस्कृत का सरलता से बोध हो जाए जो सम्पूर्ण व्याकरण पढ़ना नहीं चाहते या जिनके पास इतना समय नहीं है। परन्तु मैं चाहता हुआ भी अनेक बाधाओं के कारण अपने विचार को कार्यरूप में परिणत न कर सका।

इसके अनन्तर सं० २००७ में श्री पूज्य गुरुवर्य पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ। इसके परीक्षण तथा प्रचार के लिए उन्होंने काशी में पाणिनि महाविद्यालय की स्थापना की। उसमें उन्हें बहुत सरलता मिली। श्री पूज्य गुरुवर्य से मैंने प्रार्थना की कि वे इसे लेख बद्ध करें, परन्तु अनेक कार्यों में व्यस्त रहने के कारण वे इसे लिखित रूप में परिणत न कर सके। सं० २००९ में पाणिनि महाविद्यालय की शाखा सुलतानपुर (उत्तर प्रदेश) में खुली। उसमें पं० देव प्रकाश जी ने हाईस्कूल की नवम दशम श्रेणी के छात्रों को अष्टाध्यायी के क्रम से व्याकरण पढ़ाया। छात्रों को दो वर्ष के काल में ही मैट्रिक के सभी विषयों को पढ़ते हुए काशी की मध्यमा के समकक्ष व्याकरण आदि का बोध हो गया। यह एक नवीन परीक्षण था, जो कि पर्याप्त सफल रहा। तदनन्तर सं० २०११ के प्रारम्भ में देहली में पाणिनि महाविद्यालय की स्थापना की गई। उसमें प्रौढ़ व्यक्तियों को पढ़ाने के लिए पं० देवप्रकाश पातञ्जल को ही नियुक्त किया गया।

पं० देवप्रकाश पातञ्जल को पढ़ाते समय उपयुक्त ग्रन्थ का अनुभव खटकता था। अतः उन्होंने अपने अध्यापन के अनुभव के आधार पर महान् परिश्रम करके इस ग्रन्थ की रचना की।

प्रस्तुत ग्रन्थ

अष्टाध्यायी में से उपयोगी सूत्रों को छांटना और उनकी व्याख्या करना सरल कार्य नहीं है। इसमें दृष्टि भेद से प्रत्येक व्यक्ति का भिन्न-

भिन्न मत हो सकता है। फिर भी पं० देवप्रकाश पातञ्जल ने जो महान् प्रयत्न किया वह प्रशंसनीय है। उसके लिए मैं उनका धन्यवाद करता हूँ कि उन्होंने संस्कृत सीखने वाले व्यक्तियों के लिए बहुत उपयोगी ग्रन्थ तैयार कर दिया है। इसे उपयोग में लाना और लाभ उठाना अध्येताओं का काम है।

यह ग्रन्थ इस दृष्टि से नहीं लिखा गया है कि इसे पढ़कर कोई व्यक्ति व्याकरण शास्त्र का प्रौढ़ परिडत बनेगा, अपितु इसकी रचना व्याकरण का व्यावहारिक प्रर्याप्त ज्ञान कराने के लिए इसकी रचना की गई है।

पं० देवप्रकाश जी ने ग्रन्थ लिखकर मुद्रण से पूर्व मुझे पूर्णतया देखने और परिष्कार करने के लिए आग्रह किया। मैं काशी में निरन्तर १।। वर्ष रोगी रह कर यहां आया ही था, अभी रोग से आक्रान्त था, निर्बलता अधिक थी तथा नये स्थान पर नये कार्य का भार अधिक पड़ना स्वाभाविक था। इन सब परिस्थितियों में मेरे लिए ग्रन्थ के परिष्कार का भार उठाना सर्वथा असम्भव था, परन्तु मैं उनके आग्रह को टाल भी नहीं सकता था क्योंकि उन्होंने एक प्रकार से मेरे चिरकाल के विचार को मूर्तिरूप दिया था। अतः मैंने उपर्युक्त अत्यन्त विषम परिस्थितियों में भी जितना सहयोग दिया जा सकता था, देना उचित समझा।

मैंने इस सम्पूर्ण ग्रन्थ को सरसरी दृष्टि से देखा और अनेकत्र इसके उचित संशोधन किए। कई सूत्रों पर अपने नए विचार टिप्पणियों में दर्शाए। जिन विषयों या स्थलों पर मेरा तथा लेखक का मौलिक विचार भेद था उसे वैसा ही रहने दिया।

लेखक ने इस ग्रंथ को दो दृष्टियों से लिखा है। एक है संस्कृत सीखने वाले प्रौढ़ व्यक्तियों को व्याकरण के नियमों का बोध कराना और दूसरी संस्कृत की विविध परीक्षाओं में प्रचलित लघुकौमदी के स्थान पर अष्टाध्यायी के क्रम से सरल ढंग से संस्कृत व्याकरण का ज्ञान करना। अतः यह ग्रन्थ दोनों ही प्रकार के विद्यार्थियों के लिए उपयोगी होगा, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

यह अपने ढंग का प्रथम प्रयास है। आशा है जनता इसका समुचित स्वागत कर लाभ उठायेगी।

देहली, भाद्र पूर्णिमा २०१२। —युधिष्ठिर मीमांसक

प्रस्तावना

अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम् ॥ ऋ० १. १. १.

अष्टाध्यायी पढ़ने की अभिलाषा

जब मैं दूसरी या तीसरी श्रेणी में पढ़ता था। उस समय सनातन धर्म तथा आर्य समाज के विद्वानों में शास्त्रार्थ श्रवण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस सौभाग्य का विशेष कारण यह था कि मेरे पिताजी सनातन धर्म हरिकीर्तन समाज के मन्त्री थे तथा मेरे ज्येष्ठ भ्राता आर्यसमाज के मन्त्री थे। एक स्थान का शास्त्रार्थ मुझे स्मरण है। आर्यसमाज का उत्सव हो रहा था, उसमें मेरे पिताजी के प्रवन्ध से सनातन धर्म के अच्छे-अच्छे विद्वान् वहाँ पर शास्त्रार्थ करने के लिये पधारे थे। मेरे पिता जी तथा भ्राता जी में भी सदा शास्त्रार्थ होता रहता है। इन अवसरों पर स्वामी दयानन्द सरस्वती जी की भी चर्चा आया करती थी। मेरे बड़े भाई सदा कहा करते थे कि वेदों में यह प्रमाण आया है अतः सर्वथा मान्य है। वेद स्वतः प्रमाण है क्योंकि वह अपौरुषेय है। वेदों को छोड़कर अन्य ऋषि-महर्षि प्रणीत जितने ग्रन्थ हैं वें सभी परतः प्रमाण है। संस्कृत का ज्ञान अष्टाध्यायी से ही हो सकता है इत्यादि। इन बातों को सुनकर मेरे मन पर प्रभाव पड़ता था कि वेंदों को पढ़ने के लिये अष्टाध्यायी ही पढ़नी चाहिये। यह भावना मेरे में तभी जागृत हुई जब मैं ८, ९ वर्ष का रहा हूँगा। १९३३ ई० में मिडिल परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् मेरे ग्राम में एक संस्कृत टोल विद्यालय था, उसमें पढ़ने के लिये मुझे कहा गया। मैं वहाँ पढ़ने लगा। लघुकौमुदी पढ़ाई जाती थी। संस्कृत के प्रधानाचार्य पूज्य पं० रतनेश्वरी पाण्डेय जी थे। उन्होंने लघुकौमुदी पढ़ाना प्रारम्भ किया। उस समय तक संस्कृत में कुछ भी नहीं जानता था। पण्डित जी अर्थ भी पढ़ाते थे और कण्ठस्थ करने के लिये कहते थे। अस्तु यह क्रम कुछ समय तक चला परन्तु रटते-रटते मेरी व्याकरण से अनिच्छा हो गई। जिस कारण अपने पिता जी से कहा कि मैं संस्कृत नहीं पढ़ूँगा।

वहाँ से पढ़ाई छोड़ने के पश्चात् मैं अपने जिले के नगर मोतीहारी (बिहार) के हाई स्कूल में पढने लगा। वहाँ ले जाने का सारा श्रेय स्वर्गीय

श्री बा० रामसूरत सिंह जी को है। वहाँ आपने मेरे पढ़ने की सारी व्यवस्था की। आप अत्यन्त ही सज्जन, सरल हृदय और मिलनसार थे। वहाँ मैंने हाई स्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण की। इसके पश्चात् प्रो० डा० विश्वनाथप्रसाद वर्मा (राजनीति विभाग) पटना कालेज, की प्रेरणा से मैं पटना आगया। यहाँ अपने अध्ययनकाल में मुझे जिनसे प्रेरणा मिली है वे हैं बा० कामाक्ष्या प्रसाद तथा प्रो० आद्याशरण शर्मा, पटना कालेज। इसके बीच में डा० वर्मा के साथ पूज्य पं० ब्रह्मानन्द जी से अष्टाध्यायी भी पढ़ता रहा। समय चल रहा था। देश में क्रान्ति की लहर दौड़ रही थी। विद्यार्थी वर्ग उससे अछूता न था। अनेक विद्यार्थियों के साथ मैंने भी कालेज छोड़ दिया। यही रट थी कि देश स्वतन्त्र हो। जब तक तेश स्वतन्त्र न होगा मैं भी कालेज में नहीं पढ़ूँगा, ऐसी मैंने प्रतिज्ञा की। लगभग ६ महीने तक कांग्रेस का कार्य करता रहा। यहाँ मेरे पूज्य बा० रामसूरतसिंह जी ने फिर मार्ग प्रदर्शन किया और संस्कृत अध्ययन की ओर आकृष्ट किया। उनकी आज्ञा मैंने मान ली और परम विद्वान् पं० ब्रह्मानन्द जी से अष्टाध्यायी पढ़ना प्रारम्भ कर दिया। हाई स्कूल में संस्कृत भी मेरा विषय था अतः सूत्रों को समझने में विशेष कठिनाई नहीं होती थी। पठन-पाठन के विषय में पण्डित जी कहा करते थे कि या तो वे स्वयं अष्टाध्यायी पढ़ाते थे या रावी नदी के तट पर पूज्य पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु।

अष्टाध्यायी का अध्ययनकाल

पूज्य पण्डित जी के पटना चले जाने पर मैंने अष्टाध्यायी पढ़ने के उद्देश्य से पंजाब जाने का निश्चय किया और १९४३ ई० में वहाँ पर किसी तरह पहुँच गया।

वहाँ पर पूज्य गुरुवर्य (श्रीमान् पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु) के दर्शन हुए। उन्होंने कहा कि संस्कृत पढ़ने के मार्ग बहुत ही कठिन हैं आप कालेज में पढ़कर कहीं प्रोफेसर हो सकते हैं, अतः यहां पढ़ने से क्या लाभ? मैंने कहा मैं तो निश्चय करके ही बिहार से यहाँ आया हूं। वे बोले, यहाँ जो अष्टाध्यायी कण्ठस्थ करके आता है उसी से हम पढ़ने की बात करते हैं। मैंने कहा कि मैं अष्टाध्यायी कण्ठस्थ कर लूँगा। इत्यादि अनेक प्रकार की बातें हुईं और उन्होंने मुझे अपने आश्रम में स्थान दिया। आर्थिक सहायता के लिये आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा, पंजाब का मैं आभारी हूँ विशेषकर महात्मा आनन्द स्वामी जी महाराज का, जिन्होंने लाहौर में सदा मेरी सहायता की। यहाँ आश्रम में पठन और पाठन की पद्धति चरितार्थ होती थी और आज भी है।

बड़े विद्यार्थी छोटे विद्यार्थी को पढ़ाते हैं और पूज्य गुरु जी बड़े विद्यार्थियों को पढ़ाते हैं। अतः मुझे अष्टाध्यायी पढ़ाने वाले बड़े विद्यार्थी श्री पं० धर्मव्रत जी तथा श्री पं० वाचस्पति जी विभु. (बुलन्दशहर) थे। महाभाष्य प्रारम्भ में पूज्य श्री गुरुजी नें पढ़ाया। तत्पश्चात् श्री पं० मुनीश्वर जी (देवरिया) तथा श्री पं० धर्मदेव जी (काशी) पढ़ाते रहे। तीन वर्ष तक यह क्रम चला। इस पढ़ाई पर गुरुजी का सदा निरीक्षण होता रहा वे पाठ भी सुनते रहते थे। तीन वर्ष अर्थात् १९४३-४६ तक मैंने अष्टाध्यायी और महाभाष्य की शिक्षा गुरु कृपा से प्राप्त की। इसके पश्चात् प्रसिद्ध शास्त्रज्ञ श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक से मैंने निरुक्त की शिक्षा प्राप्त की। इसमें भी गुरु जी का पर्याप्त हाथ रहा। इन महानुभावों को जितनी भी कृतज्ञता प्रकट करूँ थोड़ी है।

अष्टाध्यायी का अध्यापन काल

सन् १९४६ के मध्य में आश्रम छोड़कर देवरिया चला आया। यहाँ पूज्य पं० इन्द्रदेव जी ने दर्शन शास्त्र का अध्ययन कराया। आप छात्रों के बड़े ही हितैषी तथा दर्शन शास्त्र के प्रतिभासम्पन्न विद्वान् हैं। वहाँ ही राधाकृष्ण संस्कृत कालेज के आचार्य श्री पं० वासुदेव जी मिश्र से मुक्तावली आदि नव्य-न्याय का भी अध्ययन करता रहा। परन्तु कारणवश १८४७ ई० में कलकत्ते जाना पड़ा जहाँ देश के स्वतन्त्र हो जाने के पश्चात् कालेज में पुनः पढ़ने का अवसर प्राप्त हुआ। परन्तु फिर १९५० ई० में पूज्य गुरुजी के पास बनारस चला आया।

आपने मुझे अष्टाध्यायी पढ़ाने के कार्य में लगाया। १९५२ ई० में सुलतानपुर पाणिनि महाविद्यालय में आचार्य पद पर मुझे भेजा गया। वहाँ दो वर्ष अष्टाध्यायी पढ़ाने का अवसर मिला। वहाँ पर मैंने ६ वीं श्रेणी के छात्रों को तथा ९ वीं श्रेणी के छात्रों को अष्टाध्यायी पढ़ाना प्रारम्भ किया। बोर्ड पर उनको लिखकर बताना पड़ता था क्योंकि उस समय कोई हम लोगों की पद्धति की पुस्तक नहीं थी। और न आज तक है। क्योंकि आजतक प्रथमा वृत्ति की सर्वाङ्गपूर्ण पुस्तक लिखी ही नहीं गई, ऐसी मेरी धारणा है। पढ़ने के समय में काशिका से सहायता ली जाती थी और आज भी काशिका से ही ली जाती है। ग्रन्थों के अभाव में नामिक, सन्धि विषय और आख्यातिक से सहायता लेकर छात्र सुलतानपुर में पढ़ते रहे। वहाँ से प्रौढ़ पाठशाला में पढ़ाने के लिये मुझे देहली भेजा गया। यहाँ भी गत दो वर्षों से पढ़ा रहा हूं।

अध्यापन से अनेक अनुभव हुए हैं। सूत्रों की व्याख्या बोर्ड पर लिखने-

लिखाने से अध्यापक और छात्रों दोनों को जो कठिनाई पड़ती है उसे भुक्त-भोगी ही जानते हैं। यह गणित आदि के समान तो विषय नहीं है जो बोर्ड पर ठीक समझाया जा सके। सूत्रों की व्याख्या आदि लिखते-लिखते छात्र भी कठिनाई का अनुभव करते हैं। जो 'कोर्स' कुछ सप्ताहों में समाप्त होना चाहिये उसे पूर्ण करने में महीने लग जाते हैं। यह सब अपने विषय की आर्ष पद्धति पर समझाने वाली पुस्तक के अभाव की बात है। बिना किसी पुस्तक के कठिनाइयाँ अनुभव होती हैं।

ग्रन्थ लिखने की प्रेरणा

आज भारत स्वतन्त्र है तथा राष्ट्रभाषा हिन्दी स्वीकृत हो चुकी है। भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का मूल श्रोत संस्कृत है इसमें किसी व्यक्ति को भी विप्रतिपत्ति नहीं है। गत दो सौ वर्षों से जो पाश्चात्य विद्वानों ने वैदिक संस्कृति पर आक्षेप उठाये हैं तथा कपोलकल्पित तथाकथित भारोपीय भाषा को सभी भाषाओं की जननी है, घोषित की, जिसको सारा विश्व मानता है। देश में संस्कृत और संस्कृति की आवश्यकता है, क्योंकि कोई भी देश अपनी सभ्यता एवं संस्कृति को छोड़ निश्रेयस और अभ्युदय को नहीं प्राप्त कर सकता। आज विशेष-विशेष शब्द चाहिये। जिसके निर्माणार्थ व्याकरण की आवश्यकता है। मेरा विश्वास है कि जहाँ से ये सारी भाषायें निकली हैं वहाँ से ही प्रचलित सभी भाषाओं के शब्द उपलब्ध हो सकते हैं, दूसरा कोई भी उपाय नहीं। और वह भाषा संस्कृत है। विश्वविद्यालय में पढने से मेरा निश्चित विश्वास हो गया कि यूरोप का सारा आक्षेप भ्रान्ति पूर्ण ही नहीं अपितु अक्षरशः निर्मूल है। यह कहने में थोड़ी भी अत्युक्ति नहीं कि इस देश का तथा पश्चिम के देशों की विचारधारा की एक मात्र भित्ति अष्टाध्यायी है। आज अष्टाध्यायी की वह स्थिति हो चुकी है जिससे बिना इसकी सहायता लिये मानव मस्तिष्क भाषा सम्बन्धी कोई विचार ही नहीं कर सकता। देश के सामने भी प्रश्न है संस्कृत का प्रचार कैसे हो। आज संस्कृत अनिवार्य हो या नहीं लेकिन यह समय की पुकार है कि आगामी कुछ वर्षों में संस्कृत शिक्षा को अनिवार्य करनी पड़ेगी। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए समय के अनुसार अष्टाध्यायी का पुनरुद्धार आवश्यक है। उसकी प्राचीनता के कारण नहीं बल्कि इसलिये कि बिना इसके संस्कृत का प्रचार असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। इन्हीं कारणों से तथा संस्कृत व्याकरण को सुगम और सुबोध बनाने की बलवती इच्छा ने मुझे यह ग्रन्थ लिखने को प्रेरित किया जो अब आपके सम्मुख है।

संस्कृत ज्ञान की दो धारायें

दो प्रकार की संस्कृत भाषा है। (१) वैदिक और (२) लौकिक। जहाँ तक लौकिक संस्कृत के ज्ञान का सम्बन्ध है वहाँ तक तो अंग्रेजी ढंग से लिखे गये व्याकरण से कुछ काम चल सकता है। क्योंकि साधारण ज्ञान लट्, लोट्, लङ्, विधिलिङ् लृट् इन पाँच लकारों से हो जाता है। लेकिन जब अदादि और जुहोत्यादि गण के धातुओं के रूप चलाने पड़ते हैं तो समस्या जटिल हो जाती है जिसका समाधान इस पद्धति से सम्भव नहीं। वहाँ पर बिना सूत्र को दृष्टिकोण में रखे हुए रूप याद रखना अत्यन्त ही कठिन है। फिर भी सामान्य ज्ञान इस पद्धति से हो सकता है। लेकिन इस ज्ञान की इयत्ता पञ्चतन्त्र तक कठिनता से कही जा सकती है इसके पश्चात अंग्रेजी पद्धति पर लिखे व्याकरण की कोई गति नहीं। जहां लौकिक साहित्य में महाकाव्य, खण्डकाव्य, गीतिकाव्य, चम्पूकाव्य और गद्यकाव्यों को समझने की बात है वहाँ यह व्याकरण काम नहीं दे सकता। समासों को यथातथ्य समझने के लिये इन व्याकरणों से काम नहीं चल सकता है।

वैदिक साहित्य में तो इन व्याकरण के ग्रन्थों से काम चलना असम्भव हैं। वहाँ पर पदे-पदे धातु और प्रत्यय की समस्या बनी रहती है। वहाँ सूत्रात्मक व्याकरण सफल होगा, इन व्याख्यानात्मक व्याकरण से काम नहीं चल सकता।

हाँ एक स्वरूप है जिससे अँग्रेजी व्याकरण से भी काम चलाया जा सकता हैं। वह हैं लौकिक साहित्य के लिये काले महोदय का उच्चतर व्याकरण आदि। यदि अक्षर-अक्षर कण्ठाग्र हो जाय तो काम चल सकता है। पूर्ण पाण्डित्य फिर भी नहीं हो सकता। प्रचलित धारा में सिद्धान्तकौमुदी, सारस्वत चन्द्रिका इत्यादि ग्रन्थ हैं। इसके विषय में अधिक न कह कर इतना ही कहना उचित है कि जहाँ आज संस्कृत की अवनति के अनेक कारण वर्तमान हैं वहाँ सिद्धान्त कौमुदी का पठन पाठन भी एक अपरिहार्य कारण है। इसी सिद्धान्तकौमुदी के कारण भी लोग संस्कृत को रटन्त वाली भाषा समझते हैं। इसकी प्रतिक्रिया यहाँ तक हुई कि किसी प्रान्त में लघुत्रयी, वृहत्त्रयी ही पढ़ कर सन्तोष करने की भावना हो गई। कहीं शब्दरूप, धातुरूप ही रट कर काम चलाने की भावना हो गई। व्याकरण जो साधन था आज साध्य हो गया। आज भारत के संस्कृत विद्यालयों में पढ़ने वाले छात्रों की संख्या भी अल्प हो रही है इसकी कठिनता प्रत्यक्ष ही है क्योंकि इस बात को बड़े-बड़े विद्वान अनुभव कर रहे

हैं। क्योंकि लगभग सभी परीक्षाओं से फक्किका का अंश निकाल दिया गया। इन उपर्युक्त बातों पर विचार करने से यह सिद्ध हैं कि आज की दोनों प्रक्रियाओं से संस्कृत का पढ़ना पढ़ाना असफल हो चुका है। जो विद्वान् १०, १५ वर्ष सिद्धान्त कौमुदी में ही लगे रहते हैं उनकी बात यहाँ नहीं कही जा रही है। जो इतना समय लगावेंगे उनको तो व्याकरण का ज्ञान होना ही चाहिये। उनमें भी अधिकांश को साधुत्वांश पर नियन्त्रण नहीं होता बल्कि कुछेक सूत्रों पर शास्त्रार्थ नठ्यन्याय को लेकर याद रहता है। अतः सर्व साधारण छात्रों के लिये वही मार्ग उपयुक्त है जिस मार्ग से आज से ४८०० वर्ष पूर्व तक्षशिला में बैठ कर आचार्य पाणिनि अपनी अष्टाध्यायी पढ़ाया करते थे। उन्हीं की पद्धति से संस्कृत का उद्धार हो सकता है अन्यथा कदापि नहीं।

पाणिनि की शैली

आचार्य पाणिनि का अष्टाध्यायी ग्रन्थ प्रक्रिया ग्रन्थ नहीं अपितु प्रकरण ग्रन्थ है। आचार्य ने प्रक्रिया के अनुसार ग्रन्थ का प्रवचन नहीं किया बल्कि प्रत्येक प्रकरण के सूत्रों को यथा स्थान रखा है। अष्टाध्यायी में एक स्थान पर सुबन्त या तिङन्त के प्रकरण नहीं हैं जो व्याकरण का मुख्यांश है। इस समस्या को कैसे सुलझाया जाय यह प्रश्न उपस्थित है। आज पाणिनि भगवान् नहीं हैं परन्तु उनकी अष्टाध्यायी है। कारण से कार्य की उत्त्पत्ति होती ही है। अतः कारणशरीर से उस कार्यशरीर का भी प्रत्यक्ष हो गया। मेरे पूज्य गुरुजी ने जिस पद्धति से मुझे पढ़ाया, उसी को मैं पाणिनि की शैली समझता हूँ क्योंकि इसी आर्ष शैली से ही केवल ३ वर्ष में ही अष्टाध्यायी महाभाष्य के द्वारा लौकिक तथा वैदिक शब्दों का पूर्ण ज्ञाता बन सकता है, दूसरा कोई मार्ग अभी तक नहीं निकला।

अष्टाध्यायी-प्रकाशिका की शैली

प्रत्येक सूत्र का पदच्छेद विभक्ति, समास अनुवृत्ति, अर्थ, उदाहरण देकर आगे पीछे के सभी सूत्रों को लगा कर उदाहरणों को सिद्ध किया गया है। इस ग्रन्थ में उदाहरण अधिकतर काशिका से लिये गये हैं। समास के विग्रह में कहीं पर जाति पक्ष और कहीं पर व्यक्ति पक्ष का समाश्रयण किया गया हैं। कहीं-कहीं एक ही शब्द के विग्रह में इन दोनों पक्षों का आश्रय किया गया है। समास करने के समय अधिकतर तो प्रथमा विभक्ति में रूप चला कर विग्रह किया है और कहीं-कहीं समझने में दुरूह न हो जाय इस विचार से प्रातिपदिक का ही रूप विग्रह में रहने दिया हैं। बड़े कोष्ठक में अनुवृत्ति लिख दी

गयी है। विभक्ति निरूपण में विभिन्न विभक्तियों के होने के कारण यत्र-तत्र निर्देश किये गये हैं।

व्याख्याओं की विशेषता

आजकल व्याकरण कठिन इसलिए भी हो गया है क्योंकि भूमिका रूप से उसके विषय में कुछ समझाया नहीं जाता और सूत्र प्रारम्भ कर दिया जाता है। अतएव इन बातों को ध्यान में रख कर ४ व्याख्यान सामान्य संस्कृत ज्ञान के निमित्त मैंने लिखे हैं। उन व्याख्यानों को पढ़ने के पश्चात् ही पांचवाँ व्याख्यान पढ़ना चाहिये। पंचम से अन्त तक के सभी व्याख्यान पूर्ण रीति से समझकर आगे पढ़ना चाहिये। जो बात समझ में न आवे उसे व्याख्यान में ही खोजना चाहिए। आवश्यकतानुसार सब कुछ लिखने का प्रयत्न किया गया है। मैंने छात्रों को पढ़ाकर कठिनाइयों के अनुभव के पश्चात् ही बातें लिखी हैं। सम्भव है, इन व्याख्यानों को समझने और कुछ कुछ याद करने में समय लग जाय। जब व्याख्यानों को समझ लिया जायगा तो शेष अष्टाध्यायी प्रकाशिका अष्टम अध्याय तक केवल एक घण्टा प्रतिदिन परिश्रम करने से ५ मास में याद हो सकता है। शेष नाम और आख्यात प्रकरण न्यूनातिन्यून १५ दिन में समाप्त हो सकते हैं। एक वर्ष के समय में तो विद्यार्थी सूत्र भी कण्ठस्थ करके पढ़ सकते हैं। सूत्रों का कण्ठस्थीकरण रामलाल कपूर ट्रस्ट अमृतसर द्वारा प्रकाशित अष्टाध्यायी से चिह्न लगाकर ही करना चाहिए। अष्टाध्यायी के पठन पाठन के सरलतम उपायों पर मेरे पूज्य गुरुजी द्वारा प्रकाशित वेदवाणी के अङ्कों से संग्रहीत पाठमाला भी संस्कृत बोध में अनुपम सहायक हैं। उन पाठमालाओं के पढ़ने से भी महान् लाभ होगा। इस प्रकार से अष्टाध्यायी प्रकाशिका से व्याकरण का व्यावहारिक पूर्ण ज्ञान प्रौढ़ों को केवल ६ मास और छात्रों को एक वर्ष में हो जायेगा ऐसी मेरी धारणा है। इन व्याख्यानों में मैंने जैसे छात्रों को पढ़ाया है उसी भाषा का प्रयोग किया है। मेरा उद्देश्य भाषा को प्रशस्त करना नहीं अपितु समस्याओं को सुलझाना है।

कृतज्ञता प्रकाश

सर्वप्रथम प्रातः स्मरणीय पूज्यपाद गुरुवर के चरण कमलों में अपनी श्रद्धा अर्पित करता हूँ जिनकी कृपा से मैं इस ग्रन्थ के लिखने में समर्थ हो सका। पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक का अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होंने अस्वस्थ रहते हुए भी ग्रन्थ का आद्योपान्त निरीक्षण करके उसका परिष्कार किया और यत्र तत्र आवश्यक टिप्पणियां देकर इस ग्रन्थको अत्यधिक उपादेय बनाया।

अपने अभिन्न हृदय पं० सत्यदेव जी मिश्र को धन्यवाद देना क्या उचित होगा । वस्तुतः इस ग्रन्थ को लिखने की सारी प्रेरणा उन्हीं से मिली है और इसके प्रकाशन में भी उन्होंने जो सक्रिय सहायता दी है वह लिखी नहीं जा सकती । यह उन्हीं के प्रेम, उत्साह और परिश्रम का परिणाम है कि यह ग्रन्थ अपने इस रूप में आपके सम्मुख विद्यमान हैं । व्याख्यानों की भाषा उसमें परिवर्तन, परिवर्धन और अनेक लाभप्रद सुझाव भी मिश्र जी ने दिए हैं।

सहयोग के लिए श्री ठाकुरदास जी काठपालिया, श्री मेलाराम जी प्रधान, आर्य समाज, देवनगर, वैद्य श्री हजारीलालजी, श्री रणवीर जी बी० ए० संचालक दैनिक मिलाप, रायबहादुर श्री पं० नारायणदास जी, मन्त्री लक्ष्मी-नारायण मन्दिर ट्रस्ट, श्री पं० महेन्द्रझा जी बी० ए०, बा० फूलसिंह जी तथा श्री मेलाराम जी प्रधान, आर्य समाज, हनुमान रोड़ आदि महानुभावों का भी अनुगृहीत हूँ ।

कलाकार चित्रकार श्री धरणीधरचन्दोला जी को धन्यवाद करता हूँ जिन्होंने भगवान् पाणिनि का चित्र चित्रित किया है चन्द्रमोहन शास्त्री व बा० नारायण सिंहजी का विशेष धन्यवाद है क्योंकि उन्होंने इस ग्रन्थ के छपने में प्रेस कार्य में बड़ी तत्परता से कार्य किया है । अन्त में अपनी धर्मपत्नी श्रीमती उर्मिला देवीजी को साधुवाद देता हूँ जिन्होंने ग्रन्थ के लिखने तथा प्रूफ देखने में सदा सहायता प्रदान की ।

१ जी, जवाहर नगर
सब्जीमण्डी, देहली

देवप्रकाश पातञ्जल

———

प्रथम व्याख्यान

महामुनि पाणिनि प्रणीत अष्टाध्यायी के सूत्रों की व्याख्या प्रारम्भ करने के पूर्व यह आवश्यक प्रतीत होता है कि विद्यार्थियों को भाषा के माध्यम द्वारा संस्कृत भाषा तथा उसके व्याकरण का प्रारम्भिक ज्ञान करा दिया जाय, जिसके द्वारा वे इस विषय में प्रवेश पा सकें और इस ग्रन्थ की लेखन पद्धति को समझ सकें। इससे उन्हें बहुत लाभ होगा। वे न केवल सूत्रों का अर्थ ही समझने लगेंगे बल्कि इन सूत्रों का 'शब्द-सिद्धि' में किस प्रकार प्रयोग किया जा जाता है, यह भी जान जायेंगे। इन प्रारम्भिक व्याख्यानों के अध्ययन से उन्हें संस्कृत का आवश्यक ज्ञान भी हो जायगा और विषय-प्रवेश उनके लिए सुलभ होगा। छात्रों की भाषा बिषयक सभी कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए ही इन व्याख्यानों को लिखा गया है। आशा है संस्कृत पढ़ने के अभिलाषी छात्र धैर्य पूर्वक इसका अध्ययन करने के पश्चात् ही ग्रन्थ पढ़ना आरम्भ करेंगे, और संस्कृत के व्याकरण शास्त्र का ज्ञान लाभ करेंगे।

इस व्याख्यानमाला के प्रथम चार व्याख्यान सरल संस्कृत का पढ़ना, समझना, लिखना और बोलना सिखाते हैं, तथा शेष सभी अष्टाध्यायी अध्ययन का बोध कराते हैं। उनसे सूत्रों की व्याख्या, पद-च्छेद, विभक्ति, समासादि द्वारा अर्थ, उनका प्रयोग, अनुवृत्ति तथा शब्दानुशासन में उनका स्थान आदि आवश्यक बातों का ज्ञान होता है। अतएव, ग्रन्थ प्रारम्भ करने के पूर्व इन व्याख्यानों का समझना आवश्यक है अन्यथा अध्ययन में कठिनाई हो सकती है। वास्तव में ये व्याख्यान उन विद्यार्थियों के लिए लिखे गये हैं जिन्हें हिन्दी का ज्ञान है और जो संस्कृत पढ़ने के अभिलाषी हैं। इसके पश्चात् संस्कृत व्याकरण उनके लिए सरल हो जायगा, और रटना भी नहीं पड़ेगा ऐसी मेरी धारणा है।

हिन्दी के शब्दों पर विचार

संस्कृत पढ़ने से पूर्व यह आवश्यक है कि विद्यार्थियों को हिन्दी भाषा के व्याकरण का प्रर्याप्त ज्ञान हो। इससे संस्कृत व्याकरण के समझने में आसानी होगी और उसके शब्दों का अर्थ लगाने में सुगमता। अतएव हम संक्षेप में हिन्दी व्याकरण की मुख्य बातें बताने की चेष्टा करेंगे।

हिन्दी के सभी शब्दों को हम मुख्यतः पाँच विभागों में विभाजित कर सकते हैं जो इस प्रकार है :—

(१) संज्ञा (२) सर्वनाम (३) विशेषण (४) क्रिया और (५) अव्यय।

इनमें से प्रथम चार प्रकार के शब्द सविकार कहलाते हैं क्योंकि उनका रूप बहुधा बदलता रहता है। पाँचवे प्रकार के शब्द क्रिया विशेषण, सम्बन्धबोधक विस्मयादिबोधक आदि निर्विकार हैं, क्योंकि उनका रूप नहीं बदलता है अतः इनको अव्यय कहते हैं।

संज्ञा—किसी वस्तु या प्राणी के नाम को संज्ञा कहते हैं। जैसे–राम, मोहन, वेद, हिमालय, गङ्गा आदि।

सर्वनाम—जो शब्द किसी संज्ञा के बदले में आता है या प्रयोग किया जाता है उसे सर्वनाम कहते हैं। जैसे—राम अच्छा लड़का है। वह प्रतिदिन पाठशाला जाता है। यहाँ पिछले वाक्य में, 'वह' सर्वनाम पहले वाक्य के 'राम' पद के बदले में आया है।

विशेषण—जो शब्द किसी संज्ञा की विशेषता या उसके गुणों को प्रकट करते हैं उन्हें विशेषण कहते हैं। संज्ञा का भेद प्रकट करने के कारण उन्हें 'भेदक' भी कहते हैं। जैसे—'काला कुत्ता'। 'काला' शब्द कुत्ते को अन्य कुत्तों से पृथक् कर देता है। यहाँ 'काला' शब्द विशेषण या भेदक और 'कुत्ता', विशेष्य या भेद्य है।

क्रिया—जिससे किसी काम का करना या होना पाया जाय उसे क्रिया कहते हैं। जैसे—मोहन पुस्तक पढ़ता है। श्याम हँसता है। इन वाक्यों में 'पढ़ता है', व 'हँसता है' से पढ़ने व हँसने कार्यों का करना या होना पाया जाता है। अतः ये शब्द क्रिया हैं।

अव्यय—उन शब्दों को कहते हैं जिनमें संज्ञा व सर्वनाम की भांति न तो कोई विकार होता है न कोई लिङ्ग, वचन और विभक्तियों का भेद। ये वाक्यों में विभिन्न अर्थों को बताने के लिए प्रयोग में लाये जाते हैं। कुछ उदाहरण देखिये:—

१. **क्रिया विशेषण**—अच्छा, धीरे-धीरे, अचानक, सहसा, तुरन्त, आदि।

२. **समुच्चयार्थक**—और, तथा, एवं, वरं, परन्तु, अतः, अत एव, किन्तु, प्रत्युत, लेकिन आदि।

३. **विकल्पार्थक**—या, वा, अथवा आदि।

४. **समयार्थक**—आज, कल, परसों, फिर, अब, तब, अभी, जभी आदि।

५. **स्थानार्थक**—यहाँ, वहां, इधर, उधर।

इसी प्रकार अव्यय के अनेक भेद होते हैं जिनका स्थानाभाव से वर्णन करना संभव नहीं है। इस विषय में इतना जान लेना आवश्यक है कि इनका रूप नहीं बदलता और विभिन्न स्थानों में व्यवहार और प्रयोग के अनुसार इनका अर्थ समझ लेना चाहिए।

कारक और विभक्तियाँ—क्रिया की सिद्धि में जो सहायक हो उसे 'कारक' कहते हैं, अर्थात् संज्ञा और सर्वनाम शब्दों का क्रिया के साथ जो सम्बन्ध होता है उसे कारक कहते हैं। इनका रूप भी क्रिया से सम्बन्ध होने के कारण भिन्न-भिन्न होता रहता है। जिस प्रकार की क्रिया से कारक का सम्बन्ध होता है उसका रूप भी वैसा ही होता है। ये कारक '६ प्रकार' के होते हैं :—

१. **कर्त्ता**–कार्य के करने वाले को कर्त्ता कहते हैं जैसे–राम पढ़ता है। यहां पढ़ने का कार्य करने वाला राम 'कर्त्ता' है।

२. **कर्म**—कर्त्ता के इष्टतम (अत्यन्त चाहा हुआ) कारक को 'कर्म' कहते हैं। जैसे–राम आम खाता है। राम का अत्यन्त चाहा हुआ आम (इष्टतम) कारक है। अतएव इसको कर्म कहते हैं।

३. **करण**—जिसके द्वारा क्रिया की जाय उसे करण कहते हैं

जैसे--राम चाकू से कलम बनाता है। यहां कलम बनाने की क्रिया चाकू द्वारा हो रही है अतएव 'चाकू' करण कारक है।

४. **सम्प्रदान**-जिसके लिए दिया जाय अर्थात् क्रिया के द्वारा जिसके अभिप्राय को भली प्रकार से सिद्ध किया जाय उसको संप्रदान कहते हैं। जैसे, उपाध्याय के लिए (को) गाय देता है। यहां उपाध्याय को 'गाय' दी जाती है अतः 'उपाध्याय' सम्प्रदान कारक है। सम्प्रदान का अर्थ है, "पूर्ण रूप या अच्छी तरह से देना"। इसमें दी हुई वस्तु के वापिस लेने की भावना निहित नहीं है। जैसे--सोहन धोवी को वस्त्र देता है। यहां 'वस्त्र' धोकर वापिस लेने की भावना से दिया गया। अतएव धोवी सम्प्रदान कारक नहीं होगा। कर्म कारक भी नहीं हो सकता क्योंकि कर्त्ता का इष्ट वस्त्र है धोवी नहीं। यहां कोई कारक नहीं है। फिर क्या है ? संस्कृत भाषा के अनुसार रजक (धोवी) शब्द में षष्ठी होती है यह षष्ठी विभक्ति की व्याख्या के समय बताया जायगा।

५. **अपादान**—जिससे कोई वस्तु अलग हो। दो वस्तुओं में से एक दूसरे से अपाय (पृथक्) होने पर निश्चत कारक को अपादान कारक कहते हैं। जैसे--वृक्ष से पत्ते गिरते हैं। पत्तों के अलग होने पर वृक्ष भी निश्चल रहा। अतः 'वृक्ष' अपादान कारक है।

६. **अधिकरण**—जिस शब्द से आधार का ज्ञान या बोध होता है उसको अधिकरण कारक कहते है। जैसे-राम में अच्छे गुण हैं। संतरे में रस होता है। यहाँ' राम' गुणों तथा 'संतरा' रस का आधार है अतः 'राम' और 'संतरा' अधिकरण कारक हैं।

'सम्बन्ध' और 'सम्बोधक' कारक नहीं होते क्योंकि क्रिया के साथ उनका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं होता और न वे क्रिया की सिद्धि में सहायक ही होते हैं। इस लक्षण से राम का भाई आम खाता है। इस वाक्य में क्रिया की सिद्धि में सहायक भाई है, राम नहीं। राम तो केवल सम्बन्ध बतलाता है। इसी प्रकार, हे राम! तुम्हारे पिता जी कहाँ हैं। इस वाक्य में राम को 'हे राम' कह कर केवल आकर्षित भर किया गया है। अतः यह कारक नहीं है।

सात विभक्तियाँ—उपर्युक्त विवेचन से ज्ञात हुआ कि कारक

६ होते हैं। सम्बन्ध और सम्बोधन कारक नहीं है। किन्तु वाक्य में इन की स्थिति आवश्यक होती है जैसा कि ऊपर कह चुके हैं। संस्कृत में कारक, सम्बन्ध और सम्बोधन के रूप में प्रयुक्त होने वाले जितने भी संज्ञा सर्वनाम आदि संज्ञक शब्द हैं उनके केवल सात विभाग होते हैं। प्रश्न उठता है कि इन ६ कारकों, सम्बन्ध और सम्बोधन के आठ विभाग होने चाहिए। किन्तु विभाग सात ही हैं। इनकी व्यवस्था इस प्रकार समझनी चाहिए कि जितने भी कर्ता कारक के शब्द हैं वे प्रथम विभाग में रखे जाते हैं। इसी प्रकार कर्म के द्वितीय, करण के तृतीय, सम्प्रदान के चतुर्थ, अपादान के पञ्चम और अधिकरण कारक के शब्द सप्तम विभाग में होते हैं। विभागों के अभाव के कारण 'सम्बोधन' को भी प्रथम विभाग ही में रखा जाता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि सम्बोधन भी कर्ता कारक हो गया। इसको कारक न होते हुए भी प्रथम विभाग ही में रखा जाता है, ऐसा पाणिनि मुनि का निर्देश है। जो शब्द इन विभागों के अन्तर्गत नहीं आते उन्हें षष्ठ विभाग में समझना चाहिए। इसी नियम क अनुसार धोबी (रजक) के लिए वस्त्र देता है। इस वाक्य में धोबी शब्द किसी अन्य विभाग में न आने के कारण षष्ठ विभाग में रखा जाता है। इन्हीं विभागों को आचार्य पाणिनि के पारिभाषिक शब्दों में 'विभक्ति' के नाम से पुकारा जाता है। 'विभक्ति' शब्द स्त्रीलिङ्ग है अतः उसका विशेषण 'प्रथम' भी प्रथमा' के रूप से आयेगा—यथा 'प्रथमा विभक्ति' द्वितीया विभक्ति, तृतीया विभक्ति, चतुर्थी विभक्ति, पञ्चमी विभक्ति, षष्ठी विभक्ति तथा सप्तमी विभक्ति। यही सात बिभक्तियाँ हैं।

विभक्तियों के चिह्न—यद्यपि उपर्युक्त परिभाषाओं तथा व्याख्या से इन विभागों के समझने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए तथापि साधारण ज्ञान के विद्यार्थियों के लिए इन्हें समझने में सुगमता हो इसलिए इन विभक्तियों के चिह्नों को लिखा जाता है जो इस प्रकार हैं—

कारक	विभक्ति	चिह्न	वाक्य में प्रयोग
कर्ता	प्रथमा	०, ने	१. राम जाता है २. रामने कहा।
कर्म	द्वितीया	०, को	१. राम आम खाता है। २. राम श्याम को देखता है।

करण	तृतीया	से	चाकू से कलम बनाता है।
सम्प्रदान	चतुर्थी	को, के लिए	२. राम उपाध्याय को या के लिए गाय देता है।
अपादान	पञ्चमी	से	वृक्ष से पत्ता गिरता है।
सम्बन्ध	षष्ठी	का, के, की,	१. आपका आपके आपकी
		रा, रे, री,	२. तुम्हारा तुम्हारे तुम्हारी
		ना, ने, नी,	३. अपना अपने अपनी
अधिकरण	सप्तमी	में, पर,	१. सन्दूक में
			२. छत पर
सम्बोधन	प्रथमा	हे, अरे,	१. हे राम
			२. अरे भाई

विशेष स्पष्टीकरण के लिए इन चिह्नों के साथ बालक शब्द के रूप एक वचन व बहुवचन में दिये जाते हैं :—

कारक	विभक्ति	एकवचन	बहुवचन
कर्त्ता	प्रथमा	बालक ने	बालकों ने
कर्म	द्वितीया	बालक को	बालकों को
करण	तृतीया	बालक से	बालकों से
संप्रदान	चतुर्थी	बालक केलिये	बालकों केलिये
अपादान	पञ्चमी	बालक से	बालकों से
सम्बन्ध	षष्ठी	बालक का, के, की	बालकों का, के, की
अधिकरण	सप्तमी	बालक में, पर	बालकों में, पर
सम्बोधन	प्रथमा	हे बालक	हे बालको

उपर्युक्त चिह्नों को ध्यान पूर्वक देखिये। आप देखेंगे कि यत्र तत्र 'बालक' शब्द में परिवर्तन हुआ है किन्तु चिह्न नहीं बदले। चिह्न जैसे थे वैसे ही हैं। जैसे—'बालक ने', बालकोंने'। यहाँ 'बालक' शब्द का 'बालकों' बन गया। इसके अतिरिक्त दोनों वचनों में चिह्न एक ही प्रकार के हैं। उनमें कोई परिवर्तन नहीं है। इससे प्रतीत होता है कि हिन्दी में संज्ञा तथा सर्वनाम आदि के वाचक शब्दों में ही परिवर्तन होता है चिह्नों में नहीं। यह बात ध्यान में रखने योग्य है।

नोट :—कहीं-कहीं विशेष कारणों से कर्ता और कर्म में चिह्न नहीं लगते। जैसे—राम पढ़ता है। राम पुस्तक पढ़ता है। इन

वाक्यों में 'राम और 'पुस्तक' क्रमशः कर्ता और कर्म हैं किन्तु उनके चिह्न 'ने' और 'को' का प्रयोग नहीं हुआ है। ऐसा क्यों होता है यह व्यवहार से ही जानना चाहिए। विस्तार भय से यहाँ उनके कारणों पर विचार नहीं कर रहे हैं।

स्मरण संकेत :—

१. हिन्दी में ५ प्रकार के शब्द हैं। संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया, और अव्यय।
२. क्रिया की सिद्धि में जो सहायक हो उसे कारक कहते हैं।
३. कारक ६ हैं। कर्ता, कर्म' करण, सम्प्रदान, अपादान, और अधिकरण।
४. 'सम्बन्ध' और 'सम्बोधन' कारक नहीं हैं क्योंकि वे क्रिया की सिद्धि में सहायक नहीं होते।
५. विभक्तियाँ सात होंती हैं।
६. हिन्दी में वचन भेद से केवल संज्ञा तथा सर्वनाम आदि शब्दों में ही परिवर्तन होता है, 'ने' 'को' आदि चिह्नों में नहीं।

द्वितीय व्याख्यान

संस्कृत भाषा में कारक तथा विभक्तियों का स्वरूप

प्रथम व्याख्यान में हम हिन्दी के कारक तथा विभक्तियों के स्वरूप की चर्चा कर चुके हैं। यहाँ संस्कृत के कारक तथा विभक्तियों के स्वरूप का संक्षेप से वर्णन करेंगे। संस्कृत भाषा के अध्ययन के लिए इनके स्वरूप और चिह्नों को सम्यक् प्रकार से समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है। ऐसा करने से विद्यार्थियों को संस्कृत के अध्ययन में कोई कठिनाई नहीं होगी और भाषा अपने सरल रूप में उनके सम्मुख आयेगी। वास्तव में हिन्दी और संस्कृत के कारक तथा विभक्तियां के स्वरूप में परस्पर कोई भेद नहीं है। जो बातें हिन्दी में आवश्यक हैं वे हीं न्यूनाधिक संस्कृत के लिए ठीक हैं। भेद केवल चिह्नों में है। दोनों भाषाओं के चिह्न पृथक् पृथक् हैं, और शब्दों के साथ उन्हें जोड़ने के नियम भी

भिन्न हैं। दूसरी बात जो ध्यान में रखने योग्य है वह यह है कि हिन्दी में केवल एकवचन और बहुवचन ही होते हैं, जब कि संस्कृत में तीन वचन होते हैं, एकवचन, द्विवचन और और बहुवचन। इस वचन, भेद के कारण भी चिह्नों के रूप में अन्तर होता है। अस्तु इसका वर्णन यथास्थान आगे होगा। अब इस विषय के अन्य आवश्यक बातों को समझना चाहिए।

प्रातिपदिक—यह शब्द केवल संस्कृत व्याकरण ही में प्रयुक्त होता है, अन्यत्र नहीं। प्रातिपदिक उस मूल शब्द को कहते हैं जिसके पश्चात् या जिसमें विभक्त के चिह्नों को जोड़ कर रूप चलाया जाता है। जैसे—'राम ने' इसमें प्रथमा विभक्ति का चिन्ह 'ने' 'राम' के साथ जोड़ा गया है। अतः 'राम' शब्द प्रातिपदिक कहलायेगा। इसी प्रकार किसी भी विभक्ति रहित मूल शब्द को प्रातिपदिक कहते हैं।

अब संस्कृत के इन विभक्ति चिह्नों पर ध्यान दीजिये हिन्दी में चिह्न दोनों वचनों में एक ही समान रहते हैं। उनके रूप में कोई परिवर्तन नहीं होता। जैसे राम ने, रामों ने। यहाँ चिह्न 'ने' में कोई परिवर्तन न होकर मूल शब्द ही में परिवर्तन हुआ। इसके विपरीत संस्कृत में वचन भेद से ये विभक्तियाँ बदलती रहती हैं। तीनों वचनों में उनके भिन्न भिन्न रूप होते हैं। प्रातिपदिक शब्दों में प्रायः परिवर्तन नहीं होता। सुगमता के लिए दोनों भाषाओं के ये विभक्ति चिह्न नीचे दिये जाते हैं।

	हिन्दी		संस्कृत		
	एकवचन,	बहुवचन	एकवचन.	द्विवचन	बहुवचन
प्र. वि.—	ने	ने	सु	औ	जस्।
द्वि. वि.—	को	को	अम्	औट्	शस्।
तृ. वि.—	से	से	टा	भ्याम्	भिस्।
च. वि.—	के लिए	के लिए	ङे	भ्याम्	भ्यस्।
पं. वि.—	से	से	ङसि	भ्याम्	भ्यस्।
ष. वि.—	का, के, की	का, के, की	ङस्	ओस्	आम्।
स. वि.—	में, पर	में, पर	ङि	ओस्	सुप्।
सम्बोधन—	हे, अरे	हे, अरे	सु	औ	जस्।

उपर्युक्त चिह्नों की ध्यान से परीक्षा करने पर ज्ञात होगा कि संस्कृत में प्रथमा विभक्ति के एकवचन औरद्विवचन बहुवचन

में क्रमश: 'सु' औ, जस् चिह्नों का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार द्वितीया विभक्ति में अम् औट् शस् आदि चिह्नों का। अन्य शेष विभक्तियों में से भी इसी प्रकार जानना चाहिए। प्रातिपादिकों के साथ योग होने पर इन चिह्नों में यह परिवर्तन कहाँ और किस प्रकार से होता है, इसका निर्देश भगवान् पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में यथा स्थान कर दिया है। इन्हीं सूत्रों तथा नियमों को सरल और सुबोध बनाने के लिए ही प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की है, अस्तु! इन चिह्नों को हृदयंगम या कण्ठस्थ कर लेना चाहिए जिससे यथा स्थान इनके प्रयोग में सुविधा हो।

सभी विभक्तियों में इनके रूप निम्न प्रकार से चलेंगे :—(प्रातिपदिक राम के साथ)

	हिन्दी			संस्कृत	
विभक्तियाँ	एकवचन	बहुवचन	एकव०	द्वि वचन	बहु वचन
प्रथमा—	रामने	रामों ने	राम सु	राम औ	राम जस्
द्वितीया–	राम को	रामों को	राम अम्	राम औट्	राम शस्
तृतीया–	राम से	रामों से	राम टा	राम भ्याम्	राम भिस्
चतुर्थी–	राम के लिए	रामों केलिए	राम ङे	राम भ्याम्	राम भ्यस्
पञ्चमी–	राम से	रामों से	राम ङसि	राम भ्याम्	राम भ्यस्
षष्ठी—	राम का	रामों का	राम ङस्	राम ओस्	राम आम्
सप्तमी–	राम में	रामों में	राम ङि	राम ओस्	राम सुप्
सम्बोधन–	हे राम,	हे रामो	राम सु	राम औ	राम जस्

इसी प्रकार किसी भी प्रातिपदिक के पश्चात् इन विभक्ति चिह्नों को जोड़ कर रूप चलाये जा सकते हैं। जिस प्रकार हिन्दी में 'ने' आदि चिह्न लगा कर रूप चलाते हैं उसी प्रकार संस्कृत में सु, औ, जस् आदि चिह्नों को संज्ञा आदि (प्रातिपदिकों या शब्दों) के साथ जोड़ कर सभी विभक्तियों में रूप चलाये जाते हैं। इनका अर्थ भी हिन्दी की भांति ही होता है। उसमें कोई भेद नही। उदाहरण के लिए मान लीजिए कि आप संस्कृत में 'राम का' कहना चाहते हैं। 'का' षष्ठी विभक्ति का चिह्न, जिसका संस्कृत में समान वाची चिह्न 'ङस्' है। अत: 'राम का' का संस्कृतानुवाद 'राम ङस्' होगा। इसी प्रकार अन्य विभक्तियों में जानना चाहिए। जैसे—'राम में' का संस्कृतानुवाद 'राम

ङि' 'रामों में' का 'राम सुप्', 'राम को' का 'राम अम्' 'रामों ने' का 'राम जस्' होगा। यहाँ करण और अपादान अर्थात् तृतीया और पञ्चमी विभक्तियों के चिह्नों के चुनाव में विद्यार्थी को कठिनाई हो सकती है क्योंकि दोनों का चिह्न 'से' ही है। इस विषय में यह लक्षण याद रखना चाहिए कि जिसके द्वारा क्रिया की जाय उसे करण, और जिससे अलग होना पाया जाय उसे अपादान कहते हैं। जैसे—राम 'चाकू से' कलम बनाता है। यहाँ 'करण' और आकाश 'से' तारे टूटते हैं में 'अपादान' समझना चाहिए। 'करण' और 'अपादान' का यह भेद इसी लक्षण द्वारा ज्ञात करना चाहिए चिह्न द्वारा नहीं। इसकी व्याख्या कारक-प्रकरण प्रथम-व्याख्यान में भी की जा चुकी है।

लिङ्ग पर विचार—हिन्दी में लिङ्ग केवल दो प्रकार के होते हैं, स्त्रीलिङ्ग और पुँल्लिङ्ग। संस्कृत में लिङ्ग तीन प्रकार के होते हैं, स्त्री-लिङ्ग पुँल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग। इनके उदाहरण देखिये :—
स्त्रीलिङ्ग—रमा, लक्ष्मी, राधा, सीता, कमला आदि। **पुँल्लिङ्ग**—राम, कृष्ण, दयानन्द, शंकर, जवाहर, आदि। **नपुँसक लिङ्ग**—फल, मधु, दधि, इत्यादि। इसी प्रकार अन्य वस्तुओं के लिंग भेद को व्यवहार से जानना चाहिए।

संस्कृत व्याकरण में एक विशेषता है। विशेष्य (संज्ञा) का जो लिङ्ग होता है यह वही लिङ्ग विशेषण का भी होता है। यह संस्कृत व्याकरण का नियम है। हिन्दीं में इस नियम का सर्वथा पालन नहीं होता। जैसे—सुन्दर कविता। यहाँ कविता स्त्रीलिङ्ग है, अतः उसका विशेषण भी स्त्रीलिङ्ग होना चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं है। संस्कृत में विशेष्य और विशेषण दोनों का समान लिङ्ग ही होता है यदि विशेष्य पुँल्लिङ्ग है तो उसका विशेषण भी पुँल्लिङ्ग ही होगा। इसी प्रकार अन्य लिङ्गों की व्यवस्था जाननी चाहिए। सभी प्रातिपदिकों के रूप इन्हीं तीन लिङ्गों के अनुसार सातों विभक्तियों में चलते हैं।

संस्कृत में हम १२ प्रातिपदिकों (संज्ञा सर्वनाम) को चुनते हैं जिनके रूप तीनों लिङ्ग और वचनों में यहाँ दिये जाते हैं। इन्हीं प्राति-पादकों की भांति अन्य प्रातिपदिकों के रूपों को हृदयङ्गम कर लेने के पश्चात् संस्कृत भाषा बहुत कुछ सरल हो जाती है।

जैसा पहले भी कहा जा चुका है, इस विषय में ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्रातिपदिक के पश्चात् जो भी विभक्ति चिह्न जोड़े जाते हैं उनमें परिवर्तन होता रहता है। कभी-कभी विभक्ति का एक अंश लोप हो जाता है, और कभी-कभी सम्पूर्ण चिह्न। कहीं-कहीं एक विभक्ति के स्थान पर कोई अन्य शब्द प्रयोग में लाया जाता है। ऐसा क्यों होता है, इस परिवर्तन के सभी नियम सूत्रों द्वारा भगवान् पाणिनि ने अष्टाध्यायी में निर्देश किये हैं। इस लोप का ज्ञान इत्संज्ञा प्रकरण में होगा। किन परिस्थितियों और स्थानों पर एक विभक्ति के स्थान पर दूसरे शब्द रखे जाते हैं इसका प्रकरण अष्टाध्यायी के सप्तम अध्याय के प्रथम पाद में किया गया है। इस समय केवल इतना समझ लीजिए कि उपर्युक्त बातें होती हैं। अभी तो विभक्तियों के साथ प्रातिपदिकों का अर्थ जानना चाहिए जिससे साधारण संस्कृत का ज्ञान हो। व्याख्यानों की समाप्ति तक शब्द निर्माण का विषय भी आजायगा।

यहाँ विद्यार्थियों की विशेष जानकारी के लिए संस्कृत के १२ चुने हुए तथा प्रतिनिधि प्रातिपदिकों का सिद्ध किया हुआ रूप दिया जाता है, जिसका अर्थ अवश्य याद कर लेना चाहिए। यदि एक प्रातिपदिक के रूप और रूपों का अर्थ याद या हृदयङ्गम कर लिया तो शेष सभी प्रातिपदिक आपको स्मरण हो जायँगे; इसमें सन्देह नहीं।

चुने हुए प्रातिपदिकों की सूची :—

१. राम	— अकारान्त	पुँल्लिङ्ग	८. बालिका	—आकारान्त	स्त्रीलिङ्ग
२. तद्	— वह	सर्वनाम	९. फल	—अकारान्त	नपुंसक
३. यद्	— जो	,,	१०. मुनि	—इकारान्त	पुँल्लिङ्ग
४. किम्	— कौन	,,	११. साधु	—उकारान्त	पुँल्लिङ्ग
५. इदम्	— यह	,,	१२. नदी	—ईकारान्त	स्त्रीलिङ्ग
६. युष्मद्	— तुम	,,			
७. अस्मद्	— मैं	,,			

अकारान्त पुँल्लिग संज्ञा शब्द 'राम'

विभक्ति	हिन्दी	संस्कृत,	सिद्ध रूप
प्रथमा	राम ने	— राम सु	रामः

	दो रामों ने	— राम औ	रामौ
	बहुत रामों ने	— राम जस्	रामाः
द्वितीया	रामको	— राम अम्	रामम्
	दो रामों को	— राम औट	रामौ
	बहुत रामों को	— राम शस्	रामान्
तृतीय	राम से	— राम टा	रामेण
	दो रामों से	— राम भ्याम	रामाभ्याम्
	बहुत रामों से	— राम भिस्	रामैः
चतुर्थी	राम के लिये	— राम ङे	रामाय
	दो रामों के लिये	— राम भ्याम्	रामाभ्याम्
	बहुत रामों के लिये	— राम भ्यस्	रामेभ्यः
पञ्चमी	राम से	— राम ङसि	रामात्
	दो रामों से	— राम भ्याम	रामाभ्याम्
	बहुत रामों से	— राम भ्यस्	रामेभ्यः
षष्ठी	राम का के की	— राम ङस्	रामस्य
	दो रामों का के की	— राम ओस्	रामयोः
	बहुत रामों का के की	— राम आम्	रामाणाम्
सप्तमी	राम में	— राम ङि	रामे
	दो रामों में	— राम ओस	रामयोः
	बहुत रामों में	— राम सुप्	रामेषु
सम्बोधन	हे राम	— राम सु	हे राम
	हे दो रामों	— राम औ	हे रामौ
	हे रामो	— राम जस्	हे रामाः

अब प्रातिपदिकों का केवल संस्कृत रूप ही लिखा जायगा। उनका हिन्दी रूप प्रत्येक विभक्ति में राम की भांति ही जानना चाहिए। जैसे— 'राम ने' 'राम को' आदि। संस्कृत विभक्तियों का अर्थ हिन्दी के प्रकरण में बता चुके हैं जैसे—संस्कृत विभक्ति 'सु' का हिन्दी अर्थ है 'ने' और 'अम्' का अर्थ हैं 'को'। इसी प्रकार अन्य विभक्तियों का अर्थ जानना चाहिए।

सर्वनाम प्रातिपदिकों के विषय में एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि रूप चलाते समय उनका रूप बदल जाता है। तद् का बदल कर

केवल 'त' यद् का 'य' और किम् का केवल 'क' ही रह जाता है और उसी का रूप चलता है। इनके रूप तीनों वचनों में नीचे दिये जाते हैं।

तद् पुँल्लिङ्ग — यद् पुँल्लिङ्ग

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	एकव०	द्विवचन	बहुवचन
प्र.—	सः	तौ	ते	यः	यौ	ये
द्वि.—	तम्	तौ	तान्	यम्	यौ	यान्
तृ.—	तेन	ताभ्याम्	तैः	येन	याभ्याम्	यैः
च.—	तस्मै	ताभ्याम्	तेभ्यः	यस्मै	याभ्याम्	येभ्यः
पं.—	तस्मात्	ताभ्याम्	तेभ्यः	यस्मात्	याभ्याम्	येभ्यः
ष.—	तस्य	तयोः	तेषाम्	यस्य	ययोः	येषाम्
स.—	तस्मिन्	तयोः	तेषु	यस्मिन्	ययोः	येषु

किम् पुँल्लिङ्ग — इदम् पुँल्लिङ्ग

कः	कौ	के	अयम्	इमौ	इमे
कम्	कौ	कान्	इमम्	इमौ	इमान्
केन	काभ्याम्	कैः	अनेन	आभ्याम्	एभिः
कस्मै	काभ्याम्	केभ्यः	अस्मै	आभ्याम्	एभ्यः
कस्मात्	काभ्याम्	केभ्यः	अस्मात्	आभ्याम्	एभ्यः
कस्य	कयोः	केषाम्	अस्य	अनयोः	एषाम्
कस्मिन्	कयोः	केषु	अस्मिन्	अनयोः	एषु

इकारान्त पुँल्लिङ्ग 'मुनि' उकारान्त पुँल्लिङ्ग 'साधु'

१	मुनिः	मुनी	मुनयः	साधुः	साधू	साधवः
२	मुनिम्	मुनी	मुनीन्	साधुम्	,,	साधून्
३	मुनिना	मुनिभ्याम्	मुनिभिः	साधुना	साधुभ्याम्	साधुभिः
४	मुनये	मुनिभ्याम्	मुनिभ्यः	साधवे	,,	साधुभ्यः
५	मुनेः	,,	,,	साधोः	,,	,,
६	मुनेः	मुन्योः	मुनीनाम्	साधोः	साध्वोः	साधूनाम्
७	मुनौ	मुन्योः	मुनिषु	साधौ	,,	साधुषु
८	हे मुने	हे मुनी	हे मुनयः	हे साधो	हे साधू	हे साधवः

ये उदाहरण पुँल्लिङ्ग संज्ञा या सर्वनाम प्रातिपदिकों के हैं जो ऊपर दिये गये हैं। इनमें प्रथम अकारान्त, इकारान्त अथवा उकारान्त का तात्पर्य अकार (अ) इकार (इ) अथवा उकार (उ) है अन्त में जिनके ऐसे शब्द से है। जैसे—राम, मुनि और साधु। इसी प्रकार स्त्रीलिङ्ग में आकारान्त ईकारान्त आदि शब्द होते हैं। जैसे–सीता, नदी आदि।

अब स्त्रीलिङ्ग प्रतिनिधि प्रातिपदिकों के रूप दिये जाते हैं :—

आकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द 'बालिका'

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा —	बालिका	बालिके	बालिकाः
द्वितीया —	बालिकाम्	"	"
तृतीया —	बालिकया	बालिकाभ्याम्	बालिकाभिः
चतुर्थी —	बालिकायै	"	बालिकाभ्यः
पञ्चमी —	बालिकायाः	"	"
षष्ठी —	"	बालिकयोः	बालिकानाम्
सप्तमी —	बालिकायाम्	"	बालिकासु
सम्बोधन—	हे बालिके	हे बालिके	हे बालिकाः

इसी प्रकार स्त्रीलिङ्ग सर्वनामों के रूप भी चलते हैं। उनमें तद् का 'ता', यद् का 'या' और किम् का 'का' हो जाता है और उसी से आगे रूप ग्रहण किया जाता है। यथा—

तद्='ता'–स्त्रीलिङ्ग			यद्='या'–स्त्रीलिङ्ग		
सा	ते	ताः	या	ये	याः
ताम्	"	"	याम्	"	"
तया	ताभ्याम्	ताभिः	यया	याभ्याम्	याभिः
तस्यै	"	"	यस्यै	"	याभ्यः
तस्याः	"	ताभ्यः	यस्याः	"	"
तस्याः	तयोः	तासाम्	यस्याः	ययोः	यासाम्
तस्याम्	"	तासु	यस्याम्	"	यासु

'ता' का प्रथमा एकवचन में 'सा' हो जाता है जैसे पुँल्लिङ्ग 'त' का 'स' हो गया था।

किम्='का' स्त्रीलिङ्ग			इदम्-स्त्रीलिङ्ग शब्द		
का	के	काः	इयम्	इमे	इमाः
काम्	,,	,,	इमाम्	,,	,,
कया	काभ्याम्	काभिः	अनया	आभ्याम्	आभिः
कस्यै	,,	काभ्यः	अस्यै	,,	आभ्यः
कस्याः	,,	,,	अस्याः	,,	,,
कस्याः	कयोः	कासाम्	अस्याः	अनयोः	आसाम्
कस्याम्	,,	कासु	अस्याम	,,	आसु

अब नपुंसकलिङ्ग प्रातिपदिकों का रूप लिखते हैं। इनके रूप प्रथमा और द्वितीया विभक्तियों के अतिरिक्त अन्य सभी विभक्तियों में पुँल्लिङ्ग 'राम' के समान ही चलते हैं। अत एव यहाँ केवल प्रथमा और द्वितीया विभक्तियों ही में रूप लिखे जाते हैं जो निम्नप्रकार है। शेष विभक्तियों में पुँल्लिङ्ग शब्दों के समान ही जानने चाहिए :—

अकारान्त नपुंसकलिङ्ग फल

प्रथमा —	फलम्	फले	फलानि
द्वितीया —	फलम्	फले	फलानि

सर्वनाम नपुंसकलिङ्ग 'तद्'

प्रथमा —	तत्	ते	तानि
द्वितीया —	,,	,,	,,

'किम्' सर्वनाम नपुंसकलिङ्ग

प्रथमा —	किम्	के	कानि
द्वितीया —	,,	,,	,,

'इदम्' सर्वनाम नपुंसकलिङ्ग

प्रथमा —	इदम्	इमे	इमानि
द्वितीया —	,,	,,	,,

अब 'युष्मद्' (तुम) और अस्मद् (मैं) इन दोनों प्रातिपदिकों के रूप दिये जाते हैं। इन सर्वनामों की विशेषता यह है कि इनके रूप सभी लिङ्गों में एक समान ही रहते हैं और उनमें कोई परिवर्तन लिङ्ग भेद के कारण नहीं होता।

युष्मद् (तुम)

प्र०	त्वम्	युवाम्	यूयम्
द्वि०	त्वाम्	,,	युष्मान्
तृ०	त्वया	युवाभ्याम्	युष्माभिः
च०	तुभ्यम्	,,	युष्मभ्यम्
पं०	त्वत्	,,	युष्मत्
ष०	तव	युवयोः	युष्माकम्
स०	त्वयि	,,	युष्मासु

अस्मद् (मैं)

प्र०	अहम्	अवाम्	वयम्
द्वि०	माम्	,,	अस्मान्
तृ०	मया	आवाभ्याम्	अस्माभिः
च०	मह्यम्	,,	अस्मभ्यम्
पं०	मत्	,,	अस्मत्
ष०	मम	आवयोः	अस्माकम्
स०	मयि	,,	अस्मासु

नोटः—इन रूपों को रट कर स्मरण नहीं करना चाहिए बल्कि सु औ, जस्, आदि विभक्तियों को प्रातिपदिकों के पश्चात् जोड़कर रखते और समझते जाइये। ऐसा बारम्बार करने से आपको न केवल ये रूप ही याद हो जायेंगे बल्कि आप विभक्तियों को भी पूर्ण रूप से याद कर सकेंगे। आगे चलकर अष्टाध्यायी के समझने में आपको सरलता होगी।

अभ्यास :—

(१) संस्कृत में अनुवाद कीजिए :—

१. राम का २. मोहन का ३. उसका ४. मेरा ५. तुम्हारा

६. जिसका ७. उसका ८. उसमें ९. तुम्हारे में १०. इसमें ११. किनका १२. रामों का १३. मुनियों का आश्रम १४. साधुओं का मन्दिर १५. वह किसका पिता। १६. वे किसके फल। १७. विद्यालय के कौन बालक। १८. हम लोगों के कर में पुस्तकें। १९. जिसका कार्य उसका फल।

(२) हिन्दी में अनुवाद कीजिये :—

१. रामस्य जनकः। तव भ्राता। केषां बालकः। मुनीनां साधूनां वा मन्दिरम्। बाटिकायां पुष्पाणि फलानि च। दयानन्दस्य वेदाध्ययनम्। शङ्कराचार्यस्य वेदान्ताध्ययनम्। गौतमस्य न्यायदर्शनम्। कपिलस्य सांख्यदर्शनम्। बाल्मीकिकवेः रामायणम्। भारतस्य मुख्य-नगरम्।

प्रश्न :—

१. विभक्तियाँ कितनी हैं तथा वे कौन-कौन हैं ?

२. हिन्दी की विभक्तियों के चिह्नों का संस्कृत में क्या अनुवाद है ?

३. हिन्दी में शब्द परिवर्तन होता है या विभक्तियों में परिवर्तन होता है, संस्कृत की विभक्तियों से तुलना कीजिये ?

४. संस्कृत भाषा में विशेषण का लिङ्ग किसके अनुसार होता है ?

तृतीय व्याख्यान

क्रिया का विश्लेषण :—

इस व्याख्यान में हम क्रिया पर विचार करेंगे, और इस बात की चेष्टा करेंगे कि क्रिया, उसके रूप, और उससे सम्बन्धित अन्य विषयों को विद्यार्थी भली प्रकार समझ सकें।

क्रिया—जिससे किसी कार्य का करना या होना पाया जाय उसे क्रिया कहते हैं। इसकी परिभाषा प्रथम व्याख्यान में की जा चुकी है। क्रिया मुख्य रूप से दो प्रकार की होती है। (१) सकर्मक और अकर्मक।

सकर्मक––जिस क्रिया का कर्म के साथ सीधा सम्बन्ध हो या जिसका फल किसी वस्तु पर पड़े उसे सकर्मक क्रिया कहते हैं। जैसे—राम पुस्तक पढ़ता है। मोहन फल खाता है। यहाँ पढ़ता है, का सम्बन्ध पुस्तक और 'खाता है' का सम्बन्ध फल से है। अतः ये क्रियायें सकर्मक हैं।

अकर्मक––जहाँ क्रिया में ही कार्य की समाप्ति हो जाय, अर्थात् जिसका फल किसी वस्तु पर न पड़े अथवा जिसका कर्म न हो उसे अकर्मक क्रिया कहते हैं। जैसे—कृष्ण हँसता है। राधा सोती है। यहां 'हँसता है' 'सोती है' इन क्रियाओं में कार्य समाप्त हो जाता है' और 'कर्म' की आवश्यकता नहीं है। अतः ये क्रियायें अकर्मक हैं।

इन क्रियाओं की मोटी पहिचान के लिए प्रत्येक वाक्य की क्रिया पर 'किसको ऐसा प्रश्न कीजिये। उत्तर में यदि कोई वस्तु मिल जाय तो क्रिया सकर्मक है अन्यथा अकर्मक। जैसे––राम पुस्तक पढ़ता है। इसमें 'किसको' पढ़ता है इस प्रश्न का उत्तर 'पुस्तक को' मिल जाता है अतः 'पढ़ता है' यह क्रिया सकर्मक है। राधा सोती है, में 'किसको' का उत्तर नहीं मिलता। अतः यह अकर्मक है।

धातु+प्रत्यय=क्रिया।

संस्कृत और हिन्दी दोनों भाषाओं में धातु और प्रत्यय के योग से क्रिया बनती है। धातु क्रिया के मूल रूप को कहते हैं अर्थात्–क्रियावाची शब्दों में से 'ना' को लोप कर देने पर जो बचता है उसको धातु कहते हैं। जैसे-करना, जाना, लड़ना, पढ़ना, दौड़ना आदि हैं। इन शब्दों में 'कर' जा, लड़, पढ़, दौड़ आदि धातु हैं। धातु के पश्चात् क्रिया बनाने के लिए जो कुछ जोड़ा जाता है उसे प्रत्यय कहते हैं। जैसे—पढ़ता है, जाता है, खाता है। इनमें 'ता' प्रत्यय है, और पढ़, जा, खा, आदि धातु। ये स्त्रीलिङ्ग और पुँल्लिङ्ग के भेद से भिन्न-भिन्न होते हैं। जैसे-–यदि पुँल्लिङ्ग में 'ता' प्रत्यय लगता है तो स्त्रीलिङ्ग में इसका रूप 'ती' होगा। इसी प्रकार काल-भेद से भी इनके रूप और परिवर्तित होते हैं। काल तीन हैं

भूतकाल––जो समय बीत चुका है उसे भूतकाल कहते हैं। जैसे-प्राचीन काल में महाभारत का युद्ध हुआ। मोहन गया।

वर्तमान काल–बीत रहे हुए समय को वर्तमान काल कहते हैं। जैसे–मैं पुस्तक पढ़ता हूँ। इस काल के प्रत्यय 'ता, ती आदि हैं।

भविष्यत् काल—आने वाले समय को भविष्यत् काल कहते हैं। जैसे—हम कलकत्ता जायेंगे।

'जाना'क्रियावाची शब्द में'ना'को लोप कर दीजिए।'जा'बच गया। अब तीनों कालों में इसका रूप चलेगा। जैसे–वर्तमानकाल का प्रत्यय'ता' है। तो 'ता' जोड़ने से जाता है बन जायेगा। भूत काल का प्रत्यय 'या' है। यहाँ धातु का भी परिवर्तन हो जाता है। अर्थात् भूत काल में 'जा' धातु का 'ग' हो जायेगा और 'या' प्रत्यय जोड़कर 'गया' क्रिया बनती है। इसी प्रकार भविष्यत् काल में 'येगा' प्रत्यय जोड़ा जाता है। जैसे 'जा' धातु है उसके पश्चात् 'येगा' प्रत्यय जोड़ने से 'जायेगा' क्रिया बन गई। इसी प्रकार से धातु के पश्चात् तीनों कालों के प्रत्ययों को जोड़-जोड़ कर रूप बनाये जाते हैं। यह तो हिन्दी की व्यवस्था हुई। संस्कृत व्याकरण में २००० दो हजार धातु हैं। और उन धातुओं का संग्रह पाणिनि भगवान् ने किया है। जहाँ पर धातुओं का संग्रह है उस पुस्तक को धातुपाठ कहते हैं। मैंने भी आवश्यक धातुओं का संकलन आख्यात-प्रकरण में कर दिया है। उन धातुओं को स्मरण कर लेना चाहिये। जैसे भू सत्तायाम्, एध वृद्धौ इत्यादि धातुएं हैं। इसमें 'भू' धातु का अर्थ है 'होना'। इसी प्रकार सभी धातुओं का अर्थ सप्तमी विभक्ति में किया गया है।

अब इन धातुओं के पश्चात् तीनों कालों के भिन्न-भिन्न प्रत्ययों को जोड़कर क्रियायें बनाई जायेंगी। जैसे पठ=पढ़ना, खाद=खाना, गच्छ=जाना, धाव=दौड़ना, लिख=लिखना, वद=बोलना, हस=हसना, पच=पकाना इत्यादि धातु हैं। पहले वर्तमान काल के प्रत्ययों को लीजिये। प्रत्यय जोड़ने के पूर्व हमको ध्यान देना चाहिये कि जिस प्रकार हिन्दी में ता, ती इत्यादि प्रत्ययों में स्त्रीलिङ्ग और पुँल्लिङ्ग का भेद है, वैसा संस्कृत में नहीं। संस्कृत प्रत्ययों में स्त्रीलिङ्ग और पुँल्लिङ्ग का कोई भेद नहीं।

इस प्रकरण में 'पुरुष' के भेद को भी समझ लीजिये। ये तीन प्रकार के होते हैं:—

प्रथमपुरुष, मध्यमपुरुष और उत्तमपुरुष। संसार में तीन ही पुरुष होते हैं। एक बोलने वाला, दूसरा सुनने वाला और तीसरा जिसके विषय में बात की जाय। बोलने वाले को उत्तम पुरुष, सुनने वाले को मध्यम पुरुष और जिसके विषय में बात की जाय उसको प्रथम पुरुष कहते हैं। हिन्दी में प्रथम पुरुष को अन्य पुरुष भी कहते हैं।

मान लीजिये कि हमें 'पठ' धातु के रूप चलाने हैं। ये सभी पुरुषों में चलेंगे। जिस प्रकार प्रथम पुरुष के एकवचन, द्विवचन और बहुवचन में, उसी प्रकार मध्यम पुरुष और उत्तम पुरुष में भी चलेंगे। अर्थात् ९ प्रत्यय चाहिये जिनको धातु के पश्चात् जोड़कर सभी पुरुषों में रूप चलाये जा सकें। संस्कृत भाषा के वर्तमान काल के नव प्रत्यय ये हैं :—

ति	तः	अन्ति	पठति	पठतः	पठन्ति
सि	थः	थ	पठसि	पठथः	पठथ
आमि	आवः	आमः	पठामि	पठावः	पठामः

प्रथम पुरुष सः, तौ, ते के साथ पठ धातु। जैसे—सः पठति = वह पढ़ता है। तौ पठतः = वे दोनों पढ़ते हैं। ते पठन्ति = वे सब पढ़ते हैं।

इसी प्रकार मध्यम पुरुष में—

त्वं पठसि = तू पढ़ता है, युवाम् पठथः = तुम दोनों पढ़ते हो। यूयम् पठथ = तुम सब पढ़ते हो। अहम् पठामि = मैं पढ़ता हूँ। आवाम् पठावः = हम दोनों पढ़ते हैं। वयं पठामः = हम सब पढ़ते हैं।

ऐसे ही लिखति, लिखतः, लिखन्ति। लिखसि, लिखथः, लिखथ। लिखामि, लिखावः, लिखामः। इस प्रकार सभी धातुओं के पश्चात् वर्तमान काल में ति तः अन्ति इत्यादि प्रत्यय जोड़कर क्रियायें बनायी जातीं हैं।

भूतकाल की क्रिया—भूतकाल में धातु के पहले 'अ' जोड़ा-जाड़ा है और पश्चात् में प्रत्यय भी जो वर्तमान काल से भिन्न हैं। जैसे—त्, ताम्, अन् (प्रथम पुरुष में) :, तम्, त (मध्यम पुरुष में) अम्, व, म (उत्तम पुरुष में) अब 'पठ' धातु लीजिये और वचन के भेद से एक एक प्रत्यय उस धातु के पश्चात् जोड़ते जाइये और धातु के रूप बनते जायेंगे।

यथा —अपठत्, अपठताम्, अपठन् इति प्रथमपुरुषः
अपठः, अपठतम्, अपठत इति मध्यमपुरुषः
अपठम्, अपठाव, अपठाम इति उत्तमपुरुषः

सः अपठत्=उसने पढ़ा। तौ अपठताम्=उन दोनों ने पढ़ा। ते अपठन्=उन लोगों ने पढ़ा। त्वम् अपठः=तू ने पढ़ा। युवाम् अपठतम्=तुम दोनों ने पढ़ा। यूयम् अपठत=तुम लोगों ने पढ़ा। अहम् अपठम्=मैंने पढ़ा। आवाम् अपठाव=हम दोनों ने पढ़ा। वयम् अपठाम=हम लोगों ने पढ़ा। इसी प्रकार अन्य पच गच्छ इत्यादि धातुओं का रूप भी चला लेना चाहिये।

भविष्यत्काल की क्रियायें—

भविष्यत्काल में धातु के पश्चात् 'इष्यति' या 'ष्यति' प्रत्यय जोड़े जाते हैं। यह ष्यति और इष्यति का भेद क्यों ?

इसकी विस्तृत व्याख्या 'सेट्' 'अनिट्' धातुओं के प्रकरण में की गई है। जो अष्टाध्यायी के सप्तम अध्याय में है। साधारणतः हलन्त धातु से इष्यति और अजन्त धातु से स्यति या ष्यति प्रत्यय होते हैं।

अब प्रत्येक धातुओं के पश्चात् पुरुष और वचन के भेद से प्रत्यय जोड़े जायेंगे। इसका रूप वर्तमानकाल के जैसा ही चलता है जैसे :—

पठिष्यति	पठिष्यतः	पठिष्यन्ति
पठिष्यसि	पठिष्यथः	पठिष्यथ
पठिष्यामि	पठिष्यावः	पठिष्यामः।

गमिष्यति, धाविष्यति, लेखिष्यति, वदिष्यति इत्यादि का रूप चला लेना चाहिए। अब ष्यति प्रत्यय का रूप चलाते हैं। आप इष्यति और स्यति का भेद केवल 'षकार' से देख रहे हैं इसलिए इस शंका को दूर करने के लिए षत्वप्रकरण पर व्याख्यान पढ़ लीजिये।

पच् के पश्चात् स्यति जोड़ा जायेगा तो–पक्ष्यति, पक्ष्यतः, पक्ष्यन्ति। पक्ष्यसि, पक्ष्यथः, पक्ष्यथ। पक्ष्यामि, पक्ष्यावः पक्ष्यामः।

इसी प्रकार पा=पीना धातु से—पास्यति, पास्यतः, पास्यन्ति। पास्यसि, पास्यथः, पास्यथ। पास्यामि, पास्यावः, पास्यामः।

उपर्युक्त उदाहरणों में से हमने भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान के केवल एक-एक प्रकार के प्रत्यय को लिया है। भूत, भविष्यत् या वर्तमान के

कितने भेद हैं तथा उनमें कौन और कितने प्रत्यय लगते हैं, उन बातों की यहाँ आवश्यकता नहीं है। उनका विस्तृत व्याख्यान "लकारार्थ निर्णय प्रकरण" में करंगे यहां तो अभी प्रारम्भिक संस्कृत ज्ञान के लिए बातें बतायी जा रही हैं। इन बातों को जानने के पश्चात् अष्टाध्यायी पढ़ने में सुविधा प्राप्त होगी। इस संक्षिप्त व्याख्यान में संस्कृत साहित्य या संस्कृत के व्याकरण को पढ़ाने का लक्ष्य नहीं यहाँ तो संस्कृत में प्रवेश कराया जा रहा है। इसलिए इन तीनों कालों में धातुओं के रूपों का साधारण ज्ञान होना चाहिये। साधारण ज्ञान के लिए आज्ञा देने के अर्थ में कौन प्रत्यय होगा, इसका विवेचन करना शेष है। जैसे तुम जाओ, तुम पढ़ो, इत्यादि।

आज्ञा देने के अर्थ में जो प्रत्यय प्रयोग में आते हैं वे उनके पठ धातु के साथ ये रूप हैं :—तु, ताम्, अन्तु। पठतु, पठताम्, पठन्तु। हि, तम्, त। पठ, पठतम्, पठत। आनि, आव, आम। पठानि, पठाव, पठाम।

इन रूपों में मध्यमपुरुष के एकवचन में अकारान्त के पश्चात् 'हि' को लोप हो जाता है। यह विशेष बात है जो याद रखनी चाहिए। अब सभी धातुओं का रूप चला लेना चाहिए। जैसे गच्छ का रूप गच्छतु, गच्छताम्, गच्छन्तु। गच्छ, गच्छतम्, गच्छत। गच्छानि, गच्छाव, गच्छाम।

स्मरण संकेत----

(१) क्रिया के दो भेद अकर्मक और सकर्मक।

(२) 'किसको' प्रश्न करने पर उत्तर मिले तो उसे सकर्मक क्रिया कहते हैं।

(३) धातु+प्रत्यय=क्रिया।

(४) हिन्दी में क्रियावाची शब्दों में से 'ना' के लोप कर देने पर जो बचता है, उसे धातु कहते हैं।

(५) धातु के पश्चात् क्रिया बनाने के लिए जो कुछ जोड़ा जाता है, उसे प्रत्यय कहते हैं।

(६) संस्कृत में पाणिनि मुनि के धातु पाठ में जो २००० क्रियावाची शब्द संगृहीत हैं, उन्हीं को धातु कहते हैं।

(७) संस्कृत में धातु के पश्चात् प्रत्ययों में लिङ्ग का कोई भेद नहीं होता।

अभ्यास

१—वर्तमान काल के कौन-कौन ६ प्रत्यय होते हैं ?

२—लिख धातु का रूप वर्तमान के प्रत्ययों को जोड़कर लिखें तथा उसी प्रकार से पठ, गच्छ, धाव, इत्यादि धातुओं में वर्तमान, भूत, भविष्यत्, आज्ञार्थक प्रत्ययों को जोड़कर दस-दस रूपों को बोलें।

३—भविष्यत् काल में पठ धातु का क्या रूप होता है।

४—भूत काल में लिख धातु का रूप बोलें।

५—आज्ञा देने के लिये किन किन प्रत्ययों का व्यवहार होता है, उन प्रत्ययों के साथ गच्छ का रूप बोलें।

६—पठ, लिख, गच्छ, धाव इत्यादि धातुओं का रूप पांच पांच बार वर्तमानादि प्रत्ययों को जोड़ते हुए बोलिये।

संस्कृत से हिन्दी में अनुवाद:—

रामस्य जनकः गच्छति। सः विद्यालये पठिष्यति। रमा पाठशालायां पठिष्यति। त्वं पठ। सः अगच्छत्। ते कुत्र धावन्तु। सोहनः ओदनं खादति। तव पिता गृहं गच्छति। तस्य अनुजः बम्बईनगरे निवसति। धाव धाव। गच्छ गच्छ।

हिन्दी से संस्कृत में अनुवाद:—

राम का पिता जाता है। वह विद्यालय में पढ़ेगा। सीता पाठशाला में पढ़ेगी। तुम पढ़ो। मोहन भात खाता है। तुम्हारा छोटा भाई किस का पत्र लिखता है। जाओ जाओ। लिखो लिखो। उसका भाई कलकत्ता शहर में रहता है। तुमने पत्र लिखा। उसने भात खा लिया।

चतुर्थ व्याख्यान

गत व्याख्यानों में हम संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण और क्रिया आदि के विषय में विचार कर चुके हैं। प्रस्तुत व्याख्यान में संक्षेप से अव्यय का वर्णन करेंगे।

अव्यय शब्द का अर्थ है जो व्यय को प्राप्त न हो। व्यय शब्द का वास्तविक अर्थ है 'विशेष रूप से चलना' जैसे, रुपया एक हाथ से दूसरे हाथ में चले जाने पर व्यय को प्राप्त होता है। यह 'व्यय' शब्द वि उपसर्ग पूर्वक 'इण् गतौ' धातु से बनता है जिसका अर्थ है 'विशेष रूप से चलना'। जो नहीं चलता है अर्थात् जिसके रूप नहीं चलते हैं उसे व्याकरण में अव्यय कहते हैं। गत व्याख्यानों में हम अन्य प्रकार के संज्ञा आदि शब्दों पर विवेचन कर चुके हैं जिनके रूप विभक्तियों में लिङ्ग और वचन भेद के अनुसार बदलते रहते हैं। कुछ शब्द ऐसे होते हैं जिनका किसी भी परिस्थिति में रूप नहीं बदलता है। जो सर्वथा एक ही समान रहते हैं। ऐसे शब्दों को व्याकरण में अव्यय कहते हैं। जैसे, यत्र, तत्र, सर्वत्र, यथा, तथा, अथवा, वा, आदि। इन शब्दों के रूप नहीं चलते। अतएव ये, या इसी प्रकार के अन्य सभी शब्द अव्यय कहलाते हैं। निम्न श्लोक से अव्यय के लक्षण को और भी स्पष्ट रूप से समझ लीजिये।

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्॥

अर्थात् जो तीनों लिङ्गों (पुँल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग, और नपुंसकलिङ्ग), सातों विभक्तियों (प्रथमा, द्वितीया आदि) तथा तीनों वचनों (एक वचन द्विवचन और बहुवचन) में जिसके रूप नहीं चलते या बदलते हैं ऐसे शब्द को अव्यय कहते हैं।

कुछ अव्ययों का विवरण—

यत्र=जहां, तत्र=वहां, सर्वत्र=सब जगह, अत्र=यहां, कुत्र=कहां, यतः=जहां से, ततः=वहां से, कुतः=कहां से, यदा=जब, तदा=तब, कदा=कब, सर्वदा=सदा, सदा=सर्बदा, कृत्वा=करके, गत्वा=जाकर, हत्वा=मारकर, पठितुम्=पढ़ने के लिये, गन्तुम्=जाने के लिये, श्वः=कल (आने वाला) ह्यः=कल (बीता हुआ) अद्य=आज परश्वः=परसों, सम्प्रति=इस समय, साम्प्रतम्=इस समय, इदानीम्=इस समय, अधुना=अब च=और, एव=ही, इव=समान, जैसा, यथा=जैसे, तथा=वैसा। इस प्रकार के बहुत अव्यय होते हैं।

शब्दों के तीन प्रकार

उपर्युक्त व्याख्यानों में हम देख चुके हैं कि हिन्दी में शब्द स्थूलतया

पांच प्रकार के होते हैं, संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया और अव्यय। इन्हीं को निरुक्तकार महामुनि यास्क ने ४ विभागों के अन्तर्गत रखा है। वे विभाग हैं, नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। किन्तु महामुनि पाणिनि की अष्टाध्यायी में शब्दों के तीन ही विभाग हैं। नाम, आख्यात और अव्यय। उनके मत मे उपसर्ग और निपात, अव्यय ही हैं।

संस्कृत से हिन्दी में अनुवादः—

रामस्य जनकः कदा गृहं गमिष्यति। सः कुत्र निवसति। मोहनस्य गृहे कुत्र पुस्तकानि सन्ति। अद्य रामः नहि आगमिष्यति। तस्य भ्राता श्वः गृहं न गमिष्यति। सः कथं पत्रं न लिखति।

हिन्दी से संस्कृत में अनुवादः—

तुम कहां रहते हो। उसका भाई कल कहां जायेगा। वह कल कहां गया। आज किसका व्याख्यान है। तुम फल कहां से (आनयसि) लाते हो। तुम्हारी बाटिका में पुष्प और फल हैं या नहीं।

पञ्चम व्याख्यान

अभी तक हमने हिन्दी और संस्कृत के व्याकरणों की केवल मोटी बातों पर विचार किया है; और देखा है कि उनमें परस्पर कहाँ-कहाँ भिन्नता है। ये बातें व्याकरण के प्रारम्भिक ज्ञान और विषय प्रवेश के लिए आवश्यक थीं। इनको अच्छी तरह समझ लेने और स्मरण करने के पश्चात् अष्टाध्यायी के सूत्रों का समझना सुगम हो जायगा। अष्टाध्यायी में सब मिलकर लगभग चार सहस्र सूत्र हैं, जिनमें से हम ने १३१६ सूत्रों को इस ग्रन्थ में व्याख्या के लिए चुना है। इस विषय में हमारा यह निश्चित मत है कि यदि इन सूत्रों को अच्छी प्रकार से समझ लिया जाय तो विद्यार्थी या अध्येता को वेद, उपनिषद्, गीता तथा अन्य साहित्यिक ग्रन्थ जैसे वाल्मीकि रामायण, महाभारत, भागवत् आदि के पठन-पाठन में व्याकरण सम्बन्धी कोई कठिनाई उपस्थित

नहीं होगी। अत एव यह आवश्यक है कि इन व्याख्यानों में जो कुछ कहा जा रहा है उसे पूर्ण रूप से समझ लेना चाहिए।

सूत्र—प्राचीन काल में जब कि छापे की कल का आविष्कार नहीं हुआ था तब हमारे ऋषि मुनि अपने विचारों को या तो श्लोक वद्ध (कविता में) करते थे या सूत्रों में कहते थे जिससे छात्रों को उन्हें कण्ठ-स्थ करने में सरलता होती थी। अत्यन्त संक्षिप्त रूप से कहने को 'सूत्र' कहते हैं जैसे गागर में सागर भर दिया। सूत्र की परिभाषा विद्वानों ने इस प्रकार की हैं।

अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारविद् विश्वतो मुखम्।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥

अर्थात्—जो थोड़े अक्षरों वाला हो, उसके अर्थ ज्ञान में सन्देह न हो, अनेक अर्थों को सूचित करने वाला हो, अनर्थक वर्ण समुदाय से रहित हो, और उसके किसी भी अंश में न्यूनता न हो, ऐसे वचन को विद्वान् लोग 'सूत्र' कहते हैं। ऐसे ही सूत्रों में भगवान् पाणिनि ने समस्त व्याकरण शास्त्र का प्रवचन किया है।

इनमें से प्रत्येक सूत्र के ६ अङ्ग हैं जो इस प्रकार हैं :—

(१) पदच्छेदः (२) विभक्तिः (३) समासः (४) अर्थः (५) उदा-हरणम् और (६) सिद्धिः।

इन अङ्गों या विषयों पर अधिकार होने से सभी सूत्र समझ में आ जायेंगे और कोई कठिनाई नहीं होगी। अब हम इन सब पर पृथक् पृथक् रूप से विचार करते हैं।

(१) पदच्छेदः

पदच्छेद का शाब्दिक अर्थ है पदों को अलग-अलग कर देना। एक सूत्र कई पदों को मिला कर बनता है। इन्हीं पदों को सन्धि-विच्छेद आदि करके पृथक्-पृथक् करने को पदच्छेद कहते हैं। ऐसा करने से सूत्र का अर्थ समझने या लगाने में सरलता होती है। अब पद की परिभाषा —

पद—सुबन्त और तिङन्त शब्दों की पद संज्ञा होती है अर्थात् सुप् और तिङ् आदि विभक्तियां जिन शब्दों के अन्त में जुड़ी होती हैं

उनको 'पद' कहते हैं। सुप् और तिङ् ये कौन सी विभक्तियां हैं? देखिये :—

सुप्—जैसा कि हम देख चुके हैं, संज्ञा, सर्वनाम आदि प्रातिपदिकों के पश्चात् सु, औ, जस् आदि २१ विभक्तियाँ जोड़ कर रूप चलाये जाते हैं। इन्हीं विभक्तियों में से प्रथम अक्षर (सु) और अन्तिम अक्षर (प्) लेकर 'सुप्' शब्द बनाया गया। अर्थात् सु औ, जस् आदि २१ विभक्तियों ही को 'सुप्' कहते हैं।

तिङ्—इसी प्रकार धातुओं के पश्चात् जोड़ी जाने वाली विभक्तियों को तिङ् कहते हैं। इन विभक्तियों का पहला अक्षर 'ति' और अन्तिम 'ङ्' है, जिनके योग से 'तिङ्' बना। अर्थात् क्रिया बनाने के लिए धातुओं के पश्चात् जोड़ी जाने वाली १८ विभक्तियों को 'तिङ्' कहते हैं, जो वे इस प्रकार हैं।

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
परस्मैपद—	तिप्	तस्	झि
	सिप्	थस्	थ
	मिप्	वस्	मस्
आत्मनेपद—	त	आताम्	झ
	थास्	आथाम्	ध्वम्
	इट्	वहि	महिङ्

इन्ही विभक्तियों से 'ति तः अन्ति' आदि प्रत्यय बने हैं जो धातुओं के पश्चात् जोड़े जाते हैं, और रूप चलाया जाता है।

परस्मैपदी तथा आत्मनेपदी धातुओं का वर्णन अन्यत्र किया जायेगा।

प्रत्याहार—प्रत्याहार का अर्थ है संक्षिप्त करना, अर्थात् किसी एक शब्द या अक्षर समूह के लिए एक सांकेतिक शब्द का प्रयोग करना। जैसे—सु, औ, जस् आदि विभक्तियों के लिए 'सुप्' और तिप्, तस्, झि आदि १८ विभक्तियों के लिए 'तिङ्' सांकेतिक शब्द को व्यवहार में लाना। सुप् और तिङ् संकेतों को प्रत्याहार कहेंगे। इसी प्रकार भगवान् पाणिनि ने प्रत्याहारों का प्रयोग किया है।

"अ इ उ ण्, ऋ लृक् इत्यादि प्रत्याहार सूत्र कहलाते हैं। इन

चौदह सूत्रों से ४२ प्रत्याहार बने हैं। जैसे अक्, अच्, हल्, अल्, आदि। अक् कहने से 'अ' से 'क्' तक के सभी अक्षरों (अ, इ, उ, ऋ, लृ) का बोध समझना चाहिए। इसी प्रकार अच् से 'अ' से लेकर 'च्' तक के सभी स्वर, हल् से 'ह' से 'ल्' तक के सभी व्यञ्जन और अल् से 'अ' से लेकर 'ल्' तक के सभी अक्षरों को समझना चाहिए। अतः सुप्, तिङ्, अक्, अच्, हल्, अल्, आदि सभी प्रत्याहार हैं और वे अपने-अपने अक्षर समूहों को प्रकट करते हैं। इन सब को समझने के पश्चात् पद की परिभाषा सरल हो जाती है। देखिये, **सुप् और तिङ् प्रत्याहार में आने वाला कोई भी प्रत्यय जिस प्रातिपदिक या धातु के अन्त में हो उस प्रत्यय अन्तवाले शब्द को पद कहते हैं।** जैसे, रामः पठति आदि। राम के अन्त में जो (:) लगे हैं वह 'सु' का ही परिवर्तित रूप है और पठति के अन्त में तिप् 'ति' प्रत्यय का रूप ही है। अतः ये क्रमशः सुबन्त और तिङन्त पद हैं। ऐसे ही पदों को पृथक्-पृथक् करना 'पदच्छेद' कहलाता है। जैसे—रामः गृहं गच्छति। इस वाक्य में रामः और गृहम् में क्रमशः सु और अम् तथा 'गच्छति' में 'ति' विभक्ति जुड़ी हुई है। अतः रामः और गृहम्, सु,औ जस् आदि विभक्तियों के कारण सुबन्त और गच्छति में 'तिप्' होने से तिङन्त है। इस ग्रन्थ में सभी सूत्रों का इसी प्रकार पदच्छेद कर दिया गया है।

(२) विभक्तिः

पदच्छेद के पश्चात् विभक्ति क्रम आपसे आप समझ में आ जाता है। पद के पृथक् हो जाने पर उसकी विभक्ति भी स्पष्ट हो जाती है। मान लीजिये कि किसी प्रातिपदिक के अन्त में 'सु' लगा है तो उसे प्रथमा का एकवचन कहेंगे। इस ग्रन्थ में इसका चिह्न १।१ है जो यथा-स्थान सूत्र पर लिखा रहेगा। अन्त में ङस् लगे रहने पर वह षष्ठी का एकवचन ६।१ होगा। इसी प्रकार सूत्रों के सभी पदों पर विभक्तियां लिख दी गई हैं। किसी भी सूत्र को देख लीजिये।

(३) समासः—अनेक पदों के एक पद हो जाने को समास कहते हैं। जैसे दशरथस्य पुत्रः (दशरथ का पुत्र) इसमें दो पद हैं। दोनों को मिला कर दशरथपुत्रः एक पद बन गया। इसी को समास कहते हैं।

पदों का'ङस्' और 'सु'का लोप हो गया और फिर एक दूसरा,सु' आकर दशरथपुत्रः बना। अतः समास में कम से कम दो पदों का एक पद होना निश्चित ही पाया जाता है। इससे अधिक पद भी हो सकते हैं। तो इन दोनों पदों में 'दशरथ' शब्द को पूर्वपद और पुत्र शब्द को उत्तरपद कहेंगे। पूर्व का अर्थ पहले का और उत्तर का अर्थ पश्चात् का है। समास में कभी पूर्व पद प्रधान हो जाता है और कभी उत्तरपद। कभी कभी दोनों पद प्रधान हो जाते हैं और कभी दोनों पदों को छोड़कर एक तीसरा पद ही प्रधान हो जाता है। इसी कारण मुख्यतया समास चार प्रकार के होते हैं। (१) अव्ययीभावः (२) तत्पुरुषः (३) बहुव्रीहिः (४) द्वन्द्वः। कर्मधारय इत्यादि अन्य जितने भेद हिन्दी या संस्कृत में होते हैं, वे सभी इन्हीं चार समासों के भेद हैं।

अव्ययीभावः—पूर्वपदार्थप्रधानः अव्ययीभावः अर्थात् जिसमें पूर्वपद का अर्थ प्रधान है, उसे अव्ययीभाव समास कहते हैं। जैसे उपकृष्णम्। उपकृष्णम् में दो पद हैं उप और कृष्णस्य। उप अव्यय है और समीप अर्थ का बोधक है। अतः उपकृष्णम् का विग्रह हुआ कृष्णस्य समीपम्। समस्त पदों को विभक्ति के साथ अलग अलग करने को विग्रह कहते हैं। जैसे दशरथपुत्रः यह समास किया हुआ शब्द है। अलग अलग करने पर दशरथस्य पुत्रः होगा। विग्रह दो प्रकार का होता है। (१) लौकिक और (२) अलौकिक। लोक अर्थात् संसार में जो वाक्य रूप से बोलने योग्य हो उसको लौकिक विग्रह कहते हैं, तथा जो लोक में बोला न जाता हो, केवल व्याकरण का कार्य दर्शाने के लिए ही विग्रह किया जाता है उसको अलौकिक विग्रह कहते हैं। जैसे दशरथ ङस् पुत्र सु। ऐसा विग्रह लोक में बोला नहीं जाता। लेकिन व्याकरण में इसकी आवश्यता पड़ती है; तो उपकृष्णम् यहाँ पर लौकिक विग्रह कृष्णस्य समीपम् हुआ और अलौकिक विग्रह कृष्ण ङस् उप सु हुआ। दोनों पदों से मिलकर 'उपकृष्णम्' बना। यह कैसे बना इसका विवेचन समास प्रकरण में किया जावेगा। यहाँ पर तो दो पद मिलकर एक पद बन गया यही जानना चाहिये। अव्ययीभाव समास नपुंसक लिङ्ग और अव्ययसंज्ञक होता है। इसलिये इसके रूप सब विभक्तियों में नहीं चलते। अकारान्त अव्ययीभाव से परे विभक्ति

को अम् हो जाता है। उपकृष्णम् का अर्थ है कृष्ण के समीप। यहां पर उप अव्यय की प्रधानता है न कि कृष्ण की और उप पूर्वपद है इस लिये उपकृष्णम् में पूर्वपदार्थ की प्रधानता होने से अव्ययी भाव का लक्षण घट गया। पूर्वपदार्थप्रधानः अव्ययीभावः इति।

तत्पुरुषः——उत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषः। जिस समास में उत्तर-पदार्थ प्रधान होता है उसे तत्पुरुष समास कहते हैं। जेसे दशरथस्य पुत्रः इति दशरथपुत्रः। इस वाक्य में दशरथ के पुत्र का बोध होता है अतः वही प्रधान है।

'राजपुरुषः' पद का अर्थ है राजा का पुरुष। 'राजपुरुषमा-नय' इस वाक्य का अर्थ है राजा के पुरुष को लाओ। इस वाक्य का सुनने वाला राजा को तो नहीं बल्कि राजा के पुरुष को ही लावेगा। अतः उत्तरपदार्थ प्रधान वाला समास तत्पुरुष समास होता है।

बहुव्रीहिः——अन्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिः। जिस समास में दोनों पदों की प्रधानता नहीं बल्कि अन्य ही पदार्थ प्रधान हो उसे बहुव्रीहि समास कहते हैं। जैसे चित्रगुः गच्छति। इस वाक्य का अर्थ है चितकबरी गायों वाला कोई व्यक्ति जाता है। अब इस समस्त पद में चित्र और गो दो पद हैं। जिस व्यक्ति को चित्रगुः कहा जा रहा है। वह तो स्वयं चितकबरी नहीं है और न वह गाय है परन्तु वह चितकबरी गाय वाला है। इससे यहाँ पर प्रधानता चित्र और गो इन दोनों पदों की नहीं है। परन्तु इन दोनों चित्र और गो पदों के अर्थ से भिन्न एक तीसरा पदार्थ जो कोई व्यक्ति है, उसकी प्रधानता है। इसलिये अन्य पदार्थ प्रधान वाला समास वहुव्रीहि समास होता है।

द्वन्द्वः——उभयपदार्थप्रधानो द्वन्द्वः। जिस समास में दोनों पदों की प्रधानता होती है उसे द्वन्द्व समास कहते हैं। जैसे रामलक्ष्मणौ गच्छतः। इस वाक्य का अर्थ है राम और लक्ष्मण जाते हैं। यहाँ पर जाने वाले राम और लक्ष्मण दोनों ही प्रधान हैं। हिन्दी में भी 'दाल भात' 'हाथ पैर' इत्यादि उदाहरण है। दाल और भात दोनों ही प्रधान हैं।

पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावः आदि जो चारों समासों के लक्षण दिखलाए हैं वे सब मान्य लक्षण हैं। प्राय करके तत्तत् समास में पूर्वादि पदों की प्रधानता होती है। कहीं कहीं पर इन लक्षणों का व्याघात भी

देखा जाता है यथा राजमाषः, राजरोगः। यहां तत्पुरुष समास होने से माष और रोग की प्रधानता होनी चाहिए परन्तु प्रधानता है राज की, क्योंकि विग्रह वाक्य माषाणां राजा और रोगाणां राजा में राजा की ही प्रधानता अभिप्रेत है। इसी प्रकार अन्य समासों में भी समझें।

प्रस्तुत ग्रन्थ में समासों के अवान्तर भेदों का भी निर्देश किया गया है। जैसे षष्ठी तत्पुरुष, आदि। अवान्तर भेदों का विस्तृत वर्णन समास प्रकरण के व्याख्यान में देखिये। यहां समास के मुख्य भेदों का निरूपण कर दिया गया है जिससे विद्यार्थी सूत्रों में आये हुए समासों को समझ सकें।

(४) अर्थः—अर्थ से तात्पर्य सूत्र के अर्थ से हैं। सूत्र का अर्थ जानना चाहिए अन्यथा उसे रटने से विशेष लाभ न होगा। सूत्रों के अर्थ लगाने के लिए 'अनुवृत्ति' का विशेष रूप से ज्ञान होना चाहिए। इसके बिना ठीक अथे नहीं लगाया जा सकता। यह 'अनुवृत्ति' ही अष्टाध्यायी क्रम की विशेषता है क्योंकि ऊपर के सूत्रों से भी कई पद आकर जिस सूत्र का अर्थ करना हो उसमें जुड़ जाते हैं। तभी उसका ठीक अर्थ लगता है अन्यथा नहीं। बार बार एक ही बात को न दुहरा कर उसे केवल एक ही बार कह दिया जाता है और उसकी अनुवृत्ति आगे चलती रहती हैं।

ये अनुवृत्तियाँ दो प्रकार की होती हैं,एक लम्बी और दुसरी छोटी। जिस पद या पदों की अनुवृत्ति अनेक सूत्रों में दूर तक जाती हैं उसे 'अधिकार' कहते हैं।

बारम्बार उस पद को न कहकर एक ही बार कह दिया जाता है और जहाँ तक उस सूत्र या पद का अधिकार जाता है, वह अपने बाद के सभी सूत्रों में उपस्थिति होकर उस सूत्र का अङ्ग होता है। जैसे— प्रत्ययः (३.१.१.) परश्च (३.१.२.) ये दोनों अधिकार सूत्र हैं। और इनका अधिकार पञ्चमाध्याय के अन्त तक जाता है। इसका अर्थ हुआ कि ये दोनों सूत्र पञ्चमाध्याय तक सभी सूत्रों में जाकर उसका अङ्ग बन जाते हैं। और तभी उस सूत्र का अर्थ होता है। तृतीयाध्याय में धातोः (३.१.९१.) भी अधिकार सूत्र है। उसका अधिकार तृतीयाध्याय के अन्त तक जाता है।

स्पष्ट करने के लिए मान लीजिये हमें 'वर्तमाने लट्' (३.२.१२३.) सूत्र का अर्थ करना है। अर्थ करने से पूर्व हमें इसके सभी अधिकार सूत्रों को उपस्थित करना चाहिए। यहाँ 'प्रत्ययः' (३.१.१) परश्च (३.१.२.) और धातोः (३.१.९१.) इन तीनों सूत्रों का अधिकार आ रहा है अतः इन तीनों सूत्रों को 'वर्तमाने लट्' सूत्र के साथ जोड़ दीजिये। इस प्रकार सूत्र हो जायगा, "धातोः, प्रत्ययः, परश्च, वर्तमाने लट्"। किन्तु यह किसी क्रम से नहीं रखे गये। क्रम से रखने को अन्वय करना कहते हैं। अन्वय करने के पश्चात् ही ठीक अर्थ निकलता है।

अन्वय की शैली—भगवान् पाणिनि ने अष्टाध्यायी के सूत्रों में अधिकांश रूप से चार विभक्तियों का ही प्रयोग किया है; प्रथमा, पञ्चमी, षष्ठी और सप्तमी। इन्हीं विभक्तियों की सूत्रों में प्रधानता है। किन्ही सूत्रों में ये चारों विभक्तियां प्रयुक्त हुई हैं और किन्ही में इन से न्यून। तृतीया, द्वितीया और केवल प्रथमा विभक्ति का भी किन्हीं-किन्हीं सूत्रों में प्रयोग मिलता है अस्तु। इन विभक्तियों को अन्वय रूप में रखने के लिए '५७६१' 'संख्या सूत्रों को याद कर लीजिये। इनमें से प्रत्येक अङ्क अपनी २ विभक्ति का परिचायक है। ५ से पञ्चमी, ७ से सप्तमी, ६ से षष्ठी और १ अंक से प्रथमा विभक्ति का ग्रहण करना चाहिए। यदि किसी सूत्र में चारों विभक्तियां हो तो उन्हें इसी क्रम से रख दीजिये। सूत्र का अर्थ निकल आयेगा। जो विभक्ति न हो उसका स्थान रिक्त हो जायगा किन्तु अन्वय का क्रम यही रहेगा। अर्थात् पञ्चमी के पश्चात् सप्तमी, फिर षष्ठी और अन्त में प्रथमा विभक्ति को रखना चाहिए। केवल एक विभक्ति रहने पर एक ही रहेगी। सूत्रों में प्रयुक्त विभक्तियों को क्रम से रखने का यही क्रम है जिससे सूत्रों का अर्थ लगाने में सरलता होती है।

अब हम अपने प्रकृत विषय पर आते हैं। 'वर्तमाने लट्' का अर्थ लगाते समय हमने देखा था कि उसका रूप कुछ इस प्रकार का हो गया था। "प्रत्ययः, परश्च, धातोः, वर्तमाने लट्"। इसमें षष्ठी विभक्ति वाला कोई पद नहीं है। इसलिए दिये हुए 'संख्या-सूत्र' के अनुसार विभक्तियों का क्रम ५७१ के समान रहेगा। अर्थात, धातोः ५।१ वतमाने ७।१ लट् १।१ प्रत्ययः १।१ परः १।१ च (अव्ययत् पदम्)।

तदनुसार "धातोः वर्तमाने लट् प्रत्ययः परश्च" यह सूत्र बना अब इसका अर्थ हिन्दी में करने की चेष्टा करनी चाहिए।

इन चार विभक्तियों की अर्थ-विधि :—

इन विभक्तियों के साधारण साहित्यिक अथवा व्याकरण के अनुसार जो अर्थ होते हैं उनका वर्णन हम गत व्याख्यानों में यथास्थान कर आये हैं। किन्तु इन चारों (५,७,६,१) विभक्तियों के अर्थ जो विशेषतया अष्टाध्यायी में ग्रहण किये जाते हैं इस प्रकार हैं :—

विभक्ति		अर्थ
१. प्रथमा	—	होता है या है।
२. पञ्चमी	—	उसके पश्चात्।
३. षष्ठी	—	के स्थान में या के
४. सप्तमी	—	परे रहने पर या में।

इन्हीं के अनुसार अब 'वर्तमाने लट्' सूत्र का अर्थ लगाइये। सूत्र का रूप इस प्रकार हो गया था, "धातोः वर्तमाने लट् प्रत्ययः परश्च"।

धातो ५।१=धातु के पश्चात्।
वतमाने ७।१=वतमान काल में।
लट् प्रत्ययः १।१=लट् प्रत्यय होता है।
पर १।१ च अ०यय०=और वह परे होता है।

अर्थात् इस सूत्र का अर्थ हुआ कि धातु के पश्चात् वर्तमान में लट् प्रत्यय होता है और वह परे होता है। इसी प्रकार से अनुवृत्ति को लेकर सम्पूर्ण अष्टाध्यायी में सूत्रों का अर्थ करना चाहिए। 'रटना नहीं चाहिये। थोड़े दिनों के पश्चात् अनुवृत्ति आप से आप दिखाई देने लगती है। इस ग्रन्थ में अनुवृत्ति को लाकर अर्थ करने के पूर्व [ ] इस कोष्ठक में लिख दिया है। कोष्ठक में लाये गये पदों की विभक्तियों को जिस सूत्र से वे पद लाये गये हैं, उन सूत्रों पर अंकित पदच्छेदादि से देख लेना चाहिये।

५. उदाहरण—सूत्रों के पदच्छेद, विभक्ति, समास, अर्थ आदि समझ लेने के पश्चात् स्वाभाविक इच्छा उनके उदाहरण जानने की

होती है। ये उदाहरण प्रत्येक सूत्र के साथ ग्रन्थ में लिख दिये गये हैं। वहीं पर देख लीजिये।

६. सिद्धि—उदाहरण का पता लग जाने के पश्चात् यह जानने की इच्छा उत्पन्न होती है कि यह उदाहरण किस प्रकार बना। इसके लिए आगे पीछे के सम्बन्धित सूत्रों के अनुसार किसी उदाहरण को सिद्ध करना पड़ता है। हमने सूत्रों को लगाकर उदाहरणों को सिद्ध किया है। प्रत्येक सूत्र किसी न किसी नियम या कार्य का निर्देश करता है जिसके अनुसार कार्य होता है। किस सूत्र से क्या कार्य हुआ इसका निर्देश भी ग्रन्थ में भली भांति कर दिया है और सम्बन्धित सूत्रों को टिप्पणी में लिख दिया जिससे विद्यार्थी को समझने में कठिनाई नहीं होगी।

इस प्रकार पदच्छेद, विभक्ति, समास, अर्थ, उदाहरण और सिद्धि पूर्वक जो अध्येता अष्टाध्यायी के समस्त सूत्रों का अध्ययन करेगा, वह लौकिक तथा वैदिक दोनों प्रकार के शब्दों का पूर्ण ज्ञाता होगा, ऐसा हमारा मत है। अतएव अध्ययन के समय किसी भी अङ्ग को नहीं छोड़ना चाहिए। धैर्य पूर्वक इन व्याख्यानों को पढ़कर अक्षरशः समझकर आगे पढ़ना चाहिए। विशेष कठिनाई होने पर लेखक के साथ पत्र व्यवहार से दूर कर लेना चाहिए। लेखक यथाशक्ति कठिनाइयों को दूर करने का प्रयत्न करेगा। इससे अगले संस्करण में भी संशोधन किया जा सकेगा।

षष्ठ व्याख्यान

सूत्रों के प्रकार

इस व्याख्यान में हम अष्टाध्यायी में दिये गये सूत्रों और उनके प्रकार पर संक्षेप से विचार करेंगे। महामुनि पाणिनि ने अष्टाध्यायी में केवल सात प्रकार के सूत्रों का प्रवचन किया है, जो इस प्रकार है।

(१) संज्ञा, (२) परिभाषा, (३) विधि, (४) निषेध, (५) नियम

(६) अतिदेश और (७) अधिकार।

अब इन सातों प्रकार के सूत्रों पर पृथक्-पृथक् विचार करते हैं। अष्टाध्यायी-अध्ययन के लिए इन सूत्रों को ठीक ठीक समझ लेना बहुत आवश्यक है।

१. **संज्ञासूत्र**—अष्टाध्यायी के प्रथम अध्याय में केवल संज्ञासूत्र दिये हुए हैं, जिनका तात्पर्य अन्य अध्यायों में प्रयुक्त व्याकरण के शब्दों का विवेचन करना है इसीलिए इन्हें संज्ञासूत्र कहा गया है संज्ञा सम् उपसर्गपूर्वक ज्ञा धातु से बना है जिसका अर्थ है अच्छी तरह से जानना। संज्ञा शब्द का अर्थ है—सम्यग् जानीयुर्यया सा संज्ञा अर्थात् जिसके द्वारा किसी वस्तु को अच्छे प्रकार से जाना जाय उसे संज्ञा कहते हैं। इसीलिए किसी वस्तु, ग्राम, शहर, मनुष्य, पशु आदि के नाम संज्ञा कहलाते हैं। 'नाम' से वह वस्तु, पशु या मनुष्य शीघ्र पहिचान लिया जाता है।

अस्तु प्रथम अध्याय में केवल नामों का उल्लेख और परिभाषा दी गई है जिनका प्रयोग अगले ७ अध्यायों में किया गया है। जैसे—वृद्धिः, गुणः, संयोगः, घु, घः, सम्प्रसारणम्, लोपः, उपधा, पदम्, उदात्तः, अनुदात्तः, स्वरितः, प्रातिपदिकम्, आत्मनेपदम्, परस्मैपदम्, लघु, गुरु, कर्म, कर्ता, निपातः उपसर्गाः, गतिः, विभक्तिः, संहिता, अवसानम् आदि। इन सभी संज्ञाओं की व्याख्या भी साथ ही कर दी गई हैं। जैसे—पहला नाम 'वृद्धि' है। इसका सूत्र है, "वृद्धिरादैच्"। इसका अर्थ है 'आ', 'ऐ', 'औ' इन तीनों वर्णों का नाम वृद्धि है। व्याकरण की भाषा में कहा जायगा कि आ, ऐ, औ, इन वर्णों की वृद्धि संज्ञा है। इसी प्रकार सूत्रों में ही नाम और उनकी व्याख्या दी गई है। छात्रों को चाहिए कि वे इन नामों अर्थात् संज्ञाओं को प्रथम अध्याय में खूब समझ लें जिससे आगे अध्ययन में उन्हें कठिनाई न हो।

२. **परिभाषासूत्र**—परिभाषा किसे कहते हैं। इस प्रश्न पर विचार करते हैं। परितः सर्वतो भाष्यन्ते नियमा याभिस्ताः परिभाषाः। जिससे सब प्रकार नियमों की स्थिरता की जाय उसे परिभाषा सूत्र कहते हैं। ये संज्ञा और परिभाषा सूत्र स्वयं कोई कार्य नहीं करते बल्कि अन्य विधि या निषेध सूत्रों की सहायता करते हैं। जैसे वृद्धिरेचि सूत्र है।

वहां पर सूत्र का अर्थ है अवर्ण के पश्चात् एच् परे हो तो पूर्व और पर के स्थान में वृद्धि रूप एकादेश होता है। एकादेश का अर्थ है दोनों मिलकर एक हो जाना। उदाहरण खट्वा+ऐतिकायनः यहाँ पर अवर्ण के पश्चात् ऐ है अतः एकादेश होगा। अब वृद्धि किसको कहते हैं, इस पर संज्ञा सूत्र वृद्धिरादैच् वहां पर पहुँच जायेगा। और बतावेगा कि आ, ऐ और औ को वृद्धि कहते हैं। अर्थात् किन किन वर्णों को वृद्धि संज्ञा है, इतना ही निर्देश करके संज्ञा सूत्र का काम समाप्त हो जाता है। अतएव ज्ञात हुआ कि विधि सूत्र जो वृद्धिरेचि है उसकी सहायता करने में संज्ञा सूत्र वृद्धिरादैच् ने काम किया।

संज्ञा सूत्र की विशेषता यह है कि वह विधि सूत्रों का अङ्ग नहीं बनता। वह तो अलग रहते हुए परिचय मात्र कराता है। परन्तु परिभाषा सूत्र में यह बात नहीं। परिभाषा सूत्र जब किसी दूसरे विधिसूत्रों के साथ लगेगा तो वह उस सूत्र का अङ्ग बन जायेगा। और तब दोनों सूत्रों को मिलाकर एक सूत्र समझकर अर्थ करना चाहिये। जैसे इको गुणवृद्धी (१.१.३) परिभाषा सूत्र है। इसका अर्थ है "गुण और वृद्धि शब्द से जहां गुण वृद्धि का विधान किया जाय वहां इक् ही के स्थान में होता है।" इक् प्रत्याहार है, और इ से लेकर क् तक वर्णों का ग्रहण करता है। अच्छा तो अब गुण विधान करने वाले या वृद्धि विधान करने वाले सूत्रों को देखिये। मिदेर्गुणः (७.३.८६.) सूत्र से लेकर आगे गुण विधान करने वाले सूत्र हैं। 'गुण' किसे कहते हैं ? अदेङ्गुणः (१.१.२.) सूत्र का अर्थ है अ, ए, और ओ की गुण संज्ञा होती है। गुण होने का अर्थ है कहीं पर अ हो जाना, कहीं पर ए हो जाना और कहीं पर ओ हो जाना। अष्टाध्यायी के सभी सूत्रों में यह व्यवस्था जाननी चाहिये कि जहां भी गुण अर्थात् अ, ए, ओ होता है वहां ऋ के स्थान में अ, इ के स्थान में ए और उ के स्थान में ओ होता है। उसी प्रकार से वृद्धि होने के अर्थ है ऋ के स्थान में आ, इ के स्थान में ऐ और उ के स्थान में औ। कहने का तात्पर्य यह है कि गुण और वृद्धि जहां भी होती है वहां ऋ के स्थान में गुण 'अ', और वृद्धि 'आ,' ई के स्थान में गुण 'ए' और वृद्धि 'ऐ', उ के स्थान में गुण 'ओ' और वृद्धि औ होते हैं। गुण और वृद्धि कब होती है, इसका विस्तृत विवरण कृत् प्रत्ययों की सिद्धि के समय दिया जायेगा।

हां तो देखिये मिदेर्गुणः सूत्र कहता है कि मिद् धातु को गुण हो जाय। अब प्रश्न है कि मिद् में तो म्, इ और द् तीन अक्षर हैं किसके स्थान में गुण हो। एक और परिभाषा सूत्र है अलोऽन्त्यस्य (१.१.४६) वह मिदेर्गुणः के पास पहुँच गया। यह परिभाषा सूत्र विधि सूत्र के पास झटिति (शीघ्र) पहुँचते है। तो अलोऽन्त्यस्य सूत्र भी पहुंच कर मिदेर्गुणः' के साथ लग गया अर्थात् परिभाषा सूत्र विधि सूत्र का अङ्ग होता है इस नियम के अनुसार वह मिदेर्गुणः इस सूत्र का अङ्ग हो गया।

अलोऽन्त्यस्य सूत्र का अर्थ अष्टाध्यायी-प्रकाशिका में भी दिया है। षष्ठी निर्दिष्ट आदेश अन्तिम अल् अर्थात् अन्तिम अक्षर के स्थान में होता है। षष्ठी निर्दिष्ट का अर्थ है, षष्ठी विभक्ति से निर्देश अर्थात् अष्टाध्यायी के सूत्रों में षष्ठी विभक्ति से जहां पर कोई आदेश कहा गया है। आदेश उसको कहते हैं जो किसी को हटा कर स्वयं हो जाए।

आदेश तीन प्रकार का होता है लोप, सर्वादेश और वर्ण विकार। लोप का अर्थ किसी वस्तु का अदर्शन हो जाना। सूत्र भी है 'अदर्शनं लोपः' (१.१.५६) जिसका दर्शन न हो उसको अदर्शन कहते हैं। पाणिनि किसी को अदर्शन कहते हैं उसका अर्थ यह है कि वस्तु की सत्ता नहीं समाप्त होती बल्कि वह वस्तु वहां नहीं रहती। अतः 'लोप' भी आदेश है। जैसे रामस् शब्द में सकार को लोप हो जाय तो केवल राम शब्द रह जायेगा। सर्वादेश उस को कहते हैं जो किसी सम्पूर्ण स्थानी को हटा कर स्वयं हो जाए जैसे 'अस्तेर्भूः'। इस सूत्र का प्रयोजन आर्धधातुक प्रत्यय के विषय में अस् धातु से परे तव्य प्रत्यय लाना है इसलिए अस् पूरी धातु को हटा दिया जाय। यही लोप का अर्थ है।

वर्ण विकार भी आदेश है। 'अ इ उ आदि स्वर और क् ख् आदि व्यञ्जन सभी वर्ण हैं। वर्ण विकार का अर्थ है वर्णों में परिवर्त्तन। जैसे इ (इकार) का परिवर्त्तन अथवा 'ऐ' भी हो सकता है या जो चाहें सो हो सकता है। पाणिनि की आज्ञा हो जाय तो इ के स्थान में उ भी हो सकता है। तो इसी इ के भिन्न भिन्न रूप होने को इ का विकार अर्थात् वर्ण का विकार कहेंगे। व्यञ्जन का भी

विकार होता है। जैसे 'वाक् अत्र' यहां पर संहिता के नियम से क् को ग् हो जायगा तभी तो वागत्र बनेगा। अतएव किसी भी स्वर या व्यञ्जनका बदल जाना वर्ण विकार कहलाता है। कहीं पर लोप होता है, कहीं पर सर्वादेश होता है और कहीं पर वर्णविकार होता है तो कहीं पर इसी प्रकार आगम होता है। आगम कहते हैं आ । जाने को। सो कहीं कहीं पर कोई वर्ण किसी के आदि में किसी के अन्त में ,किसी के मध्य में आकर बैठ जाता है। जैसे घर पर आए सम्बन्धी या मित्र परिवार के अङ्ग बनते हैं वैसे ही जिसको आगम होता है उसका अंग बन जाते हैं ।

आदेश का व्यवहार शत्रु के समान होता है। इसलिए जिसको आदेश किया जाता है। उसको वहां से भागना ही पड़ता है। जैसे अस् को भू आदेश कहा तो अस् को हटना होगा उसके स्थान पर भू बैठेगा। परन्तु आगम मित्रवत् होता है। जैसे मित्र के आने पर किसी को कोई कष्ट नहीं होता वैसे ही आगम भी किसी को हटाता नहीं जहां उचित जगह देखता है आदि अन्त या मध्य में स्वयं बैठ जाता है।

अष्टाध्यायी व्याकरण इसी प्रकार से शब्दों का अनुशासन करता है। इसी लिये महाभाष्पकार पतञ्जलि कहते हैं "लोपागमवर्णविकारज्ञो हि सम्यग्वेदान् परिपालयिष्यतीति अध्येयं व्याकरणम्" अर्थात् लोप आगम और वर्ण विकार को अच्छी तरह से जानने वाला ही लौकिक तथा वैदिक शब्दों को जानकर वेदाध्ययन करने में समर्थ हो सकता है इसलिये व्याकरण पढ़ना चाहिये ।

अच्छा तो प्रसङ्गवश लोप आगम और वर्णविकार के सम्बन्ध में चर्चा की। पुनः प्रसङ्ग पर आइये। षष्ठी विभक्ति से निर्देश किया गया जो आदेश अर्थात् लोप, आगम, वर्णविकार वह अन्तिम अक्षर के स्थान में होता है। अब मिद् को गुण होना है यहां पर इ के स्थान में गुण नहीं प्राप्त है क्योंकि मिदेः यहां पर षष्ठी विभक्ति से गुण रूप आदेश का निर्देश किया गया है। इसलिये अलोऽन्त्यस्य परिभाषा सूत्र जब मिदेर्गुणः के साथ अङ्ग हो जायेगा तो मिदेर्गुणः सूत्र का अर्थ होगा मिद् के अन्तिम अक्षर के स्थान में गुण होगा। यह अर्थ दोनों सूत्रों को मिलाकर किया गया। तो यदि अन्तिम अक्षर द् के स्थान में गुण हो तो 'स्थानेऽन्तरतमः' इस सूत्र में 'इ' के स्थान में 'ए' 'उ'

के स्थान में 'ओ' गुण होता है। स्थाऽन्तरतः सूत्र का अर्थ है किसी स्थान में होने वाला आदेश सदृशतम होता है। 'इ'का स्थान'ए'से और 'उ' का स्थान 'ओ' से मिलता है। इसको वर्णो च्चारण नामक व्याख्यान में विस्तार पूर्वक देखिये। यहां तो ॠ के स्थान में 'अ' गुण हो सकता है क्योंकि ऋ के स्थान में जिस प्रकार अ गुण होता है उसी प्रकार ॠ के स्थान में अ हो सकता है।

अब आप पूछेंगे कि जब ऋ का स्थान और प्रयत्न अ के साथ मिलता ही नहीं तो स्थानेऽन्ततरमः इस सूत्र से ऋ के स्थान में'अ' गुण क्यों हो जाता है।

जब कहीं ऋ का गुण हुआ तो अ, ए और ओ तीनों पहुचे। इ का एकार के साथ स्थान प्रयत्न मिल गया बस ए हो गया। उसी प्रकार ए के स्थान में ओ स्थान प्रयत्न मिलने के कारण हो गया लेकिन ऋ का अ के साथ न स्थान मिलता है और न प्रयत्न। ये ही दोनों बच गये। स्थान प्रयत्न नहीं मिलते हुए भी ऋ के स्थान में अ गुण हो जाता है।

इसकी व्यवस्था महाभाष्यकार ने नष्टाश्वदग्धरथवत् न्याय के अनुसार की हैं। अर्थात् एक का घोड़ा मर गया और दूसरे का रथ टूट गया। दोनों ने मिलकर बचे हुए घोड़े और रथ को जोड़ कर अपना कार्य किया। इसी न्याय के अनुसार ऋ के स्थान में स्थान प्रयत्न न मिलने पर भी 'अ' गुण हुआ। इसी प्रकार 'वृद्धि' की भी व्यवस्था समझनी चाहिए।

इस विषय में एक बात याद रखिए कि जब और जहां भी अ गुण और आ वृद्धि होती है तो उरण् रपरः (१-१-४६) गुण करने वाले सूत्र के पास अवश्य चला जाता है। यह सूत्र कहता है कि ऋ के स्थान में होता हुआ अण् अर्थात् अ इ उ रपर हो जाता है। जर्थात् जब कभी भी ऋ के स्थान में गुण या और किसी प्रकार से अ, इ या उ होता हो तो उस अ, इ, और उ के पश्चात् रेफ आकर अवश्य मिल जाता है। जैसे क धातु का कहीं गुण कह दिया। ऋ के स्थान में गुण ए और ओ होगा नहीं। होगा अ और अ गुण होते ही उरण् रपरः इस सूत्र से उस अ के पश्चात् 'र्' अवश्य जुड़ जायेगा। इसीलिये तो अंग्रेजी ढंग की पढ़ाई में अर् को गुण और आर् को वृद्धि कहते हैं। अब

देखिये जब ऋ का अर् स्थान और प्रयत्न न मिलते हुए अ गुण हो सकता है तो द् के साथ भी उसी तर्क से अ गुण हो सकता है किन्तु ऐसा होने से रूप गलत बन जायेगा। अतः अलोऽन्त्यस्य परिभाषा मिदेर्गुणः में नहीं लगता। यहाँ पर इको गुण वृद्धी यह परिभाषा सूत्र लगेगा। यहाँ आप प्रश्न कर सकते हैं कि इन दोनों परिभाषाओं की जब मिदेर्गुणः सूत्रः में उपस्थिति है तो 'इको गुणवृद्धी' सूत्र ही क्यों लगेगा। 'अलोऽन्त्यस्य' सूत्र क्यों नहीं ?

इस विषय में याद रखिये कि 'अलोऽन्त्यस्य उत्सर्गसूत्र और इको गुणवृद्धी अपवादसूत्र है। सर्व साधारण नियम को 'उत्सर्ग' नियम और विशेष नियम को 'अपवाद' कहते हैं। अतः दोनों प्रकार के सूत्र अष्टाध्यायी में उपलब्ध हैं। दोनों प्रकार के सूत्र के उपस्थित होने पर सर्वदा अपवाद सूत्र ही को प्रधानता दी जाती हैं यह बात ध्यान में रखनी चाहिए।

इसी नियम से 'अलोऽन्त्यस्य' नहीं लग कर उसका अपवाद 'इको गुणवृद्धी' ही सूत्र लगा। महाभाष्य में इसके आगे विचार भी किया है लेकिन उसको जानने की आवश्यता नहीं। अब 'इको गुणवृद्धी' सूत्र के लगने पर मिदेर्गुणः सूत्र का अर्थ हुआ कि मिद् के इक् के स्थान में गुण हो। यहाँ पर मिदेर्गुणः सूत्र में गुण कह कर गुण का विधान किया जा रहा है। हां यह आप पूछ सकते हैं कि बिना गुण या वृद्धि कहे कैसे गुण या वृद्धि का विधान होता है। तो जानकारी के लिये यह जान लें कि एक सूत्र है दिव औत् (७.१.८४)। यहाँ दिव् के स्थान में औकार होता है। यहाँ पर भी 'अलोऽन्त्यस्य' और 'इको गुणवृद्धी' इन दोनों परिभाषाओं की उपस्तिथति होती है लेकिन 'इको गुणवृद्धी' परिभाषा सूत्र की प्रवृत्ति नहीं हो सकती क्योंकि यह ठीक है कि औकार वृद्धिरादैच् इस सूत्र से वृद्धि संज्ञावाला है लेकिन यह औकार होना वृद्धि शब्द से नहीं कहा गया है यदि वृद्धि शब्द से विधान किया जाता तो इक् ही के स्थान में होता और वकार के स्थान में नहीं होता। परन्तु यहां वृद्धि शब्दसे वृद्धि का विधान नहीं किया गया इसलिए अलोऽन्त्यस्य सूत्र ही पहुँचेगा जिससे अन्तिम वकार के स्थान में ही औकार आदेश होगा तो रूप बनेगा दि औ और फिर 'इको यणचि' से इ का य्, द् य् औ, द्यौ, बन जाता है।

इसी प्रकार मिद् का गुण मिदेर्गुणः यहाँ पर गुण कह कर विधान किया गया है, अतएव इक् के स्थान में ही गुण होगा। तो इ के स्थान में 'स्थानेऽन्तरतमः' इस सूत्र से ए गुण होगा मिद् का मेद हो जायेगा। इसी वृद्धि करने वाले विधि सूत्रों में भी इसी प्रकार से समझना चाहिये। इस व्याख्यान को तीन चार बार पढ़कर तथा जिन जिन सूत्रों का उद्धरण दिया गया है, उनका अर्थ देखना चाहिये। इस व्याख्यान को समझने के पश्चात् अष्टाध्यायी के सूत्रों की एक बड़ी समस्या हल हो जाती है।

३. विधिसूत्र— येन विधीयते स विधिः।

यो विधीयते स विधिर्विधानं वा अर्थात् जो विधान करता है उसको विधिसूत्र कहते हैं। समास, कृदन्त, तद्धित इत्यादि प्रकरणों में अनेक सूत्र विधान करने वाले हैं। लोप, आगम, वर्णविकार करने वाले भी अनेक सूत्र हैं। जैसे समास में अव्ययं विभक्ति० (२. १. १) द्वितीया श्रितातीत (२. १. २३) तृतीया तत्कृता० (२. १. २६) कृदन्त में तव्यत्तव्यानीयरः (३.१.९६) अचो यत् (३.१.९७) ऋहलोर्ण्यत् (३.१.१२४) ण्वुल्तृचौ (३. १.१३३) कर्मण्यण् (३. २. १) तद्धित में नडादिभ्यः फक् (४. १.९९) स्त्रीभ्यो ढक् (४. १.१२०) तेन रक्तं रागात् (४. २. १) इत्यादि। लोप आतो लोप इटि च (६.४.६४) श्नाभ्यस्तयोरातः (६.४.११२) अतो लोपः (६. ४.४८) आगम–ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् (६. १.६९) छे च (६. १.७१) इदितो नुम्धातोः (७. १ ५८) आर्धधातुकस्येड्वलादेः इत्यादि। वर्णविकार–मिदेर्गुणः (७. ३.८२) सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७. ३. ८४) पुगन्तलघूपधस्य च (७. ३.८६) मृजेर्वृद्धिः (७. २.११४) अचोऽञ्णिति (७. २.१५) अत उपधायाः (७.२.११६) तद्धितेष्वचामादेः (७. २.११७) किति च (७. २.११८) सेह्यपिच्च (३. ४.८७) इत्यादि। अर्थात् इसी प्रकार के अनेक विधान करने वाले सूत्रों को विधि सूत्र कहते हैं।

४. निषेधसूत्र--

निषिध्यन्ते निवार्यन्ते कार्याणि यैस्ते निषेधाः। अर्थात् जिसके द्वारा कार्यों के होने को मना किया जाय उसको निषेध सूत्र कहते हैं। हैं। यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या निषेध केवल विधान करने

वाले सूत्रों का होता है या संज्ञा, परिभाषा, नियम, अतिदेश और अधिकार इन सभी प्रकार के सूत्रों का निषेध होता है। निषेध सूत्र की अलग सत्ता भी नहीं है इस श्लोक में देखिए—

संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च।
अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रलक्षणम ॥

इस श्लोक में निषेध सूत्र का नाम भी नहीं आया तो क्या निषेध सूत्र की सत्ता अलग स्वीकरणीय है या नहीं? वस्तुतः पदार्थ दो प्रकार के होते हैं (१) भाव और (२) अभाव। भाव का अर्थ होना अभाव का अर्थ न होना है। तो अब दो प्रकार की सत्ता स्वीकार करते हैं उस स्थिति में सभी वस्तुओं में दो पहलू हैं। जैसा जीने के विपरीत मरना। दुख सुख, हसना रोना, खाना न खाना, आना जाना। इसी प्रकार भाव और अभाव सदा वर्तमान हैं। सूत्रों में भी किसी किसी की संज्ञा है, किसी की संज्ञा नहीं है। जैसे तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् (१.१.६) यहां पर मुख में होने वाले स्थान और प्रयत्न जिन वर्णों के समान हैं उनकी सवर्ण संज्ञा होती है लेकिन नाज्झलौ (१.१.१०) सूत्र कहता है कि अच् और हल् के स्थान और प्रयत्न समान होने पर भी उन लोगों की परस्पर सवर्ण संज्ञा नहीं होती है। यहाँ सवर्ण संज्ञा नहीं होती है। यहाँ सवर्ण संज्ञा करना और सर्वण संज्ञा का निषेध करना, दोनों प्रकार की बात पायी जा रही है।

दूसरा उदाहरण लीजिये दाधा घ्वदाप् (१.१.१६) यहां पर दा और धा धातु की घुसंज्ञा होती है लेकिन दाप् धातु को मना कर दिया। अर्थात् दाप् धातु की घुसंज्ञा नही होती है। इसी प्रकार अनेक उदाहरण हैं।

परिभाषा सूत्र का भी निषेध है। जैसे कि पहले बतलाया जा चुका है कि 'इको गुणवृद्धी' (१.१.३) परिभाषा सूत्र है। "गुण और वृद्धि शब्द से जहां पर गुण और वृद्धि का विधान किया जाय वहां पर इक् ही के स्थान में होता है"। लेकिन इस परिभाषा सूत्र का निषेध इसके आगे न धातुलोप आर्धधातुके (१.१.४.) क्ङिति च (१.१.५) ये दो सूत्र पढ़े हैं।

विधि सूत्र का तो निषेध होता ही है। जैसे समास में षष्ठी (२.२.८) यह विधान सूत्र है लेकिन उसके आगे न निर्द्धारणे (२.२.१०)

पूरणगुण० (२.२.१७) इत्यादि ।

अष्टाध्यायी के सभी सूत्रों में जहां जहां पर 'न' लिखा है वे सभी सूत्र निषेध सूत्र हैं । नियम और अधिकार सूत्र का निषेध नहीं होता है । अतिदेश सूत्र का निषेध होता है ।

नियम सूत्र—नियम्यन्ते निश्चीयन्ते प्रयोगाः यैस्ते नियमाः अर्थात् प्रयोगों का जिसके द्वारा निश्चय किया जाय उसको नियम सूत्र कहते हैं । अष्टाध्यायी में नियम सूत्र अधिक नहीं है । महाभाष्यकार का प्रसिद्ध वचन है 'सिद्धे सति आरम्भो नियमार्थः' अर्थात् किसी सूत्र से उस प्रयोग के सिद्ध हो जाने पर जो फिर दूसरा सूत्र बनाया जाता है उसको नियम सूत्र कहते हैं । जैसे पाठशाला में प्रतिदिन छात्रों को दस बजे आने की आज्ञा है, ऐसा विधान है । फिर भी कई छात्र देर से आते हैं । किन्तु जब किसी अधिकारी को निरीक्षण के लिए आना हो तो अध्यापक छात्रों को उस दिन ठीक दस बजे आने की आज्ञा देता है । विधान होने पर भी विशेष अवसर पर आज्ञा देने की आवश्यकता पड़ी । इसी प्रकार सिद्ध रहने पर जो सूत्र बनाया जाता है उसको नियम सूत्र कहते हैं ।

नियम सूत्र के विषय में जानने के लिये (१) इत्संज्ञा प्रकरण और (२) इट् विधान प्रकरण का व्याख्यान पढ़ लेना चाहिये । विशेष रूप से यहां जानना चाहिये कि 'कृ' धातु के पश्चात् लिट् के मध्यम पुरुष एकवचन में इट् का आगम और निषेध कैसे होता है । कृ धातु के पश्चात् लिट् लकार के स्थान में तिप्, तस्, झि आदि ९ परस्मैपद प्रत्ययों के स्थान में परस्मैपदानां० (३.४.८२.) सूत्र से णल्, अतुस् आदि ९ प्रत्यय आदेश होते हैं । अतएव मध्यम पुरुष एकवचन में थल् प्रत्यय वलादि आर्धधातुक है । आर्धधातुकस्येड्वलादेः (७-२-३५) इस सूत्र से वलादि आर्धधातुक के होने से इट् प्राप्त होने पर एकाच उपदेशऽनुदात्तात् इस सूत्र से इडागम का निषेध हो जाता है । अतएव इट आगम का निषेध स्वयं सिद्ध है, फिर जो कृसृभृ० (७.२. १३.) सूत्र को बनाकर आचार्य ने 'कृ' धातु के पश्चात् लिट् को इडागम का मना किया इससे यह सूत्र नियम सूत्र हो गया । इससे नियम निकला कि इन धातुओं को छोड़ कर जो भी अनिट् धातु हैं उनके पश्चात् लिट् को इट का आगम हो ही जाता है "एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्" इस सूत्र से

इडागम के निषेध हो जाने पर सर्वत्र अनिट् धातु को लिट् में इट् का आगम इसी नियम सूत्र से होता है, इसी को क्रादिनियम कहते हैं।

(६) अतिदेश सूत्र---अतिदिश्यन्ते तुल्यतया विधीयन्ते कार्याणि यैस्ते अतिदेशाः अर्थात् जिससे किसी की तुल्यता या समता लेकर कार्य करें वह अतिदेश कहलाता है। अतिदेश कार्यातिदेश और रूपातिदेश दो प्रकार का होता है।

कार्यातिदेश---कार्य करने के लिए किसी को किसी के समान मान लेना कार्यातिदेश कहलाता है। जैसे पौरोहित्य कर्म करने के लिये पुरोहित के समान पुरोहित के लड़के को मान लेना।

व्याकरण शास्त्र में **स्थानी और आदेश** इन दो शब्दों के अर्थों को जानने के पश्चात् अतिदेश सूत्र का प्रयोजन स्पष्ट हो जाता है। किसी के स्थान पर आने वाले को आदेश और जिसका स्थान था उसको स्थानी कहते हैं। जैसे अस् धातु के स्थान में आर्धधातुक के विषय में अस्तेर्भूः (२. ४. ४२.) सूत्र से भू आदेश हो जाता है। यहाँ पर भूवादयो धातवः (१-३-१) से 'अस् भुवि' की धातु संज्ञा होती है लेकिन अस् के स्थान में भू आदेश को धातु संज्ञा नहीं होती। यह भू, भू सत्तायाम् धातु नहीं, यह तो अस् के स्थान में आदेश हुआ भू है। स्थानिवदा० (१.१. ५५) इस सूत्र से अस् धातु के स्थान में भू के आदेश होने के कारण भू की भी धातु संज्ञा होती है क्योंकि धातु के स्थान में जो आदेश है, वह भी धातु है। अब कार्य करने के लिए भू को भी धातु मान लिया गया। कार्य करने के लिये भू को धातु माना गया अतएव यहां कार्यातिदेश हुआ।

रूपातिदेश—कार्य करने के लिए रूप की उपस्थिति मानना रूपातिदेश कहलाता है। यह रूप लोप आदि होने के कारण से नहीं रहता है। रूप के अभाव में कार्य होने में बाधा पड़ती है। बिना रूप के कार्य होना असम्भव है। अतः लुप्त हुए रूप को आरोपित करके कार्य कर लिया जाता है। इसकी विशेष व्याख्या द्विर्वचन प्रकरण में देखना चाहिये। जहां जहां पर वत् प्रत्यय को प्रातिपदिक के पश्चात् लगाया गया है उन्हें अतिदेश सूत्र समझना चाहिये।

(७) अधिकार सूत्र---अधिक्रियन्ते पदार्था यैस्ते अधिकाराः

अर्थात् जिसके द्वारा पदार्थों का अधिकार किया जाता उसको अधिकार कहते हैं। प्रत्येक सूत्र में उस बात को बारम्बार न कहकर सबसे ऊपर ही उस बात को आचार्य ने लिख दिया है। जिस कारण उस सूत्र या शब्दों की अनुवृति उसके पश्चात् सभी सूत्रां में जाती है। संक्षेप करने के लिए इस अधिकार सूत्र का आश्रय किया गया। किसी सूत्र का कोई अंश या वह सूत्र स्वयं अपने आगे कुछ सूत्रों में अर्थ कराने के लिये लग जाता है अतएव उसे अनुवृति को अधिकार कहते हैं।

कुछ ऐसे अधिकार हैं जिनके संज्ञा सूत्र हैं और कुछ अधिकार के संज्ञा सूत्र नहीं हैं। जैसे संहितायाम् (६.१.७२) अधिकार सूत्र का संज्ञा सूत्र है, परः सन्निकर्षः संहिता (१.४.१०६) लेकिन प्रत्ययः (३.१.१) परश्च (३.१.२) इसका कोई संज्ञा सूत्र नहीं है। जिन जिन अधिकारों के संज्ञा सूत्र हैं उन उन सभी संज्ञा सूत्रों पर ध्यान देना चाहिये। शब्द की सिद्धि के समय पहले संज्ञा सूत्र लगाकर तब अधिकार सूत्र लगाना चाहिये। संज्ञा सूत्र तथा अधिकार सूत्रों को लगाने के पश्चात् ही तथा उस अधिकार के किसी विधि नियमादि सूत्रों को लगाना चाहिये। जैसे नामि (६.४.३) उस सूत्र को कहीं लगाना है तो पहले यस्मात्प्रत्यय० (१.४.१३) संज्ञा सूत्र पुनः अङ्गस्य (६.४.१) यह अधिकार सूत्र, इन दोनों सूत्रों के पश्चात् ही नामि सूत्र को लगाना चाहिये। अष्टाध्यायी प्रकाशिका में सर्वत्र अधिकार सूत्र को बता दिया गया है।

सप्तम व्याख्यान

प्रकरण तथा अनुवृत्ति

महामुनि पाणिनि कृत अष्टाध्यायी में जहाँ अनेक विशेषतायें हैं वहाँ दो ऐसी विशेषता हैं जो अन्यत्र प्रक्रियानुसारी ग्रन्थों में कहीं प्राप्त नहीं हो सकती वह है (१) अनुवृत्ति और (२) प्रकरण। इन दोनों विशेषताओं को सिद्धान्तकौमुदी आदि प्रक्रिया ग्रन्थों में नष्ट कर दिया गया है।

अनुवृत्ति–क्रमबद्ध सूत्रों के होने से एक सूत्र से दूसरे सूत्र में अनुवृत्ति सरलता से ली जाती है। और कुछ दिनों तक अष्टाध्यायी के सूत्रों को पढ़ने के पश्चात् किस पद की अनुवृत्ति किस सूत्र से आती है यह बात बिना किसी प्रयास के आपसे आप समझ आ जाती है। प्रक्रिया ग्रन्थों में सूत्रों को इधर से उधर ले जाने के कारण सूत्रों की अनुवृत्ति का क्रम सर्वथा नष्ट हो जाता है। यही कारण है कि कौमुदी आदि ग्रन्थों के पढ़ने वाले छात्रों को वृत्ति रटनी पड़ती है। बात ठीक भी है अनुवृत्ति नहीं आती तो वृत्ति तो रटनी ही पड़ती है। अब अनेक विद्वान् यह भी कहने लगे हैं कि कौमुदी में भी वृत्ति रटने की कोई आवश्यकता नहीं। यह मत ठीक नहीं प्रतीत होता। बात निश्चित है कि छात्र को सूत्रों का अर्थ जानना चाहिए। चाहे वह अनुवृत्ति से जाने अथवावृत्ति से। कौमुदी में तो अनुवृत्ति है नहीं और वह वृत्ति भी याद नहीं करता तो भला बताइये उसको सूत्र का अर्थ कैसे स्मरण हो जाता है। और यदि सूत्रार्थ ही नहीं याद हुआ तो व्याकरण उसको क्या आयेगा। कौमुदी से व्याकरण पढ़ने वाले छात्रों को इसी लिए वृत्ति रटनी पड़ती है किन्तु अष्टाध्यायी क्रम से पढ़ने वाले छात्रों को ऐसा नहीं करना पड़ता।

प्रकरण–अष्टाध्यायी की दूसरी विशेषता 'प्रकरण' की है। अष्टाध्यायी के सूत्रों को प्रकरणबद्ध पाणिनि ने लिखा है। छात्रों की जानकारी के लिये हमने अष्टाध्यायी-प्रकाशिका में सभी आवश्यक प्रकरणों का नाम लिख दिया है। अष्टाध्यायी के पढ़ने वालों को चाहिये कि उन प्रकरणों को कण्ठस्थ कर लें। और प्रकरणों में से सूत्र किस प्रकार लेकर किसी शब्द की सिद्ध में लगाये जाते हैं उनका ज्ञान कर लें। बस अष्टाध्यायी पर पूर्ण अधिकार हो जायेगा। अभी मैं प्रकरणों की विशेषता पर लिखूंगा। और प्रकरणों के पश्चात् कृत् आदि प्रत्ययों को लगाकर प्रातिपदिक की सिद्धि करूंगा।

यहां पर एक बात और ज्ञातव्य है कि पाणिनि ने जिन-जिन प्रकरणों को अभिप्रेत करके सूत्रों का निर्माण किया था वे सभी के सभी अभिप्राय कौमुदी में नष्ट कर दिये गये। जैसे कौमुदी में पञ्चसन्धि प्रकरण, सुबन्त प्रकरण, तिङन्त प्रकरण आदि। पाणिनि ने इन प्रकरणों के अनुसार सूत्रों का निर्माण नहीं किया। यदि कौमुदी गत आये हुए

प्रकरण के अनुसार ही सूत्र बनाना था तो क्या भगवान् पाणिनि अष्टाध्यायी को प्रक्रिया ग्रन्थ ही नहीं बनाते। परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। वे जानते थे कि प्रक्रिया ग्रन्थ से व्याकरण बहुत ही दुरूह हो जायेगा। अतएव यह समझ लेना चाहिए कि कौमुदी में अष्टाध्यायी के प्रकरणों को तोड़कर दीक्षित जी ने अपने ढंग से प्रकरण बनाया। यही कारण है कि जैसा व्याकरण का साङ्गोपाङ्ग ज्ञान अष्टाध्यायी महाभाष्य से केवल तीन वर्ष में होता है, वैसा ज्ञान कौमुदी आदि अनार्ष ग्रन्थों से १२ वर्ष में भी नहीं हो सकता। व्याकरण का पूर्ण ज्ञान बिना अष्टाध्यायी और महाभाष्य पढ़े कदापि नहीं हो सकता, यह सवर्था सत्य है। अष्टाध्यायी-प्रकाशिका के अन्तर्गत आये हुए जितने प्रकरण हैं, उनको विषयोपक्रमणिका से देख लेना चाहिये। अब हम एक एक प्रकरण को लेकर व्याख्यान करेंगे।

ङित्कित्प्रकरणम्

ङित्कित् प्रकरण के पहले प्रकाशिका में दो प्रकरण अर्थात् संज्ञा-परिभाषा और स्थानिवत् प्रकरण आ चुके हैं, उनका विस्तृत व्याख्यान 'सूत्रों के प्रकार' नामक व्याख्यान में कर चुके हैं। अब क्रम प्राप्त ङित्कित् प्रकरण ही है।

इस प्रकरण का सर्व प्रथम सूत्र है "गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित् (१.२.१) इस सूत्र के चरित्र पर विचार करने से पता लगता है कि यह सूत्र संज्ञा सूत्र है। क्योंकि अतिदेश सूत्र के अन्त में वत्=समान लिखा रहता है। यहाँ पर वत् शब्द का प्रयोग नहीं है। अन्य ग्रन्थकारों ने भी इसको अतिदेश सूत्र ही माना है। यद्यपि प्राचीन परम्परा में इसको संज्ञा सूत्र ही मानते हैं, फिर भी स्पष्टता के लिये भाष्यानुसार हमने अतिदेश सूत्र माना है और वत् जोड़कर इसका अर्थ किया है।

अतएव इस प्रकरण के सूत्रों का काम है, जो धर्म प्रत्यय में नहीं है, उस धर्म को उसमें आरोपित कर देना। जैसे सार्वधातुकमपित् (१.२.३) इस सूत्र का अर्थ है जिस प्रत्यय में पकार की इत् संज्ञा नहीं हुई है ऐसे सार्वधातुक प्रत्यय ङित्वत् होते हैं अर्थात् ङित् के समान होते हैं। जैसे कर्तरि शप् (३.१.) और दिवादिभ्यः श्यन् (३.१.) इन दो सूत्रों पर विचार कीजिए शप् प्रत्यय के शकार की इत्संज्ञा

लशक्वतद्धिते (१.३.८) तथा पकार की इत्संज्ञा हलन्त्यम् (१.३.३) इस सूत्र से होती है। अब बचा हुआ जो 'अ'प्रत्यय है,वह शित् भी है और पित् भी है। उसी प्रकार श्यन् में इत्संज्ञा और लोप करने पर केवल 'य' बचता है, यह प्रत्यय नित् भी है और शित् भी है। अब एक सूत्र है तिङ्शित्सार्वधातुकम् (३.४.११३) आर्धधातुकं शेषः (३.४.११४) अर्थात् धातु के पश्चात् जितने प्रत्यय आते हैं उन प्रत्ययों में तिप् तस् आदि १८ प्रत्यय जो तिङ् प्रत्याहार के अन्तर्गत हैं, वे तथा शकार इत्संज्ञा वाले प्रत्यय को सार्वधातुक कहते हैं। अब शप् प्रत्यय तिङ् शित् सार्व० सूत्र से सार्वधातुक है, वैसे ही श्यन् भी सार्वधातुक हुआ। सार्वधातुक होते हुए शप् पकार इत् वाला है और श्यन् पकार इत्संज्ञा वाला नहीं है। लेकिन सार्वधातुकमपित् सूत्र कहता है, जिस प्रत्यय के पकार की इत्संज्ञा नहीं हुई है ऐसे सार्वधातुक प्रत्यय ङित् के समान होते हैं, इससे शप् प्रत्यय ङित् के समान नहीं हुआ लेकिन श्यन् प्रत्यय ङित् वाला हो गया। इससे यह तात्पर्य निकला कि जो प्रत्यय प्रत्यक्ष रूप से ङकार इत् वाले नहीं हैं उनको भी ङित् धर्म वाला, या कित् धर्म वाला बना देना ही इस प्रकरण का मुख्य लक्ष्य है।

इस प्रकरण से लाभ यह है कि जैसे विभिन्न प्रत्ययों में ककार और ङकार की इत्संज्ञा की जाती है और ङकार और ककार इत्संज्ञा करने से जो कार्य किया जात है, वे सभी कार्य इस प्रकरण के सूत्रों से ङित्वत् और कित्वत् कर देने से सिद्ध हो जावें। धातु के पश्चात् जब कोई प्रत्यय आता है तो धातु को जहां अनेक कार्य किये जाते हैं वहां गुण करना भी एक काम है। परन्तु ककार इत् वाले तथा ङकार इत्वाले प्रत्ययों के परे रहने पर "क्ङिति च (१.१.५.) सूत्र से गुण का निषेध होता है। जैसे भू धातु से 'क्त' प्रत्यय आया। अब यहां पर लशक्वतद्धिते (१.३.८) सूत्र से ककार की इत्संज्ञा हो गई। अब जब गुण करने लगे तब 'क्ङिति च' (१.१.५) इस सूत्र से गुण का निषेध हो जायेगा। उसी प्रकार तुद् धातु के पश्चात् वर्तमान काल में तिप् प्रत्यय लाया गया जिससे "तुद् तिप्" और पुनः "तुदादिभ्यः शः" से 'श' प्रत्यय आया। अत एव "तुद् श तिप्" इस स्थिति में इत्संज्ञा और लोप करने के पश्चात् "तुद अ ति" बचा। अब 'पुगन्तलघूपधस्य च (७.३.८४) सूत्र से गुण करना चाहते हैं तो यहां पर 'श' प्रत्यय

शित् होने से सार्वधातुकसंज्ञा वाला है और "सार्वधातुकमपित्" इस सूत्र से इसे ङित् धर्म वाला भी बना दिया गया, जिससे गुण का निषेध "क्ङिति च" सूत्र ने कर दिया। इस प्रकरण का यही काम होता है कि जहां कहीं भी ङित् और कित् को निमित्त मानकर सूत्रों में विधान किया गया है वहां वहां इन सूत्रों से जिन-जिन प्रत्ययों को ङित् और कित् बना दिया गया है, उन-उनका कार्य भी वैसे ही होगा जैसे प्रत्यक्ष ङित् कित् वाले प्रत्ययों का होता है।

इत्संज्ञाप्रकरणम्

अष्टाध्यायी क्रम में इत्संज्ञा प्रकरण अपना एक विशेष स्थान रखता है। वह बहुत महत्व पूर्ण है। उसे अष्टाध्यायी सूत्रों का प्राण समझना चाहिए। इस प्रकरण को बिना समझे व्याकरण के अनेक कार्य सम्पन्न नहीं हो सकते। प्रातिपदिक और क्रियाओं के साथ प्रत्यय, विभक्ति आदि जोड़ने का कार्य इन सूत्रों के बिना पूर्ण नहीं हो सकता। सु, औ, जस् और तिप्, तस्, झि, आदि विभक्तियों का वास्तविक स्वरूप इनके बिना सिद्ध नहीं होता। इस प्रकरण के लगभग सभी सूत्र अष्टाध्यायी के प्रथम अध्याय तृतीय पाद के प्रारम्भ में दिए गए हैं। ये सभी सूत्र जैसे उस स्वागतकारिणी समिति के सदस्य हैं जो प्रत्यय विभक्ति, आदेश, आगम आदि का शब्दों में जोड़ने के लिए स्वागत करती हैं और उसके रूप को स्थिर करती हैं। इनमें जो भी स्वर या व्यञ्जन (अच् और हल्) सिद्ध रूप के लिए अनावश्यक हैं उनका लोप करती हैं और इस प्रकार उसे प्रातिपदिक आदि में जोड़ने का कार्य सम्पादन करती है।

इत् का अर्थ है जाना। 'इण् गतौ' धातु से इत् शब्द बनता है जिसका अर्थ होता है, 'एति गच्छति इति इत्' अर्थात् जिसकी भी इत्, संज्ञा होगी अर्थात् जिसका नाम इत् रख दिया गया, उसका लोप हो जायेगा। लोप कहते हैं अदर्शन को क्यों कि आचार्य का सूत्र ही है "अदर्शनं लोपः" (१.१.५६)। उदाहरण स्वरूप सुँ, औ, जस् को लीजिये यहां पर सुँ में 'ऊँ' उपदेशेऽजनुनासिक इत् (१-३-२) से इत् संज्ञा वाला हो गया। इत् संज्ञा होने पर 'तस्य लोपः' सूत्र से उसका लोप हो गया और अदर्शनं लोपः सूत्र से उस 'उँ' का अदर्शन हो गया। उसी प्रकार 'जस्' में 'चुटू' से ज् की इत्संज्ञा और लोप हो

जाता है। स् की 'न विभक्तौ तुस्माः' से निषेध हो गया।

अब यहां पर विचारणीय बात है कि सु तो सूत्र में केवल 'सु' लिखा है, इसको अनुनासिक कैसे माना जाय। और दूसरी बात यह है कि उपदेश का क्या अर्थ है। इन दोनों बातों के लिए यह जानना चाहिए कि पाणिनि को जिस जिस अच् की इत्संज्ञा करनी थी उसे उन्होंने अनुनासिक ही पढ़ा था परन्तु वह परम्परा सैंकड़ों वर्षों से लुप्त हो गई अर्थात् अनुनासिक चिह्न ग्रन्थों से लुप्त हो गए। अतः अब इसका ज्ञान परम्परा से ही होता है अतः आपको भी पढ़ते पढ़ते एक दो महीने में स्वयं पता लगने लग जायेगा कि यहां का अच् अनुनासिक है और यहाँ का नहीं। यह बात गुरु परम्परा से ज्ञात होगी। दूसरी बात उपदेश की है तो मूल में जितनी बातें आचार्य पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि ने कही हैं ये सभी उपदेश कहलाती हैं। अब इसी प्रकार से जहां जहां आवश्यकता पड़े इत् संज्ञा करनी चाहिये। आप को वाच् शब्द का रूप ७ विभक्तियों में इत्संज्ञा करके बनाना चाहिये। उसके पश्चात् पूरा पूरा इत्संज्ञा के सूत्रों पर अधिकार हो जावेगा।

आत्मनेपद-परस्मैपदप्रकरणम्

आत्मनेपद और परस्मैपद का शाब्दिक अर्थ है जिस पद का प्रयोग अपने लिये किया जाये उसको आत्मनेपद और जिस पद का प्रयोग दूसरे के लिए किया जाय उसको परस्मैपद कहते हैं। आत्मन् शब्द से चतुर्थी के एकवचन में आत्मने शब्द बनता है उसी प्रकार 'पर' शब्द से चतुर्थी एकवचन में 'परस्मै' शब्द बनता है। सुप् और तिङ् को पद कहते ही हैं। इसलिये ऐसा अर्थ किया गया। सुबन्त तिङन्त

तिङ् प्रत्ययों में प्रारम्भ के नौ परस्मैपद हैं और उसके पश्चात् तङ् जो नौ हैं, वे आत्मनेपद हैं। जब इनका इतना पता लग गया तो यह ज्ञान सरलता से हो जाना चाहिये कि जिन धातुओं के पश्चात् आत्मनेपद के प्रत्यय आते हैं, उन धातुओं को आत्मनेपदी धातु कहा जाता है और जिन धातुओं के पश्चात् परस्मैपद के प्रत्यय आते हैं, उन धातुओं को परस्मैपदी धातु कहा जाता है।

यहां पर चार पारिभाषिक शब्दों का ज्ञान आवश्यक है। उदात्तः, अनुदात्तः उदात्तेत् और अनुदात्तेत्। धातुपाठ में जिन जिन धातुओं को उदात्तः पढ़ा गया है, उन उन धातुओं के पश्चात् प्रत्ययों को इट्

का आगम होता है, और जिनको 'अनुदात्तः' पढ़ा गया है, उनके पश्चात् प्रत्ययों का इट् का आगम नहीं होता है। धातुओं को जहां उदात्तेत् कहा है, वे धातु परस्मैपदी हैं और जहां अनुदात्तेत् कहां है, वे सभी आत्मनेपदी हैं। कौन परस्मैपदी हैं, इस बात का ज्ञान धातु पाठ से ही करना चाहिये। विस्तार के भय से इसका विस्तृत व्याख्यान यहां नहीं हो सकता। इस ग्रन्थ को समझने के लिये इतना ही विषय आवश्यक है।

कुछ धातुएं उभयपदी हैं उन से आत्मनेपद और परस्मैपद दोनों प्रकार के प्रत्यय होते हैं। जब कर्ता किसी क्रिया को अपने लिए करे अर्थात् क्रिया से निष्पन्न होने वाला फल उस के अपने लिए हो तो आत्मनेपद होता है दूसरे के प्रति फल होने से परस्मैपद। ऐसी धातुओं को पाणिनि ने स्वरितेत् और ञित् पढ़ा है।

समासप्रकरणम्

समास प्रकरण पर व्याख्यान करने के पूर्व यथा प्राप्त दो प्रकरणों पर कुछ प्रकाश डालना चाहिये। नद्यादिसंज्ञा तथा निपातप्रकरण। कुछ शब्द हैं जिनको नदी नाम से पुकारते हैं और नदी कहकर ही उनके सम्बन्ध में काम किया जाता है। सूत्र है आण्नद्याः (७.३.११२) यहां पर नदी संज्ञा वाले सभी शब्दों का काम होगा। इसी प्रकार घि संज्ञा वाले शब्दों से घेर्ङिति (७.३.१११) सूत्र से जिन-जिन शब्दों की घिसंज्ञा हो जाती है, उन उन सभी का काम होता है।

निपात प्रकरण का महत्व यह है कि जिन जिन शब्दों की निपात संज्ञा होती है उन उन शब्दों की 'स्वरादिनिपातमव्ययम्' (१. १. ३६) सूत्र से, अव्यय संज्ञा हो जाती है। और तब अव्यय मानकर जो काम प्राप्त है वे सभी काम निपात को भी हो जाते हैं।

समास—समास, समाज, समष्टि इत्यादि का एक ही अर्थ है। जहाँ अनेक व्यक्ति एक साथ मिल जाते हैं वहां समाज कहा जाता है। जैसे मानवसमाज, आर्यसमाज, ब्राह्मणसमाज। उसी प्रकार समष्टि का भी अर्थ है विभिन्न व्यक्ति जहां एक साथ हो जाते हैं वहां ही समष्टि शब्द का प्रयोग किया जाता है। उसी प्रकार समास शब्द का भी प्रयोग है। समाज में व्यक्ति लेकिन समास में पद रहते

है। समास में केवल पदों की सत्ता रहती है। अनेक पदों के मिलने से समास होता है। अर्थात् (१) अनेक पदों का एक पद होना (२) अनेक विभक्तियों का एक विभक्ति होना, (३) अनेक स्वरों का एक स्वर होने को समास कहते हैं। इन बातों का उदाहरण इसी व्याख्यान में स्पष्ट हो जायेगा।

समास मुख्यरूप से चार प्रकार के होते हैं (१) अव्ययीभावः, (२) तत्पुरुषः, (३) बहुव्रीहिः तथा (४) द्वन्द्वः ॥

इन समासों की परिभाषाओं पर पूर्व व्याख्यान में प्रकाश डाल चुके हैं। अब इनके अवान्तर विभाग (प्रकारों) पर व्याख्यान करेंगे। तत्पुरुष समास के ६ भेद हैं:-द्वितीया तत्पुरुष, तृतीया तत्पुरुष, चतुर्थी तत्पुरुष, पञ्चमी तत्पुरुष, षष्ठी तत्पुरुष, सप्तमी तत्पुरुष, कर्मधारय, द्विगु तथा नञ् तत्पुरुष ॥

द्वन्द्व समास के २ भेद हैं—समाहार और इतरेतर ॥

अव्ययीभाव तथा बहुव्रीहि समास के कोई विशेष भेद नहीं।

इन समास गत अवान्तर विभागों तथा समासों पर विचार करने से पूर्व ध्यान देने योग्य कुछ बातें इस प्रकार है :—

समास के सूत्रों के अर्थ करने से पहले तीन पद पर सदा ध्यान रखना चाहिये। यदि इन तीन पदों का प्रत्यक्ष हो जाय तो समास के किसी भी सूत्र का अर्थ सरल हो सकता है। वे हैं:-सुप् (२.१.२), सह सुपा (२.१.४)। सुप्, सह सुपा, सुप् प्रथमा का एक वचन। सह-अव्यय पदम्। सुपा-तृतीया का एक वचन ॥ इन तीनों पदों का समास के सूत्रों में अधिकार जाता है। इन तीनों पदों का अर्थ है "सुपा सह सुप् समस्यते" अर्थात् सुबन्त के साथ सुबन्त समास को प्राप्त होता है।

इस समास प्रकरण में प्रथमान्त तृतीयान्त और सप्तम्यन्त ये तीन प्रकार के पद आते हैं। अत एव सुप् का सम्बन्ध प्रथमान्त के साथ और सह सुपा का सम्बन्ध तृतीयान्त के साथ करा देना चाहिये। सप्तम्यन्त पद अर्थ द्योतन करने के लिये रखा गया है। अब इन तीनों पदों को लगाकर सूत्रका अर्थ (द्वितीया०२.१.२३) का अर्थ हुआ द्वितीयान्त सुबन्त श्रितादि सुबन्तों के साथ समास के प्राप्त होता है। यहां पर एक बात और ध्यान देने के योग्य है। जिस समास का अधिकार हो वह भी

कहना पड़ता है। तो अब अर्थ हुआ। द्वितीयान्त सुबन्त श्रितादि सुबन्तों के साथ समास को प्राप्त होता है और वह तत्पुरुष संज्ञा वाला होता है अर्थात् उसकी तत्पुरुष संज्ञा होती है। एक बात और। पहले के व्याख्यान से आपको पता होगा कि सम्बन्धी पदों का ही समास होता है, अतएव 'समर्थः पदविधिः' का अधिकार समस्त अष्टाध्यायी में जाता है। इसलिये अर्थ होगा "द्वितीयान्त समर्थ (सम्बन्धी) सुबन्त श्रितादि सुबन्तों के साथ समास को प्राप्त होता है, और उसकी तत्पुरुष संज्ञा होती है। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि सूत्र में तो द्वितीया पढ़ा गया और अर्थ में द्वितीयान्त कहा गया यह कैसे। तो यहाँ पर येनविधिस्तदन्तस्य (१. १. ७१) से अन्त का बोध होता है।

अब तत्पुरुष के भेदों को लीजिये। जब द्वितीयान्त सुबन्त समास को प्राप्त होता है, तब द्वितीया तत्पुरुष कहते हैं। उसी प्रकार तृतीयान्त, चतुर्थ्यन्त, पञ्चम्यन्त, षष्ठ्यन्त तथा सप्तम्यन्त जब सुबन्त के साथ समास को प्राप्त होता है तब तृतीया, चतुर्थी आदि तत्पुरुष कहते हैं। जैसे कष्टं श्रितः। यहां पर कष्ट पद द्वितीयान्त है और श्रित-प्रथमान्त है। तो समास होने से एक पद हो जायेगा, अतएव कष्टश्रितः बन गया। उसी प्रकार विस्मयम् आपन्नः विस्मयापन्नः, गृहं गतः गृह-गतः, शरणं प्राप्तः शरणप्राप्तः इत्यादि द्वितीया तत्पुरुष के उदाहरण हैं।

शङ्कुलया खण्डः शङ्कुलाखण्डः, किरिणा काणः किरिकाणः (किरकिरी से एक आंख का काना हो जाना) इत्यादि तृतीया तत्पुरुष हैं। यूपाय दारुः यूपदारुः, कुण्डलाय हिरण्यम् कुण्डलहिरण्यम् इत्यादि चतुर्थी तत्पुरुष के उदाहरण। वृकेभ्यो भयम् वृकभयम्। चौरेभ्यो भयम् चौरभयम् इत्यादि पञ्चमी तत्पुरुष। राज्ञःपुरुषः राजपुरुषः, दशरथस्य पुत्रः दशरथपुत्रः इत्यादि षष्ठी तत्पुरुष। अक्षेषु धूर्त्तः अक्षधूर्त्तः इत्यादि सप्तमी तत्पुरुष के उदाहरण हुए॥

कर्मधारय—सूत्र है तत्पुरुषः समानाधिकरणं कर्मधारयः (१. २. ४२) सूत्र का अर्थ है एक अर्थात् एक अधिकरण है दो पदों का उसको समानाधिकरण कहते हैं। जैसे नीलोत्पलम्। इसमें नील और उत्पल शब्दों का समास हुआ। नील शब्द का अर्थ

है नील रङ्ग तथा उत्पल का अर्थ है कमल। अब देखिये नील से नीले रङ्ग का बोध होता है और उत्पल से कमल का बोध होता है। अर्थात् इन दोनों शब्दों का अधिकरण अलग अलग हैं। लेकिन एक ऐसा कमल भी होता है जो कमल तो होता ही है परन्तु साथ ही साथ 'नील' भी होता है। उस कमल को नीलोत्पल कहते हैं। नील और उत्पल इन दोनों का आधार एक ही फूल जो नीले रङ्ग का है, वह हो गया, अतएव इसको कर्मधारय समास कहते हैं। इसी प्रकार रक्तोत्पलम् इत्यादि जानना चाहिये।

नञ् समास—नञ् का ञ् इत्संज्ञा और लोप हो जाता है। यह 'न' जब सुबन्त के साथ समास को प्राप्त होता है, तब नञ् समास होता है, चूंकि यह तत्पुरुष के अधिकार में है, अतः नञ् तत्पुरुष समास हुआ। न ब्राह्मणः, अब्राह्मणः, न ईश्वरवादः अनीश्वरवादः इत्यादि इसके उदाहरण हैं।

द्विगुः—जिस तत्पुरुष समास का पूर्व पद संख्या वाची होता है, उसको द्विगुः समास कहते हैं। जैसे—अष्टानामध्यायानां समाहारः इति अष्टाध्यायी। यहां पर अष्ट और अध्याय दो पद हैं जिनमें पूर्व पद अष्ट संख्या वाला है, इसलिए इसका नाम द्विगु तत्पुरुष पड़ गया। सूत्र है संख्या पूर्वो द्विगुः (२.१.५१.)

द्वन्द्वसमासः—जहां च (=और) का अर्थ होता है, वहां द्वन्द्व-समास होता है। अब च (और) शब्द के चार अर्थ हैं, समुच्चय, अन्वाचय, इतरतर और समाहार। जैसे-अन्वाचय में च का अर्थ है—किसी आश्रित घटना का किसी प्रधान घटना के साथ जोड़ना। जैसे—भिक्षां च चर गाञ्चानय (गाम् च आनय)=भिक्षा मांगने जाओ और (उसके साथ ही साथ) गाय भी लेते आना। यहां पर 'च' ने प्रधान घटना भिक्षा मांगना के साथ आश्रित घटना गाय का लाना भी जोड़ दिया। अतः गाय मिलेगी तो ले आयेगा अन्यथा भिक्षा चरण करेगा ही।

समुच्चय में—खादति च, खेलति च, पठति च, यहां पर 'च' से अनेक परस्पर असंबद्ध क्रियाओं के समूह का बोध होता है।

इतरेतर में—रामश्च लक्ष्मणश्च रामलक्ष्मणौ (राम और लक्ष्मण)

यहां पर 'च' से परस्पर का सम्बन्ध द्योतन होता है।

समाहार में—पाणी च पादौ च, पाणिपादम्=हाथ पैर की समष्टि-—यहां पर सामूहिक एकता का द्योतन होता है।

अत एव उपर्युक्त चारों में जब च का अर्थ इतरेतर और समाहार होता है तब समास होता है। लेकिन समुच्चय और अन्वाचय में समास नहीं होता। क्यों नहीं होता इसका उत्तर है, सम्बन्धी पदों में समास होता है समुच्चय और अन्वायय में कोई सम्बन्ध नहीं है, इसलिये समास नहीं होता।

इतरेतर योग में जहां द्वन्द्व समास होता है वहाँ द्विवचन या बहुवचन होता है और जहां समाहार में द्वन्द्व होता है वहां एकवचन ही होता है इस प्रकार द्वन्द्व समास के दो भेद होते हैं।

बहुव्रीहि समास के चार अवान्तर भेद हो सकते हैं। समानाधिकरण, व्यधिकरण, तुल्ययोग और व्यतिहार। जब समास में आने वाले पदों की एक ही प्रकार की विभक्तियां होती हैं तब तो वह बहुव्रीहि समानाधिकरण बहुव्रीहि होता है और जब भिन्न भिन्न विभक्तियां होती हैं, तब व्यधिकरण बहुव्रीहि कहा जाता है। जैसे—निगतं भयं यस्मात् सः निर्गतभयः (पुरुषः) अर्थात् जिस पुरुष से भय चला गया है उस पुरुष को निर्गतभयः कहा जाता है। पराजिताः रिपवो येन सः पराजितरिपुः (राजा) अर्थात् पराजित हो गये शत्रु जिससे उस राजा को पराजितरिपुः कहा जाता है। यहां पर 'निर्गत, सु भय सु' में प्रथमा का एक वचन है तथा 'पराजित जस् रिपु जस' यहां पर प्रथमा का बहुवचन है अर्थात् एक ही प्रकार की विभक्तियां विग्रह होने वाले पदों में हैं इसलिये इसको समानाधिकर बहुव्रीहि कहते हैं। अब पुण्ये मतिः यस्य सः पुण्यमतिः (सत्यदेवः)। धनु पाणौ चस्य सःधनुपाणिः (रामभद्रः) कुम्भात् जन्म यस्य सः कुम्भजन्मा। यहां तीनों समस्त पदों के विग्रह में आने वाले जो पद हैं उनमें भिन्न-भिन्न विभक्तियां हैं जैसे पुण्ये ७।१ मतिः १।१।। धनु १।१ पाणौ ७।१।। कुम्भात् ५।१ जन्म १।१।। अतएव ये समास व्याधिकरण बहुव्रीहि हुए।। व्यतिहार और तुल्ययोग के लिये बहुव्रीहि समास में एक २ सूत्र है वहाँ देख लीजिये।

इस प्रकरण में आवश्यक बात यह भी जाननी चाहिये कि एक प्रकार का विशेष और समास होता है जिसको नित्य समास कहते

हैं। अर्थात् उस नित्य समास का अर्थ है कि उसका विग्रह होने पर अलग पदों में अर्थ कहने की शक्ति नहीं होती। अर्थात् समस्त पद से जिस प्रकार का अर्थ कहा जाता है वह अर्थ विग्रह में आये हुए अलग २ पदों से नहीं कहा जा सकता। नित्य समास में समस्त पद के अर्थ को बताने के लिए दो में से एक पद अवश्य ही भिन्न रहता है। यथा ब्राह्मणार्थी यवागूः का विग्रह होगा ब्राह्मणाय इयं य वागूः।

इसी प्रकार उपकुम्भं का विग्रह होगा कुम्भस्य समीपम्। यहां उप का अर्थ समीप शब्द से व्यक्त किया गया।

समास का प्रकरण लम्बा होता जा रहा है और बहुत सी बातें कहना चाहते हैं परन्तु विस्तार भय से इसे यहीं समाप्त करते हैं।

समास की सिद्धि--

(१) सभी अधिकार सूत्रों को कहना जैसे समर्थः पदविधिः, प्राक्कडारात् समासः, सह सुपा और जिस समास का अधिकार हो। इन चार सूत्रों को सर्व प्रथम लगाना, उसके पश्चात् (२) विधायक सूत्र को कहना जैसे षष्ठी (२.२.७) उसके पश्चात् लौकिक तथा अलौकिक विग्रह को बताना जैसे दशरथस्य पुत्रः इति दशरथपुत्रः, अलौकिक विग्रह-दशरथ ङस् पुत्र सु, इसके पश्चात्

(३) उपसर्जन संज्ञा करना—प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् (१.२. ४४), और जिसका 'उपसर्जनम् पूर्वम् इत्यादि सूत्रों से पूर्वप्रयोग होता हो उसका पूर्व प्रयोग करना। दशरथस्य पुत्रः यहां पर एक बात जाननी चाहिये कि सूत्रों में प्रथमा निर्दिष्ट देखा जाता है न कि उदाहरणों में। अधिकतर पाठक उदाहरण में देखने लगते हैं, सो ठीक नहीं। अतएव इस उदाहरण में 'षष्ठी' सूत्र से समास होता है, इसलिये षष्ठी सूत्र हो देखना चाहिये। इसमें षष्ठी पद को प्रथमा विभक्ति से निर्देश किया गया है, अतः उसकी उपसर्जन संज्ञा होती है, और 'उपसर्जन पूर्वम्' से उसीका पूर्व में प्रयोग होता है। उपसर्जन पूर्वम् सूत्र का कार्य बताने के लिये इस का विग्रह 'पुत्रः दशरथस्य=पुत्र+सु, दशरथ +ङस्' ऐसा भी बताना अधिक युक्त रहता है। अतएव दशरथ ङस् पुरुष सु इसके पश्चात्

४. कृत्तद्धितसमासाश्च से प्रातिपदिक संज्ञा करके 'सुपो धातु-

प्रातिपदिकयोः (२.४. ७२) सूत्र से विभक्तियों का लुक् करना, जैसे दशरथपुत्र, अब इसके पश्चात्

५. सु विभक्ति लाना और सु विभक्ति आ जाय तब उसके पश्चात् वृद्धिरादैच् पर जो शालीयः का उदाहरण दिया गया है, तथा सु को विसर्ग करने में जो-जो सूत्र लगाये गये हैं, उस क्रम से सूत्रों को लगाकर दशरथपुत्रः की सिद्धि करना। बस, यही विधान सभी प्रकार के समासों में होता है। और जो जो विशेष विशेष सूत्र लगते हैं, उनको समास प्रकरण के अव्यय विभक्तिसमीप० (२.१. ६) सूत्र के 'अधिस्त्रि' उदाहरण पर देखना चाहिये। उन सूत्रों के अर्थ तथा वे सूत्र क्या क्या काम करते हैं, उनका कार्य प्रदर्शन भी ज्ञात कर लेना चाहिये।

विभक्तिप्रकरणम्

प्रथम व्याख्यान में कारक तथा विभक्ति विषय पर प्रारम्भिक प्रकाश डाला गया था। अब कुछ विशेष विचार उपस्थित करते हैं। क्रिया की सिद्धि में जो सहायक हो उसको कारक कहते हैं। इस प्रकार ही कारक की परिभाषा से रामः गच्छति। रामः सीतां पश्यति। इत्यादि वाक्यों में कर्त्ता, कर्म इत्यादि की व्यवस्था होती है। परन्तु कुछ ऐसे पद भी हैं जिनके कारण से विभक्तियों के ऊपर प्रभाव पड़ता है। कारक होने के कारण से तो प्रथमा, द्वितीया, आदि विभक्ति होना तो स्वाभाविक ही है परन्तु कारक न होते हुए भी विभक्तियों पर प्रभाव पड़ना एक विचित्र बात है। जैसे रामेण सह मोहनः गच्छति। यहां पर राम में तृतीया विभक्ति क्यों हुई, राम शब्द की करण संज्ञा तो 'साधकतमं करणम्' इस सूत्र से है नहीं, पुनः तृतीया विभक्ति होने का कारण क्या है। इसी प्रकार गुरवे नमः, स्वस्ति प्रजाभ्यः इत्यादि विभक्ति प्रकरण के अनेक उदाहरणों में केवल उन उन पदों के समीप में होने के कारण से विभक्तियों की व्यवस्था होती है। इन्हें उपपद विभक्ति कहते हैं। उपपद का अर्थ है पदस्य समीपम् उपपदम् अर्थात् पद के समीप को उपपद कहते हैं। अतः विभक्तियां दो प्रकार की होती हैं, एक कारकविभक्ति और दूसरी उपपदविभक्ति। अर्थात् पदों के कारक होने के कारण से जो विभक्तियों की व्यवस्था होती है उसको कारक विभक्ति तथा पद के समीप होने के कारण से जहां विभक्तियों की व्यवस्था होती

है उसको उपपद विभक्ति कहते हैं।

विभक्ति प्रकरण में जहां कहीं भी शब्दों के योग से विभक्ति का विधान किया गया है, सभी उपपद विभक्तियां हैं ऐसा जानना चाहिए।

अष्टम व्याख्यान

विकरणप्रकरणम्

विकरण किसे कहते हैं तथा व्याकरण शास्त्र में उसका क्या महत्व है, इस विषय पर चर्चा करने से पहले प्रक्रिया शब्द का अर्थ तथा प्रयोजन जानना आवश्यक है। प्रक्रिया ढंग को कहते हैं। विचित्र कामों को करने के कारण किसी व्यक्ति को विचित्र ढंग का मनुष्य कहा जाता है उसी प्रकार २००० धातुओं का भी ढंग होता है। अर्थात् सभी धातुओं की केवल चार ही प्रक्रिया होती है। (१) कर्तृप्रक्रिया, (२) कर्मप्रक्रिया (३) भावप्रक्रिया और (४) कर्मकर्तृप्रक्रिया। इन्हीं चारों प्रक्रियाओं में सभी धातुओं के रूप चलते हैं। सकर्मक धातुओं का रूप कर्तृप्रक्रिया और कर्मप्रक्रिया में तथा कर्मकर्तृप्रक्रिया में चलते हैं और अकर्मक धातुओं के रूप कर्तृप्रक्रिया और भावप्रक्रिया में चलते हैं। इन चारों प्रक्रियाओं को क्रमशः कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य, भाववाच्य और कर्मकर्तृवाच्य कहते हैं।

कर्तृप्रक्रिया या कर्तृवाच्य—जिस वाक्य में क्रिया के द्वारा कर्ता कहा जाय, उस धातु को कर्तृवाच्य में कहा जायेगा तथा उसका रूप कर्तृप्रक्रिया में चलेगा। जैसे रामः वेदं पठति=राम वेद पढ़ता है। यहां पर 'पठति' क्रिया के द्वारा रामः कर्त्ता कहा जा रहा है। अतः यहां पर पठ धातु का रूप कर्तृवाच्य में वचन भेद से पठति, पठतः, पठन्ति आदि चलेगा।

कर्मवाच्य या कर्मप्रक्रिया--जिस वाच्य में क्रिया के द्वारा कर्म कहा जाय, उस धातु को कर्मवाच्य में कहा जायेगा तथा उस धातु

का रूप कर्मप्रक्रिया में चलेगा। जैसे रामेण पुस्तकं पठ्यते=राम से पुस्तक पढ़ी जाती है। इसका कर्तृवाच्य था रामः पुस्तकं पठति=राम पुस्तक पढ़ता है। "रामेण पुस्तकं पठ्यते" इस वाक्य में पुस्तकं में प्रथमा का एकवचन है। लेकिन जब पठ धातु रामः पुस्तकं पठति इस वाक्य में कर्तृप्रक्रिया में था तब कर्त्ता रामः' को कहता था लेकिन अब कर्मवाच्य में 'पुस्तकं' को कहता है। चूंकि कर्तृप्रक्रिया में 'पुस्तकं' कर्म था और अब वही कर्त्ता हो गया है इसलिये पठ्यते यह रूप कर्मप्रक्रिया में है। क्योंकि पहले का कर्म 'पुस्तकं' अब कर्त्ता होकर क्रिया के द्वारा कहा जा रहा है।

भाववाच्य या भावप्रक्रिया—जिस वाक्य में क्रिया के द्वारा केवल भाव अर्थात् धातु के अर्थ का कथन हो उस धातु को भावप्रक्रिया में कहा जायेगा। जैसे कर्तृप्रक्रिया में रामः हसति=राम हँसता है। यह वाक्य भाव प्रक्रिया में रामेण हस्यते=राम से हंसा जाता है। हस धातु अकर्मक है अत एव कर्मवाच्य में इसका रूप नहीं हो सकता। यहां पर तो हस धातु के अर्थ का केवल कथन किया जा रहा है। इसी प्रकार अकर्मक धातुओं से भावप्रक्रिया में रूप चलते हैं।

कर्मकर्तृप्रक्रिया—जिस वाक्य में कर्म अर्थात् क्रिया इतनी सरलता से सिद्ध हो कि कर्त्ता के प्रयत्न की कोई आवश्यकता ही न प्रतीत हो, वहां कर्म, कर्त्ता की तरह हो जाता है। चूंकि कर्म, कर्त्ता की तरह हो जाता है इसीलिये उसको कर्मकर्त्ता कहते हैं। उस धातु का रूप कर्म कर्तृप्रक्रिया में चलता है। कर्मकर्तृप्रक्रिया तथा कर्मप्रक्रिया के रूपों में साधारणतः कोई भेद नहीं होता। जैसे :—

कर्तृवाच्य—धनीरामः काष्ठं भिनत्ति=धनीराम लकड़ी को फाड़ता है।

कर्मवाच्य—धनीरामेण काष्ठं भिद्यते=धनीराम से लकड़ी फाड़ी जाती हैं।

कर्मकर्तृवाच्य—काष्ठं भिद्यते स्वयमेव=लकड़ी स्वयं फट रही है। इस प्रक्रिया में "स्वयमेव" का प्रयोग होता है। इन तीनों प्रक्रियाओं के वाक्यों पर ध्यान दीजिये।

कर्तृवाच्य में कर्त्ता धनीराम लकड़ी फाड़ रहा था, कर्मवाच्य में

धनाराम से लकड़ी फाड़ी जा रही थी। लेकिन कर्मकर्तृवाच्य में लकड़ी के फटने में इतनी सरलता हो गई कि कहा जा रहा है कि लकड़ी धनीराम के द्वारा क्या फाड़ी जा रही है बल्कि लकड़ी आप से आप फट रही है। यहाँ पर कर्त्ता धनीराम में प्रयत्न की आवश्यकता प्रतीत ही नहीं होती।

वाच्य परिवर्तन—कर्तृवाच्य के वाक्य को कर्मवाच्य या भाववाच्य तथा कर्मवाच्य या भाववाच्य के वाक्य को कर्तृवाच्य में कर देना ही वाच्य परिवर्तन है। **वाच्य परिवर्तन करते समय क्रिया उसका कर्त्ता, कर्त्ता के विशेषण, कर्म और कर्म के विशेषण, इन सभी में परिवर्तन होता है।**

वाच्य परिवर्तन के नियम (१)–कर्मवाच्य बनाने में प्रथमान्त कर्त्ता को तृतीयान्त और द्वितीयान्त कर्म को प्रथमान्त करना पड़ता है।

(२) कर्तृवाच्य में जो क्रिया कर्त्ता के अनुसार होती है वह कर्म के अनुसार बना देनी पड़ती है।

(३) क्रिया जिस काल या जिस लकार की होगी वाच्यान्तर में भी वह उसी काल और लकार की होगी।

(४) कर्ता और कर्म के अनुसार ही उसके लिङ्ग तथा वचन में परिवर्तन होंगे।

(५) भाव और कर्म वाच्य में धातु आत्मेनपदी हो जाता है। तथा उसका विकरण यक् होता है।

जैसे—कर्तृ० सुशीलः बालकः स्वकीयं पाठं पठति॥ कर्म०—सुशीलेन बालकेन स्वकीयः पाठः पठ्यते। इसी प्रकार वाक्यों को बना कर अभ्यास करना चाहिए।

उपर्युक्त ४ प्रक्रियाओं में जिन धातुओं के रूप चलाये जाते हैं उनके प्रकार :—

प्रकृत्यन्तः सनन्तश्च यङन्तो यङ्लुगेव च।
एयन्तो एयन्तसनन्तश्च षड्विधो धातुरुच्यते॥ दुर्गाचार्यः॥
स्याच्छुद्धा प्रकृतिएर्यन्ता सनन्ता णिचि सन्परा।
यङन्ता यङ्लुगन्ता च नातोऽन्या निष्प्रयोजना॥ क्षीरस्वामी॥

अर्थात् (१) शुद्ध प्रकृति (२ हजार धातु) (२) णिच् प्रत्ययान्त, (३) सन् प्रत्ययान्त, (४) णिजन्त से सनन्त, (५) यङ्प्रत्ययान्त और (६) यङ्लुगन्त ये ६ प्रकार के धातु होते हैं तथा इस प्रकार से भिन्न और कोई धातु या प्रकृति नहीं है और यदि हैं वे सभी प्रयोजन रहित हैं। सूत्र निर्देश पूर्वक इन प्रत्ययान्त धातुओं का विवरण :—

वर्तमान काल प्रथम पुरुष एक वचन के रूप—

पठ्=पठति=पढ़ाता है।

पठ् णिच्=पाठयति=पढ़ाता है–हेतुमति च (३.१.२६)

पठ् सन्=पिपठिषति=पढ़ने की इच्छा करता है–धातो० (३.१.७)

पठ् णिच् सन्=पिपाठयिषति=पढ़ाने की इच्छा करता है—
धातो० (३.१.७)

पठ् यङ्=पापठ्यते=बारम्बार या अत्यधिक पढ़ता है—
धातो० (३.१.१२)

पठ् यङ्लुक्=पापठीति=बारम्बार या अत्यधिक पढ़ता है—
यङोऽचि च (२.४.६८)

यहाँ पर णिच् प्रत्यय के सम्बन्ध में एक बात ज्ञातव्य है। पढ़ धातु की प्रेरणार्थक क्रिया पढ़ाना और पढ़वाना दोनों होती हैं। अतएव पठ् पढ़ना, पठ् णिच् पढ़ाना, पठ् णिच् णिच् पढ़वाना। दो बार णिच् प्रत्यय किया जाता है।

लकार—लकार का अर्थ है केवल ल्। लकार दस होते हैं। कुछ लकार वर्तमानादि कालों में तथा कुछ लकार वृत्तियों में उपदेश किये गये हैं। आज्ञा देना, निमन्त्रण करना आदि को वृत्ति कहते हैं। अइउण्, ऋलृक्, एओङ् इन तीन प्रत्याहारों से दस लकारों का ज्ञान होता है। इन अ, इ, उ, ऋ, ए और ओ को बीच में रखकर पहले ल् और बाद में ट् एवं ङ् रख देने से इन लकारों के नाम याद हो जाते हैं :—जैसे ल् अ ट् लट्। इसी प्रकार लिट्, लुट्, लृट्, लेट् और लोट् तथा ङ् जोड़कर लङ्, लिङ्, लुङ् तथा लृङ् ये ही दस लकार होते हैं। चूँकि इन दस लट् आदि में टकार आदि की इत्संज्ञा लोप करने पर केवल ल् बच जाता है इसलिए इनको लकार कहते हैं। लिङ् के विध्यादि लिङ् तथा आशिषि लिङ् ये दो भेद होते हैं।

टित् लकार—लट् आदि ६ लकारों में टकार की इत्संज्ञा होती है अतएव इन ६ लकारों को टित् लकार कहते हैं।

ङित् लकार—लङ् आदि ४ लकारों में ङकार की इत्संज्ञा होती है, अतएव इन्हें ङित् लकार कहते हैं। ङित् और टित् का अर्थ है ङकार और टकार जिसका लोप हुआ है।

विकरण—जिसके कारण से धातु में विकार होता है उसको विकरण कहते हैं। विकरण के कारण से ही धातुओं में गुण और वृद्धि रूप विकार होता है। विकरण ६ प्रकार के धातुओं के पश्चात् तथा तिप तस् आदि १८ प्रत्ययों के पहले आते हैं।

लेट् का विकरण 'सिप्', लृट् तथा लृङ् का 'स्य', लुट् का 'तासि', लुङ् का 'सिच्'; लिट् का विकरण नहीं होता। ६ प्रकार के धातुओं के पश्चात् इन लकारों के परे रहने पर ये विकरण होते हैं। क्योंकि इन विकरणों के साथ किसी गण का सम्बन्ध नहीं है। शेष लट, लोट्, लङ् और विध्यादिलिङ् लकारों में गण भेद से विकरण भेद हो जाता है। विकरण भेद के कारण ही धातुओं का दस समूहों में विभाजन किया गया है :—

भ्वाद्यदादी जुहोत्यादिः दिवादिः स्वादिरेव च।
तुदादिश्च रुधादिश्च तनक्र्यादिचुरादयः ॥

अर्थात् भ्वादि, अदादि, जुहोत्यादि, दिवादि, स्वादि, तुदादि, रुधादि, तनादि, क्र्यादि और चुरादि ये दस गण हैं। दिवादिभ्यः श्यन् (३.१.६९) इस सूत्र से कर्तृवाची सार्वधातुक प्रत्यय के परे रहने पर शप् के स्थान में श्यन् आदेश होता है। इसी प्रकार सभी गणों के सूत्रों को विकरणप्रकरण में देखना चाहिए। उस प्रकरण में अदादिगण, जुहोत्यादिगण तथा चुरादिगण के विकरणों का निर्देश नहीं है। अतएव अदिप्रभृतिभ्यः शपः (२.४.७२) से अदादिगण के शप् विकरण का लुक् कहकर लोप कर दिया जाता है। उसी प्रकार जुहोत्यादिभ्यः श्लुः (२.४.७५) से शप् का श्लु कहकर लोप कर दिया जाता है। इन विकरणों के पश्चात् भ्वादिगण, णिजन्त, सनन्त, यङन्त इत्यादि धातुओं के पश्चात् कर्तरि शप् से लट् लोट् लंङ् विध्यादिलिङ् में शप् विकरण होता है। क्योंकि कर्तरि शप् का किसी गण से सम्बन्ध नहीं। गणों से बचे हुए सभी धातुओं के पश्चात् शप् विकरण होता है। इस लिए भ्वादिभ्यः शप् सूत्र न बनाकर आचार्य ने कर्तरि शप् बनाया। यङ

लुगन्त में इन लकारों में शप् विकरण का अदिप्रभृ० (२.४.७२) से लुक् होता है। क्योंकि यङ्लुग्न्त को अदादि के समान ही माना जाता है। इन चारों लकारों में सार्वधातुक प्रत्यय के परे रहने पर इन भ्वादि तथा सनन्तादि धातुओं के पश्चात् विकरण शप् होता है और दिवादि आदि धातुओं के पश्चात् भी सार्वधातुक परे रहने पर श्यन् आदि विकरण होते हैं इसलिए आशिषि लिङ् तथा लिट् में विकरण नहीं होता क्योंकि लिङाशिषि (३.४.११६) लिट् च (३.४.११५) से इनकी आर्धधातुक संज्ञा होती है। लट्, लोट्, लङ् विध्यादिलिङ के विकरण सार्वधातुक संज्ञक हैं, इसलिए इनको सार्वधातुकलकार तथा अन्य लकारों के विकरण आर्धधातुक संज्ञक हैं, इसलिये उनको आर्धधातुकलकार कहते हैं।

इन सभी लकारों में कुछ का विधान तृतीयाध्याय के तृतीयपाद के लकारार्थनिर्णयप्रकरण में तथा कुछ का विधान तृतीयाध्याय के द्वितीयपाद में किया गया है। अष्टाध्यायी-प्रकाशिका में इस सभी सूत्रों को देखना चाहिए।

तिङन्त के सिद्धिप्रकार—किसी भी धातु से किसी लकार में रूपों को सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना चाहिए—

सिद्धि करने के लिए तिङन्त की सिद्धि को दो भागों में विभक्त करना चाहिए। (१) किसी धातु के पश्चात् तिप्, तस्, झि इत्यादि प्रत्यय का आना (२) तत्पश्चात् धातु+विकरण+प्रत्यय को जोड़कर उस तिङन्त की सिद्धि।

सिद्धि के प्रथम खण्ड में—

(१) परिचय—अर्थात् भूवादयो धातवः (१.३.१) इस सूत्र से उस धातु का परिचय। जैसे—डुपचष् पाके की धातु संज्ञा हुई।

(२) स्वागत—धातु में लगे हुए अनुबन्धों की इत्संज्ञा करके, उसका लोप करना। जैसे—इत्संज्ञा लोप के पश्चात् डुपचष् का पच्।

(३) धातोः (३.१.९१) का अधिकार, वर्तमाने लट् (३.२.१२३) इत्यादि लट् लिट् आदि विधि सूत्रों को लगाना, लट् आदि के अनुबन्धों का लोप, लस्य (३.४.७७) का अधिकार तथा तिप्, तस्, झि इत्यादि प्रत्ययों में से किसी एक का लकार के स्थान में आदेश करना। जैसे प तिप।

नोट—सन्, यङ्, णिच् आदि प्रत्यय हैं अन्त में जिन धातुओं के उनकी धातु संज्ञा सनाद्यन्ता धातवः (३.१.३२) से करनी ।

सिद्धि का द्वितीयखण्ड—

(४) विकरण को लाना । विकरण को लाने के लिये लकारों के अनुसार विकरणप्रकरण के किसी सूत्र को लगाना । जैसे पच् शप् तिप् ।

(५) सार्वधातुक लकारं में इट् का आगम नहीं होता लेकिन आर्धधातुकलकारों में सार्वधातुकविकरण को इट् का आगम होता है । जैसे भू लृट् । भू ल् । भू तिप् । भू स्य तिप् । भू इट् स्य तिप् ।

(६) धातु या विकरण का गुण या वृद्धि । जैसे-(धातु का गुण) भो इट् स्य तिप् । (विकरण का गुण)—कृ लट् । कृ ल् । कृ तिप् । (तनादिकृञ्भ्य उः (३.१.७९) कर् उ तिप् । कर् ओ तिप् करोति ।

(७) संहिताकार्यप्रकरण, णत्वप्रकरण या मूर्द्धन्यादेशप्रकरण के किसी सूत्र से सन्धि, नकार के णकार का आदेश, सकार से षकार का आदेश करना । जैसे—भव् इ स्य ति । इत्संज्ञा लोप के लिये कोई नियम नहीं स्वागत तो कभी भी किया जा सकता है । यहां पर 'भो' का भव् इ ष्य ति हुआ । यहां आदेशप्रत्यययोः से सकार का षकार हो गया । सिद्धि के इन ७ सीढ़ियों को स्मरण कर लेना चाहिये । इनका अभ्यास हो जाय इसलिये प्रकाशिका में अदेङ्गुण (१.१.२) सूत्र पर पचन्ति की सिद्धि, इको गुणवृद्धी (१.१.३) सूत्र पर तरति, नयति, अकार्षीत् की सिद्धि देख लेनी चाहिये । इन्हीं तरीकों के आधार पर सभी तिङन्तों की सिद्धि की गई है । जो जो सूत्र लगें उन उन सूत्रों को ग्रन्थ में निकाल कर देखना चाहिये तथा उस उस सूत्र में किस किस सूत्र का अधिकार है या अनुवृत्ति, जानना चाहिये । उन सूत्रों के अर्थों पर भी उसी समय विचार कर लेना चाहिये । उस सूत्र ने क्या काम किया, इस प्रकार सूत्रों के स्मरण से तीन चार तिङन्तों की सिद्धि के पश्चात् कहीं भी कठिनाई नहीं पड़ती ।

———

नवम व्याख्यान

कृत्प्रत्ययप्रकरणम्

कृत्—धातु के पश्चात् कृत् और तिङ् ये दो ही प्रकार के प्रत्यय होते हैं। तिप्, तस्, झि इत्यादि १८ प्रत्ययों को तिङ् और इन १८ प्रत्ययों को छोड़कर अन्य शेष प्रत्ययों को कृत् कहते हैं। जैसे—तव्य, तव्यत्, अनीयर्, यत्, क्यप्, ण्वुल्, तृच्, घञ्, क्त, क्तवतु, शतृ, शानच्, क्त्वा इत्यादि प्रत्यय कृत प्रत्यय कहलाते हैं। आचार्य का सूत्र है कृदतिङ् (३.१.९३)

कृत्य—धातोः (३.१.९१) अधिकार सूत्र के पश्चात् ण्वुल्तृचौ (३.१.१३३) इस सूत्र तक तव्य, तव्यत्, अनीयर् आदि सभी प्रत्यय कृत्य कहलाते हैं। इन सूत्रों को निकालकर देखना चाहिये।

कृत् तथा कृत्य संज्ञा का फल—सभी कृत् प्रत्यय साधारणतः कर्त्ता में ही होते हैं। कभी-कभी अपादन, सम्प्रदान, करण, अधिकरण आदि कारकों में तथा केवल धातु के अर्थ को बताने के लिये भी ये कृत् प्रत्यय होते हैं। जैसे कृ धातु से तृच् प्रत्यय होकर कर्तृ रूप बनता है। इसका प्रथमा एक वचन में कर्त्ता होता है जिसका अर्थ "करने वाला" है।

कृत्य प्रत्यय कर्मवाच्य तथा भाववाच्य में होते हैं। जैसे रामेण वेदः पठितव्यः। रामेण उपनिषत् पठितव्या। रामेण पुस्तकं पठितव्यम्। इन तीनों वाक्यों में पठ् धातु से 'तव्य' प्रत्यय कर्मवाच्य में हुआ है। जिसका अर्थ है राम से वेद पढ़ा जाना चाहिये। राम से उपनिषद् पढ़ी जानी चाहिये। राम से पुस्तक पढ़ी जानी चाहिये। कृत्य प्रत्ययान्त प्रातिपदिकों का लिङ्ग और वचन कर्म के अनुसार परिवर्त्तित होते हैं। जो कि उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है। इसके विवेचन के लिये कर्त्तरि कृत् (३.४.६७) और तयोरेवकृत्य० (३.४.७०) सूत्रों को देखना चाहिये॥

उपपद—धातु के पश्चात् कृत् प्रत्यय आते हैं। कभी-कभी केवल धातु से ही कृत् प्रत्यय आते हैं। तो जो भी सुबन्त पद धातु के पहले

आते हैं उनको उपपद कहते। जैसे—कृ+तृच् यहां पर बिना उपपद के ही कृ धातु से (कृत्) तृच् प्रत्यय हो गया। कुम्भम्+कृ+अण् यहां पर कुम्भम् (घड़ा) सुबन्त पद कृ धातु के पहले है, तब अण् प्रत्यय आया। अत एव यह कुम्भम् २।१ पद उपपद हुआ।

उपपद की पहचान—'धातोः' अधिकार में पञ्चमी, सप्तमी और प्रथमा विभक्तियों का बाहुल्य है। धातुओं से पञ्चमी और प्रत्ययों के लिये प्रथमा विभक्ति का प्रयोग है। सप्तमी विभक्ति उपपद एवं अर्थ इन दोनों बातों के निर्देश के लिये आती है। जैसे कर्मण्यण् (३.२.१) अधिकरणे शेतेः (३.२.१५) इत्यादि सूत्रों में सप्तमी विभक्ति उपपद निर्देश के लिये हैं तथा कर्त्तरि कृत् (३.४.६७) तेयारेव कृत्य० (३.४.७०) इत्यादि सूत्रों में सप्तमी विभक्ति अर्थ निर्देश के लिये हैं।

सूत्रार्थ की शैली—धातोः (३.१.९१) अधिकार के प्रकरण में ५७७१ क्रमाङ्क को याद रखना चाहिये। अमुक धातु से, अमुक के उपपद रहने पर, अमुक अर्थ में, अमुक प्रत्यय होता है। जैसे—कर्मण्यण् (३.२.१) का अर्थ होगा "धातु से कर्म के उपपाद रहने में कर्त्ता अर्थ में अण् प्रत्यय होता है। कृत् प्रत्यय भी कर्त्तरि कृत् (३.४.६७) से कर्त्ता में ही होते हैं।

कृदन्त की सिद्धि :—

कृत् प्रत्ययों को लाने के लिये तिङन्त की सिद्धि में निर्दिष्ट लट् आदि प्रत्ययों को लाने तक जितने कार्य किये गये हैं, वे सभी यहां भी करने चाहिये। ततः पश्चात्—

(१) इट् का आगम या इट् का निषेध।

(२) गुण या वृद्धि या गुण या वृद्धि का निषेध।

(३) इयङ् या उवङ् का आदेश।

अब यहाँ पर इट् का आगम आर्धधातुकस्येड्वलादेः (७. २. ३५) और निषेध एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् (७. २.१०) से करना चाहिये॥

सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७. ३.८४) तथा पुगन्तलघूपधस्य च (७. ३.८६) इन दो सूत्रों से गुण का विधान करना चाहिए तथा अचोञ्णिति (७. २.११५) से वृद्धि का विधान करना चाहिये परन्तु गुण और वृद्धि

इन दोनों का निषेध क्ङिति च (१. १. ५) से हो जाता है। अचि श्नुधातु० (६. ४.७७) से इयङ् अथवा उवङ् का आदेश होता है।

तिङन्त की सिद्धि में विशेषता—

जिस प्रकार कृदन्त की सिद्धि बतलाई गई उसी प्रकार तिङन्त की सिद्धि भी होती है। तिङन्त के लिए केवल एक लादेशप्रकरण विशेष ध्यान देने योग्य है अन्यथा कृदन्त और तिङन्त की सिद्धि में कोई भेद नहीं॥

नमूना रूप में कृदन्त की सिद्धि के लिये अदेङ् गुणः (१. २. २) सूत्र पर तरिता, चेता की सिद्धि, निष्ठा (३. २. १०२) सूत्र पर 'कृतः' की सिद्धि देखनी चाहिये। कार्य प्रदर्शन पर पूर्ण ध्यान रखना आवश्यक है। किस-किस प्रकार से इट् का आगम, गुण वृद्धि का विधान या निषेध किया गया है, इन बातों की सूक्ष्मता का ज्ञान करना आवश्यक है।

लादेशप्रकरणम्

लादेश प्रकरण के पहले लकारार्थनिर्णयप्रकरण आया है। लकार अर्थात् लट् लिट् इत्यादि प्रत्ययों का क्या अर्थ है इन बातों को बतलाने के लिये यह प्रकरण है। सूत्रों के अर्थ जानने से ही इन लकारों का अर्थ जाना जा सकता है। पहले भी मैं बता चुका हूं कि संस्कृत व्याकरण में कुछ लकार काल को बताते हैं और कुछ वृत्तियों को जैसे वर्तमाने लट् (३. २.१२३) सूत्र वर्तमान काल को बताता है, लोट् और विध्यादिलिङ् वृत्ति को बतलाते हैं। अकारादि क्रम से सभी लकारों का सूत्र याद कर लेना चाहिये।

लादेशप्रकरण में उन सूत्रों को रखा गया है जिनके द्वारा लकार के स्थान में होने वाले सभी परिवर्तन विधान किये जाते हैं। अतएव इस प्रकरण के सूत्रों से काम लेने के पहले लट् आदि प्रत्यय धातु के पश्चात् लाने चाहिये। पुनः केवल लकार के स्थान में आत्मनेपद तथा परस्मैपद के नियम के अनुसार तिप् या 'त' आदि आदेश करना चाहिये। आदेश कर लेने के पश्चात् विकरण लाना चाहिये। तब आदेश हुये के स्थान में होने वाले परिवर्तन करने चाहिये। इस प्रकार

का क्रम सरलता के लिये बताया गया। जैसे एध् लट्। एध् ल्। एध् त। एध् शप् त। एध् अ त। इस स्थति में टित आत्मनेपदानां टेरे लगान चाहिये। इस सूत्र का अर्थ सूत्र पर देख लीजिये। सूत्र के द्वारा आत्मेनपद की 'टि' को एकार हो गया जिससे बना एध् अ ते। एधते। इस प्रकरण के सूत्रों का विनयोग करने का यही क्रम है। इन सूत्रों में टित्लकार और ङित्लकार का अर्थ अच्छी तरह जानना चाहिये। टित् और ङित् लकार का अर्थ विकरण के व्याख्यान में बता चुके हैं।

दशम व्याख्यान

स्त्रीलिङ्गप्रकरणम्

किस शब्द का कौन सा लिङ्ग है, इस विषय पर महाभाष्यकार पतञ्जलि ने अत्यधिक विचार किया है। अन्त में उन्होंने निर्णय किया कि "लिङ्गमशिष्यं लिङ्गाश्रयत्वाल्लोकस्य" अर्थात् शब्दों के लिङ्गों का निर्धारण नहीं किया जा सकता। संसार ही इस बात का प्रमाण है। लोक में जिस प्रकार बोला जाता है, उसीको प्रमाण मानना चाहिये। लोक में 'दारा' जिसका अर्थ स्त्री है, उसको पुँल्लिङ्ग माना जाता है। अतएव यह निश्चय हुआ कि लिङ्ग के सम्बन्ध में कृत् इत्यादि प्रत्ययों के समान कोई ऐसा नियम नहीं जिससे शीघ्र पता चल जाय कि अमुक शब्द स्त्रीलिङ्ग है या पुँल्लिङ्ग। फिर महामुनि पाणिनि ने लिङ्गानुशासन में लिङ्गों का विवेचन किया है। यदि उन्हीं सूत्रों का अभ्यास कर लिया जाय तो यह समस्या बहुत कुछ सुलझ जाती है। इस लिङ्गानुशासन में किस शब्द का क्या लिङ्ग है, बताया गया है। यह नहीं बताया गया कि अमुक शब्द स्त्रीलिङ्ग या नपुँसक क्यों हुआ। इसके लिये तो परम्परा का ही आश्रय लेना पड़ेगा।

यहां पर एक प्रश्न उठता है कि आचार्य ने स्त्रीप्रत्यय का ही बिधान क्यों किया। उनको नपुँसक और पुँल्लिङ्ग का भी विधान

करना चाहिये था। इसका उत्तर यह है कि प्रातिपदिक मात्र ही नपुँसक या पुँल्लिङ्ग होता है लेकिन स्त्रीलिङ्ग के लिये अधिकतर प्रातिपदिक के पश्चात् स्त्रीलिङ्ग का द्योतक प्रत्यय लगाया जाना है इसलिये स्त्री-प्रत्यय का प्रकरण आवश्यक था।

मुख्यतया ङीप्, ङीष्, ङीन् तथा टाप्, डाप् और चाप् ये ६ स्त्रीलिङ्ग के प्रत्यय हैं। इन्हीं ६ प्रत्ययों का 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' सूत्र (४.१.१) में निर्देश किया गया है। ङीप्, ङीष्, ङीन् में से नकार की इत्संज्ञा करने पर 'ङी' बच जाता है और चाप्, टाप्, डाप् में च्, ट्, ड् की इत्संज्ञा करने पर आप् बच जाता है। अब ङी+आप् दोनों मिलकर ङ्याप् बन गया। अतः सूत्र का अर्थ हुआ। ङी आप् है अन्त में जिसके और प्रातिपदिक से आगे कहे जाने वाले प्रत्यय होते हैं। अर्थात् ङ्यन्त, आबन्त और प्रातिपदिक से आगे कहे जाने वाले प्रत्यय होते हैं। इससे यह ज्ञान हुआ कि प्रातिपदिक से ही स्त्री प्रत्यय होते हैं।

स्त्री प्रत्यय की सिद्धि

(१) अर्थवदधातुरप्रत्ययः० (१.२.४५) से प्रातिपदिक संज्ञा करना। जैसे—अज शब्द की इससे प्रातिपदिक संज्ञा होती है।

(२) ङ्याप्प्रातिपदिकात् (४.१.१) तथा स्त्रियां (४.१.३) का अधिकार करना।

(३) स्त्री प्रत्यय विधायक सूत्र। जैसे–अज प्रातिपदिक से अजाद्यतष्टाप् (४.१.४) प्रत्ययः (३.१.१) परश्च (३.१.२)से अज टाप् हुआ।

(४) अङ्ग कार्य करना। यहां पर अकः सवर्णे दीर्घः (६.१.९७) से दीर्घ एकादश होता है। अज+आ=अजा।

(५) सु औ जस् की उत्पत्ति। (४) विधान में यहां पर संहिता कार्य किया गया है लेकिन ङीप्, ङीष्, ङीन् प्रत्ययों में भसंज्ञा करनी पड़ती है। जिसका सूत्र है यचि भम् (१.४.१८) पुनः भस्य (६.४.१२९) का अधिकार करके यस्येति च (६. ४.१४८) से इवर्ण और अवर्ण का लोप करना होता है। इस प्रकार इन प्रकारों से स्त्रीप्रत्यय सिद्ध हो जाते हैं।

तद्धितप्रत्ययप्रकरणम्

तद्धित प्रत्यय का विधान आचार्य ने तद्धिताः (४.१.७६) सूत्र से लेकर ५ अध्याय पर्यन्त किया हैं। यह बहुत लम्बा प्रकरण है। हम ने अष्टाध्यायी-प्रकाशिका में तद्धित के सिद्धान्तों को समझाने के लिये तथा आवश्यक ज्ञान के लिये प्रसिद्ध-प्रसिद्ध सूत्र ले लिये हैं। सामान्य और आवश्यक ज्ञान के लिये ये चुने हुए सूत्र पर्याप्त हैं।

तद्धिताः शब्द का विग्रह है तस्मै हितम् तद्धितः ते तद्धिताः। यहां पर हित के योग में चतुर्थी विभक्ति है। वस्तुतः सभी विभक्तियों में इसका विग्रह करना चाहिये लेकिन हित के योग में चतुर्थी विभक्ति ही होती है। सभी विभक्तियों के साथ हित का समास करके एकशेष करने पर तद्धिताः में बहुवचन उत्पन्न होता है। नहीं तो तद्धितः सूत्र न देकर तद्धिताः दिया, इस बात का क्या उत्तर है। सभी विभक्तियों में विग्रह करने से प्रथमासमर्थ, द्वितीयासमर्थ, तृतीयासमर्थ इत्यादि अर्थ सम्भव हो सकता है। अन्यथा केवल चतुर्थी समर्थ प्रातिपदिक से ही तद्धित प्रत्यय होता है ऐसा अर्थ होना चाहिये था।

अभी उपर्युक्त पंक्तियों में प्रथमा समर्थ शब्द का प्रयोग किया है उसका अर्थ इस प्रकार समझना चाहिये। तद्धित प्रत्यय ङ्यन्त आबन्त और प्रातिपदिक से होते हैं, इसका अधिकार आ रहा है। यह भी निश्चय है कि तद्धित प्रत्यय किसी न किसी अर्थ में आते हैं। प्रत्यय का स्वार्थ हो या परार्थ, लेकिन उसका अर्थ अवश्य रहता है।

एक सूत्र को लेकर समझना चाहियें। जैसे तस्यापत्यम् (४.१.६२) अतः इञ् (४.१.६५) सूत्र का अर्थ है उसका अप्रत्य (सन्तान) इस अर्थ में इञ् प्रत्यय होता है। उदाहरण दाशरथिः। दशरथस्य अपत्यं पुमान् दाशरथिः। अब यहां पर दशरथस्य और अपत्यम् ये दो सम्बन्धी पद हैं। क्योंकि पहले समास प्रकरण में ही बता दिया गया है कि सम्बन्धी पदों का ही इस शब्दानुशासन नामक शास्त्र में विधान किया जाता है।। जैसे यहां पर कहा जाय कि "राज्यं दशरथस्य अपत्यं सुदासस्य" तो अब दशरथ का राज्य और सुदास का अपत्य यहां पर दशरथ और अपत्य में कोई सम्बन्ध ही नहीं। इसलिये 'समर्थ' शब्द का अर्थ है सम्बन्धी। अब यहां पर दशरथस्य और अप-

त्यम् इन दोनों पदों में से किससे तद्धित प्रत्यय का विधान किया जाय उसके लिये सूत्र है "समार्थानां प्रथमाद् वा।" सम्बन्धी पदों में से प्रथम पद से तद्धित प्रत्यय की विकल्प से उत्पत्ति होती है। कोई तद्धित प्रत्यय नहीं करना चाहता, उसके लिये वह स्वतन्त्र है। वह दशरथस्य अपत्यम् ही का व्यवहार करता है, वह भी ठीक है, इसलिये 'वा' शब्द का प्रयोग किया गया है। अब दशरथस्य अपत्यम् यहां पर प्रथम सम्बन्धी पद दशरथस्य है उससे तद्धित इञ् प्रत्यय होता है। यहां पर एक प्रश्न उठता है कि प्रथम का अर्थ केवल लिखने की आनुपूर्वी से है या इसमें कोई और बात है। यदि आनुपूर्वी से ही है तो कोई यह भी कह सकता है कि अपत्यम् दशरथस्य यहां पर प्रथम सम्बन्धी पद अपत्यम् है अतएव अपत्य पद से ही तद्धित की उत्पत्ति होनी चाहिये। इस प्रश्न के उत्तर में प्रथम शब्द की व्याख्या यह समझनी चाहिये कि प्रथम शब्द आनुपूर्वी के लिये नहीं बल्कि प्रथम प्रकृति का द्योतन करता है। अर्थात् प्रथम प्रकृति दशरथ है न कि उसका अपत्य। पिता तो पुत्र से पहले ही उत्पन्न हुआ रहता है। अतएव प्रथम प्रकृति दशरथ है। चाहे दशरथस्य पद को पहले या बाद में रखें इसमें कोई अन्तर नहीं आता।

इस तद्धित के प्रकरण में अर्थों के तथा प्रत्ययों के अधिकार हैं। प्राग्दीव्यतोऽण् (४.१.८३) यह प्रत्यय का अधिकार है। तथा तस्यापत्यम् यह अर्थ का अधिकार है। इसी प्रकार ४ और ५ अध्याय में व्यवस्था है। जब प्रत्यय का अधिकार चलता है, तब यह बात ध्यान देने की है कि जब किसी सूत्र में किसी प्रत्यय का विधान नहीं है तभी अधिकार से प्राप्त प्रत्यय जानना चाहिये और जहां किसी प्रत्यय का विधान है वहां पर अधिकार से प्राप्त प्रत्यय नहीं लगता। जैसे स्त्रीभ्यो ढक् (४.१.-१२०) यहां पर अण् का भी अधिकार है और ढक् प्रत्यय का भी विधान किया है। अतएव यहाँ पर अधिकार प्राप्त प्रत्यय नहीं होता, ढक् ही होता है।

तद्धितप्रकरण के सूत्रों की अर्थशैली--

सूत्रों में प्रथमा, द्वितीया, तृतीया विभक्ति से भी निर्देश किया गया है जैसे तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् (५.२.९४), यहां पर तद् १।१,

तदधीते तद्वेद (४.२.५६) तद् २।१, तेन रक्तं रागात् (४.२.१), तेन ३।१, तस्मै हितम् (५.१.५), तस्मै ४।१, पञ्चम्यास्तसिल् (५.३.७), पञ्चम्याः ५।१, तस्यापत्यम् (४.१.६२) तस्य ६।१, तत्र तस्येव (५.१.१७६) तत्र (सप्तमी के अर्थ में) इत्यादि स्थानों में इन विभक्तियों के देने का समर्थ प्रातिपदिक से अर्थ करना ही अभिप्राय है। ङ्याप्प्रातिपदिकात् का अधिकार होने से सर्वत्र पञ्चमी विभक्ति होती है और कहीं कहीं षष्ठी विभक्ति भी। इसका कारण धातोः (३.१.६१) सूत्र पर देखना चाहिये। अतएव सर्वत्र प्रकृति में पञ्चमी विभक्ति और प्रत्यय में प्रथमा विभक्ति होती है। अर्थ में प्रायः सप्तमी विभक्ति होती है और समर्थप्रातिपदिक में उपर्युक्त सातों प्रकार की विभक्तियां आती हैं। अब सूत्र का अर्थ हुआ अमुक प्रथमा समर्थ प्रातिपदिक से अमुक अर्थ में अमुक प्रत्यय होता है। अर्थात् इस प्रकरण के लिये ५७१ याद रखना चाहिये। जैसे अत इञ् (४.१.६५) का अर्थ हुआ अकारान्त प्रातिपदिक से अपत्य अर्थ में इञ् प्रत्यय होता है इसी प्रकार प्रत्येक सूत्र में कम से कम तीनों विभक्तियों को देखना चाहिये। इनमें से कोई विभक्ति यदि सूत्र में न हो तो अनुवृत्ति से लानी चाहिये। या तो कहीं ऊपर के अधिकार सूत्र से अनुवृत्ति आती होगी या पास के किसी सूत्र से ही।

तद्धित प्रत्यय की सिद्धि

(१) अर्थवद० (१.२.४५) से प्रातिपदिक संज्ञा करना। जैसे—दशरथ शब्द की इस सूत्र से प्रातिपदिक संज्ञा होती है।

(२) ङ्याप्प्रातिपदिकात् (४.१.१), तद्धिताः (४.१.७६), समर्थानां प्रथमाद् वा (४.१.८२) तथा अर्थ और प्रत्यय विधायक सूत्रों का अधिकार करना।

(अर्थ का अधिकार) तस्यापत्यम् (४.१.६२), तथा प्रत्यय का प्राग्दीव्यतोऽण् (४.१.८३) है।

(३) प्रत्यय विधायक सूत्र। जैसे अत इञ् (४.१.६५) से दशरथस्य इञ्, प्रत्ययः (३.१.१), परश्च (३.१.२) इन दो सूत्रों को भी लगाना।

(४) सुपो धातुप्रातिपदिकयोः (२.४.७६) सुप का लुक् करना।

(५) भसंज्ञा तथा उसका कार्य करना। इसके लिये अधिकार

सूत्रों के साथ यस्येति च (६.४.१४८) सूत्र लगाना। दशरथ् इ।

(६) गुण या वृद्धि तथा अन्य अङ्ग सम्बन्धी कार्य। जैसे 'दशरथ् इ' में तद्धितेष्वचामादेः (७.२.११०) सूत्र से आदि अच की वृद्धि।

इसकी सिद्धि के लिये वृद्धिरादैच् (१.१.१) सूत्र के शालीयः, ऐतिकायनः और औपगवः, इन उदाहरणों को देखना चाहिये॥

समासान्तप्रकरणम्

समासान्त का अर्थ है समास का अन्त अर्थात् समास हो जाने के पश्चात् इन प्रत्ययों का विधान किया जाता है। समास प्रकरण में इन सूत्रों को कदापि नहीं पढ़ना चाहिये। क्योंकि ये तद्धित प्रत्यय हैं और जो कार्य तद्धित के होते हैं उसी प्रकार इन प्रयत्य के भी कार्य होते हे।समास समासप्रकरण से तथा समासान्त प्रत्यय इस प्रकार से पढ़ना चाहिये। यही प्रकरण की उपयोगिता है।

एकादश व्याख्यान

द्विर्वचनप्रकरणम्

यह प्रकरण तिङन्त से सम्बन्धित है। दो हजार धातुओं के पश्चात् लिट्, सन्, यङ्, श्लु और चङ् प्रत्यय जब आते हैं तब इस प्रकरण का कार्य उपस्थित होता है। इन पांच प्रत्ययों के परे रहने पर धातु का द्विर्वचन होता है। द्विर्वचन शब्द का अर्थ है दो बार बोलना। जैसे राम शब्द का द्विर्वचन हो जाय, यदि ऐसा विधान किया जाय तो 'राम' शब्द का 'राम राम' द्विर्वचन हो जायेगा। इस प्रकार इन प्रत्ययों के परे रहने पर सभी धातुओं का द्विर्वचन होता है। जैसे "डुपचष् पाके" धातु के पश्चात् परोक्षे लिट् (३.२.११५) से लिट् प्रत्यय आया। अब लिटि धातोरनभ्यासस्य (६.१.८) से लिट् के परे रहने पर धातु का द्विर्वचन "पच् पच् लिट्" ऐसा होता है। इसी प्रकार पच् धातु का द्विर्वचन सन् में "पच् पच् सन्" यङ् में "पच् पच् यङ्"।

चङ् में "पच पच चङ्, श्लु में हु हु तिप्॥ यह श्लु प्रत्यय नहीं बल्कि जुहोत्यादिगण के धातुओं के पश्चात् शप् का श्लु द्वारा लोप कर दिया जाता है। अत एव इसी श्लु के विषय में जुहोत्यादिगणीय सभी धातुओं का द्विर्वचन हो जाता है।

द्विर्वचन का काल—धातु के पश्चात् जब ये पांच प्रत्यय आ जाते हैं तब द्विर्वचन का प्रश्न उपस्थित होता है क्योंकि द्विर्वचन विधायक सूत्र है लिटि० (६.१.८), सन्यङो (६.१.८) श्लौ (६.१.११) और चङि (६.१.११) परन्तु धातु के पश्चात् जब कोई प्रत्यय आ जाय तब सबसे प्रथम अङ्ग सम्बन्धी कार्य करना चाहिये। अङ्ग सम्बन्धी लोप, आगम, वर्णविकार ये तीन प्रकार के ही कार्य हो सकते हैं। इन कार्यों के करने के पश्चात् ही द्विर्वचन करना चाहिये।

लिट् लकार में द्विर्वचन—धातु के पश्चात् जब लिट् प्रत्यय आ जाय तब लादेश का कार्य करके अङ्ग सम्बन्धी कार्य होता है। जैसे डुकृञ् लिट्। कृ ल्। कृ तिप्। कृ णल्। कृ अ। इस स्थिति में अचो ञ्णिति (७.२.११५) सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७.३.८४) सूत्र का अपवाद है अतः उससे वृद्धि तथा उरण् रपरः (१.१.५०) से रपर होकर "कार् अ" हो गया। अब यहां पर द्विर्वचन "कार् कार अ" करना चाहिये। इसी प्रकार जब "कृ अतुस्" का रूप बनाने लगेंगे तो यहां पर इको यणचि (६.१.७४) सूत्र से इक् के स्थान में यण् हो जायेगा जिस से "क्र् अतुस्" हो जाता है। इस स्थिति में जब द्विर्वचन का काल आया तो द्विर्वचन हो ही नहीं सकता क्योंकि एकाचो द्वे प्रथमस्य (६.१.१.) सूत्र का द्विर्वचन प्रकरण के सूत्रों में अधिकार है। अतः 'क्र् अतुस' में अच है ही नहीं तो द्विर्वचन प्राप्त ही नहीं होता। इसलिये यहां पर द्विर्वचनऽचि (१.१.५८.) सूत्र लगता है। सूत्रार्थ है द्विर्वचन निमित्त वाला अजादि प्रत्यय के परे रहने पर अच् का आदेश स्थानी के समान हो जाता है द्विर्वचन के ही करने में। अर्थात् जिस का आदेश हुआ हो उसीका रूप उपस्थित हो जाता है। ऐसा करने से "क्र् अतुस" का रूप "कृ अतुस्' हो गया। अब अच् मिलने से 'कृ क्र् अतुस' द्विर्वचन होता है। इसी प्रकार पपतुः, पपुः की सिद्धि भी द्विर्वचनेऽचि सूत्र पर देख लेना चाहिये। सन् यङ् इत्यादि अन्य प्रत्ययों में द्विर्वचन की विधि

को तत् तत् विधायक सूत्रों पर देखना चाहिये।

संहिताकार्यप्रकरणम्

अत्यन्त निकट की संहिता संज्ञा होती है। यहां पर अत्यन्त निकट का तात्पर्य है अर्ध मात्रा काल का व्यवधान। जैसे दधि अत्र, यहां पर दधि का अन्तिम वर्ण इ और अत्र का आदि वर्ण अ, इन दोनों में अर्ध मात्र काल का ही व्यवधान है। इस प्रकार से यहां पर संहिता है।

सन्धि—संहिता प्रकरण में सन्धि होती है। सन्धि दो में ही सम्भव है अतः कभी दोनों परिवर्त्तित होकर एक तीसरा ही रूप धारण कर लेते हैं। कभी-कभी दोनों में से एक हा का रूप परिवर्त्तित होता है।

एकादेश—जहाँ पर पूर्व और पर इन दोनों का एक रूप होता है उसके तीन प्रकार हैं। कभी दोनों अपना रूप मिटा कर एक तीसरा रूप धारण कर लेते हैं। जैसे—आद् गुणः (६.१.८४) इस सूत्र का अर्थ ग्रन्थ से देखिये। उदाहरण देव+इन्द्रः है। यहां पर अ+इ की संहिता संज्ञा है अत एव अ इ मिलकर गुण 'ए' होता है। इस 'ए' में अ अथवा इ का रूप नहीं बल्कि एक तीसरा रूप आ गया। इसी प्रकार गुण सन्धि में उसी सूत्र से अ+ई=ए, अ+उ=ओ, अ+ऋ= अर्। वृद्धि अ+ए, अ+ओ=औ, अ+ऐ=ऐ, अ+औ=औ, इसका सूत्र वृद्धिरेचि (६.१.८५) देखना चाहिये।

पररूप एकादेश—कभी कभी संहिता में पररूप एकादेश होता है। पररूप का अर्थ है जो पर का रूप होता है, वही रह जाता है अर्थात् पूर्व का रूप नहीं रहता। जैसे "पच+अन्ति" यहां पर अतो गुणे (६.१.९४) सूत्र से पररूप होता है। अर्थात् पच का अन्तिम अकार अन्ति के आदि अकार से मिलकर उसी का रूप धारण का लेता है। जब वह पर से मिलता है तो उसकी अपनी सत्ता समाप्त हो जाती है।

पूर्वरूप एकादेश—इसी प्रकार पर जाकर पूर्व से मिलता है और अपनी सत्ता समाप्त कर देता है। जैसे "राम अम्" यहां पर अमि पूर्वः (६.१.१०३) सूत्र से पूर्वरूप एकादेश होता है। अब अम् का 'अ' राम के अन्तिम अकार से मिलता है तो अपनी सत्ता खोकर मिलता है इसीलिये रामम् रूप होता है। इस प्रकरण के जितने सूत्र हैं वे सन्धि

के सूत्र कहलाते हैं। अतः इन सूत्रों का सर्वत्र काम पड़ता है। अत एव पाठकों को इस प्रकरण के सभी सूत्रों को कण्ठ कर लेना चाहिये तथा इनके अर्थ उदाहरणों का अभ्यास करना चाहिये।

वृद्धिप्रकरणम्

सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु

यह वृद्धि प्रकरण गुण प्रकरण का अपवाद है। क्योंकि धातु के पश्चात् जो भी प्रत्यय होते हैं उनकी सार्वधातुक या आर्धधातुक कोई न कोई संज्ञा हो ही जाती है और सर्वत्र सार्वधातुकार्धधातुकयोः (६.३.८४) या पुगन्तलघूपधस्य च (७.३.८६) से गुण की प्राप्ति है। वह गुण उत्सर्ग कार्य है। उन सूत्रों के द्वारा गुण की प्राप्ति में इस वृद्धि विधान का आरम्भ किया गया है। अतएव ये सभी सूत्र अपवाद हैं। सिद्धि के समय गुण प्राप्ति का दर्शन कराना आवश्यक है।

लुङ् लकार—इस लुङ् लकार में रूपों को सिद्ध करने के लिए सिचि वृद्धि० (७.२.१.) वदव्रज० (७.२.३.) नेटि (७.२ ४.) और अतो हलादेः० (७.२.७.) का अर्थ समझकर स्मरण कर लेना चाहिये। जिस धातु में इक् अन्त में हो वहां सिचि वृद्धि :० (७.२.१.) सूत्र लगता है। क्योंकि वृद्धि शब्द से वृद्धि का विधान किया गया है। अतएव यहां इको गुणवृद्धी (१.१.३) परिभाषा सूत्र उपस्थित हो ही जायेगा। जिस धातु के अन्त में इक् प्रत्याहार में आने वाला कोई वर्ण नहीं है, वहां पहले वदव्रज० (७.२.) से वृद्धि प्राप्त होती है। यदि वह सेट् धातु है तो नेटि (७.२.४) से वृद्धि का निषेध होता है, पुनः यदि वह धातु हलादि है, और लघु आकार वाला है तो "अतो" ० (७.२.७) से विकल्प से वृद्धि का मना होता है जैसे "गद् व्यक्तायांवाचि" धातु है। गद लुङ्। गद् तिप् गद् च्लि तिप्। गद् सिच् तिप्। गद् स् ति। गद् इट् स् ति। गद् इ स् ति इस स्थिति में सिचि वृद्धिः ७.२.१) तो लगेगा नहीं क्यों कि इसमें इक् है ही नहीं। वदव्रज० (७.२.३) से वृद्धि प्राप्त होती है। उस वृद्धि को नेटि (७.२.४) मना कर देता है पुनः अतो० (७.२.७) विकल्प से मना करता है। अतएव इसके दो रूप बनते हैं। इसकी पूर्ण सिद्धि के लिए इको गुणवृद्धी (१.१.३) सूत्र के उदाहरणों को देखना चाहिए। इसके अगदीत् और अगादीत् ये दो रूप बनते हैं।

इट्प्रकरणम्

इस प्रकरण से लिए उदात्तः और अनुदात्तः इन दो शब्दों का तात्पर्य अच्छी तरह से समझ लेना चाहिये। धातुपाठ में जिन जिन धातुओं को उदात्तः पढ़ा है। उनका अर्थ है कि उन धातुओं के पश्चात् वलादि प्रत्यय को इट् का आगम होता है अर्थात् वे सेट् धातु हैं। इसी प्रकार जिन धातुओं को अनुदात्तः पढ़ा है, वे सभी अनिट् धातु हैं' विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि इट् का आगम प्रत्यय को होता है, धातु को नहीं। इस प्रकरण में क्रादिनियम, और भारद्वाजनियम, ये दोनों बहुत प्रसिद्ध नियम हैं। जब तक इन नियमों की अनुभूति नहीं होगी तब तक लिट् लकार में प्रयोगों का बनाना असम्भव है। इसलिये इन दो नियमों को जानना चाहिए। विस्तार भय से यहां नहीं लिखते। ऋतो भारद्वाजस्य (७.२.६३) सूत्र पर भारद्वाज के नियम का व्याख्यान किया गया है। तथा सूत्रों के प्रकार पर व्याख्यान में क्रादिनियम का वर्णन किया गया है, वहां ही देखना चाहिये।

इस प्रकरण के एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् (७.२.१०) श्र्युकः किति (७.२.११) आर्धधातुकस्येड्वलादेः (७.२.३५) स्वरति० (७.२.४४) ऋतो भारद्वाजस्य (७.२.६३) इत्यादि प्रसिद्ध तथा आवश्यक सूत्र हैं। इन सूत्रों का अर्थ और प्रयोजन इन सूत्रों को पढ़कर जान लेने से शब्द सिद्ध में अव्याहत गति होती है।

अभ्यासप्रकरणम्

अभ्यास प्रकरण अत्र लोपोऽभ्यासस्य (७.४.५८) से आरम्भ होता है। धातु के द्विर्वचन होने के पश्चात् पूर्वोऽभ्यासः (६.१.४) सूत्र पच् लिट्। पच् अतुस् इसका द्विर्वचन होकर (१) पच् (२) पच् अतुस् होता है। इसमें (१) अभ्यास संज्ञा वाला है। इस अभ्यास संज्ञक पच् का अब जो भी अभ्यास कार्य होगा उन सभी कार्यों को इस प्रकरण के सूत्र करेंगे।

इस प्रकरण में ह्रस्वः (७.४.५९), हलादिः शेषः (७.४.६०) शर्पूर्वाः खयः (७.४.६१) उरत् (७.४.६६) इत्यादि महत्व पूर्ण सूत्र हैं। इस प्रकरण के सूत्रों को समझने के लिये न पदान्त० (१.१.५७) सूत्र पर चिकीर्षकः की सिद्धि देखनी चाहिये।

द्वादश व्याख्यान

वर्णोच्चारण शिक्षा

किसी वर्ण का क्या क्या स्थान तथा क्या क्या प्रयत्न होता है, इस बात का ज्ञान रखना अष्टाध्यायी के सूत्रों को समझने के लिए अत्यावश्यक है। सवर्ण संज्ञा के किये बिना अकः सवर्णे दीर्घः (६.१.६७) इत्यादि सूत्रों की गति हो ही नहीं सकती।

स्थान—मुख में कण्ठ, तालु, मूर्द्धा, दांत, ओष्ठ, आदि स्थान होते हैं। वर्णों को इन्हीं स्थानों से उच्चारण किया जाता है।

प्रयत्न—किसी वर्ण में थोड़ा प्राण, किसी में अधिक प्राण, किसी में गर्मी निकलती है, किसी वर्ण का उच्चारण करने के समय थोड़ा स्पर्श होता है, इत्यादि अनेक प्रकार के प्रयत्न होते हैं।

सवर्णसंज्ञा—जब स्थान और प्रयत्न किसी दो वर्णों का समान होता है तो उसकी सवर्णसंज्ञा होती है अर्थात् एक जाति होती है। एक जाति में ही कार्य भी होता है।

इन वर्णों के सम्बन्ध में विशेष ज्ञान करने के लिये वैदिक यन्त्रालय से मुद्रित वर्णोच्चारण शिक्षा देखनी चाहिये। यहां सवर्णसंज्ञा करने के लिये जितनी बातों की आवश्यकता है, उनकी ही चर्चा करेंगे। पाणिनि मुनि ने सूत्रों में ही उक्त वर्णोच्चारण शिक्षा का निर्माण किया है। हम इन बातों को पं०केशवदास के श्लोकों में बतावेंगे। श्लोक कण्ठ कर लेने से इन बातों को याद करने में बड़ी सरलता होती है। वर्णोच्चारण शिक्षा से सूत्रों का कण्ठस्थीकरण अत्यन्त आवश्यक है।

स्थान – प्रयत्नतुल्यत्वे वर्णसावर्ण्यमिष्यते ।
प्रयत्नास्तु द्विधा प्रोक्ता वाह्याभ्यन्तरभेदतः ॥१॥
स्थानानि—विसर्गस्याकुहां कण्ठस्तालुस्थौ तु यशाविचू ।
मूर्धास्थानं ऋटुरषां दन्ता लृतुलसां तथा ॥२॥

स्थान और प्रयत्न की समानता होने पर वर्णों की सवर्णसंज्ञा होती है बाह्य और आभ्यन्तर भेद से प्रयत्न दो प्रकार के होते हैं॥१॥ अ, कवर्ग, ह और विसर्जनीय का कण्ठ। इ, चवर्ग, य, श का तालु। ऋ, टवर्ग, र, ष का मूर्धा। लृ, तवर्ग, ल, स का दन्त। उ, पवर्ग, उपध्म-

उपूपध्मानिमोष्ठावेदैतोः कण्ठतालु तत् ।
नासिक्या विन्दुवर्गान्त्या ओदौतोरोष्ठकण्ठकम् ॥३॥
दन्तोष्ठं स्याद् वकारस्य जिह्वामूलं तु तद्भवे ।
इति स्थानानि वर्णानामुच्चार्याणां समासतः ॥४॥

प्रयत्नाः—[प्रयत्नास्तु द्विधा प्रोक्ता वाह्याभ्यन्तरभदेतः]

वाह्याः —आमूलात्कण्ठपर्यन्तं प्रयत्ना वाह्यसंज्ञकाः ।

आभ्यन्तराः—कण्ठादौष्ठं मुखे ये स्युस्ते वाह्याभ्यन्तरसंज्ञकाः ॥५॥

भेदाः—अष्टौ वाह्यप्रयत्नाः स्युर्भाष्यकारमते मताः ।
अत्यान्तर्यपरीक्षायामुत्थाने सूपयोगिनः ॥६॥
श्वासो नादो विवारोऽथ घोषोऽघोषोऽपि संवृतः ।
अल्पप्राणो महाप्राण इत्यष्टौ नामतः स्मृताः ॥७॥

केषां के—वर्गाणां प्रथमे वर्णास्तृतीयाःपञ्चमा यणः ।
अल्पप्राणाः समाख्याता महाप्राणाः परे शलः ॥८॥
खरो विवाराः श्वासाश्चाघोषाश्च परिकीर्तिताः ।
संवाराश्चाथ नादाश्च घोषाश्चापि हशः स्मृताः ॥९॥

आभ्यन्तरभेदाः—स्पृष्टेषत्स्पृष्ट-विवृतमीषद्विवृत-संवृतम् ।

नीय का ओष्ठ । ए, ऐ का कण्ठ-तालु । बिन्दु अर्थात् अनुस्वार और वर्ग के अन्तिम ञमङणन का नासिका । ओ, औ का ओष्ठ-कण्ठ । वकार का दन्त-ओष्ठ जिह्वामूलीय ≍ का जिह्वामूल । उच्चारण किये जाने वाले वर्णों के स्थान संक्षिप्त रूप से वर्णन किये गये ॥ २, ३, ४ ॥

नाभि से कण्ठ तक सभी प्रयत्नों को बाह्य प्रयत्न कहते हैं । कण्ठ से लेकर ओष्ठ तक के सभी प्रयत्न आभ्यन्तर प्रयत्न होते हैं ॥५॥ वर्णों के सादृश्य में उत्पन्न उपयोगी आठ वाह्य प्रयत्न होते हैं ॥६॥ श्वास, नाद, विवार, घोष, अघोष, संवार (संवृत), अल्पप्राण और महाप्राण ये आठ वाह्य प्रयत्न होते हैं ॥७॥ वर्ग के प्रथम, तृतीय, पञ्चम और यण् (य र ल व) का अल्पप्राण, तथा वर्ग के अन्य द्वितीय और चतुर्थ वर्ग, तथा शल् (श ष स ह) का महाप्राण प्रयत्न है ॥८॥ खर् प्रत्याहार के वर्णों का विवार, श्वास और अघोष तथा हश् (ह से लेकर श तक) का संवार, नाद और घोष प्रयत्न हैं ॥९॥ स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट,

आभ्यन्तरप्रयत्नस्य भेदाः पञ्च इमे स्मृताः ॥१०॥
केषां के—[कादयो मावसानाश्च वर्णाः स्पर्शाः प्रकीर्त्तिताः]
स्पृष्टं प्रयत्नं स्पर्शानामीषत्स्पृष्टं यणः स्मृतम्
विवृतं तु स्वराणां स्यादीषद्विवृतमूष्मणाम् ॥११॥
ह्रस्वदीर्घप्लुतादीनामुदात्तादिप्रभेदतः ।
अनुनासिकभेदाच्च भेदास्त्वष्टादश स्मृताः ॥१२॥

विवृत, ईषद्विवृत और संवृत ये पांच आभ्यन्तर प्रयत्न हैं ॥१०॥ [क से लेकर म तक के सभी वर्ण अर्थात् पांचों वर्ग के सभी वर्णों को स्पर्श कहते हैं] स्पर्शों का स्पृष्टप्रयत्न, यण् का ईषत्स्पृष्ट, स्वरों का विवृत तथा शल् अर्थात् श ष स ह का ईषद्विवृत प्रयत्न है ॥११॥ ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, तथा निरनुनासिक और सानुनासिक भेद से स्वरों के १२ भेद हैं ।

अन्तिम निवेदन

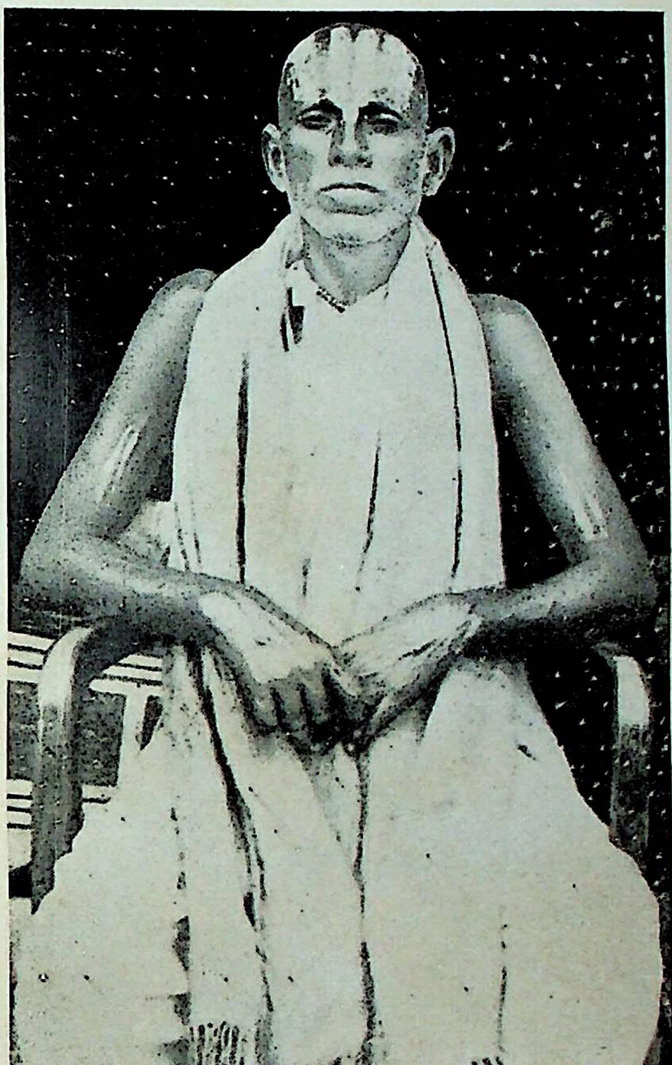
इन व्याख्यानों को बारम्बार पढ़ना चाहिए । जो भी सूत्र व्याख्यानों में आते हैं, उनका अर्थ और प्रयोजन ग्रन्थ में अवश्यमेव देखना चाहिये । सूत्रों को देखते देखते इतना अभ्यास हो जायेगा कि व्याख्यान समाप्त होते होते व्याकरण की सारी समस्या समझ में जायेगी । भगवान् पाणिनि की अष्टाध्यायी वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर निर्मित है । तथा इन्हीं सूत्रों के द्वारा समस्त संस्कृत वाङ्मय के शब्दों को सिद्ध किया गया है । सूत्रों से लोग भय खाते हैं लेकिन यह भय की बात नहीं । यदि १०० सूत्रों का अर्थ भी समझ में आ जाय तो अष्टाध्यायी पढ़ने से नैसर्गिक सुख की प्राप्ति होती है । अष्टाध्यायी पढ़ना वेद पढ़ना है क्योंकि ६ अङ्गों में यह एक प्रधान अङ्ग है । महाभाष्यकार कहते हैं "षडङ्गेषु प्रधानं व्याकरणम्" व्याकरण जिह्वा है । बिना जिह्वा का मानव मूक होता है । सूत्रात्मक पद्धति से यदि हाई स्कूलों, कालेजों में भी संस्कृत व्याकरण का शिक्षण हो तो सारी कठिनाइयां हल हो जायेंगी ।

इन व्याख्यानों के लिखने का हमारा प्रयोजन है कि सभी लोग इस ग्रन्थ से लाभ उठावें । साधारण हिन्दी पढ़ा लिखा व्यक्ति भी इस ग्रन्थ से संस्कृत का व्यावहारिक पूर्ण बोध प्राप्त कर सकें ।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

प्रतीकों का स्पष्टीकरण

प० वि० पदच्छेदः विभक्तिः
स० समासः
अर्थ०—अर्थः
उदा०—उदाहरणम्
सि०—सिद्धिः
अ०—अव्ययपदम्
१।१—प्रथमायाः एकवचनम्
ष०तत्पु०—षष्ठी तत्पुरुषः
* * व्याख्याकारस्य व्याख्या
समा०द्वन्द्वः—समाहारो द्वन्द्वः
बहु०—बहुव्रीहिः
कर्म०—कर्मधारयः
न०तत्पु०—नञ् तत्पुरुषः
इतरे०द्वन्द्वः—इतरेतरो द्वन्द्वः
[ ] —अनुवृत्तिनिर्देशः
× × —वार्तिकनिर्देशः
अविभ०—अविभक्तिको निर्देशः



ग्रन्थकर्तुः पितृचरणाः

श्रीसन्तमणिरामदासमहोदयाः

[श्रीमहेन्द्रप्रसादाः]

ॐ

अष्टाध्यायी-प्रकाशिका

प्रथमोऽध्यायः

अथ शब्दानुशासनम्

प० वि०—अथ अ० । शब्दानुशासनम् १ । १ । स०—शब्दानाम् अनुशासनम् इति शब्दानुशासनम् (ष० तत्पु०) ।

अर्थ—शब्दानुशासनं नाम शास्त्रम् अधिकृतं वेदितव्यम् । (शब्दानुशासन नामक शास्त्र का अधिकार किया जाता है)

❀ केषां शब्दानामनुशासनम् ? लौकिकानां वैदिकानां च । लोके प्रयुक्ताः शब्दाः लौकिकाः, वेदे प्रयुक्ताः शब्दा वैदिकाः । कथमनुशासनम् ? प्रकृतिप्रत्ययविभागकल्पनया उत्सर्गापवादेन सूत्रेण च ❀

(किन शब्दों का अनुशासन करते हैं—लौकिक तथा वैदिक शब्दों का । लोक अर्थात् संसार में प्रयुक्त होनेवाले शब्दों को लौकिक तथा वेदों में प्रयुक्त होनेवाले शब्दों को वैदिक कहते हैं । शब्दों का अनुशासन किस प्रकार से करना चाहिये—प्रकृति और प्रत्यय के विभाग की कल्पना से, एवं उत्सर्ग और अपवाद सूत्रों के द्वारा) ।

अइउण् । ऋलृक् । एओङ् । ऐऔच् । हयवरट् । लण् । ञमङणनम् । झभञ् । घढधष् । जबगडदश् । खफछठथचटतव् । कपय् । शषसर् । हल् । इति प्रत्याहारसूत्राणि ॥

संज्ञापरिभाषाप्रकरणम्

वृद्धिरादैच् १।१।१

प० वि०—वृद्धिः १ । १ आदैच् १ । १ । स०—आच्च ऐच्च अनयोः समाहारः इति आदैच् (समा० द्वन्द्वः)

अर्थ—आ ऐ औ इत्येतेषां वर्णानां वृद्धिः संज्ञा भवति । (आ ऐ औ इन वर्णों की वृद्धि संज्ञा होती है)

उदा०—आ—शालीयः, मालीयः। ऐ—ऐतिकायनः। औ—औपगवः।

सि०—शालायां भवः इति शालीयः। मालायां भवः इति मालीयः। शाला छ[१]। शाला ईय्[२] अ। शाल्[३] ईय। शालीय सु[४]। शालीय स्[५]। शालीय स्[६]। शालीय रु[७]। शालीयर्[८]। शालीयः[९]। इतिकस्य गोत्रापत्यम् इति ऐतिकायनः। इतिक फक्[१०]। इतिक फ। इतिक आयन् अ। इतिक आयन। ऐतिकायन[११]। ऐतिकायन सु। ऐतिकायन रु। ऐतिकायनर्। ऐतिकायनः। औपगव। उपगोरपत्यम् इति विग्रहः। उपगु। उपगु अण्[१२]। उपगु अ[१३]। औपगु[१४] अ। औपगो[१५] अ। औपगव्[१६] अ। औपगव सु। औपगव स्। औपगवरु। औपगवर्। औपगवः॥

१—अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् (१. २. ४५) ङ्याप्प्रातिपदिकात् (४. १. १) तद्धिताः (४. १. ७६) समर्थानां प्रथमाद् वा (४.१. ८२) तत्र भवः (४. ३. ५३) वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम् (१. १.७२) वृद्धिरादैच् (१. १. १) वृद्धाच्छः (४. २. ११४) प्रत्ययः (३. १. १) परश्च (३.१.२)। २—यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् (१. ४. १३) अङ्गस्य (६.४.१) आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम् (७. १. १) यथासंख्यमनुदेशः समानाम् (१. ३ १०)। ३—यचि भम् (१. ४. १८) यस्मात्प्रत्यय० (१-४-१३) अङ्गस्य (६.४.१) भस्य (६.४.१२९) यस्येति च (६. ४. १४८)। ४—कृत्तद्धितसमासाश्च (१. २. ४६) ङ्याप्प्रातिपदिकात् (४. १. १) स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्भिस्ङेभ्याम्भ्यस्ङसिभ्याम्भ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप् (४. १. २) सुपः (१. ४. १०३) विभक्तिश्च (१. ४. १०४) द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने (१.४.२२) इति एकत्वे विवक्षिते सु, प्रत्ययः (३. १. १) परश्च (३. १. २)। ५—उपदेशेऽजनुनासिक इत् (१. ३. २) तस्य लोपः (१.३.८) अदर्शनं लोपः (१.१. ५९)। ६—सुप्तिङन्तं पदम् (१.४.१४)। ७—पदस्य (८. १. १६) ससजुषोः रुः (८.२.६६)। ८—उपदेशेऽजनुनासिक इत् (१. ३. २) तस्य लोपः (१.३. ८)। ९—परः सन्निकर्षः संहिता (१. ४. १०९)। संहितायाम् (८.२.१०८) खरवसानयोर्विसर्जनीयः (८. २. १५)। १०—तस्यापत्यम् (४. १. ९२) नडादिभ्यः फक् (४.१.९९)। ११—किति च (७.२.११८) १२—प्राग्दीव्यतोऽण् (४. १. ८३) तस्यापत्यम् (४.१. ९२)। १३—हलन्त्यम् (१.३. ३) १४—यस्मात्प्रत्यय० (१.४.१३) अङ्गस्य (६.४.१) तद्धितेष्वचामादेः (७. २. ११७) वृद्धिरादैच् (१.१.१) स्थानेऽन्तरतमः (१. १. ४९)। १५—यचि भम् (१. ४. ८), यस्मात्प्रत्यय० (१. ४. १३.) अङ्गस्य (६. ४. १) भस्य (६. ४. १२९) ओर्गुणः (६. ४.- १४६) अदेङ्गुणः (१. १. २) स्थानेऽन्तरतमः (१. १. ४९) १६—परः सन्निकर्षः संहिता (१. ४. १०९) संहितायाम् (६. १. ७२) एचोऽयवायावः (६. १. ७८) यथासंख्यमनुदेशः समानाम् (१। ३। १०)।

अदेङ् गुणः १।१।२

प० वि०—अदेङ् १ । १ गुणः १ । १ । स०—अच्च एङ् च अनयोः समाहार इति अदेङ् (समा० द्वन्द्वः) ।

अर्थ—अ ए ओ इत्येतेषां वर्णानां गुणसंज्ञा भवति । (अ ए ओ इन वर्णों की गुण संज्ञा होती है)

उदा०—अ—तरिता । ए—चेता । ओ—स्तोता । पचन्ति । जयन्ति । अहं पचे ।

सि०—तॄ प्लवनसंतरणयोः । तॄ तृच्[1] । तॄ तृ[2] । तॄ इट्[3] तृ । तॄ इ तृ । त[4] इ तृ । तर्[5] इ तृ । तरितृ । तरितृ सु[6] । तरित् अनङ्[7] सु । तरितन् स् । तरितान्[8] स् । तरितान्[9] । तरिता[10] । चिञ् चयने । चि तृच् । चि तृ । चेतृ[11] । चेतृ सु । चेत् अनङ् सु । चेतन् सु । चेतान् स् । चेतान् । चेता । ष्टुञ्

१—भूवादयो धातवः (१. ३. १) धातोः (३.१.९१) कृदतिङ् (३.१.९३), कर्त्तरि कृत् (३. ४. ६७) ण्वुल्तृचौ (३. १. १३३) प्रत्ययः (३. १. १) परश्च (३. १. २) । २—हलन्त्यम् (१. ३. ३) तस्य लोपः (१. ३. ८) अदर्शनं लोपः (१. १. ५९) ३—आर्धधातुकं शेषः (३. ४. ११४) यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् (१. ४. १३) अङ्गस्य (६. ४. १) आर्धधातुकस्येड् वलादेः (७. २. ३५) आद्यन्तौ टकितौ (१. १. ४५) ४—सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७. ३. ८४) इको गुणवृद्धी (१. १. ३) अदेङ्गुणः (१. १. २) स्थानेऽन्तरतमः (१. १. ४९) ५—उरण् रपरः (१. १. ५०) ६—कृत्तद्धित० (१. २. ४६) ङ्याप्प्रातिपदिकात् (४. १. १) स्वौजसमौ० (४. १. २) सुपः (१. ४. १०३) विभक्तिश्च (१. ४. १०४) द्वयेकयोर्द्विवचनैकवचने (१. ४. २२) एकत्वे विवक्षिते सु, प्रत्ययः (३. १. १) ७—अनङ् सौ (७. १. ९३) ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च (७. १. ९४) ङिच्च (१. १. ५२) ८—सुडनपुंसकस्य (१. १. ४२) सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ (६. ४. ८) ९—हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल् (६. १. ६८) अदर्शनं लोपः (१. १. ५९) १०—सुप्तिङन्तं पदम् (१.४.१४) नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य (८.२.७) ११—आर्धधातुकं शेषः (३. ४. ११४), सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७. ३. ८४), इको गुणवृद्धी (१. १. ३) अदेङ्गुणः (१. १. २) स्थानेऽन्तरतमः (१. १. ४९)

स्तुतौ। ष्टु[१]। स्तु[२]। स्तु तृच्। स्तु तृ। स्तो[३] तृ। स्तोतृ सु। स्तोत् अनङ् सु। स्तोतन् सु। स्तोतान् सु। स्तोतान्। स्तोता। डुपचष् पाके। डुपचष्। डुपच[४]। डुपच्[५]। पच्[६]। पच् लट्[७]। पच् ल। पच् ल्[८]। पच् झि[९]। पच् शप्[१०] झि। पच् श[११] झि। पच अ झि। पच् अ अन्त्[१२] इ। पच अन्ति। पचन्ति[१३]। जि जये। जि। जि झि। जि शप् झि। जि श झि। जि अ झि। जि अ अन्ति। जे[३] अ अन्ति। जय् अ अन्ति। जय अन्ति। जयन्ति[१३]। डुपचष्। डुपच। पच्। पच् लट्। पच् इट्। पच् शप् इ। पच् अ इ। पच् अ ए[१४]। पच् ए[१३]। पचे।

१—भूवादयो धातवः (१. ३. १) हलन्त्यम् (१. ३. ३) तस्य लोपः (१. ३. ९) २—धात्वादेः षः सः (६. १. ६४) ३—आर्धधातुकं शेषः (३. ४. ११४) सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७. ३. ८४) इको गुणवृद्धी (१. १. ३) स्थानेऽन्तरतमः (१. १. ४९) ४—हलन्त्यम् (१. ३. ३) तस्य लोपः (१. ३. ९.) अदर्शनं लोपः (१. १. ५९) ५—उपदेशेऽजनुनासिक इत् (१. ३. २) तस्य लोपः (१. ३. ८) अदर्शनं लोपः (१. १. ५९)। ६—आदिर्ञिटुडवः (१. ३. ५) तस्य लोपः (१. ३. ९) अदर्शनं लोपः (१. १. ५९) ७—भूवादयो धातवः (१. ३. १) धातोः (३. १. ९१) वर्तमाने लट् (३. २. १२३) प्रत्ययः ३. १. १) परश्च (३. १. २) हलन्त्यम् (१. ३. ३) तस्य लोपः (१. ३. ९) अदर्शनं लोपः (१. १. ५९) ८—उपदेशेऽजनुनासिक इत् (१. ३. २) तस्य लोपः (१. ३. ९) अदर्शनं लोपः (१. १. ५९) ९—लस्य (३. ४. ७७) तिप्तस्झिसिप्थस्थमिब्वस्मस्तातांझथासाथांध्वमिड्वहिमहिङ् (३. ४. ७८) लः परस्मैपदम् (१. ४. ९९) तङानावात्मनेपदम् (१. ४. १००) अनुदात्तङित आत्मनेपदम् (१. ३. १२) स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले (१. ३. ७२) शेषात्कर्त्तरि परस्मैपदम् (१. ३. ७८) तिङस्त्रीणित्रीणि प्रथममध्यमोत्तमाः (१. ४, १०१) तान्येकवचनद्विवचनवहुवचनान्येकशः (१. ४. १०२) युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः (१. ४. १०५) अस्मद्युत्तमः (१. ४. १०७) शेषे प्रथमः (१. ४. १०८) बहुषु बहुवचनम् (१. ४. २१) इति बहुत्वे विवक्षिते झि १०—तिङ्शित्सार्वधातुकम् (३. ४. ११३) [सार्वधातुके] यक् (३. १.-६७) कर्त्तरि शप् (३. १. ६८) ११—लशक्वतद्धिते (१. ३. ८) तस्य लोपः (१. ३. ९) १२—झोऽन्तः (७. १. ३)। १३—अदेङ्गुणः (१. १. २) अतो गुणे (६. १. ९७)। १४—टित आत्मनेपदानां टेरे (३. ४. ७९)।

इको गुणवृद्धी १।१।३

प० वि०—इकः ६।१ गुणवृद्धी १ । २ । स०—गुणश्च वृद्धिश्च इति गुणवृद्धी (इतरे० द्वन्द्वः) ।

अर्थ—[वृद्धिः गुणः इति प्रथमान्ते अत्र तृतीयायां यथा विपरिणम्येते] गुणवृद्धिशब्दाभ्यां यत्र गुणवृद्धी विधीयेते ते इक एव स्थाने भवतः) (गुण और वृद्धि शब्द से जहां गुण और वृद्धि का विधान किया जाय वहां इक् ही के स्थान में होती हैं) ।

उदा०—गुणः—तरति, नयति, भवति । वृद्धिः—अकार्षीत् , अहार्षीत् , अचैषीत्, अनैषीत् , अलावीत् , अपावीत् ।

सि०—तृ । तृ लट् । तृ ल । तृ ल् । तृ तिप् । तृ शप् ति । तृ श ति । तृ अ ति । त अ ति । तर् अ ति । तरति ।। णीञ् प्रापणे । णीञ् । णी । नी[1] लट् । नी ल । नी ल् । नी तिप् । नी शप् ति । ने[2] अ ति । नय्[3] अ ति । नयति । भू सत्तायाम् । भू लट् । भू ल । भू ल् । भू तिप् । भू शप् ति । भू श ति । भू अ ति । भो[2] अ ति । भव्[3] अ ति । भवति । डुकृञ् करणे । डुकृञ् । डुकृ । कृ । कृ लुङ[4] । कृ लु । कृ ल् । कृ तिप् । कृ च्लि[5] तिप् । कृ सिच्[6] तिप् । कृ सि तिप् । कृ स् तिप् । कृ स् ति । कार्[7] स् ति । कार् ष्[8] ति । कार् ष् त्[9] । कार् ष् ईट्[10] त् । कार् षीत् । अट्[11] कार्षीत् । अकार्षीत् । हृ । अहार्षीत् । चिञ् । चि लुङ् । चि लु । चि ल् । चि तिप् । चि च्लि तिप् । चि सिच् ति । चि सि ति । चि स ति । चै[7] स् ति । चै ष् ति । चै ष् त् । चै ष् ईट् त् । चैषीत् । अट् चैषीत् । अचैषीत् । णीञ् । अनैषीत् । लूञ् । लू । लू लुङ् । लू लु ।

१—णो नः (६.१.६५) २—तिङ्शित्सार्वधातुकम् (३. ४. ११३) सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७. ३. ८४)इको गुणवृद्धी (१. १. ३). स्थानेऽन्तरतमः (१.१.-४९) ३. परः सन्निकर्षः संहिता (१.४.१०९) संहितायाम् (६.१.७२) एचोऽयवायावः (६. १. ७८), यथासंख्यमनुदेशः समानाम् (१. ३. १०) ४. भूवादयो धातवः (१. ३. १) धातोः (३. १. ९१) भूते (३. २. ८४) लुङ् (३. २. ११०) प्रत्ययः (३. १. १) परश्च (३. १. २.) ५. च्लि लुङि (३. १. ४३) ६. च्लेः सिच् (३. १. ४४) ७. सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु (७. २. १) इको गुणवृद्धी (१. १. ३) स्थानेऽन्तरतमः (१. १. ४९) उरण् रपरः (१. १. ५०) ८. आदेशप्रत्यययोः (८. ३. ५९) ९. इतश्च (३. ४. १००) १०. अस्तिसिचोऽपृक्ते (७. ३. ९६), अपृक्त एकाल्प्रत्ययः (१. २. ४१) ११. लुङ्लङ्-

लू ल्। लू तिप्। लू च्लि तिप्। लू सिच् तिप्। लू सि तिप्। लू स् तिप्। लू स् ति। लू इट्[1] स् ति। लौ इ स् ति। लाव् इ स् ति। लाव् इ स् त्। लाव् इ स् ईट् त्। लाव् इ स् ई त्। लाव् इ[2] ई त्। लाव् ई[3] त्। लावीत्। अट् लावीत्। अलावीत्। पूञ्। अपावीत्॥

न धातुलोप आर्धधातुके १।१।४

प० वि०—न अ०। धातुलोपे ७।१। आर्धधातुके ७। १ निमित्तसप्तमी। स०—धातोरवयवः धात्ववयवः (ष० तत्पु०)। धात्ववयवस्य लोपः धातुलोपः (उत्तरपदलोपी समासः) तस्मिन्।

अर्थ—[इको गुणवृद्धी] आर्धधातुकनिमित्ते धात्ववयवस्य लोपे इकः स्थाने ये गुणवृद्धी प्राप्नुतस्ते न भवतः। (आर्धधातुक को निमित्त कारण मानकर इक् के स्थान में जो गुण और वृद्धि प्राप्त होती हैं वे नहीं होती)।

उदा०—लोलुवः। पोपुवः। मरीमृजः।

सि०—लूञ्। लू यङ्[4]। लू य। लू लू[5] य। लो[6] लू य। लोलूय। लोलूय अच्[7]। लोलूय अ। लोलू[8] अ। लोलू[9] अ। लोल् उवङ्[10] अ। लोलुवङ् अ। लोलुव अ। लोलुव् अ। लोलुव सु। लोलुव स्। लोलुव रु। लोलुव र्। लोलुवः। पूञ्-पोपुवः। मृजूष शुद्धौ। मृज् - मृज्। मृज्

लृङ्क्ष्वङुदात्तः (६. ४. ७१)।

१—आर्धधातुकस्येड्वलादेः (७. २. ३५), आद्यन्तौ टकितौ (१. १. ४५) २—इट ईटि (८. २. २८) ३—अकः सवर्णे दीर्घः (६. १. १०१) पूर्वत्रासिद्धम् (८. २. १), सिज्लोप एकादेशे सिद्धो वक्तव्यः (८. २. ३ वा.) तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् १. १. ६) ४—धातोरेकाचो० (३. १. २२) प्रत्ययः (३. १. १), परश्च (३. १. २) ५—एकाचो द्वे प्रथमस्य (६. १. १) सन्यङोः (६. १. ६) ६—पूर्वोऽभ्यासः (६. १. ४) अत्र लोपोऽभ्यासस्य (७. ४. ५८) गुणो यङ्लुकोः (७. ४. ८२) इको गुणवृद्धी (१. १. ३) स्थानेऽन्तरतमः (१. १. ४६) ७—सनाद्यन्ता धातवः (३. १. ३२) धातोः (३. १. ६१), कृदतिङ् ३. १. ६३) कर्त्तरि कृत् (३. ४. ६७), अज्विधिः सर्वधातुभ्यः (३. १. १३४. वा०) प्रत्ययः (३. १. १), परश्च (३. १. २) ८—यङोऽचि च (२.४. ७४), प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः (१. १. ६०) ६—आर्धधातुकं शेषः (३. ४. ११४) सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७. ३. ८४), न धातुलोप आर्धधातुके (१. १. ४) १०—अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ (६. ४. ७७) ङिच्च (१. १. ५२)

यङ्। मृज् य। मृज् मृज् य। मृ[1] मृज् य। म[2] मृज् य। मर्[3] मृज् य। म[4] मृज् य। म रीक्[5] मृज् य। मरीमृज् य अच्। मरी-मृज् अच्। मरीमृज्[6] अ। मरीमृज् अ। मरीमृज। मरीमृज सु। मरीमृज स्। मरीमृज रु। मरीमृज र्। मरीमृजः ॥

क्क्ङिति च १।१।५

प० वि०—क्क्ङिति ७।१ निमित्तसप्तमी। च अ०। स०—गश्च कश्च ङश्च इति क्क्ङः ॥ इच्च इच्च इच्च इति इतः। क्क्ङ इतो यस्येति क्क्ङित् तस्मिन् क्क्ङिति।

अर्थ—[न इको गुणवृद्धी] क्क्ङिन्निमित्ते ये गुणवृद्धी प्राप्नुतस्ते न भवतः।(गित कित् और ङित् को निमित्त कारण मानकर इक् के स्थान में जो गुण वृद्धि प्राप्त होती हैं वे नहीं होती)।

उदा०—गित् - जिष्णुः, भूष्णुः। कित् - चितः, चितवान्। ङित् - चिनुतः, चिन्वन्ति।

सि०—ग्लाजिस्थश्च क्स्नुः (३. २. १३९) इत्यत्र द्रष्टव्यम् ॥ चितः निष्ठेति (३. २. १०२) सूत्रे, चिनुतः सार्वधातुकमपित (१. २. ४) इति सूत्रे चैषां साधनं द्रष्टव्यम्।

हलोऽनन्तराः संयोगः १।१।७

प० वि०—हलः १।३ अनन्तराः १।३ संयोगः १।१। स०—हल् च हल् च इति हलौ। हल च हल् च हल् चेति हलः। हलौ च हलश्चेति हलः ॥ अविद्यमानम् अन्तरम् एषां ते अनन्तराः (बहु०)।

अर्थ—अविद्यमानम् अन्तरमेषां ते हलः संयोगसंज्ञाः भवन्ति। (जिसके बीच में [अच् का] व्यवधान नहीं होता ऐसे हलों की संयोग संज्ञा होती है)।

❀अत्रेदं बोध्यम्—हल इत्यत्र बहुवचनं, तेन बहूनां हलः संयोगसंज्ञा

१—पूर्वोऽभ्यासः (६. १. ४) अत्र लोपोभ्यासस्य (७.४.५८) हलादिः शेषः (७. ४. ६०) २—उरत (७. ४. ६६) ३—उरण् रपरः (१. १. ५०) ४—हलादिः शेषः (७. ४. ६०) ५—पूर्वोऽभ्यासः (६. १. ४) अत्र लोपोऽभ्यासस्य (७. ४. ५८) रीगृदुपधस्य च (७. ४. ९०) आद्यन्तौ टकितौ (१. १. ४५) ६—मृजेर्वृद्धिः (७. २. ११४) न धातुलोप आर्धधातुके (१. १. ४)।

सिद्धा भवति, द्वयोर्न सिध्यति। अत एव कारणात् पूर्वं द्वयोर्हलोः एकशेषः कर्त्तव्यः। पुनश्च बहूनां हलामेकशेषः कर्त्तव्यः। एवं कृते सति हलौ हलः इत्येतयोरपि एकशेषः। तथा सति द्वयोर्हलोर्वा बहूनां हलां वा संयोगसंज्ञा सिध्यति।❀

उदा०—अग्निः इति गनौ। इन्द्रः इति नदराः॥

मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः १।१।८

प० वि०—मुखनासिकावचनः १।१ अनुनासिकः १।१। स०—मुखं च नासिका चेति मुखनासिकम्। ईषद् वचनम् आवचनम्। मुखनासिकम् आवचनं यस्य वर्णस्य स मुखनासिकावचनः (बहु०)।

अर्थ—मुखनासिकम् आवचनं यस्य वर्णस्य सोऽनुनासिकसंज्ञो भवति। (कुछ मुख और कुछ नासिका से जिस वर्ण का उच्चारण किया जाता है उसकी अनुनासिकसंज्ञा होती है)।

उदा०—सुँ। एधँ। स्पर्द्धँ। गाधृँ॥ ङ् ञ् ण् न् म् यँ लँ वँ।

तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् १।१।९

प० वि०—तुल्यास्यप्रयत्नम् १।१ सवर्णम् १।१। स०—तुल्यः आस्ये प्रयत्नः येषां वर्णानां तत् तुल्यास्यप्रयत्नम् (त्रिपद्बहु०)।

अर्थ—तुल्यः आस्ये प्रयत्नो येषां वर्णानां ते सवर्णसंज्ञाः भवन्ति। (मुखमें होने वाले समान है स्थान और प्रयत्न जिन वर्णों के, उनकी सवर्णसंज्ञा होती है)।

उदा०—दण्डाग्रम्[1]। भानूदयः[1]। गिरीशः[1]।

सि०—दण्ड+अग्रम्। भानु+उदयः गिरि+ईशः।

नाज्झलौ १।१।१०

प० वि०—न। अ०। अज्झलौ १।२ स०—अच्च हल् चेति अज्झलौ।

अर्थ—[सवर्णम्] अच् हल् इत्येतौ परस्परं सवर्णसंज्ञौ न भवतः। (अच् और हल् की परस्पर सवर्णसंज्ञा नहीं होती है)

उदा०—दण्ड हस्तः। दधि शीतम् ❀इत्यत्र सवर्णदीर्घत्वं न भवति❀

१—परः सन्निकर्षः संहिता (१. ४. १०९); संहितायाम् (६. १. ७२) एकः पूर्वपरयोः (६. १. ८४), अकः सवर्णे दीर्घः (६. १. १०१) तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् (१. १. ९)

ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् १।१।११।

प० वि०—ईदूदेत् १। १ द्विवचनम् १।१ प्रगृह्यम् १।१ ॥ स०—ईच्च ऊच्च एच्चेति ईदूदेत् (समा० द्वन्द्वः)

अर्थ—ईदन्तम् ऊदन्तम् एदन्तं च यद् द्विवचनं तद् प्रगृह्यसंज्ञं भवति। (ईकारान्त, ऊकारान्त और एकारान्त जो द्विवचन उसकी प्रगृह्यसंज्ञा होती है)

उदा०—अग्नी इति। वायू इति। माले इति। पचेते इति।

सि०—अग्नी[1] इति। वायू इति ॥

अदसो मात् १।१।१२

प० वि—अदसः ६।१ मात् ५।१।

अर्थ—[ईदूदेत्, प्रगृह्यम्] अदसः सम्बन्धी यो मकारस्तस्माद् ईदूदेतः प्रगृह्यसंज्ञा भवन्ति (अदस् सम्बन्धी जो मकार उसके पश्चात् ईकार, ऊकार और एकार की प्रगृह्यसंज्ञा होती है)

उदा०—अमी अत्र। अमी आसते। अमू अत्र। अमू आसाते।
ॐएकारस्योदाहरणं नास्तिॐ

निपात एकाजनाङ् १।१।१४

प० वि०—निपातः १।१ एकाच् १।१ अनाङ् १।१। स०—एकश्चासौ अच्च इति एकाच् (कर्म० तत्पु०)। न आङ् इति अनाङ् (न० तत्पु०)

अर्थ—[प्रगृह्यम्] आङ्वर्जित एकाच् यो निपातः सः प्रगृह्यसंज्ञो भवति। (आङ् को छोड़कर जो एकाच् निपात उसकी प्रगृह्यसंज्ञा होती है)

उदा०—अ अपेहि। इ इन्द्रं पश्य। उ उत्तिष्ठ।

ओत् १।१।१५

प० वि०—ओत् १।१।

अर्थ—[प्रगृह्यम् निपातः] ओदन्तो यो निपातः स प्रगृह्यसंज्ञो भवति। (ओकारान्त निपात की प्रगृह्य संज्ञा होती है)

उदा०—आहो इति। उताहो इति।

सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे १।१।१६

प० वि०—सम्बुद्धौ ७।१ शाकल्यस्य ६।१ इतौ ७।१ अनार्षे ७।१ स०—न आर्षः अनार्षः (न० तत्पु०) तस्मिन्।

१—ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम् (१.१.११) प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् (६.१.१२५)

अर्थ—[ओत्] सम्बुद्धौ य ओकारान्तः स शाकल्याचार्यस्य मतेन प्रगृह्यसंज्ञो भवति, अवैदिके इतिशब्दे परतः।

(सम्बुद्धि में जो ओकारान्त उसकी शाकल्याचार्य के मत से प्रगृह्य संज्ञा होती है अवैदिक इति शब्द के परे रहने पर)।

उदा०—वायो इति (ऋक्पद० १।२।१) अध्वर्यो इति (ऋ० ३।५३।३)।

सि०—वायु सु। वायो[1] सु। वायो स। वायो[2]। वायो[3] इति।

*अत्रेदं बोध्यम्—सर्वेऽपि पाणिनीया वैयाकरणाः शाकल्यग्रहणं विकल्पार्थं मत्वा पक्षे 'वायविति' इत्यादिषु प्रगृह्याभावेऽवादेशमुदाहरन्ति। तदसत्, यतो हि संहितापाठस्य पदपाठे क्रियमाणे यत्र पदकारा विशेषानभिप्रायान् द्योतयितुं वैदिकपदात् परमितिकरणं कुर्वन्ति तदेवेतिकरणमनार्षपदेन व्यपदिश्यते, न तु लौकिकवाक्यस्थम्। इदमेव चानार्षमितिकरणं प्रातिशाख्येषु 'उपस्थितपदेन स्मर्यते' (द्र० ऋक्प्राति० १०। १२॥ शु० य० प्रा० ४।६०), भगवता पाणिनिनाऽपि 'अप्लुतवदुपस्थिते' (६।१।१२६) इत्यत्र प्रयुज्यते। न च केचनापि पदकारा ओकारान्तसंबुद्धेः परमितिपदं प्रयुज्यावादेशं (वायविति—इत्येवं रूपम्) विदधति, तस्मात् 'वायविति' इत्येवमादीनि लक्षणैकचक्षुष्कैर्निर्दिष्टानि लक्ष्यविरुद्धानि उदाहरणानि चिन्त्यानि। वस्तुतस्तु शाकल्यग्रहणमत्र पूजार्थम्, न विकल्पार्थम्। शाकल्येन स्वीयके पदपाठे ओकारान्तसंबुद्धेः परमितिकरणं प्रयुज्य पदस्वरूपप्रदर्शनाय प्रकृतिभाव उक्तः, तदनु अन्यैरपि पदकारैः स नियमः स्वीकृतः। भगवान् पाणिनिरपि तमेव पदपाठनियमं बोधयितुं सूत्रमिदं प्रोक्तवान्।

एवमेव चोत्तरसूत्रेऽपि 'उञः ऊँ' इत्येकं योगं विभज्य अनार्ष इति परे 'उ इति, विति, ऊँ इति' इत्येवं त्रीण्युदाहरणानि प्रदर्शयन्ति। तत्रापि 'उ इति' 'विति' इति उदाहरणद्वयं पूर्वोक्तेनैव हेतुना चिन्त्यम्। वेदे 'उ' इति पदं बह्वर्थकं श्रूयते। तत्रार्थभेदपरिज्ञानाय वैयाकरणैर्द्वौ निपातौ स्वीकृतौ—उ इति उञ् इति च। तत्र पदकारेण शाकल्येन उञार्थकोऽयमुकारो न निरनुबन्धकार्थ इत्यस्य परिज्ञानाय पदपाठे उञार्थकस्य उकारस्य स्थाने 'ऊँ' आदेशं विधाय इतिकरणं प्रयुक्तम् (अन्यैरपि पदकारैरयं नियमः स्वीकृतः)। तेन 'ऊँ इति' इत्येवोदाहरणं युक्तम्।

---

१. ह्रस्वस्य गुणः (७. ३. १०८) २. एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः (६.१. ६९)
३. प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् (६. १. १२५)

अथो इति प्रकृत्यन्तरम् । न तु निपातद्वयम् ।
तथा सति तु पदपाठे ऽवहितया भवितव्यम् ।

(निरनुबन्धकश्च पूर्वपदेन संयुज्य प्रदर्शितः। यथा—अथो इति–ऋक्पद० १।८२।६) यतो हि नहि क्वचिदपि पदपाठे 'उ इति' 'विति' च प्रयोग उपलभ्यते। इति युधिष्ठिरमीमांसकानां मतं, तद् युक्तियुक्तम्। ❀

(यहां यह ज्ञातव्य है—सभी अष्टाध्यायी परम्परा के व्याकरण के विद्वान् शाकल्य का ग्रहण विकल्प के लिये मानकर पाणिनि के मत में प्रगृह्य संज्ञा के अभाव में 'वायविति' आदि में अवादेश का उदाहरण देते हैं। जो ठीक नहीं क्योंकि वेदों के संहितापाठ का पदपाठ करते समय पदकार लोग जहां विशेष अभिप्रायों को प्रकट करने के लिये वैदिक पद के पश्चात् इति शब्द का प्रयोग करते हैं, उसी इति शब्द को यहां पर अनार्षपद से कहा गया है, लौकिक इति शब्द का यहाँ पर अनार्ष शब्द से ग्रहण नहीं होता है। इसी पदपाठ संबन्धी अनार्ष इति शब्द का प्रातिशाख्यों में 'उपस्थित' पद से कथन किया गया है। भगवान् पाणिनि ने भी अप्लुतवदुपस्थिते (६. १. १२६) सूत्र में उपस्थित पद का प्रयोग किया है। कोई भी पदकार ओकारान्त सम्बुद्धि के पश्चात् इति शब्द का प्रयोग करके 'वायविति' इस प्रकार का रूप नहीं लिखते।

इस कारण 'वायविति' इत्यादि लक्ष्य के विरुद्ध उदाहरण ठीक नहीं हैं। वास्तव में शाकल्य का ग्रहण पूजा के लिये है, विकल्प के लिये नहीं। शाकल्य ने ऋग्वेद का पदपाठ करते समय ओकारान्त संबुद्धि के पश्चात् इति शब्द का प्रयोग करके पद के स्वरूप को दिखलाने के लिए प्रकृतिभाव का नियम बनाया। उसके पश्चात् दूसरे सभी पदकारों ने उसी नियम को स्वीकृत कर लिया। पाणिनि भगवान् ने भी उसी पदपाठ के नियम का बोध कराने के लिये इस सूत्र का निर्माण किया।

इसी प्रकार से 'उञः ऊँ' इस एक सूत्र का भी विभाग करके 'उ इति, विति, ऊँ इति' इस प्रकार से तीन रूपों को वैयाकरण लोग सिद्ध करते हैं। यहाँ पर 'उ इति' और 'विति' ये दोनों रूप भी पूर्वोक्त कारणों से ठीक नहीं है। वेद में 'उ' यह पद बह्वर्थक देखा जाता है। वहां अर्थ के भेद के लिये व्याकरणशास्त्र के ज्ञाता लोग 'उ' और 'उञ्' ये दो निपात स्वीकार करते हैं। पदकार शाकल्याचार्य ने वेद का यह उकार उञ् निपात के अर्थ में लिया है केवल 'उ' के अर्थ में नहीं, इस भेद का ज्ञान कराने के लिये उञ् अर्थ वाले उ के स्थान में 'ऊँ' आदेश का विधान और उससे परे 'इति' शब्द का निर्देश किया है। यह शाकल्य का नियम अन्य पदकारों ने भी स्वीकार कर लिया है। इस

कारण यहां भी केवल 'ॐ इति' यही उदाहरण ठीक है 'उ इति, विति' ये उदाहरण पदपाठ में कहीं नहीं मिलते, अतः अशुद्ध हैं।)

उञ ऊँ १।१।१७

प० वि०—उञः ६।१ ऊँ अ०।

अर्थ—[प्रगृह्यम् शाकल्यस्येतावनार्षे] उञः स्थाने ऊँ इत्ययमादेशो भवति प्रगृह्यसंज्ञकश्च शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन अनार्षे इतिशब्दे परतः। (उञ् के स्थान में ऊँ यह आदेश होता है और उसकी प्रगृह्यसंज्ञा भी होती है, शाकल्याचार्य के मत से अनार्ष इति शब्द के परे रहने पर)।

उदा०—ऊँ इति॥ ❀अत्र यद्वक्तव्यं तत्र पूर्वसूत्र उक्तम्॥❀

दाधा घ्वदाप् १।१।१९

प० वि०—दाधाः १।३ घु १।१ (सुपां सुलुक् इति सोर्लुक्) अदाप् १।१। स०–दाश्च दाश्च दाश्च दाश्च इति दाः। धाश्च धाश्च इति धौ। दाश्च धौ चेति दाधाः (इतरे० द्वन्द्वः)। दाप् च दैप् (दाप्) च इति दाप्। न दाप् इति अदाप् (नञ्० तत्पु०)।

अर्थ—डुदाञ् दाने, दाण् दाने, दो अवखण्डने, देङ् रक्षणे इति दारूपाश्चत्वारो धातवः। डुधाञ् धारणपोषणयोः, धेट् पाने इति धारूपौ द्वौ धातू। दाप् लवने, दैप् शोधने, इति दापूरूपौ द्वौ धातू॥

दारूपाश्चत्वारो धातवो धारूपौ च द्वौ दाब्दैपौ वर्जयित्वा घुसंज्ञकाः भवन्ति।

(दा रूप चार धातु और धारूप दो धातु इनकी घुसंज्ञा होती है दाप् और दैप् को छोड़कर)

उदा०—प्रणिददाति, प्रणिदाता, प्रणिद्यति, प्रणिदयते। प्रणिदधाति, प्रणिधयति वत्सो मातरम्॥

सि०—डुदाञ्[1]। डुदा। दा। दा लट्। दा ल। दा ल्। दा तिप्। दा ति। दा शप् ति। दा[2] ति। दा दा[3] ति। द[4] दा ति। ददाति। प्र नि ददाति। प्रणिददाति[5]। दाण्॥ दा तृच्। दा तृ। दातृ सु। दातृ अनङ् सु। दातनङ् सु। दातन सु। दातन् सु। दातन् स्। दातान् स्। दातान्। दाता। दातारौ। दातारः। दातारम्। दातारौ। दातॄन्। प्र नि

१. आदिर्ञिटुडवः (१. ३. ५) तस्य लोपः (१. ३. ९) अदर्शनं लोपः (१. १. ५९) २. जुहोत्यादिभ्यः श्लुः (२. ४. ७५) अदर्शनं लोपः (१. १. ५९) ३. श्लौ (६. १. १०) ४. पूर्वोऽभ्यासः (६. १. ४) अत्र लोपोऽभ्यासस्य (७.

दाता। प्रणिदाता॥ दो। दो लट्। दो ल। दो ल्। दो तिप्। दो ति। दो शप् ति। दो श्यन्[1] ति। दो श्य ति। दो य ति। द्[2] य ति। द्यति। प्र नि द्यति। प्रणिद्यति। ❀ अशिद्विषये दारूपोऽयं भवतीत्यत्र घुसंज्ञा प्रवर्त्तते एव ❀॥ देङ्। दे। दे लट्। दे ल। दे ल्। दे त। दे शप् त। दे श त। दे अ त। दय् अ त। दयत। दयते। प्र नि दयते। प्रणिदयते। डुधाञ्। डुधा। धा लट्। धा ल। धा ल्। धा तिप्। धा धा ति। ध धा ति। द[3] धा ति। प्रनि दधाति। प्रणिदधाति॥ धेट्। धे। धे लट्। धे ल। धे ल्। धे तिप्। धे शप् ति। धे श ति। धे अ ति। धय् अ ति। धयति। प्र नि धयति। प्रणिधयति॥

आद्यन्तवदेकस्मिन् १।१।२०

प० वि०—आद्यन्तवत् अ०। एकस्मिन् ७।१॥ स०—आदिश्च अन्तश्चेति आद्यन्तौ। आद्यन्तयोरिव इति आद्यन्तवद्।

अर्थ—आदाविव अन्त इव एकस्मिन्नपि कार्यं भवति। (आदि और अन्त को जो विधान किया गया कार्य वह एक में भी होता है)।

उदा०—यथा कर्त्तव्यम् इत्यत्र प्रत्ययाद्युदात्तत्वं भवति एवमौपगवम् इत्यत्रापि यथा स्यात्। यथा वृक्षाभ्याम् इत्यत्र अतो दीर्घो यञि, सुपि च इति अङ्गस्य दीर्घत्वं भवति एवम् आभ्याम् इत्यत्रापि यथा स्यात्।

सि०—कर्त्तव्यम्। औपगवम्॥ इदम्। इदम् भ्याम्। इद अ[4] भ्याम्। इद[5] भ्याम्। अ[6] भ्याम्। आभ्याम्[7]।

तरप्तमपौ घः १।१।२१

प० वि०—तरप्तमपौ १।२ घः १।१ स०—तरप् च तमप् चेति तरप्तमपौ (इतरे० द्वन्द्वः)

अर्थ—तरप् तमप् इत्येतौ प्रत्ययौ घसंज्ञौ भवतः। (तरप् और तमप् की घ संज्ञा होती है)।

उदा०—कुमारितरा, कुमारितमा। ब्राह्मणितरा, ब्राह्मणितमा।

---

४. ५८) ह्रस्वः (७. ४. ५९) नेर्गदनद० (८. ४. ७७)

१—दिवादिभ्यः श्यन् (३. १. ६९) २—ओतः श्यनि (७. ३. ७१) ३—अभ्यासे चर्च (८. ४. ५४)। ४—अष्टन आ [विभक्तौ] (७. २. ८४) त्यदादीनामः (७. २. १०२) ५—अतो गुणे (६. १. ९७) ६—हलि लोपः (७. २. ११३) ७—अतो दीर्घो यञि (७. ३. १०१) सुपि च (७. ३. १०२)

सि०—कुमारी तरप्[1] । कुमारी तर[2] । कुमारी तर टाप्[3] । कुमारी तर आ[4] । कुमारी तरा[5] । कुमारि तरा[6] । कुमारितरा सु । कुमारितरा ।

बहुगणवतुडति संख्या १।१।२२

प० वि०—बहुगणवतुडति १ । १ संख्या १ । १ ॥ स०—बहुश्च गणश्च वतुश्च डतिश्चेति बहुगणवतुडति (समा० द्वन्द्वः) ।

अर्थः—बहुगणौ वतुप्प्रत्ययान्त–डतिप्रत्ययान्तौ च शब्दाः संख्या-संज्ञाः भवन्ति । (बहु, गण, वतुप्प्रत्ययान्त और डतिप्रत्ययान्त शब्दों की संख्यासंज्ञा होती है) ।

उदा०—बहुकृत्वः[7] । बहुधा[8] । बहुकः[9] । बहुशः[10] । गणकृत्वः । गणधा । गणकः । गणशः ॥ तावत्कृत्वः । तावद्धा । तावत्कः । तावच्छः । कतिकृत्वः । कतिधा । कतिकः । कतिशः ॥

सि०—तद्धितप्रकरणे साधनं द्रष्टव्यम् ॥

ष्णान्ता षट् १।१।२३

प० वि०—ष्णान्ता १।१ षट् १।१ स०—षश्च नश्च इति ष्णौ । अन्तश्च अन्तश्च इति अन्तौ । ष्णौ अन्तौ यस्याः संख्यायाः सा ष्णान्ता ।

अर्थ—[संख्या] षकारान्ता नकारान्ता संख्या षट् संज्ञा भवति । (षकारान्त और नकारान्त संख्या की षट् संज्ञा होती है)

उदा०—षकारान्ता - षट् तिष्ठन्ति, षट् पश्य । नकारान्ता-पञ्च, सप्त, नव, दश ।

१—द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ (५. ३. ५७) २—हलन्त्यम् (१. ३. ३) ३—कृत्तद्धितसमासाश्च (१. २. ४६) ङ्याप्प्रातिपदिकात् (४. १. १) स्त्रियाम् (४. १. ३) अजाद्यतष्टाप् (४. १. ४) प्रत्ययः (३. १. १) परश्च (३. १. २) ४—चुटू (१. ३. ७), तस्य लोपः (१. ३. ९) अदर्शनं लोपः (१. १.५९) ५—अकः सवर्णे दीर्घः (६.१.१०१) ६—अलुगुत्तरपदे (६.३.१) घरूपकल्पचेलड्० (६. ३. ४३) ७—संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच् (५. ४. १७) ८—संख्याया विधार्थे धा (५. ३. ४२) ९—संख्याया अतिश-दन्तायाः कन् (५.१.२२) १०—बह्वल्पार्थाच्छस्कारकादन्यतरस्याम् (५.४.४२)

सि०—षष्। षष् जस्। षष्[1]। षड्[2]। षट्[3]। षष् शस्। षष। षड्। षट्। पञ्चन् जस्। पञ्चन्[4]। पञ्च। पञ्चन् शस्। पञ्चन्। पञ्च॥

डति च १।१।२४

प० वि०—डति १।१ च अ०।

अर्थ—[संख्या] डतिप्रत्ययान्ता संख्या षट् संज्ञा भवति। (डति प्रत्ययान्त संख्या वाची शब्द की षट् संज्ञा होती है)

उदा०—कति तिष्ठन्ति। कति पश्य।

सि०—अन्यत् सर्वं साधनं तद्धितप्रकरणे, विशेषस्तु कति जस्। कति। कति शस्। कति॥

क्तक्तवतू निष्ठा १।१।२५

प० वि०—क्तक्तवतू १।२। निष्ठा १।१॥ स०—क्तश्च क्तवतुश्चेति क्तक्तवतू (इतरे० द्वन्द्वः)

अर्थ—क्तक्तवतू प्रत्ययौ निष्ठासंज्ञौ भवतः। (क्त और क्तवतु प्रत्यय की निष्ठा संज्ञा होती है)

उदा०—चितः, चितवान्। साधनं निष्ठा (३।२।१०२) सूत्रे द्रष्टव्यम॥

सर्वादीनि सर्वनामानि १।१।२६

प० वि०—सर्वादीनि १।३ सर्वनामानि १।३॥ स०—सर्व आदिर्येषां तानि इमानि सर्वादीनि (तद्गुणसंविज्ञानबहु०) सर्वेषां नामानि सर्वनामानि (ष० तत्पु०)।

अर्थ—सर्वादीनि सर्वनामसंज्ञानि भवन्ति। (सर्व इत्यादि शब्दों की सर्वनामसंज्ञा होती है)

उदा०—सर्वे। सर्वस्मै। सर्वस्मात्। सर्वस्मिन्।

सि०—सर्व जस्। सर्व शी[5]। सर्व ई[6]। सर्वे[7]। सर्व ङे। सर्व

१—षड्भ्यो लुक् (७. १. २२) २—झलां जशोऽन्ते (८. २. ३९), ३—वावसाने (८. ४. ५६) ४—नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य (८. २. ७) ५—जसः शी (७. १. १७) ६—लशक्वतद्धिते (१. ३. ८) तस्य लोपः (१. ३. ९) अदर्शनं लोपः (१. १. ५९) ७. एकः पूर्वपरयोः (६. १. ८४), आद्गुणः (६. १. ८७) अदेङ्गुणः (१. १. २) स्थानेऽन्तरतमः (१. १. ४९)

स्मै[1]। सर्वस्मै । सर्व ङसि । सर्वस्मात्[2] । सर्व ङि । सर्व स्मिन्[3] । सर्वस्मिन् ॥

स्वरादिनिपातमव्ययम् १।१।३६

प० वि०—स्वरादिनिपातम् १।१ अव्ययम् १।१ स०—स्वर् आदिर्येषां ते स्वरादयः। स्वरादयश्च निपाताश्च इति स्वरादिनिपातम् (समा० द्वन्द्वः)।

अर्थ—स्वरादीनि शब्दरूपाणि निपाताश्च अव्ययसंज्ञानि भवन्ति । (स्वर् इत्यादि शब्द तथा निपातों की अव्ययसंज्ञा होती है)

उदा०—स्वर् । प्रातर् । उच्चैस् । नीचैस् ।

सि०—स्वर् सु । स्वर्[4] । स्वः ॥ उच्चैस् सु । उच्चैस् । उच्चैः ।

तद्धितश्चासर्वविभक्तिः १।१।३७

नोत्पद्यन्ते सर्वा विभक्ति, यस्मात्

प० वि—तद्धितः १।१ च अ० । असर्वविभक्तिः १।१ स०—न उत्पद्यन्ते सर्वाः विभक्तयो यस्मात् सोऽसर्वविभक्तिः तद्धितः ।

अर्थ—[अव्ययम्] यस्मात् सर्वाः विभक्तयो नोत्पद्यन्ते सः तद्धितप्रत्ययान्तशब्दोऽव्ययसंज्ञो भवति ॥ (जिससे सारी विभक्तियाँ उत्पन्न नहीं होती हैं ऐसे तद्धित प्रत्ययान्त शब्दों की अव्यय संज्ञा होती है)

उदा०—तत्र, ततः । साधनं प्राग्दिशो विभक्तिः (५. ३. १) इत्यत्र प्रकरणे द्रष्टव्यम ॥

कृन्मेजन्तः १।१।३८

प० वि०—कृन्मेजन्तः १।१ स०—मश्च एच्चेति मेचौ । अन्तश्च अन्तश्चेति अन्तौ । मेचौ अन्तौ यस्य इति मेजन्तः (बहु० स०) कृच्चासौ मेजन्तश्च इति कृन्मेजन्तः (कर्म० तत्पु०)

अर्थ—[अव्ययम्] कृद् यो मकारान्त एजन्तश्च तदन्तं शब्दरूपम् अव्ययसंज्ञं भवति । (कृत् जो मकारान्त और एजन्त, तदन्त शब्दों की अव्यय संज्ञा होती है)

उदा०—भोक्तुम् । वक्ते रायः ।

१—सर्वनाम्नः स्मै (७. १. १४) २—ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ (७. १. १५) ३—ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ (७. १. १५) ४—अव्ययादाप्सुपः (२. ४. ८२) ।

उदिति दकारान्त उपसर्गः।

सि०—भोक्तुम्[1] सु। भोक्तुम्[2]। वच[3] से। वक[4] से। वक्[5] षे। वक्षे सु। वक्षे[6]॥

क्त्वातोसुन्कसुनः १।१।३९

प० वि०—क्त्वातोसुन्कसुनः १।३॥ स०—क्त्वा च तोसुन् च कसुन् च इति क्त्वातोसुन्कसुनः (इतरे० द्वन्द्वः)

अर्थ—[अव्ययम्] क्त्वा तोसुन् कसुन् इत्येवमन्तं शब्दरूपम् अव्ययसंज्ञं भवति॥ (क्त्वा, तोसुन् और कसुन् प्रत्ययान्त शब्दों की अव्यय-संज्ञा होती है)

उदा०—क्त्वा–कृत्वा। तोसुन्–पुरा सूर्यस्योदेतोराधेयः। कसुन्–पुरा क्रूरस्य विसृपो विरप्शिन्॥

सि०—उदेतोः। उत् इण् तोसुन्[7]। इ तोसुन्। इतोसु। इ तोस्। ए[8] तोस्। एतोस्[9] सु। एतोरु। एतोर्। एतोः। उत् एतोः। उद्[9] एतोः। उदेतोः। सृप् कसुन्। सृप् असुन्। सृप् असु। सृप्[10] अस्। सृपस् सु। विसृपस्[11] विरप्शिन्। विसृपर् विरप्शिन्। विसृप उ[12] विरप्शिन। विसृपो[13] विरप्शिन्।

अव्ययीभावश्च १।१।४०

प० वि०—अव्ययीभावः १।१ च अ०।

अर्थ—[अव्ययम्] अव्ययीभावसमासोऽव्ययसंज्ञो भवति। (अव्ययीभाव समास की अव्ययसंज्ञा होती है)

उदा०—उपकृष्णम्। अधिस्त्रि।

सि०—अव्ययीभावसमासे (२. १. ६) साधनं द्रष्टव्यम्।

१—तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम् (३. ३. १०) २—कृन्मेजन्तः (१. १. ३८), अव्ययादाप्सुपः (२. ४. ८२) ३—तुमर्थे से० (३. ४. ९) ४—चोः कुः (८. २. ३०) ५—आदेशप्रत्यययोः (८. ३. ५९) ६—कृन्मेजन्तः (१. १. ३८), अव्ययादाप्सुपः (२. ४. ८२) ७—भावलक्षणे० (३. ४. १६) ८—सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७. ३. ८४) ९—झलां जशोऽन्ते (८. २. ३९) १०—पुगन्तलघूपधस्य च (७. ३. ८६) क्ङिति च (१. १. ५) ११—क्त्वातोसुन्कसुनः (१. १. ३९) अव्ययादाप्सुपः (२. ४. ८२) १२—हशि च (६. १. ११२) १३—संहितायाम् (६. १. ७२), एकः पूर्वपरयोः (६. १. ८४) आद् गुणः (६. १. ८७)

शि सर्वनामस्थानम् १।१।४१

प० वि०—शि १।१ सर्वनामस्थानम् १।१ ॥

अर्थ--शि इत्येतत् सर्वनामस्थानसंज्ञं भवति । (शि इसकी सर्वनामस्थान संज्ञा होती है)

उदा०—कुण्डानि तिष्ठन्ति । कुण्डानि पश्य । दधीनि । मधूनि ।

सि०—कुण्ड जस् । कुण्ड शि[1] । कुण्ड इ[2] । कुण्ड नुम्[3] इ । कुण्डन् इ । कुण्डान्[4] इ । कुण्डानि ।

सुडनपुंसकस्य १।१।४२

प० वि०—सुट् १।१ अनपुंसकस्य ६।१ स०—न नपुंसकम् इति अनपुंसकम् (नञ्० तत्पु०) तस्य

अर्थ—[सर्वनामस्थानम्] नपुंसकभिन्नस्य सुट् सर्वनामस्थानसंज्ञो भवति । (नपुंसकभिन्न जो सुट् उसकी सर्वनामस्थान संज्ञा होती है)

उदा०—राजा । राजानौ । राजानः । राजानम् । राजानौ ।

सि०—राजन् सु । राजान्[5] सु । राजान् स् । राजान[6] । राजा[7] । राजन औ । राजान् औ । राजानौ । राजानः ॥

न वेति विभाषा १।१।४३

प० वि०—न अ० । वा अ० । इति अ० ।

अर्थ—नेति प्रतिषेधार्थो वेति विकल्पार्थस्तयोः प्रतिषेधविकल्पार्थयोर्विभाषा इति संज्ञा भवति । (निषेध और विकल्प अर्थ की विभाषा संज्ञा होती हैं)

उदा०—शुशाव । शिश्वाय ॥ शुशुवतुः । शिश्वियतुः ॥

साधनं तु विभाषा श्वेः (६. १. ३०) इत्यत्र द्रष्टव्यम् ।

१—जश्शसोः शिः (७. १. २०) २—लशक्वतद्धिते (१.३. ८), तस्य लोपः (१. १. ९), अदर्शनं लोपः (१. १ ५९) ३—इदितो [नुम्] धातोः (७.१.५८), नपुंसकस्य झलचः (७. १. ७२) मिदचोऽन्त्यात्परः (१. १. ४६) ४—शि सर्वनामस्थानम् (१. १. ४१), सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ (६. ४. ८) ५—शि सर्वनामस्थानम् (१. १. ४१), सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ (६. ४. ८) ६–हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल् (६.१.६८) अदर्शनं लोपः (१.१.५९) ७—नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य (८. २. ७) अदर्शनं लोपः (१. १. ५८)

इग्यणः सम्प्रसारणम् १।१।४४

प० वि०—इक् १।१ यणः ६।१ सम्प्रसारणम् १।१ ॥

अर्थ—यणः स्थाने य इक् भूतो भावी वा तस्य सम्प्रसारणम् इत्येषा संज्ञा भवति। (यण् के स्थान में जो हुआ हुआ या होने वाला इक् उसकी सम्प्रसारण संज्ञा होती है)

उदा०—उक्तम्। उक्तवान्।

सि०—वच् क्त[1]। वच् त[2]। उ अ[3] च् त। उच्[4] त। उक्त[5] सु। उक्त अम्[6]। उक्तम्[7]।

आद्यन्तौ टकितौ १।१।४५

प० वि०—आद्यन्तौ १।२ टकितौ १।२ स०—आदिश्च अन्तश्चेति आद्यन्तौ। टश्च कश्चेति टकौ। इच्च इच्चेति इतौ। टकौ इतौ ययोरिति टकितौ।

अर्थ—षष्ठीनिर्दिष्टस्य टित्कितौ आगमौ आद्यन्तौ अवयवौ भवतः। (षष्ठी विभक्ति से निर्देश किया गया टकार इत् वाला और ककार इत् वाला जो आगम वह क्रमश आदि और अन्तिम अवयव होता है)

उदा०—टित्—भविता, भवितुम्, भवितव्यम्। कित्—प्रकृत्य, प्रहृत्य।

सि०—भविता एवल्तृचौ इति (२. १. १३३) सूत्रे द्रष्टव्यम्। कित्-ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् (६. १. ७१) इत्यत्र द्रष्टव्यम्।

मिदचोऽन्त्यात्परः १।१।४६

प० वि०—मित् १।१ अचः ६।१ अन्त्यात् ५।१ परः १।१ ॥

१—भूवादयो धातवः (१. ३. १), कर्तरि कृत् (३. ४. ६७) लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः (३. ४. ६९) तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः (३. ४. ७०) कृदतिङ् (३. १. ९३), भूते (३. २. ८४), निष्ठा (३. २. १०२) क्तक्तवतू निष्ठा (१. १. २५), प्रत्ययः (३. १. १) परश्च (३. १. २) २—लशक्वतद्धिते (१. ३. ८), तस्य लोपः (१. ३. ९), अदर्शनं लोपः (१. १. ३९) ३—वचिस्वपियजादीनां किति (६. १. १५), इग्यणः सम्प्रसारणम् (१. १. ४४), स्थानेऽन्तरतमः (१. १. ४९) ४—परः सन्निकर्षः संहिता (१. ४. १०९), संहितायाम् (६. १. ७२) एक: पूर्वपरयोः (६. १. ८४), अमि [पूर्वः] (६. १. १०७) सम्प्रसारणाच्च (६. १. १०८) ५—चोः कुः (८.२.३०) ६—अतोऽम् (७. १. २४) ७—अमि पूर्वः (६. १. १०७)

❀अन्ते भवम् अन्त्यम् तस्मात् अन्त्यात्❀

अर्थ—❀अचः इत्यत्र निर्द्धारणे षष्ठी। जातिगुणक्रियाभिः समुदायादेकदेशस्य पृथक्करणं निर्द्धारणम्। अत एव अचां मध्ये योऽन्त्योऽच् इत्यर्थो भवति❀ अचां मध्ये योऽन्त्योऽच् तस्मात् परः मिदागमो भवति। (अचों के बीच में जो अन्तिम अच् उसके पश्चात् मित् आगम होता है)

उदा०—नन्दनः। साधनं नन्दिग्रहिपचादिभ्य (३. १. १३४) इति सूत्रे द्रष्टव्यम्।

एच इग्घ्रस्वादेशे १।१।४७

प० वि—एचः ६।१ इक् १।१ ह्रस्वादेशे ७।१ ॥ स०—ह्रस्वस्य आदेशः ह्रस्वादेशः (ष० तत्पु०) तस्मिन्।

अर्थ—एचो ह्रस्वादेशे कर्त्तव्ये इगेव भवति। (एच् के स्थान में ह्रस्व का आदेश करने में इक् ही होता है)

उदा०—अतिरि, उपगु।

सि०—रायम् अतिक्रान्तः। गोः समीपम् इति विग्रहः। साधनं क्रमशः कुगतिप्रादयः (२. २. १८) अव्ययं विभक्ति० (२. १. ६) इति सूत्रयोर्द्रष्टव्यम्।

षष्ठी स्थानेयोगा १।१।४८

प० वि०—षष्ठी १।१ स्थानेयोगा १।१ ॥ स०—स्थाने योगोऽस्याः सेयं स्थानेयोगा। सप्तम्यलोपो निपातनात् तृतीयाया वा एत्वम्। स्थानेन योगोऽस्याः, सेयं स्थानेयोगा।

अर्थ—अनियतसम्बन्धा षष्ठी स्थानेयोगा भवति। (सूत्रों में आये हुए जिस षष्ठी का सम्बन्ध निश्चित नहीं हो, वह स्थान में योग कराने वाली होती है अर्थात् उसका अर्थ 'के स्थान में' होता है)

उदा०—दध्यत्र। मध्वत्र। पित्रर्थम्। लाकृतिः।

सि०—दधि अत्र। दध् य्[1] अत्र। दध्यत्र। मधु अत्र। मध्व्[1] अत्र। मध्वत्र। पितृ अर्थम्। पित् र्[1] अर्थम्। पित्रर्थम्। लृ आकृतिः। ल्[1] आकृति। लाकृतिः॥

१—परः सन्निकर्षः संहिता (१. ४. १०६) संहितायाम् (६. १. ७२) इको यणचि (६. १. ७७) स्थानेऽन्तरतमः (१. १. ४६)

स्थानेऽन्तरतमः १।१।४६

प० वि०—स्थाने ७।१ अन्तरतमः १।१ ॥

अर्थ—अन्तरतमः सदृशतम इति अनर्थान्तरम्। स्थाने प्राप्यमाण आदेशोऽन्तरतमो भवति। (किसी के स्थान में प्राप्त होने वाले आदेश सदृशतम होते हैं)।

उदा०—आन्तर्यं चतुर्विधं भवति-स्थानकृतं, अर्थकृतं, प्रमाणकृतं, गुणकृतं चेति। स्थानकृतं-दण्डाग्रम्, दधीन्द्रः। अर्थकृतं-भवतम्, भवत। प्रमाणकृतं-अमुष्मै, अमूभ्याम्। गुणकृतं-भागः, रागः।

सि०—दण्ड अग्रम्। दण्डाग्रम्[1]। दधि इन्द्रः। दधीन्द्रः[1]। अत्र द्वयोरकारयोः कण्ठस्थानयोः कण्ठस्थान आकार एव दीर्घो भवति। एवं तालुस्थानयोरिकारयोस्तालुस्थान ईकारः॥

भवतम्। भू लोट्[2]। भू लो। भू ल्। भू तस्[3]। भू शप्[4] तस्। भू श तस्। भू अ[5] तस्। भो[6] अ तस्। भव्[7] अ तस्। भव तम्[8]। भवतम्। इति एकवचनद्विवचनबहुवचनस्थानेषु एकद्विबह्वर्थवाचका आदेशा भवन्ति। भागः। भज सेवायाम्। भज् घञ्[9]। भज् घ। भज् अ[10]। भाज्[11] अ। भाग्[12] अ। अल्पप्राणस्य जकारस्य अल्पप्राणो गकार आदिश्यते। गुणः प्रयत्न इति अनर्थान्तरम्।

१—अकः सवर्णे दीर्घः (६. १. १०१) तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् (१. १. ९) २—भूवादयो धातवः (१. ३. १) धातोः (३. १. ९१) लोट् च (३. ३. १६२) प्रत्ययः (३. १. १) परश्च (३. १. २) ३—लस्य (३. ४. ७७) तिप्तस्झि० (३. ४. ७८) ४—तिङ्शित्सार्वधातुकम् (३. ४. ११३) [सार्वधातुके] यक् (३. १. ६७) कर्त्तरि शप् (३. १. ६८) ५—लशक्वतद्धिते (१. ३. ८) ६—तिङ्शित्सार्वधातुकम् (३. ४. ११३) यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् (१. ४. १३) अङ्गस्य (६. ४. १) मिदे [गुणः] (७. ३. ८२) सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७. ३. ८४) स्थानेऽन्तरतमः (१. १. ४९) ७—एचोऽयवायावः (६. १. ७७) यथासंख्यमनुदेशः समानाम् (१. ३. १०) ८—तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः (३. ४. १०१) ९—भावे (३. ३. १८) १०—लशक्वतद्धिते (१. ३. ८) ११—अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा (१. १. ६४) अत उपधायाः (७. २. ११६) वृद्धिरादैच् (१. १. १) स्थानेऽन्तरतमः (१. १. ४९) १२- -चजोः० (७. ३. ५२)

अमुष्मै। अदस् ङे। अद अ[1] ङे। अद[2] ङे। अद स्मै[3]। अमुष्मै। इत्यत्र अदसोऽसेर्दादुदो मः इत्यनेन सूत्रेण प्रमाणकृतान्तर्याद् अकारस्य ह्रस्वस्य ह्रस्व उकार आदेशो भवति। अमूभ्याम्। अदस् भ्याम्। अद अ भ्याम्। अद भ्याम्। अदा[4] भ्याम् इत्यत्र दीर्घस्य आकारस्य ऊकारो भवति। अमूभ्याम।

उरण् रपरः। १।१।५०

प० वि०—उः ६।१ अण् १।१ रपरः १।१ स०। रः परो यस्मात् स रपरः (बहु०)।

अर्थ—[स्थानेयोगा इत्यतः स्थाने, स्थानेऽन्तरतम इत्यतः स्थाने] उः स्थाने अण् प्रसज्यमान एव रपरो भवति। (ऋ के स्थान में प्राप्त होता हुआ अण् रपर हो जाता है) ※अत्रेदं बोध्यम्—एतेन लक्षणान्तरेण विधीयमानस्य अणो विधानकाल एवेयं परिभाषा व्याप्रियते। अतस्तेन सह संहत्य रपरत्वविशिष्टो विधीयते। एतच्च स्थानद्वयग्रहणस्यात्रानुवृत्तेर्लभ्यते। पूर्वकेण हि स्थानग्रहणेनेहानुवृत्तावुः स्थाने इत्येतद् अर्थरूपं लभ्यते। द्वितीयेन तु प्रसज्यमान इत्येतत्। तथाहि यदिह स्थानग्रहणं सप्तम्यन्तं प्रकृतमनुवर्त्तमानं तत् सामर्थ्यात् प्रथमान्तं सम्पद्यते। स्थानशब्दश्चायं प्रसङ्गवाची ततश्च यदा स्थानेनाण् विशिष्यतेऽण् स्थानम् इति तदा अण् प्रसज्यमान एव इत्यर्थो जायते, प्रसज्यमानशब्दस्य प्रसङ्गेनाभिसम्बध्यमान इत्यर्थो भवति※

(यहां पर यह जानना चाहिये—यह सूत्र क्या काम करता है—किसी दूसरे लक्षण या सूत्र से विधान किया जाता हुआ जो अण् है वह अण् विधान काल में ही रपर होकर प्रयुक्त हो इस कार्य के लिए यह परिभाषा सूत्र है। इस प्रकार का अर्थ इसलिए प्राप्त होता है क्योंकि ऊपर से 'स्थाने-स्थाने' इन दोनों पदों की अनुवृत्ति आती है। षष्ठी स्थानेयोगा से जो स्थाने की अनुवृत्ति आती है उससे तो 'ऋ के स्थान में' ऐसा अर्थ प्राप्त होता है। और स्थानेऽन्तरतमः से जो स्थाने की अनुवृत्ति आती है, उसका अर्थ 'प्राप्त होता हुआ' होता है। अब यहाँ प्रश्न उठता है कि वहाँ तो स्थाने सप्तम्यन्त है यहाँ प्रथमान्त कैसे हो जाता है तो इसका यह उत्तर है कि सामर्थ्य से। यहाँ पर प्रथमा विभक्ति

१—त्यदादीनामः (७. २. १०२) २—अतो गुणे (६. १. ९७) ३—सर्वनाम्नः स्मै (७. १. १४) ४—अतो दीर्घो यञि (७. ३. १०१) सुपि च (७. ३. १०२)

में ही सामर्थ्य है कि वह इस प्रकार के 'प्राप्त होते हुए' अर्थ का ज्ञान कराये। और इस स्थान शब्द का अर्थ प्रसङ्ग है। तब यदि इस स्थान शब्द को अण् का विशेषण बनायेंगे 'तो स्थानम् अण्, अर्थात् प्राप्त होता हुआ अण् यह अर्थ निकलेगा। प्रसज्यमान शब्द का अर्थ है प्रसंग से अभिसम्बद्ध होता हुआ।)

उदा०—कर्त्ता, हर्त्ता, गिरति, किरति, पुपूर्षति, मुमूर्षति।

सि०—डुकृञ्। डुकृ। कृ। कृ तृच्। कृ तृ। कर् तृ। कर्तृ सु। कर्तनङ् सु। कर्तन सु। कर्तन् सु। कर्तान् सु। कर्तान् स्। कर्तान्। कर्ता। हर्ता। गॄ तिप्। गॄ श[1] ति। गॄ अ ति। गिर्[2] अ ति। गिरति। कॄ श तिप्। किर् अ ति। किरति। पॄ सन्[3]। पुर[4] सन्। पूर्[5] स। पूर् पूर् स[6]। पू[7] पूर् स्। पु[8] पूर्स लट्। पुपूर्ष तिप्। पुपूर्ष शप् ति। पुपूर्ष अ ति। पुपूर्षति। मृ हिंसायाम्। मृ सन्। मृ[9] स। मुर्[4] स। मूर् ष[5]। मूर् मूर् ष[6]। मूमूर् ष। मुमूर्ष लट्। मुमूर्ष ल्। मुमूर्ष तिप्। मुमूर्ष शप् तिप। मुमूर्ष अ ति। मुमूर्षति। मुमूर्षतः। मुमूर्षन्ति॥

अलोऽन्त्यस्य १।१।५१

प० वि—अलः ६।१ अन्त्यस्य ६।१॥

अर्थ—[षष्ठी स्थाने] षष्ठीनिर्दिष्टादेश अन्त्यस्य अलः स्थाने भवति।

१—तिङ्शित्सार्वधातुकम् (३. ४. ११३) सार्वधातुके यक् (३. १. ६७) कर्त्तरि शप् (३. १. ६८) तुदादिभ्यः शः (३. १. ७७) २—तिङ्शित्सार्वधातुकम् (३. ४. ११३) सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७. ३. ८४) इति गुणे प्राप्ते, सार्वधातुकमपित् (१. १. ४) क्ङिति च इति गुणे निषेधे कृते, ऋत इद् धातोः (७. १. १००) उरण् रपरः (१. १. ५०) ३—धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा (३. १. ७) प्रत्ययः (३. १. १) परश्च (३. १. २) ४—उदोष्ठ्यपूर्वस्य (७. १. १०२) उरण् रपरः (१. १. ५०) ५—हलि च (८. २. ७७) ६—एकाचो द्वे प्रथमस्य (६. १. १) सन्यङोः (६. १. ९) ७—पूर्वोऽभ्यासः (६. १. ४) अत्र लोपोऽभ्यासस्य (७. ४. ५८) हलादिः शेषः (७. ४. ६०) ८—ह्रस्वः (७. ४. ४९) ९—आर्धधातुकं शेषः (३. ४. ११४) यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् (२. ४. १३) अङ्गस्य (६. ४. १) आर्धधातुकस्येड् वलादेः (७. २. ३५) एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् (७. २. १०) इको झल् (१. २. ९) क्ङिति च (१. १. ५) अज्झनगमां सनि (६. ४. १६)

(षष्ठी विभक्ति से निर्देश किया गया जो आदेश वह अन्तिम अल् के स्थान में होता हैं)

उदा०—सः, तौ, ते। यः, यौः, ये। तम्, तौ, तान्। यम्, यौ, यान्।

सि०—तद् सु। त अ[1] सु। त[2] सु। स[3] सु। स स्। स रु। स र्। सः। तद् औ। त अ[1] औ। त[2] औ। तौ[4]। तद् जस्। त अ जस्। त जस्। त शी[5]। त ई। ते[6]। यद् सु। य अ सु। य स्। य रु। य र्। यः। यद् औ। य अ औ। य औ। यौ। यद् जस्। य अ जस्। य जस्। य शी। य ई। ये। तम्। तद् अम्। त अ अम्। त अम्। तम्। तान्। तद् शस्। त अ शस्। त अस्। तास्। तान्[8]। यद् अम्। य अ अम्। य अम्। यम्। यान्। यद् शस्। य अ अस्। य अस्। यास्। यान्॥

ङिच्च १।१।५२

प० वि०—ङित् १।१ च अ०। स०—ङ् इत् यस्य सोऽयं ङित्।

अर्थ—[अलोऽन्त्यस्य] ङिच्च य आदेशः सोऽन्त्यस्य अलः स्थाने भवति। (ङकार इत् वाला जो आदेश वह अन्तिम अल् के स्थान में होता है)

उदा०—कर्ता, हर्ता।

आदेः परस्य १।१।५३

प० वि०—आदेः ६।१ परस्य ६।१

अर्थ—[अलः] परस्य कार्यमुच्यमानमादेरलः स्थाने भवति। (पर का कहा हुआ कार्य आदि अल् के स्थान में होता है)

उदा०—आसीनो यजते, द्वीपम्, अन्तरीपम्, प्रतीपम्, समीपम्।

१—त्यदादीनामः (७. २. १०२) अलोऽन्त्यस्य (१. १. ५१) २—अतो गुणे (६. १. ९७) ३—तदोः सः सावनन्त्ययोः (७. २. १०६) ४—वृद्धिरेचि (६. १. ८८) प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (६. १. १०२) नादिचि (६. १. १०४) वृद्धिरेचि (६. १. ८८) वृद्धिरादैच् (१. १. १) स्थानेऽन्तरतमः (१. १. ४९) ५—जशः शी (७. १. १७) ६—आद् गुणः (६. १. ८७) अदेङ् गुणः (१. १. २) स्थानेऽन्तरतमः (१. १. ४९) ७—प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (६. १. १०२) ८—तस्माच्छसो नः पुंसि (६. १. १०३)

अनेको अल् यस्य सोऽनेकाल् इति बहुव्रीहिः।

सि०—आस् लट्[1]। आस् शानच्[2]। आस् शान। आस आन। आस् ईन[3]। आसीन सु। आसीन स्। आसीन रु। आसीन र्। आसीनर् यजते। आसीन उ[4] यजते। आसीनो[5] यजते॥ द्वीपम् इत्यादीनां साधनं (५. ४. ७४) तद्धितसमासान्ते द्रष्टव्यम्।

अनेकाल्शित्सर्वस्य १।१।५४

प० वि०—अनेकाल्शित् १।१ सर्वस्य ६।१ ॥ स०—न एकः अनेकः। अनेकश्चासौ अल् च इति अनेकाल्। श् इत् यस्येति शित्। अनेकाल् च शिच्च इति अनेकाल्शित् (समा० द्वन्द्वः)

अर्थ-[षष्ठी स्थाने] अनेकाल् शिच्च य आदेशः सः सर्वस्य षष्ठी-निर्दिष्टस्य स्थाने भवति। (अनेक अल् वाला (अक्षर वाला) तथा शकार इत् वाला आदेश षष्ठी विभक्ति से निर्देश किया गया सभी के स्थान में होता है)

उदा०—तैः, कैः, तस्मै, कस्मै, ते, के, ये।

सि०—तद् भिस्। त अ भिस्। त भिस्। त ऐस्[6]। तैस्[7]। तैः। किम् भिस्। क[8] भिस्। क ऐस्। कैस्। कैरु। कैर्। कैः। तद् ङे। त अ ङे। त ङे। त स्मै। तस्मै। किम् ङे। क ङे। क स्मै। कस्मै॥

स्थानिवत्प्रकरणम् :—

स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ १।१।५५

प० वि०—स्थानिवत् अ०। आदेशः १।१ अनल्विधौ ७।१ ॥ स०—अला विधिः अल्विधिः। अलः परस्य विधिः अल्विधि। अलः स्थाने विधिः अल्विधिः। अलि परतो विधिः अल्विधिः। अल्विधिश्च अल्विधिश्च अल्विधिश्च अल्विधिश्चेति अल्विधिः। (सर्वविभक्त्यन्त समासः) न अल्विधिः अनल्विधिः (तञ् तत्पु०) तस्मिन्। — धयः

१—भूवादयो धातवः (१. ३. १) धातोः (३. १. ९१) वर्तमाने लट् (३. २. १२३) प्रत्ययः (३. १. १) परश्च (३. १. २) २—लटः शतृशानचा-वप्रथमासमानाधिकरणे (३. २. १२४) कर्त्तरि शप् (३. १. ६८) अदिप्रभृतिभ्यः शपः (२. ४. ७२) ३—ईदासः (७. २. ८३) आदेः परस्य (१. १. ५३) ४—हशि च (६. १. ११४) ५—आद्गुणः (६. १. ८७) ६—अतो भिस ऐस् (७. १. ९), अनेकाल्शित्सर्वस्य (१. १. ५४) ७—वृद्धिरेचि (६. १. ८८) वृद्धि-रादैच् (१. १. १) स्थानेऽन्तरतमः (१. १. ४९) ८—किमः कः (७. २. १०३) अनेकाल्शित्सर्वस्य (१. १. ५४)

+ प्रयोगवाहानामट्सु णत्वम् इत्यनेन स्थानि-
वद्भावेन ते णत्वं स्यात्।)

 प्रनल्विधाविति इति-
वेध्यानम्।

अर्थ—आदेशः स्थानिवद् भवति न तु अल्विधौ (आदेश स्थानी के समान होता है परन्तु अल्विधि में नहीं, अर्थात् एक वर्ण के द्वारा, एक वर्ण के पश्चात्, एक वर्ण के स्थान में या एक वर्ण के परे रहने पर जो अल् के आश्रित विधि है, उस में नहीं)

उदा०—❀ धातु-अङ्ग-कृत्-तद्धित-अव्यय-सुप्-तिङ्-पदादेशाः स्थानिवद् भवन्ति ❀ धात्वादेशाः धातुवद् भवन्ति। भविता, भवितुम्, भवितव्यम्। वक्ता, वक्तुम्, वक्तव्यम्। अङ्ग-केन, काभ्याम्, कैः। कृत्-प्रकृत्य, प्रहृत्य। तद्धित-शालीयः, ऐतिकायनः, औपगवः। अव्यय-प्रकृत्य, प्रहृत्य। सुप्-वृक्षाय, प्लक्षाय। तिङ्-अपठतम्, अपठत। पद-ग्रामो वः स्वम्, जनपदो नः स्वम्। अला विधौ-व्यूढोरस्केन। अलः परस्य विधौ-द्यौः, पन्थाः, सः। अलः विधौ-द्युकामः। अलि परतो विधौ-क इष्टः।

सि०—अस् भुवि। अस्। भू[1] ❀ अत्रेदं बोध्यम्-भूवादयो धातव इत्यनेन सूत्रेण असधातोर्धातुसंज्ञा भवति परञ्च भू इत्यस्य धातुसंज्ञा नास्ति। नायं भू सत्तायाम् धातुर् इति शङ्कनीयम् अस्य असधातोः स्थाने अस्तेर्भूः इत्यनेन आदेशत्वात्। अतः आदेशे कृते गणस्थत्वादसधातोर्धातुसंज्ञा सिद्धा न तु भू इत्यस्य इत्येवमर्थम् इदं सूत्रं ब्रवीति भगवान् पाणिनिः। आदेशस्य स्थानिवत्त्वाद् भवति भू इत्यादेशस्यापि धातुसंज्ञा। आदेशस्तु आर्धधातुके विषये एव भवति आर्धधातुके इति सूत्रे विषयसप्तमीत्वात्।

(यहां यह ज्ञातव्य है—'भूवादयो धातवः' इस सूत्र से 'अस भुवि' इस की धातु संज्ञा होती है लेकिन अस् के स्थान में भू के आदेश हो जाने पर भू की धातुसंज्ञा प्राप्त नहीं होती क्योंकि धातु संज्ञा अस् की की थी भू की नहीं। यह भू भू सत्तायाम् धातु है, इस प्रकार की शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि यह तो आदेश हुआ हुआ भू है, इसका उस भू धातु से कोई सम्बन्ध नहीं। जब अस् के स्थान में भू आदेश हो जाता है तब भू की धातु संज्ञा है ही नहीं, फिर 'धातोः' अधिकार करके तृच् इत्यादि प्रत्यय कैसे आ सकता है। इसलिये भगवान् पाणिनि सूत्र बोलते हैं। 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' इससे जिस प्रकार अस् की धातुसंज्ञा होती है उसी प्रकार भू की भी उसके स्थान में आदेश होने के कारण धातु संज्ञा हो जाती है। और यह आदेश 'आर्धधातुक'

१.—आर्धधातुके (२. ४. ३५) अस्तेर्भूः (२. ४. ५२)

प्रत्यय के विषय में ही होता है। क्योंकि 'आर्धधातुके' यह विषय सप्तमी है)

भू तृच्[1]। भू इट्[2] तृ। भो[3] इट् तृ। भवितृ। भवितृ सु। भवित् अनङ् सु। भवितन् सु। भवितान् स्। भवितान्। भविता। भूतुमुन्[4]। भवितुम्। भू तव्य। भवितव्य। भवितव्य सु। भवितव्यम्। ब्रू ल्। वचि[5]। वच् तृच्। वक्तृ[6]। वक्तृ सु। वक्त् अनङ् सु। वक्तन् स्। वक्तान् स्। वक्तान्। वक्ता।

किम् टा। क *अत्रेदं बोध्यम्–किम् इति अस्मात् प्रातिपदिकात् टाप्रत्ययो विहितः अत एव यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् इत्यनेन सूत्रेण किम्शब्दस्य अङ्गसंज्ञा सिद्धा न पुनः क इत्येतस्य शब्दस्य। अस्माद् वचनात् क इत्येतस्य किम् इत्येतस्य स्थाने आदेशत्वात् अङ्गसंज्ञा सिध्यति। ततः 'टाङसिङसामिनात्स्याः' इत्यनेन सूत्रेण टा इत्येतस्य स्थाने अदन्तादङ्गादिन इत्ययमादेशो भवति। क इन[7]। केन[8]। किम् भ्याम्। क भ्याम्। काभ्याम्[9]। किम् भिस्। क ऐस्। कैस्। कैः।

(यहां यह ज्ञातव्य है—किम् प्रातिपदिक से टा प्रत्यय का विधान किया गया है इसलिये 'यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्' इस सूत्र से 'किम्' शब्द की अङ्ग संज्ञा होती है 'क' शब्द की नहीं। इस स्थानिवत् सूत्र से किम् शब्द के स्थान में 'क' के आदेश होने के कारण इसकी भी अङ्ग संज्ञा हो जाती है। उसके पश्चात् 'टाङसिङसाम्' इस सूत्र से अकारान्त अङ्ग के पश्चात् टा के स्थान में इन यह आदेश हो जाता है)

१—भूवादयो धातवः (१. ३. १), धातोः (३. १. ९१), कृदतिङ् (३. १. ९३), कर्त्तरि कृत् (३. ४. ६७) ण्वुल्तृचौ (३. १. १३३), प्रत्ययः (३. १. १) परश्च (३. १. २) २—आर्धधातुकं शेषः (३. ४. ११४), आर्धधातुकस्येड् वलादेः (७. २. ३५), आद्यन्तौ टकितौ (१. १. ४५) ३—यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् (१. ४. १३) अङ्गस्य (६. ४. १), सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७. ३. ८५) इको गुणवृद्धी (१. १. ३), स्थानेऽन्तरतमः (१. १. ४९) ४—तुमुन्ण्वुलौ० (३.३. १०) ५—ब्रुवो वचिः (२. ४.५३) ६—चोः कुः (८.२.३०) ७—किमः कः (७. २. १०३) स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ (१. १. ५५) टाङसिङसामिनात्स्याः (७. १. १०२) यथासंख्यमनुदेशः समानाम् (१. ३. १०) ८—आद् गुणः (६. १. ८७) ९—सुपि च (७. ३. १०२)

डुकृञ्। कृ क्त्वा[1]। प्र कृ ल्यप्[2]। प्र कृ य ॐ अत्रेदं बोध्यम् कृदतिङ् इत्यनेन सूत्रेण क्त्वा इत्येतस्य कृत्संज्ञा अस्ति। परञ्च क्त्वो स्थाने ल्यपि आदेशे कृते तस्य ल्यपः कृत्संज्ञा नास्ति। अत एव ह्रस्वस्य पिति कृति तुगिति कृत्संज्ञायाः अभावात् ल्यपि तुगागमो न प्राप्नोति। अस्माद् वचनात् ल्यपः क्त्वः स्थाने आदेशत्वात् कृत्संज्ञा भवत्येव। ततः तुगागमो भवति ॐ प्र कृ तुक्[3] य। प्रकृत्य सु। प्रकृत्य[4] स्। प्रकृत्य। प्रहृत्य।

(यहां पर ज्ञातव्य है—'कृदतिङ्' इस सूत्र से क्त्वा की कृत्संज्ञा है परन्तु क्त्वा के स्थान में ल्यप् आदेश कर लेने पर उस ल्यप् की कृत् संज्ञा नहीं है। इसलिये "ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्" इस सूत्र से ल्यप् के कृत् संज्ञा न होने से उसके परे रहने पर तुक् का आगम नहीं होता है। इस वचन से (स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ) ल्यप् की भी कृत् संज्ञा हो जाती है, क्योंकि वह क्त्वा के स्थान में आदेश है)

शालीयः। शाला छ। शाला ईय। शाल् ईय। शालीय इत्यत्र छ इत्येतस्य तद्धितसंज्ञा न ईय इत्येतस्य। अत एव ईय इत्येवमन्तस्य कृत्तद्धितसमासाश्चेति प्रातिपदिकसंज्ञा न सिध्यति। स्थानिवद् इति वचनात् सिध्यति अस्यापि ईयान्तस्य प्रातिपदिकसंज्ञा। ततः स्वादिरुत्पत्तिः।

(छ की 'तद्धिताः' इस अधिकार सूत्र से तद्धितसंज्ञा है ईय की नहीं। इसलिये ईय है अन्त में जिसके ऐसे शालीय शब्द की 'कृत्तद्धितसमासाश्च' इस सूत्र से प्रातिपदिकसंज्ञा नहीं हो सकती है परन्तु स्थानिवद् इस सूत्र के कारण से आदेश जो ईय है, उसकी भी तद्धित संज्ञा हो जाती है क्योंकि तद्धित का आदेश तद्धित के समान होता है)

प्रकृत्य। इत्यत्र क्त्वातोसुन्कसुनः इत्यनेन सूत्रेण क्त्वान्तस्य अव्ययसंज्ञा भवति न तु ल्यबन्तस्य। तथा च सति अनव्ययत्वात्

१—समानकर्तृकयोः पूर्वकाले (३. ४. २१ २—यस्मात्प्रत्यय० (१. ४. १३) अङ्गस्य (६. ४. १) समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप् (७. १. ३७) ३—ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् (६. १. ७१) आद्यन्तौ टकितौ (१. १. ४५) ४—कृत्तद्धितसमासाश्च (१. २. ४६) ङ्याप्प्रातिपदिकात् (४. १. १) स्वौ० (४. १. २) सुपः (१. ४. १०३) विभक्तिश्च (१. ४. १०४) द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने (१. ४. २२) एकत्वे विवक्षिते सु, प्रत्ययः (३. १. १) परश्च (३. १. २) क्त्वातोसुन्कसुनः (१. १. ३९) अव्ययादाप्सुपः (२. ४. ८२)

अव्ययादाप्सुपः इत्यनेन सु इत्येतस्य लुङ्न प्राप्नोति। स्थानिवदिति सूत्रेण ल्यप् इत्येतस्य आदेशस्यापि अव्ययसंज्ञा भवत्येव अव्ययस्य आदेशः अव्ययवद् भवति इति वचनात्। ततः अव्ययादाप्सुपः इत्यनेन सोर्लुक्।

(यहां पर क्त्वातोसुन्कसुनः इस सूत्र से क्त्वाप्रत्ययान्त शब्द की अव्यय संज्ञा होती है ल्यप् प्रत्ययान्त की नहीं। और इस स्थिति में ल्यप् के अव्यय न होने से अव्ययादाप्सुपः इस सूत्र से सुप् का लुक् नहीं प्राप्त है। स्थानिवत् इस सूत्र से ल्यप् आदेश की भी अव्ययसंज्ञा हो जाती है)

वृक्ष ङे। वृक्ष य[1] ॐ अत्रेदं बोध्यम् ङे इत्येतस्य सुप्प्रत्याहारे निर्देशः न तु य इत्येतस्य। अत एव असुप्त्वात् अतो दीर्घो यञि, सुपि च इति न प्रवर्तते। स्थानिवद् वचनात् य इत्येतस्यापि ङे स्थाने आदेशत्वात् सुप्त्वम् उपपद्यते ततो दीर्घो भवत्येव वृक्षाय[2], प्लक्षाय इति।

(ङे सुप् प्रत्याहार में है य नहीं, इसलिये 'सुपि च' सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती है। स्थानिवद् इस सूत्र से ङे के स्थाने में य के आदेशे होने से ङे को सुप् माना गया। अतः अब दीर्घ हो जायेगा)।

पठ। पठ् लङ्[3]। पठ, ल्। पठ् थस्[4]। पठ् शप्[5] थस्। पठ तम्[6]। अट्[7] पठतम्। अपठतम्[8]। ॐ इत्यत्र थस् इत्येतस्य तिङ् प्रत्याहारे निर्देशः न तु तम् इत्येतस्य। अत एव अपठतम् इत्येतस्य[9] 'सुप्तिङन्तं पदम्' इत्यनेन पदसंज्ञा न सिध्यति। परन्तु स्थानिवद् वचनात् तम् इत्येतस्य थस् इत्येतस्य स्थाने आदेशत्वात् सिध्यति पदसंज्ञा। तथा च सति सुप्तिङन्तं पदमित्यनेनसिध्यति तमन्तस्य पदसंज्ञा।

(थस् तिङ् प्रत्याहार में निर्दिष्ट है तम् नहीं। इसलिए अपठतम् की पदसंज्ञा नहीं सिद्ध होती। परन्तु स्थानिवत् इस वचन से तम् का थस् के स्थान

१—ङेर्यः (७. १. १३) २—स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ (१. १. ५५) सुपि च (७ ३. १०२) ३—भूते (३. २. ८४) अनद्यतने लङ् (३. २. १११) प्रत्ययः (३. १. १) परश्च (३. १. २) ४—लस्य (३. ४. ७७) तिप्तस्झि० (३. ४. ७८) ५—तिङ्शित्सार्वधातुकम् (३. ४. ११३) सार्वधातुके यक् (३. १. ६७) कर्त्तरि शप् (३. १. ६८) ६—तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः (३. ४. १०१) यथासंख्यमनुदेशः समानाम् (१. ३. १०) ७—लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः (६. ४. ७१) आद्यन्तौ टकितौ (१. १. ४५) ८—स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ (१. १. ५५) सुप्तिङन्तं पदम् (१. ४. १४)

में आदेश होने के कारण से पद संज्ञा सिद्ध होती है। इस कारण 'सुप्तिङन्तं पदम्' इस सूत्र से अपठतम् की भी पद संज्ञा हो जाती है।)

आमः युष्माकम् स्वम्। आमो वः स्वम्[1] ❀इत्यत्र युष्माकम् इत्येतस्य स्थाने वस् इत्ययमादेशो भवति। किन्तु 'सुप्तिङन्तं पदम्' इत्यनेन सूत्रेण युष्माकम् इत्येतस्य पदसंज्ञा न तु वस् इत्येतस्य। अस्माद् वचनात् पदस्य पदात् युष्मदस्मदोरित्यनेन सूत्रेण युष्माकमः स्थाने वसः आदेशत्वात् भवत्येव तस्यापि पदसंज्ञा, पदादेशः पदवद् भवतीति वचनात् तेन पदत्वात् रुत्वादीनि भवन्ति❀

(युष्माकम् के स्थान में 'वस्' यह आदेश होता है। अतएव युष्माकम् की 'सुप्तिङन्तं पदम्' इस सूत्र से पद संज्ञा है न कि वस् की। परन्तु स्थानिवत् सूत्र के कारण से वस् की भी पद संज्ञा हो जाती है क्योंकि वह पद के स्थान पर आदेश है और पद का आदेश पद के समान होता है, ऐसा यह सूत्र विधान करता है इसलिये पद संज्ञा होने से रुत्व आदि कार्य हो जाते हैं)

व्यूढमुरः यस्य स व्यूढोरस्कः तेन व्यूढोरस्केन❀ इत्यत्र सकारस्य स्थानिवद्भावाद् विसर्जनीयत्वाद् अयोगवाहानामट्सु णत्वम् अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि इत्यनेन सूत्रेण नकारस्य स्थाने णकारादेशः प्राप्नोति। तृतीयान्तेन समासेन अला विधौ न, स्थानिवद्भाव इति निषेधात् सकारस्य न भवति विसर्जनीयवद्भावः, तस्मान्न प्रवर्तते णत्वादेशविधायकं सूत्रमिति ❀

(सकार के स्थानिवद् भाव होने से सकार को विसर्जनीय माना गया जिससे 'अयोगवाहानामट्सु णत्वम्' इस वार्तिक से नकार के स्थान में णकार प्राप्त होता है परन्तु एक वर्ण के द्वारा विहित विधि में स्थानिवद् भाव नहीं होता इस निषेध से स् को विसर्जनीय नहीं माना गया। और सकार से व्यवधान रहने पर णत्व का विधान नहीं। इसलिए णकार नहीं हो सकता)

दिव् सु। दि औ[2] स्। द्यौस्[3]। द्यौः। पथिन् सु। पथि आ[4] स्। पथ् अ[5] आ स्। पथा[6] स्। पन्था[7] स्। पन्थारु। पन्थार्। पन्थाः।

१—सुप्तिङन्तं पदम् (१. ४. १४) पदस्य (८. १. १६) पदात् (८. १. १७) युष्मदस्मदोः० (८. १. २०) अनेकाल्शित्सर्वस्य (१. १. ५४) २—दिव औत् (७. १. ८४) अलोऽन्त्यस्य (१. १. ५१) ३—इको यणचि (६. १. ७७) ४—पथिमथ्यृभुक्षामात् (७. १. ८५) अलोऽन्त्यस्य (१. १. ५१) ५—इतोऽत्सर्वनामस्थाने (७. १. ८६) ६—अकः० (६. १.१०१) ७—थो न्थः (७. १. ८७)।

सः । तद् सु । त अ स् । त स् । सस् । सरु । सर् । सः । इत्यत्र अलः विधौ न स्थानिवद् भवतीति निषेधात् एतेषूदाहरणेषु हल्ङ्यादिलोपो न भवति । यत अत्र हल्प्रत्याहारान्तर्गतागतैकं वर्णम् आश्रित्य सोर्लोपो विधीयते । अत एव पञ्चम्यन्तेन सह विग्रहेण इदं स्थानिवत्त्वस्याभावरूपफलम् ।

(यहाँ पर अल् विधि में स्थानिवद् नहीं होता है इस निषेध से हल्ङ्याब्भ्यो इस सूत्र से इन उदाहरणों में स् प्रत्यय का लोप नहीं होता है । यहाँ हल् प्रत्याहार के अन्तर्गत आने वाले एक वर्ण को आश्रय करके सुलोप का विधान किया जाता है । पञ्चमी के साथ समास करने का यह निषेध रूप फल है)

दिवि कामो यस्य स द्युकामः । दिव् कामः । दि उ[1] कामः । उकारस्य स्थानिवत्त्वात् वकारवद्भावात् लोपो व्योर्वलि इति वकारस्य लोपः प्राप्नोति । अलः विधौ न, इति निषेधात् स्थानिवद्भावो न भवति॥

यहां पर उकार का स्थानिवद्भाव हो जाय तो वह वकार माना जाय और 'लोपो व्योर्वलि' इस सूत्र से उस का लोप हो जाय । लेकिन अल् की विधि में स्थानिवद् नहीं होता है इससे उकार ही माना गया अतः लोप नहीं होता ।

॥क इष्टः । यज[3] क्त । यज त[4] । इ[5] अज् त । इज्[6] त । इष्[7] त । इष्ट[8] सु । इष्टः । क इष्टः ॥इत्यत्र इकारस्य स्थानिवत्त्वात् यकारत्वात् हशि च इत्युत्वं प्राप्नोति । अलि विधौ न, इति निषेधात् स्थानिवद्भावो न भवति । इत्येतत्सर्वं रटनमन्तरेणैव अवगन्तव्यम्॥

(यहां पर इकार का स्थानिवद्भाव से यकार हो जाय तो 'हशि च' इस सूत्र से कर् के रेफ का उकार आदेश हो जाय जिससे को इष्टः यह प्रयोग बनता

१—दिव उत् (६. १. १३१) अलोऽन्त्यस्य (१. १. ५१) २—इको यणचि (६. १. ७७) ३—भूवादयो धातवः (१. ३. १) धातोः (३. १. ९१) कृदतिङ् (३. १. ९३) कर्त्तरि कृत् (३. ४. ५७) लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः (३. ४. ६९) तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः (३. ४. ७०) भूते (३. २. ८४) निष्ठा (३. २. १०२) क्तक्तवतू निष्ठा (१. १. २५) प्रत्ययः (३. १. १) परश्च (३. १. २) ४—लशक्वतद्धिते (१. ३. ८) तस्य लोपः (१. ३. ९) अदर्शनं लोपः (१. १. ५९) ५—वचिस्वपियजादीनां किति (६. १. १५) इग्यणः सम्प्रसारणम् (१. १. ४४) ६—अमि [पूर्वः] (६.१.१०७) सम्प्रसारणाच्च (६. १. १०८) ७—व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः (८. २. ३६) ८—संहितायाम् (८. २. १०८) ष्टुना ष्टुः (८. ४. ४१) ।

परन्तु अल् के परे रहने पर जो विधि उसमें स्थानिवद् भाव का निषेध है अतः स्थानिवद् भाव नहीं होता जिससे इकार का यकार न माना जाकर इकार ही माना जाता है, अब 'हशि च' की प्रवृत्ति ही नहीं होती अत एव क इष्टः यही प्रयोग साधु है)

अचः परस्मिन् पूर्वविधौ १।१।५६

प० वि०—अचः ६।१ परस्मिन् ७।१। (निमित्तसप्तम्या एकवचनम्।) पूर्वविधौ ७।१॥ स०—पूर्वस्य विधिः पूर्वविधिः तस्मिन् पूर्वविधौ।

अर्थ—[स्थानिवदादेशः] परनिमित्तकः अजादेशः पूर्वविधौ कर्त्तव्ये स्थानिवद् भवति।

(पर को निमित्त या कारण मानकर अच् के स्थान में जो आदेश वह स्थानी के समान माना जाता है पूर्व की विधि करने में)

उदा०—पटयति।

सि०—पटुमाचष्टे करोतीति पटयति पटुम् णिच्[1]। पटु अम्[2] णिच्। पटु णिच्। पटु इ[3]। पट्[4] इ। ※अत्रेदं बोध्यम्—पट् इ इति स्थिते 'अत उपधाया' इति वृद्धिः प्राप्नोति। स्थानिवदादेशो भवति इति वचनात् स्थानिवत्त्वात् वृद्धिर्न भवति। पुनः अलः [स्थाने] विधौ न स्थानिवद् इति वचनात् स्थानिवत्त्वभावात् वृद्धिः प्राप्नोति। पुनश्च अचः परस्मिन्निति स्थानिवद्भावो भवतीति न प्रवर्त्तते वृद्धिविधायकं सूत्रमिति※ पट् इ। पटि[5] लट्। पटि ल्। पटि तिप्। पटि शप्[6] ति। पटे[7] अ ति। पटयति[8]।

१—तत्करोति तदाचष्टे (३. १. २६ वा०) प्रत्ययः (३. १. १) परश्च (३. १. २) २—*अलौकिके विग्रहे* सनाद्यन्ता धातवः (३. १. ३२) सुपो धातुप्रातिपदिकयोः (२. ४. ७१) अदर्शनं लोपः (१. १. ५९) ३—चुटू (१. ३. ७) तस्य लोपः (१. ३. ९) अदर्शनं लोपः (१. १. ४९) ४—णाविष्ठवत्-प्रातिपदिकस्य (६. ४. १५५ वा०) ५—सनाद्यन्ता धातवः (३. १. ३२) धातोः (३. १. ९१) वर्तमाने लट् (३. २. १२३) प्रत्ययः (३. १. १) परश्च (३. १. २) ६—तिङ्शित्सार्वधातुकम् (३. ४. ११३) सार्वधातुके यक् (३. १. ६७) कर्त्तरि शप् (३. १. ६८) ७—सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७. ३. ८४) इको गुणवृद्धी (१. १. ३) स्थानेऽन्तरतमः (१. १. ४९) ८—एचोऽयवायावः (६. १. ७८) यथासंख्यमनुदेशः समानाम् (१. ३. १०)

(यहां पर 'पट् इ' इस स्थिति में 'अत उपधायाः' इस सूत्र से वृद्धि प्राप्त होती है। लेकिन 'स्थानिवदादेशः' इस सूत्र से आदेश स्थानी के समान हो जाता है, इस कारण उकार पुनः यहां आ गया जिससे उपधा में अकार नहीं मिला और जब उपधा में अकार ही नहीं तो वृद्धि किसको हो। उपधा संज्ञा अल्विधि है, अल् विधि में स्थानिवद् का निषेध है। अतः उकार का स्थानिवद् भाव नहीं माना जायेगा जिससे फिर वृद्धि प्राप्त हो गई। इस प्रकार से वृद्धि प्राप्त होने पर 'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' इस सूत्र का आरम्भ किया गया है। जिससे स्थानिवद् भाव हो गया और वृद्धि नहीं हुई। अल्विधि में स्थानिवत् कराना ही इस सूत्र का प्रयोजन है।

न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोपस्वरसवर्णानुस्वारदीर्घजश्चर्विधिषु। १।१।५७

प० वि०—न अ०। पदान्त–द्विर्वचन–वरे–यलोप–स्वर–सवर्ण–अनुस्वार–दीर्घ–जश्–चर्विधिषु ७।३॥ स०—पदे अन्तः पदान्तः। पदान्तश्च द्विर्वचनं च वरे च यलोपश्च स्वरश्च सवर्णं च अनुस्वारश्च दीर्घश्च जश्च चर्च इति पदान्तद्विर्वचनवरेयलोपस्वरसवर्णानुस्वारदीर्घजश्चरः। विधिश्च विधिश्च विधिश्चविधिश्च विधिश्च विधिश्च विधिश्च विधिश्च विधिश्च विधिश्चेति विधयः। पदान्त-द्विर्वचन--वरे–यलोप-स्वर--सवर्ण--अनुस्वार--दीर्घ-जश्–चराम् विधयः इति पदान्त-द्विर्वचन-वरे-यलोप-स्वर-सवर्ण-अनुस्वार-दीर्घ-जश्-चर्-विधयः तेषु (ष० तत्पु०)।

अर्थ—[स्थानिवद् अचः परस्मिन्] पदान्तादिषु विधिषु परनिमित्त-कोऽजादेशो न स्थानिवद् भवति। (पदान्तादि विधियों के करने में पर को निमित्त मानकर जो अच् का आदेश है, वह स्थानिवत् नहीं होता है)

उदा०—१. पदान्तविधौ—कौ स्तः, यौ स्तः, कानि सन्ति, यानि सन्ति। २. द्विर्वचनविधौ—दद्ध्यत्र, मद्ध्वत्र। ३. वरेविधौ—यायावरः। ४. यलोपविधौ—कण्डूतिः। ५. स्वरविधौ—चिकीर्षकः। ६. सवर्णविधौ—रुन्धः। ७. अनुस्वारविधौ—रुन्धः। ८. दीर्घविधौ—प्रतिदीव्ने। ९. जश्विधौ—सग्धिः। १०. चर्विधौ—जक्षतुः, जक्षुः।

सि०—अस् लट्। अस् तस्। अस् शप्[1] तस्। अस्[2] तस्।

१—कर्त्तरि शप् (३. १. ६८) २—अदिप्रभृतिभ्यः शपः (२. ४. ७२)

स्तस्[1] । स्तः । अस् झि । अस् अन्ति । अस् शप् अन्ति । अस् अन्ति । स्[1] अन्ति । सन्ति । कौ स्तः, कानि सन्ति इत्यत्र अस् धातोरकारो लुप्यते । तस्य स्थानिवद्भावादावादेशो यणादेशश्च प्राप्नोति । अनेनाजादेशस्य स्थानिवत्त्वाभावादावादेशो यणादेशश्च न प्रवर्तते ।

(अस् धातु का अकार लोप होता है । उस अकार के स्थानिवत् हो जाने से एचोऽयवायाव: से आव् और 'कानि सन्ति' में 'इको यणचि' से यण् प्राप्त होता है । परन्तु इस सूत्र से स्थानिवत्व का निषेध हो जाने से आवादेश और यणादेश नहीं होता।)

दधि अत्र । दध् य्[2] अत्र । दध् ध्[3] य् अत्र । दद्[4] ध्यत्र । ॐयणादेशः परनिमित्तकः । तस्य स्थानिवद्भावात् 'अनिच च' इति धकारस्य द्विर्वचनं न प्राप्नोति; अस्माद् वचनात् स्थानिवत्त्वभावस्य निषेधे द्विर्वचनम् भवतिॐ

(यहां पर 'इको यणचि' से जो यण् का आदेश है वह पर को कारण मान कर हुआ, इसलिये 'अच: परस्मिन् पूर्वविधौ' इस सूत्र से स्थानिवद् भाव हो जाता है । ऐसा करने से पुनः य् को इ माना गया जिससे 'अनचि च' इस सूत्र से 'अच् परे न हो ऐसा नहीं हुआ' जिससे द्विर्वचन प्राप्त ही नहीं हो रहा है, इसलिये इस सूत्र के द्वारा उस स्थानिवद् भाव का द्विर्वचन विधि में प्रतिषेध कर दिया गया जिस कारण द्विर्वचन हो गया)

या यङ्[5] । या या य[6] । य या[7] य । यायाय[8] । यायाय वरच्[9] । यायाय वर । यायाय्[10] वर । याया वर[11] । इत्यत्र यङोऽकारस्य स्थानिवत्त्वात् आतो लोप इटि च इत्यनेन आकारलोपः प्राप्नोति परन्तु स न भवति स्थानिवत्त्वस्य प्रतिषेधात् ।

कण्डूञ् गात्रविघर्षणे । कण्डू क्तिच्[12] । कण्डू ति । कण्डू यक्[13]

१—श्नसोरल्लोपः (६. ४. १११) २—इको यणचि (६. १. ७७) ३—अनचि च (८. ४. ४७) ४—झलां जश्झशि (८. ४. ५३) ५—धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ् (३. १. २२) प्रत्ययः (३. १. १) परश्च (३. १. २) ६—सन्यङोः (६. १. ९) ७—पूर्वोऽभ्यासः (६. १. ४) अत्र लोपोऽभ्यासस्य (७. ४. ५८) ह्रस्वः (७. ४. ५९) ८—दीर्घोऽकितः (७. ४. ८३) ९—यश्च यङः (३. २. १७६) १०—आर्धधातुके (६. ४. ४६) अतो लोपः (६. ४. ४८) ११—लोपो व्योर्वलि (६. १. ६६) १२—क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम् (३. ३. १७४) १३—कण्ड्वादिभ्यो यक् (३. १. २७)

ति । कण्डू य ति । कण्डू य्[1] ति । ॐइत्यत्र अकारलोपः परनिमित्तकः । यदि अयमकारः स्थानिवत्स्यात् तदा 'लोपो व्योर्वलि' (६. १. ६६) इत्यनेन सूत्रेण यकारस्य लोपो न भवेत्; परन्तु यलोपविधिं प्रति अजादेशो न स्थानिवद् भवति । अत एव अत्र स्थानिवत्त्वस्याभावाद् अकाराभावात् यकारस्य लोपो भवत्येव तथा च कृते ॐकण्डू ति । कण्डूति सु । कण्डूतिः ।

(यहां पर क्तिच् आर्धधातुक के कारण से अकार का लोप होता है । यदि इस अकार का स्थानिवद् भाव हो जाय तो 'लोपो व्योर्वलि' इस सूत्र से यकार का लोप न हो । लेकिन यकार (य्) लोप के प्रति अच् के आदेश को स्थानिवद् भाव नहीं होता है । इसलिये ही स्थानिवद् भाव के न होने से अकार के अभाव के कारण यकार का लोप हो ही जाता है)

डुकृञ्[2] । कृ सन्[3] । कृ[4] स । किर्[5] स । कीर्[6] स । कीर कीर स[7] । की[8] कीर् स । कि[9] कीर् स । चि[10] कीर्स । चिकीर्ष[11] ण्वुल् । चिकीर्ष वु । चिकीर्ष अक[12] । चिकीर्ष्[13] अकॐ इत्यत्र लित्प्रत्ययात् पूर्वमुदात्ते कर्त्तव्ये परनिमित्तकोऽकारलोपो न स्थानिवद् भवतिॐ

(यहाँ पर लित्प्रत्यय के परे रहने पर पूर्व को उदात्त होता है । तो उदात्त करने में पर को अर्थात् 'अक' को मानकर जो अकार का लोप हुआ है वह पर को निमित्त मानकर लोपरूप अजादेश है, इसलिये यदि स्थानिवद्भाव हो जाय तो वह अकार ही उदात्त हो जाय, लेकिन स्वर की विधि करने में स्थानिवद्भाव नहीं होता है, अतः स्थानिवद्भाव नहीं हुआ । जिससे 'की' का ई उदात्त हुआ ।)

१—अतो लोपः (६. ४. ४८) २—हलन्त्यम् (१. ३. ३) आदिर्ञिटुडवः (१. ३. ५) तस्य लोपः (१. ३. ९) ३—धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा (३. १. ७) प्रत्ययः (३. १. १) परश्च (३. १. २) ४—आर्धधातुकं . शेषः (३. ४. ११४) आर्धधातुकस्येड् वलादेः (७. २. ३५) एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् (७. २. १०) इको झल् (१. २. ९) क्ङिति च (१. १.५) अज्झनगमां सनि (६. ४. १६) ५—ऋत इद् धातोः (७. १. १००) ६—हलि च (८. २. ७७) ७—सन्यङोः (६. १. ९) ८—पूर्वोऽभ्यासः (६. १. ४) अत्र लोपोऽभ्यासस्य (७. ४. ५८) हलादिः शेषः (७. ४. ६०) ९—ह्रस्वः (७. ४. ५९) १०—कुहोश्चुः (७. ४. ६२) ११—आदेशप्रत्यययोः (८. ३. ५९) १२—युवोरनाकौ (७. १. १) १३—आर्धधातुके (६. ४. ४६) अतो लोपः (६. ४. ४८)

रुन्धः । रुधिर् आवरणे । रुध् लट् । रुध् ल् । रुध् तस । रु श्नम् ध्[1] तस् । रुनध् तस् । रुन्ध्[2] तस् । ॐइत्यत्र अनुस्वारे कर्त्तव्येऽकारलोपो न स्थानिवद् भवतिॐ

(यहां पर पर को निमित्त मानकर 'न' के अकार का लोप हुआ, उसका पूर्व की विधि अर्थात् अनुस्वार के करने में स्थानिवद्भाव होना प्राप्त है। यदि स्थानिवद्भाव हो जाय तो 'नश्चापदान्तस्य झलि' इस सूत्र से अनुस्वार करने में झलादि नहीं मिलता जिससे अनुस्वार नहीं हो सकता है। इसलिए इस सूत्र से अनुस्वार की विधि करने में जो पर को निमित्त मानकर अच् का लोपरूप आदेश है, उसको स्थानिवद्भाव नहीं होता। इससे झलादि मिल गया और अनुस्वार हो गया।)

ततः रुंध् तस् इति स्थिते रुन्ध् तस् ॐइत्यत्र परसवर्णादेशे कर्त्तव्ये अकारलोपो न स्थानिवद् भवतिॐ

(यहां पर 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः (८-४. ५७) इस सूत्र से अनुस्वार का परसवर्ण आदेश के करने में स्थानिवद्भाव नहीं होता है। यदि स्थानिवद्भाव हो जाय तो अकार का स्थानिवद् भाव हो जायेगा। जिससे यय् प्रत्याहार मिलेगा नहीं। और पूर्वसवर्ण हो ही नहीं सकता। इसलिये 'न पदान्त'० इस सूत्र का निर्माण किया गया जिससे परसवर्ण की विधि में स्थानिवद्भाव नहीं होता है।)

प्रतिदीव्ने । प्रतिदिवन् ङे । प्रतिदिवन् ए । प्रतिदीव्नेॐ इत्यत्र अल्लोपोऽनः (६. ४. १३४) इत्यनेन परनिमित्तेऽकारलोपे कृते 'हलि च' इति दीर्घे कर्त्तव्ये अलोपो न स्थानिवद् भवतिॐ

अद् । घस्लृ[3] । घस्लृ क्तिन्[4] । घस्लृ ति । घस्[5] ति । घ्[6] स् ति । घ्[7] ति । घ् धि[8] ।ॐ इत्यत्र उपधायां स्थितस्य अकारस्य स्थानिवद् भावात् 'झलां जश् झशि' इति जश्त्वं न प्राप्नोति, तदनेन

१—रुधादिभ्यः श्नम् (३. १. ७८) मिदचोऽन्त्यात्परः (१. १. ४६) २—श्नसोरल्लोपः (६. ४. १११) ३—बहुलं छन्दसि (२. ४. ३९) ४—स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ (१. १. ५५) भूवादयो धातवः (१. ३. १) धातोः (३. १. ९१) स्त्रियां क्तिन् (३. ३. ९४) ५—उपदेशेऽजनुनासिक इत् (१. ३. २) ६—घसिभसोर्हलि च (६. ४. १००) ७—झलो झलि (८. २. २६) ८—झषस्तथोर्धोऽधः (८. २. ४०)

स्थानिवद्भावस्य प्रतिषेधः क्रियते॰ ततः ग्धि[1] सु। ग्धिः। समाना[2] ग्धिः। सग्धिः।

(यहां पर पर को निमित्त मानकर अकार का लोप होता है। और लोप के हो जाने पर 'हलि च' इस सूत्र से दीर्घ की प्राप्ति है लेकिन परनिमित्तक अजादेश पूर्व विधि के करने में स्थानिवत् हो जाता है। तो यदि स्थानिवत् हो जाय, तो यहां पर हल् के परे न मिलने से दीर्घ हो ही नहीं सकता। लेकिन 'न पदान्त'० इस सूत्र से दीर्घविधि में स्थानिवद्भाव का निषेध कर दिया गया जिससे यहाँ स्थानिवद्भाव के न होने से दीर्घ हो जाता है)

अद्। घस्लृ[3]। घस्लृ लिट्[4]। घस् अतुस्[5]। घ्स्[6] अतुस्। घस् घ्स् अतुस्[7]। घ[8] घ्स् अतुस्। झ[9] घ्स् अतुस्। ज[10] घ्स् अतुस् इत्यत्र अकारलोपस्य स्थानिवद्भावात् 'खरि च' इत्यनेन सूत्रेण घकारस्य चर्त्वं न प्राप्नोति तदनेन स्थानिवद्भावस्य अभावाद् भवति। ज क्स[11] अतुस्। जक्ष्[12] अतुस्। जक्षतुः।

द्विर्वचनेऽचि १।१।५८

प० वि०—द्विर्वचने ७।१ अचि ७।१॥ स०—द्विर्वचनं च द्विर्वचनं चेति द्विर्वचनम्, तस्मिन् द्विर्वचने।

अर्थ—[स्थानिवदादेशः अचः] द्विर्वचननिमित्तेऽचि अजादेशः स्थानिवद् भवति द्विर्वचने एव कर्त्तव्ये।

(द्विर्वचन का कारण जो अजादि प्रत्यय है उसके परे रहने पर जो अच् का आदेश वह स्थानिवद् हो जाता है द्विर्वचन विधि के ही करने में)

उदा०—पपतुः, पपुः।

सि०—पा लिट्। पा अतुस्। प्[13] अतुस्॰ इत्यत्रेदं बोध्यम् अतिदेशो

१–झलां जश् झशि (८. ४.५३) २—समानस्य च्छन्दस्य० (६. ३. ८०)। ३—लिट्यन्यतरस्याम् (२. ४. ४०) ४—परोक्षे लिट् (३. २. ११५) ५–लस्य (३. ४. ७७) तिप्तस्झि० (३. ४. ७८) परस्मैपदानाम्० (३. ४.८२) ६—असंयोगाल्लिट् कित् (१. २. ५) गमहनजनखघनसाम् (६. ४. ९८) ७—द्विर्वचनेऽचि (१. १. ५८) लिटि धातोरनभ्यासस्य (६. १. ८) ८—पूर्वोऽभ्यासः (६. १. ४) अत्र लोपोऽभ्यासस्य (७. ४. ५८) हलादिः शेषः (७. ४. ६०) ९–कुहोश्चुः (७. ४. ६२) १०–अभ्यासे चर्च (८. ४. ५४) ११–खरि च (८. ४. ५५) १२—शासिवसिघसीनां च (८. ३.६०)। १३–आतो लोप इटि च (६. ४. ६४)

द्विविधो भवति-कार्यातिदेशः, रूपातिदेशश्च। तत्र कार्यातिदेशे कार्य-सिध्यर्थमादेशं स्थानितुल्यं मत्वाऽऽदेशेनैव कार्याणि क्रियन्ते। तेन स्थान्यादेशोभयाश्रयाणि कार्याण्यादेशे भवन्ति। रूपातिदेशे तु स्थानिनो यद् रूपं तदेव तत्रागच्छति, स्थान्याश्रयाण्येव कार्याणि भवन्ति, नैवा-देशाश्रयाणि। अस्मिन् सूत्रे तु रूपातिदेशोऽस्ति❀ प् अतुस्। पा प् अतुस्। प पतुस्। पपतुः।

(अतिदेश दो प्रकार का होता है—एक को तो कार्यातिदेश और दूसरे को रूपातिदेश कहते हैं। कार्यातिदेश में कार्य को सिद्ध करने के लिये आदेश को स्थानी के समान मानकर आदेश से ही कार्य किये जाते हैं। इस प्रकार आदेश में स्थानी और आदेश इन दोनों का आश्रय कर कार्य किये जाते हैं। परन्तु रूपातिदेश मे स्थानी का जो रूप है वह ही वहाँ आ जाता है और केवल स्थानी के आश्रय से ही कार्य होते हैं आदेश के आश्रय से नहीं। इस सूत्र में रूपाति-देश है। प् अतुस् यहाँ पर आकार का जो लोप हुआ है उसका रूप ही अकार खड़ा हो जायेगा, जिससे 'पा' बन गया और अब इसका द्विर्वचन होता है।)

अदर्शनं लोपः १।१।५९

प० वि०—अदर्शनम् १।१ लोपः १।१॥ स०—न दर्शनम् अदर्शनम्। (नञ्० तत्पु०)

अर्थ—[नवेति विभाषा इत्यत इति शब्दो मण्डूकप्लुत्या अनुवर्तते] (विद्यमान वस्तु के अदर्शन की लोप संज्ञा होती है)

❀ अत्रेदं बोध्यम्—इतिकरणोऽर्थनिर्देशार्थ इति भाष्ये प्रसिद्धम्। अत एव अत्र अदर्शनरूपस्य अर्थस्य लोपसंज्ञा न तु अदर्शन-शब्दस्य। अपि चेदं ज्ञातव्यम् इन्द्रियैर्ग्राह्यो भूत्वाऽग्राह्यो भवति तद् अदर्शनम्। यदस्ति एव नहि तस्य अदर्शनस्य लोप संज्ञा कथं भविष्यति किन्तु यद् भूत्वा न भवति तद् अदर्शनम् ❀ (इति शब्द सूत्रों में इस लिये रखा गया कि वह अर्थ का बोध करावे, यह बात महाभाष्य में प्रसिद्ध है। इस लिये यहां पर इति की अनुवृत्ति आ जाने से अदर्शन अर्थात नहीं होने रूप अर्थ की प्रतीति होती है, अदर्शन शब्द की नहीं। यहां यह भी जानने योग्य बात है कि इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण योग्य होकर जो ग्रहण नहीं होता उसको अदर्शन कहते हैं। जो है ही नहीं भला उस अदर्शन की लोप संज्ञा कैसे हो सकती है। किन्तु जो पहले होकर पश्चात् नहीं होता उसको अदर्शन कहते हैं)

उदा०—पचति।

प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः १।१।६०

प० वि०—प्रत्ययस्य ६।१ लुक्श्लुलुपः १।३।। स०—लुक्च श्लुश्च लुप् चेति लुक्श्लुलुपः (इतरे० द्वन्द्वः)

अर्थ—[अदर्शनम्] प्रत्ययस्य अदर्शनस्य लुक् श्लु लुप् इत्येताः संज्ञाः भवन्ति । (प्रत्यय के अदर्शन की लुक् श्लु और लुप् संज्ञा होती हैं)

उदा०—लुक्–अत्ति । श्लु–जुहोति । लुप्–वरणाः ।

सि०—अद भक्षणे । अद् लट्[1] । अद् ल् । अद् तिप् । अद् ति । अद् शप्[2] ति । अद्[3] ति । अत्ति । हु दानादानयोः । हु लट् । हु ल् । हु तिप् । हु शप्[2] तिप् । हु[4] ति । हु ति । हु हु[5] ति । झु[6] हु ति । जु[7] हु ति । जु हो[8] ति । जुहोति ।

प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् १।१।६१

प० वि०—प्रत्ययलोपे ७।१ प्रत्ययलक्षणम् १।१।। स०–प्रत्ययस्य लोपः प्रत्ययलोपः तस्मिन् प्रत्ययलोपे । प्रत्ययो लक्षणं यस्य कार्यस्य तत्प्रत्यय-लक्षणम् (बहु०) ।

अर्थ–प्रत्ययस्य लोपे सति प्रत्ययनिमित्तं कार्यं भवति । (प्रत्यय के लोप हो जाने पर प्रत्यय के कारण से जो कार्य प्राप्त है सो होता है) ।

उदा०—कृत् ।

सि०—डुकृञ् । कृ क्विप्[9] । कृ क्वि । कृ वि । कृ व्[10] । कृ[11] । कृ तुक्[12] । कृ तु । कृत् । कृत् सु । कृत् स् । कृत्[13] । कृतौ । कृतः ।

१—भूवादयो धातवः (१. ३. १) धातोः (३. १. ९१) वर्तमाने लट् (३. २. १२३) प्रत्ययः (३. १. १) परश्च (३. १. २) २—कर्त्तरि शप् (३. १. ६८) ३—अदिप्रभृतिभ्यः शपः (२. ४. ७२) ४—जुहोत्यादिभ्यः श्लुः (२. ४. ७५) ५—श्लौ (६. १. १०) ६—पूर्वोऽभ्यासः (६. १. ४) अत्र लोपोऽभ्यासस्य (७. ४ ५८) कुहोश्चुः (७. ४. ६२) ७—अभ्यासे चर्च (८. ४. ५४) ८—सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७. ३. ८४) ९—क्विप् च (३. २. ७६) १०—अपृक्त एकाल्प्रत्ययः (१. २. ४१) वेरपृक्तस्य (६. १. ६७) अदर्शनं लोपः (१. १. ५९) ११—आर्धधातुकं शेषः (३. ४. ११४) सार्वधातुकार्ध-धातुकयोः (७. ३. ८४) क्ङिति च (१. १. ५) १२—ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् (६. १. ७१) आद्यन्तौ० (१. १. ४५) १३—हल्ङ्याब्भ्यो० (६. १. ६८)

कृतम् । कृतौ । कृतः । कृता । कृद्भ्याम्[1] । कृद्भिः ।

न लुमताङ्गस्य १।१।६२

प० वि०—न अ० । लुमता ३।१ अङ्गस्य ६।१

अर्थ—[प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्] लुमताशब्देन प्रत्ययस्य लोपे अङ्गस्य प्रत्ययलक्षणं कार्यं न भवति । (लुवाले अर्थात् लुक् श्लु और लुप् से प्रत्यय के लोप हो जाने पर प्रत्यय को निमित्त मान कर अङ्ग का कार्य नहीं होता है) ।

उदा०—मृष्टः । जुहुतः ।

सि०—मृजूष् । मृज् लट् । मृज् ल । मृज् ल् । मृज् तस् । मृज् शप्[2] तस् । मृज्[3] तस् । ❀ अत्र लुमता लुप्ते सति शपा प्रत्ययलक्षणं मृजः अङ्गस्य वृद्धि-रूपकार्यं न भवति ❀ मृष्[4] तस् । मृष् टस्[5] । मृष्टः । हु तस् । हु शप् तस् । हु श्लु तस् । हु तस् । ❀ अत्रापि गुणरूपकार्यं न भवति ❀ हु हु तस् । झु[6] हु तस् । जुहुतः[7] ॥

अचोऽन्त्यादि टि १।१।६३

प० वि०—अचः (निर्द्धारणे षष्ठी) अन्त्यादि १।१ टि १।१॥ स०—अन्त्य आदिर्यस्य तद् अन्त्यादि (बहु०)

अर्थ—अचां मध्ये योऽन्त्यः स आदिर्यस्य तस्य टि संज्ञा भवति । (अचों के मध्य में जो अन्तिम अच् वह है आदि में जिस के ऐसे शब्दरूप समुदाय की टि संज्ञा होती है) ।

उदा०—एधते । एधेते ।

सि०—तङानावात्मनेपदम् (१. ४. १००) इत्यत्र द्रष्टव्या ।

अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा १।१।६४

प० वि०—अलः ५।१ अन्त्यात् ५।१ पूर्वः १।१ उपधा १।१

अर्थ—अन्त्यादलः पूर्वो योऽल् तस्य उपधासंज्ञा भवति ।
(अन्तिम अल् (वर्ण) से पूर्व जो वर्ण उसकी उपधा संज्ञा होती है)

१—स्वादिष्वसर्वनामस्थाने (१. ४. १७) झलां जशोऽन्ते (८. २. ३९) । २—कर्त्तरि शप् (३. १. ६८) ३—अदिप्रभृतिभ्यः शपः (२. ४. ७२) ४—व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः (८. २. ३६) ५—ष्टुना ष्टुः (८. ४. ४१) ६—कुहोश्चुः (७. ४. ६२) ७—अभ्यासे चर्च (८. ४. ५४) ।

उदा०—भेत्ता, छेत्ता। साधनं तु ण्वुल्तृचौ (३. १. १३३) इत्यत्र द्रष्टव्यम्।

तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य १।१।६५

प० वि—तस्मिन् ७।१ इति अ०। निर्दिष्टे ७।१ पूर्वस्य ६।१

अर्थ—❀ इतिकरणोऽर्थनिर्देशार्थः ❀ सप्तम्या निर्दिष्टे पूर्वस्य कार्यं भवति। (सूत्रों में सप्तमी विभक्ति से निर्देश करने पर पूर्व का ही का होता है)।

उदा०—दध्यत्र। मध्वत्र। ❀ इति व्यवधानरहितस्य इकारस्य उकारस्य च यणादेशो भवति ❀

तस्मादित्युत्तरस्य १।१।६६

प० वि०—तस्मात् ५।१ इति अ०। उत्तरस्य ६।१

अर्थ—[निर्दिष्टे] पञ्चम्या निर्दिष्टे परस्य कार्यं भवति। (सूत्रों में पञ्चमी विभक्ति से निर्देश करने पर उत्तर का ही कार्य होता है)

उदा०—आसीनः साधनं तु ईदासः (७. २. ८३) इत्यत्र द्रष्टव्यम्।

स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा १।१।६७

प० वि०—स्वम् १।१। रूपम् १।१ शब्दस्य ६।१ अशब्दसंज्ञा १।१

स०—शब्दस्य संज्ञा शब्दसंज्ञा (ष० तत्पु०) न शब्दसंज्ञा अशब्दसंज्ञा।

अर्थ—शब्दस्य स्वं रूपं ग्राह्यं शब्दसंज्ञां वर्जयित्वा (शब्द का अपना रूप ग्रहण करना चाहिये शब्दसंज्ञा को छोड़कर)

उदा०—आग्नेयम्, अष्टकपालम्। ❀ अग्निशब्दोऽग्निशब्दस्यैव ग्राहको भवति न ज्वलनः पावको धूमकेतुरित्यादीनाम् ❀ अशब्दसंज्ञेति किम् दाधा ध्वदाप्। तरप्तमपौ घः। घुग्रहणेषु घग्रहणेषु च संज्ञिनां ग्रहणं न संज्ञायाः।

सि०—साधनं तु अग्नेर्ढक् (४. २. ३३) इत्यत्र द्रष्टव्यम्।

अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः १।१।६८

प० वि०—अणुदित् १।१ सवर्णस्य ६।१ च अ०। अप्रत्ययः १।१॥

स०—उत् इत् यस्य सः उदित् (बहु०)। अण् च उदिच्चेति अनयोः समाहारः अणुदित् (समा० द्वन्द्वः)। न प्रत्ययः अप्रत्ययः।

अर्थ—[स्वं रूपम्] अण् उदिच्च सवर्णस्य ग्राहकौ भवतः

स्वस्य च रूपस्य प्रत्ययं वर्जयित्वा। (अण् और उदित् अपने सवर्णों का ग्राहक होता है और अपने रूप का भी प्रत्यय को छोड़कर)

उदा०—*अण् इति परेण णकारेण प्रत्याहारग्रहणम्* आद्गुणः (६. १. ८७)। अस्य च्वौ (७. ४. ३२)। यस्येति च (६. ४. १४८)। देव इन्द्रः देवेन्द्रः। इत्यपि सिध्यति खट्वा इन्द्रः खट्वेन्द्रः इति। उदित्। चुटू (१. ३. ७)। लशक्वतद्धिते (१. ३. ८)। *कुचुटुतुपु इत्येते उदितः*

तपरस्तत्कालस्य १।१।६९

प० वि०—तपरः १।१ तत्कालस्य ६।१॥ स०—तः परो यस्मात् सोऽयं तपरः। तादपि परस्तपरः। तस्य कालः तत्कालः तस्य तत्कालस्य।

अर्थ—[सवर्णस्य स्वं रूपम्] तपरो वर्णः तत्कालस्य सवर्णस्य ग्राहको भवति स्वस्य रूपस्य च। (तपर किया हुआ वर्ण अपने काल वाले सवर्ण का ग्रहण कराता है और अपने रूप का भी)

गुणान्तरयुक्तस्य ग्राहको भवतीत्यर्थः अत एव 'अतो गुणे' इत्यत्र दीर्घप्लुतयोर्ग्रहणं न भवति। किन्तु उदात्तानुदात्तस्वरितविशिष्टस्य अकारस्य ग्रहणं तु भवत्येव

उदा०—रामैः। पचन्ति।

सि०—राम भिस्। राम ऐस्। रामैस्। रामैरु। रामैर्। रामैः।

आदिरन्त्येन सहेता १।१।७०

प० वि०—आदिः १।१ अन्त्येन ३।१ सह अ०। इता ३।१॥

अर्थ—[स्वं रूपम्] अन्त्येन इता सह आदिः मध्यपतितानां वर्णानां स्वस्य च रूपस्य ग्राहको भवति। (अन्तिम इत्संज्ञक वर्ण के साथ आदि अपना ग्रहण कराता है और अपने बीच मे आने वाले वर्णों का भी)

उदा०—अण् इत्यनेन अ इ उ, अक् इत्यनेन अ इ उ ऋ ऌ इत्येतेषां ग्रहणं भवति।

येन विधिस्तदन्तस्य १।१।७१

प० वि०—येन ३।१ विधिः १।१ तदन्तस्य ६।१॥ स०—सोऽन्तो यस्य तत् तदन्तं तस्य तदन्तस्य (बहु०)

अर्थ—[स्वं रूपम्] येन विशेषणेन विधिर्विधीयते स तदन्तस्य

आत्मान्तस्य समुदायस्य ग्राहको भवति स्वस्य च रूपस्य। (जिस विशेषण से विधान किया जाता है वह तदन्त का तथा अपने रूप का ग्राहक होता है)

उदा०—जयः, चयः, अयः।

सि०—जि जये। चिञ् चयने। इण् गतौ। जि अच्। जे अ। जय सु। जयः। चि अच्। चे अ। चय् अ। चयसु। चयः। इ अच्। ए अ। अय् अ। अय सु। अयः *अत्रेदं बोध्यम्–धातोरित्यधिकृत्य एरच् इति विधीयते। तस्यायमर्थः एः धातोरच् प्रत्ययो भवति। इत्यत्र धातुविशेष्यं एरिति विशेषणम्। तत्कथं भवति। इवर्णान्ताद् धातोरच् प्रत्ययो भवति इत्येतादृशोऽर्थो भवति। येन विधिस्तदन्तस्येति (१. १. ७१) सूत्रेण।

(धातोः का अधिकार करके 'एरच्' इस सूत्र का विधान किया गया है। इस सूत्र का यह अर्थ है इवर्ण धातु से अच् प्रत्यय होता है। इवर्ण का क्या अर्थ है। यहाँ पर इवर्ण विशेषण है और धातु विशेष्य है। ऐसे स्थान के लिए 'येन विधि'० यह सूत्र बनाया गया है। अर्थात विशेषण अपने तदन्त का ग्राहक होता है इससे इवर्ण अर्थात् इवर्णान्ति धातु से अच् प्रत्यय होता है, ऐसा अर्थ हुआ)।

वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम् १।१।७२

प० वि०—वृद्धिः १।१ यस्य ६।१ अचाम् ६।३ आदिः १।१ तत् १।१ वृद्धम् १।१

अर्थ—यस्य समुदायस्य अचां मध्ये आद्यज् वृद्धिः, तद्वृद्धसंज्ञं भवति। (जिस समुदाय के अचों के बीच में प्रारम्भिक अच् वृद्धि है उसकी वृद्ध संज्ञा होती है।

उदा०—शालीयः, मालीयः।

त्यदादीनि च १।१।७३

प० वि०—त्यदादीनि १।३ च अ०॥ स०—त्यद् आदिर्येषाम् तानि इमानि त्यदादीनि।

अर्थ—[वृद्धम्] त्यदादीनि प्रातिपदिकानि वृद्धसंज्ञानि भवन्ति। (त्यद् इत्यादि प्रातिपादिकों की वृद्धसंज्ञा होता है।

उदा०—त्यदीयम्, भवदीयम्।

सि०—त्यद् छ। त्यद् ईय। त्यदीय सु। त्यदीय अम्। त्यदीयम्।

इत्यष्टाध्यायीप्रकाशिकायां प्रथमाध्याये प्रथमः पादः

ङित्कित्प्रकरणम्—

गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्[ङित्] १।२।१

सार्वधातुकमपित् १।२।४

प० वि०—सार्वधातुकम् १।१। अपित् १।१। स०—न पित् इति अपित् (नञ् तत्पु०)

अर्थ—[ङित्] अपित् सार्वधातुकं ङिद्वद्भवति। (पित भिन्न सार्वधातुक प्रत्यय ङित् के समान होता है)

उदा०—कुरुतः, कुर्वन्ति॥ चिनुतः, चिन्वन्ति।

सि०—डुकृञ्। कृ। कृ लट्। कृ ल्। कृ तस्। कृ उ[1] तस्। क उ[2] तस्। कु[3] उ तस्। कुर्[4] उ तस्। कुरुतस्। कुरुतः। कृ उ झि। कुर्वन्ति[5]। चिञ्। चि तस्। चि श्नु[6] तस। चि नु तस्। चिनुतस्। चिनुतः[7]। चि नु अन्ति। चिन्वन्ति।

असंयोगाल्लिट् कित् १।२।५

प० वि०—असंयोगात् ५।१ लिट् १।१ कित् १।१। स०—न संयोगः इति असंयोगः तस्मात् असंयोगात् (नञ् तत्पु०)

अर्थ—[अपित्] असंयोगान्ताद्धातोः पश्चादपिल्लिट् किद्वद्भवति॥ (असंयोगान्त धातु के पश्चात् पित् भिन्न लिट् कित् के समान होता है)

उदा०—बिभिदतुः, बिभिदुः।

सि०—भिदिर्। भिद्। भिद् लिट्। भिद् ल्। भिद् तिप्तस्०। भिद् अतुस्[8]। भिद् भिद् अतुस्[9]। भि[10] भिद् अतुस्। बि[11] भिद् अतुस्। बिभिदतुः। भिद् उस्। बिभिदुः॥

१—तनादिकृञ्भ्य उः (३. १. ७९) २—सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७. ३. ८४) ३—अत उत् सार्वधातुके (६. ४. ११०) ४—उरण् रपरः (१. १. ५०) ५—इको यणचि (६. १. ७७) ६—स्वादिभ्यः श्नुः (३. १. ७३) ७—सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७. ३. ८४) सार्वधातुकमपित् (१. २. ४) क्ङिति च (१. १. ५) ८—पुगन्तलघूपधस्य च (७. ३. ८६) असंयोगाल्लिट् कित् (१. २. ५) क्ङिति च (१. १. ५) ९—लिटि धातोरनभ्यासस्य (६. १. ८) १०—पूर्वोऽभ्यासः (६. १. ४) अत्र लोपोऽभ्यासस्य (७. ४. ५८) हलादिः शेषः (७. ४. ६०) ११—अभ्यासे चर्च (८. ४. ५४)

कृतदीर्घस्य ह्रस्वमिति साधु।

इको झल् १।२।९

प० वि०—इकः ५।१ झल् १।१

अर्थ—[सन्] इगन्ताद् धातोः परो ~~पश्चात्~~ झलादिः सन् किद्वद्-भवति। (इगन्त धातु के पश्चात् झलादि सन् कित् के समान होता है)

उदा०—चिचीषति, तुष्टूषति।

सि०—चिञ्। चि। चि सन्[1]। चि सन्[2] ॥ कित्त्वाद् गुणस्य अभावः ॥ ची[3] स। ची ची स। चि चीस। चि चीष। चि चीष लट्। चिचीष तिप्। चिचीष शप् ति। चिचीष अ ति। चिचीषति ॥ ष्टुञ्। ष्टु। स्तु[4]। स्तू स्तू सन्। तू स्तू[5] स। तु[6] स्तू स। तुष्टू[7] ष। तुष्टूष शप् तिप्। तुष्टूषति ॥

हलन्ताच्च १।२।१०

प० वि०—हलन्तात् ५।१ च अ०। स०—हल् च असौ अन्तश्च इति हलन्तः तस्मात् हलन्तात् (कर्म० तत्पु०)

अर्थ—[इकः सन् झल्] (समीपवचनोऽन्तशब्दः) इक्समीपाद् हलः परः ~~पश्चात्~~ सन् झलादिः किद् भवति। (इक् के समीप् जो हल् उसके पश्चात् झलादि सन् कित् होता है)

उदा०—बिभित्सति। बुभुत्सते।

सि०—भिदिर्। भिद् सन्। भिद भिद् स। भि भिद् स। भि भित् स[8]। बि भित् स। बिभित्सति ॥ बुध् सन्। भुध्[9] स। भुध् भुध् स। बु भुध् स। बुभुत्स[10]। बुभुत्स अत। बुभुत्सत। बुभुत्सते[11] ॥

१—धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा (३. १. ७) प्रत्ययः (३. १. १) परश्च (३. १. २) २—आर्धधातुकं शेषः (३. ४. ११४) आर्धधातुकस्येड् वलादेः (७. २. ३५) एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् (७. २. १०) इको झल् (१. २. ९) क्ङिति च (१. १. ५) ३—अज्झनगमां सनि (६. ४. १६) ४—धात्वादेः षः सः (६. १. ६४) ५—शर्पूर्वाः खयः (७. ४. ६१) ६—पूर्वोऽभ्यासः (६. १. ४) अत्र लोपोऽभ्यासस्य: (७. ४. ५८) ह्रस्वः (७. ४. ५९) ७—आदेशप्रत्यययोः (८. ३. ५९) ८—खरि च (८. ४. ५५) ९—एकाचो वशो० (८. २. ३०) १०—खरि च (८. ४. ५५) ११—टित आत्मनेपदानां टेरे (३. ४. ७९)

न क्त्वा सेट् १।२।१८

प० वि०—न अ० । क्त्वा १।१ या (अव्ययपदम्) । सेट् १।१ ॥ स०—इटा सह इति सेट् (तृतीया तत्पु०)

अर्थ—सेट् क्त्वाप्रत्ययः किन्न भवति । (इट् के साथ क्त्वाप्रत्यय कित् नहीं होता है)

उदा०—देवित्वा, वर्त्तित्वा ॥

सि०—दिवु । दिव् क्त्वा[1] । दिव् त्वा । दिव् इट् त्वा । दिव् इत्वा । देवित्वा[2] । देवित्वा सु । देवित्वा स । देवित्वा ॥ वृतु । वृत् त्वा । वृत्तित्वा ॥

ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः १।२।२७

प० वि०—ऊकालः १।१ अच् १।१ ह्रस्वदीर्घप्लुतः १।१ ॥स०—उ ऊ ऊ३कालः इति ऊकालः । ऊ इत्येतेषां काल इव कालो यस्य अचः सः ऊकालः (बहु०) ॥ ह्रस्वश्च दीर्घश्च प्लुतश्च इति ह्रस्वदीर्घप्लुतः ॥

अर्थ—ऊकालोऽज् यथासंख्यं ह्रस्वदीर्घप्लुतसंज्ञको भवति (ऊकाल के समान काल हैं जिसके ऐसे अच की क्रमशः ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत संज्ञा होती है)

उदा०—उकालो ह्रस्वः—दधि, मधु ॥ ऊकालो दीर्घः—कुमारी, गौरी ॥ उ३कालः प्लुतः—देवदत्त ३ अत्रसि ॥

॥स्वरूपोदाहरणानि॥

अचश्च १।२।२८

प० वि—अचः ६।१ च अ० ।

अर्थ—[ह्रस्वदीर्घप्लुतः] ह्रस्वदीर्घप्लुताः अचः एवः स्थाने भवन्ति ॥ (ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत अच् ही के स्थान में होते हैं)

उदा०—अतिरि, अतिनु, उपगु ।

सि०—ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य । रै, अतिरि ॥ नौ, अतिनु । गो, अतिगु ॥ साधनं तु कुगतिप्रादय (२. २. १८) इति सूत्रे द्रष्टव्यम् ।

उच्चैरुदात्तः १।२।२९

प० वि०—उच्चैः अ० । उदात्तः १।१

१—समानकर्तृकयोः पूर्वकाले (३. ४. २१) २—पुगन्तलघूपधस्य च (७. ३. ८६)

अर्थ—[अच्] उच्चैस्स्वरेण उच्चार्यमाणो अच् उदात्तसंज्ञको भवति। (ऊंचे स्वर से उच्चारण किये जाने वाले अच् की उदात्त संज्ञा होती है)

नीचैरनुदात्तः १।२।३०

प० वि०—नीचैः अ०। अनुदात्तः १।१

अर्थ—[अच्] नीचैस्स्वरेण उच्चार्यमाणोऽच् अनुदात्तसंज्ञको भवति। (नीचे स्वर से उच्चारण किये जाने वाले अच् की अनुदात्त संज्ञा होती है)

समाहारः स्वरितः १।२।३१

प० वि०—समाहारः १।१ स्वरितः १।१

अर्थ—[उदात्तः अनुदात्तः अच्] उदात्तानुदात्तयोस्समाहारो योऽज् सः स्वरितसंज्ञको भवति (बराबर ऊंचे और नीचे स्वर से उच्चारण किये जाने वले अच् की स्वरितसंज्ञा होती है)

[एकश्रुति] दूरात्सम्बुद्धौ १।२।३३
स्वरितात्संहितायामनुदात्तानाम् १।१।३६

प० वि०—स्वरितात् ५।१ संहितायाम् ७।१ अनुदात्तानाम् ६।३

अर्थ—[एकश्रुति] संहितायां विषये स्वरितात्परेषामनुदात्तानामेक श्रुतिर्भवति। (संहिता के विषय में स्वरित के पश्चात् अनुदात्तों की एकश्रुति होती है)

उदाहरणं साधनं च उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः (८. ४. ६५) इति सूत्रे द्रष्टव्यम्।

उदात्तस्वरितपरस्य सन्नतरः १।२।४०

प० वि०—उदात्तस्वरितपरस्य ६।१ सन्नतरः १।१॥ स०—उदात्तः परो यस्मात्सः उदात्तपरः (बहु०)स्वरितः परो यस्मात्सः स्वरितपरः (बहु०) उदात्तपरश्च स्वरितपरश्चेति उदात्तस्वरितपरः (उत्तरपदलोपी समासः) तस्य।

अर्थ—[अनुदात्तानाम्—सामर्थ्यादेकवचनेन विपरिणम्यते] उदात्तपरस्य स्वरितपरस्य चानुदात्तस्य सन्नतरः आदेशो भवति। अनुदात्ततर इत्यर्थः। (उदात्त और अनुदात्त परे है जिससे ऐसे अनुदात्त को अनुदात्ततर आदेश होता है)

उदाहरणं साधनं च उदात्तादनुदात्तस्य स्वरित (८. ४. ६५) इति सूत्रे द्रष्टव्यम् ।

अपृक्त एकाल्प्रत्ययः १।२।४१

प० वि—अपृक्तः १।१ एकाल्प्रत्ययः १।१॥ स०—एकश्चासौ अल् च इति एकाल् । (कर्म० तत्पु०) एकाल् चासौ प्रत्ययश्च इति एकाल्प्रत्ययः (कर्म० तत्पु०)

अर्थ—(असहायवाची एकशब्दः) एकाल्प्रत्ययः अपृक्तसंज्ञको भवति । (असहाय अल् वाले प्रत्यय की अपृक्त संज्ञा होती है ।

उदा०—वाक्, लता, कुमारी, घृतस्पृक् ।

सि०—वाच् सु । वाच् स् । वाच्[1] । वाक्[2] । वाग्[3] । वाक्[4] । घृतस्पृश् क्विन्[5] । घृतस्पृश् व् । घृतस्पृश्[6] । घृतस्पृक्[7] ।

तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः १।२।४२

प० वि०—तत्पुरुषः १।१ समानाधिकरणः १।१ कर्मधारयः १।१॥ स०—समानमधिकरणं ययोरिति समानाधिकरणः (बहु०)

अर्थ—समानाधिकरणः तत्पुरुषः कर्मधारयसंज्ञो भवति (समान अधिकरण वाले तत्पुरुष की कर्मधारय संज्ञा होती है)

उदा—परमराज्यम्, उत्तमराज्यम्, नीलोत्पलम् । साधनं विशेषणं विशेष्येण बहुलम् (२. १. ५६) इति सूत्रे द्रष्टव्यम् ।

प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् १।२।४३

प० वि०—प्रथमानिर्दिष्टम् १।१ समासे ७।१ उपसर्जनम् १।१ ॥ स०-प्रथमया निर्दिष्टमिति प्रथमानिर्दिष्टम् (तृतीया तत्पुरुषः) ।

अर्थ—समासविधायकसूत्रेषु प्रथमया निर्दिष्टं पदम् उपसर्जनसंज्ञं भवति । (समास विधान करने वाले सूत्रों में प्रथमा विभक्ति से निर्देश किये गये पदों की उपसर्जन संज्ञा होती है)

१—अपृक्त एकाल्प्रत्ययः (१. २. ४१) हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल् (६. १. ६८) २—सुप्तिङन्तं पदम् (१. ४. १४) चोः कुः (८. २. ३०) ३—झलां जशोऽन्ते (८. २. ३९) ४—विरामोऽवसानम् (१. ४. ११०) वाऽवसाने (८. ४. ५६) ५—स्पृशोऽनुदके क्विन् (३. २. ५८) ६—वेरपृक्तस्य (६. १. ६७) ७—क्विन्प्रत्ययस्य कुः (८. २. ६२)

उदा०—कष्टश्रितः, शङ्कुलाखण्डः, यूपदारुः, वृकभयम्, राजपुरुषः, अक्षशौण्डः।

सि०—कष्टं[1] श्रितः इति कष्टश्रितः। कष्ट अम् श्रित सु। कष्ट[2] अम् श्रित सु। उपसर्जसंज्ञात्वात् कष्टशब्दस्य पूर्वप्रयोगः। कष्टश्रित। कष्टश्रित[3] सु। कष्टश्रित स्। कष्टश्रितः। शङ्कुलया[4] खण्डः इति शङ्कुलाखण्डः। शङ्कुला टा खण्ड सु। शङ्कुलाखण्डः। यूपाय दारुः[5] इति यूपदारुः। यूप ङे दारु सु। यूपदारुः। वृकेभ्यः[6] भयम् इति वृकभयम्। वृक भ्यस् भय सु। राज्ञः[7] पुरुषः इति राजपुरुषः। राजन् ङस् पुरुष सु। राजन् पुरुष। राजन्पुरुष। राजपुरुष। राजपुरुषः। अक्षेषु[8] शौण्डः इति अक्षशौण्डः। अक्ष सुप् शौण्ड सु।

एकविभक्ति चापूर्वनिपाते १।२।४४

प० वि०—एकविभक्ति १।१ च अ०। अपूर्वनिपाते ७।१॥ स०—एका विभक्तिर्यस्य तदिदमेकविभक्तिपदम्। पूर्वश्चासौ निपातः पूर्वनिपातः (कर्म० तत्पु०) न पूर्वनिपातोऽपूर्वनिपातः तस्मिन् (नञ् तत्पु०)

अर्थ—[उपसर्जनम्] (नियतवाची एकशब्दः) नियतविभक्तिपदम् उपसर्जनसंज्ञं भवति पूर्वनिपातोपसर्जनकार्यं वर्जयित्वा॥ (नियत विभक्ति वाले पद की उपसर्जनसंज्ञा होती है पूर्व निपात होने वाले उपसर्जन कार्य को छोड़कर)

उदा०—निष्कौशाम्बिः, निर्वाराणसिः।

सि०—निष्क्रान्तः कौशाम्ब्याः इति निष्कौशाम्बिः॥ निष्क्रान्तं निष्क्रान्तेन निष्क्रान्ताय निष्क्रान्तात् निष्क्रान्तस्य निष्क्रान्ते वा कौशाम्ब्याः इति निष्कौशाम्बिः॥ पूर्वपदे नानाविभक्तिकेऽप्युत्तरपदं पञ्च-

---

१—समर्थः पदविधिः (२. १. १) प्राक्कडारात् समासः (२. १. १.) सह सुपा (२. १. ४) तत्पुरुषः (२. १. २२) द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः (२. १. २४) २—प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् (१. २. ४३) उपसर्जनं पूर्वम् (२.२. ३०) कृत्तद्धितसमासाश्च (१.२.४६) सुपो० (२.४.७१) ३—कृत्तद्धितसमासाश्च (१. २. ४६) ङ्याप्प्रातिपदिकात् (४. १. १) स्वौजस्० (४. १. २) ४—तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन (२. १. ३०) ५—चतुर्थी तदार्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः (२. १. ३६) ६—पञ्चमी भयेन (२. १. ३७) ७—षष्ठी (२. २. ८) ८—सप्तमी शौण्डैः (२. १. ४०)

म्यन्तमेव भवति ॥ निर् सु कौशाम्बी ङसि ॥ निर् कौशाम्बी[१] । निष्[२] कौशाम्बी । निष्कौशाम्बि[३] । निष्कौशाम्बिः ।

अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् १।२।४५

प० वि०—अर्थवत् १।१ अधातुः १।१ अप्रत्ययः १।१ प्रातिपदिकम् १।१ ॥ स०–न धातुः इति अधातुः । न प्रत्ययः इति अप्रत्ययः ॥

अर्थ—धातुप्रत्ययौ वर्जयित्वा अर्थवच्छब्दरूपं प्रातिपदिकसंज्ञं भवति ॥ (धातु और प्रत्यय को छोड़कर अर्थ वाले शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा होती है)

उदा०—डित्थः, कपित्थः, कुण्डम्, पीठम् ।

सि०—डित्थ । डित्थ सु । डित्थ स । डित्थः ॥ कुण्ड सु । कुण्ड अम् । कुण्डम् ॥

कृत्तद्धितसमासाश्च १।२।४६

प० वि०—कृत्तद्धितसमासाः १।३। च अ० । स०–कृच्च तद्धितश्च समासश्चेति कृत्तद्धितसमासाः ।

अर्थ—[प्रातिपदिकम्] कृदन्तस्य तद्धितान्तस्य समासस्य च प्रातिपदिकसंज्ञा भवति । (कृदन्त तद्धितान्त और समास की प्रातिपदिक संज्ञा होती है)

उदा०—कृत्—कारकः, हारकः, कर्त्ता, हर्त्ता । तद्धितः–शालीयः, मालीयः, ऐतिकायनः, औपगवः । समासः—कष्टश्रितः, शङ्कुलाखण्डः, यूपदारु, वृकभयम्, राजपुरुषः, अक्षशौण्डः ।

ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य १।२।४७

प० वि०—ह्रस्वः १।१ नपुंसके ७।१ प्रातिपदिकस्य ६।१

अर्थ—नपुंसकलिङ्गे वर्तमानं यत् प्रातिपदिकं तस्य ह्रस्वो भवति । (नपुंसक लिङ्ग में वर्तमान प्रातिपदिक का ह्रस्व होता है)

उदा०—अतिरि । कुगतिप्रादय (२.२. १८) इत्यत्र साधनं द्रष्टव्यम् ।

गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य १।२।४८

प० वि०—गोस्त्रियोः ६।२ उपसर्जनस्य ६।१ स०—गौश्च स्त्रीश्च इति गोस्त्रियौ (इतरे० द्वन्द्वः) तयोः गोस्त्रियोः ।

१—निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या (२. २. १८ वा०) प्रथमानिर्दिष्टं समास० (१. २. ४३) उपसर्जनं पूर्वम् (२. २. ३०) २—इदुपधस्य चाप्रत्ययस्य (८. ३. ४१) ३—गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य (१. २. ४८)

अर्थ—[प्रातिपदिकस्य] उपसर्जनगोशब्दान्तस्य उपसर्जनस्त्रीप्रत्ययान्तस्य च प्रातिपदिकस्य ह्रस्वो भवति ॥ (उपसर्जन गोशब्द तदन्त तथा उपसर्जन स्त्रीप्रत्ययान्त प्रातिपदिक का ह्रस्व होता है)

उदा०—गोशब्दान्तस्य उपसर्जनस्य—चित्रगुः, शबलगुः। स्त्रीप्रत्ययान्तस्य उपसर्जनस्य—निष्कौशाम्बिः ॥

सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ १।२।६४

प० वि०—सरूपाणाम् ६।३ एकशेषः १।१ एकविभक्तौ ७।१ स०—समानं रूपं ययोः येषां वा इति सरूपाः (बहु०) तेषाम् सरूपाणाम्। एकस्य शेषः इति एकशेषः। एका चासौ विभक्तिश्च इति एकविभक्तिः तस्यामेकविभक्तौ।

उदा०—वृक्षौ, वृक्षाः, फले, फलानि, लते, लताः।

सि०—वृक्षश्च वृक्षश्च इति वृक्षौ। वृक्षश्च वृक्षश्च वृक्षश्च इति वृक्षाः। वृक्ष औ। वृक्षौ[1]। वृक्ष जस्। वृक्ष अस्। वृक्षास्[2]। वृक्षाः। फलञ्च फलञ्च इति फले। फल औ। फल[3] ई। फले[4]। फलञ्च फलञ्च फलञ्च इति फलानि ॥ फल जस्। फल इ[5]। फल नुम्[6] इ। फलन् इ। फलानि[7]। लता च लता च इति लते। लता औ। लता शी[8]। लता ई। लते[4] ॥ लता च लता च लता चेति लताः। लता जस्। लताः[2] ॥

इत्यष्टाध्यायी-प्रकाशिकायां प्रथमाध्याये द्वितीयः पादः

भूवादयो धातवः १।३।१

प० वि—भूवादयः १।३ धातवः १।३ स०—भूश्च वाश्च इति भूवौ (इतरे०द्वन्द्वः) भूवौ आदी येषान्ते भूवादयः। एक आदिशब्दः प्रकारवाची

अर्थ—भू इत्यादीनां वा इत्येवं प्रकाराणां धातुसंज्ञा भवति। (भू जिनके आदि में, तथा वा के समान क्रियावाची शब्दों की धातु संज्ञा होती है)

उदा०—भवति, पचति, वाति।

१—वृद्धिरेचि (६. १. ८८) २—प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (६. १. १०२) ३—नपुंसकाच्च (७. १. १९) ४—आद्गुणः (६. १. ८७) ५—जश्शसोः शिः (७. १. २०) ६—नपुंसकस्य झलचः (७. १. ७२) ७—शि सर्वनामस्थानम् (१. १. ४१) सर्वनामस्थाने० (६. ४. ८) ८—औङ आपः (७.१.१८)

सि०—भू लट्[1] । भू ल्[2] । भू तिप्[3] । भू शप्[4] तिप् । भू अ[5] ति । भो[6] अ ति । भव्[7] अ ति । भवति । डुपचष् । डुपच । डुपच् । पच् । पच लट् । पच् अ ति । पचति । वा ति । वा ति । वाति ।

इत्संज्ञाप्रकरणम्—

उपदेशोऽजनुनासिक इत् १।३।२

प० वि०—उपदेशे ७।१ अच् १।१। अनुनासिकः १।१ इत् १।१

अर्थ—उपदेशावस्थायामनुनासिको योऽज् तस्य इत्संज्ञा भवति (उपदेश अवस्था में अनुनासिक अच् की इत्संज्ञा होती है)

उदा०—एधते, पचति ।

सि०—एध । एध्[8] । एध् शप् त । एध् अ ते[9] । एधते । डुपचष् । पचष् । पच । पच् । पच् शप् तिप् । पच् अ ति । पचति ॥

हलन्त्यम् १।३।३

प० वि०—हल् १।१ अन्त्यम् १।१

अर्थ—[उपदेशे इत्] उपदेशे अन्त्यं हल् इत्संज्ञको भवति । (उपदेश में अन्तिम हल् की इत्संज्ञा होती है)

उदा०—अइउण् । ऋऌक् ।

१—भूवादयो धातवः (१. ३. १) धातोः (३. १. ९१) वर्तमाने लट् (३. २. १२३) प्रत्ययः (३. १. १) परश्च (३. १. २) २—हलन्त्यम् (१. ३. ३) उपदेशोऽजनुनासिक इत् (१. ३. २) तस्य लोपः (१. ३. ९) अदर्शनं लोपः (१. १. ५९) ३—लस्य (३. ४. ७७) तिप्तस्झि० (३. ४. ७८) ४—तिङ्शित्सार्वधातुकम् (३. ४. ११३) सार्वधातुके यक् (३. १. ६७) कर्त्तरि शप् (३. १. ६८) ५—हलन्त्यम् (१. ३. ३) लशक्वतद्धिते (१. ३. ८) तस्य लोपः (१. ३. ९) अदर्शनं लोपः (१. १. ५९) ६—तिङ्शित्सार्वधातुकम् (३. ४. ११३) यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् (१. ४. १३) अङ्गस्य (६. ४. १) मिदे [गुणः] (७. ३. ८२) सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७. ३. ८४) इको गुणवृद्धी (१. १. ३) स्थानेऽन्तरतमः (१. १. ४९) ७—परः सन्निकर्षः संहिता (१. ४. १०९) संहितायाम् (६. १. ७२) एचोऽयवायावः (६. १. ७८) ८—उपदेशोऽजनुनासिक इत् (१. ३. २) तस्य लोपः (१. ३. ९) अदर्शनं लोपः (१. १. ५९) ९—टित आत्मनेपदानां टेरे (३. ४. ७९)

न विभक्तौ तुस्माः १।३।४

प० वि०--न अ०। विभक्तौ ७।१ तुस्माः १।३॥ स०—तुश्च सश्च मश्च इति तुस्माः ॥

अर्थ—[इत्] विभक्तौ तवर्गसकारमकाराः इत्संज्ञकाः न भवन्ति (विभक्ति में तवर्ग, सकार और मकार की इत्संज्ञा नहीं होती है)

उदा०—रामात्, रामाः, रामम् ॥

सि०--राम ङसि। राम आत्। रामात्। राम जस्। रामाः। राम अम्। रामम् ॥

आदिर्ञिटुडवः १।३।५

प० वि०—आदिः १।१ ञिटुडवः १।३ स०—ञिश्च टुश्च डुश्च इति ञिटुडवः (इतरे० द्वन्द्वः)

अर्थ--[उपदेशे, इत्] उपदेशे आदिः ञिटुडवः इत्संज्ञकाः भवन्ति। (उपदेश में प्रारम्भिक ञि टु डु की इत्संज्ञा होती है)

उदा०—भिन्नः, धृष्टः, वेपथुः, श्वयथुः, पक्त्रिमम्, उप्त्रिमम् ॥

सि०--ञिभिदा। ञिभिद्[1]। भिद् क्त[2]। भिद् त। भिन् न[3]। भिन्नः॥ ञिधृषा। ञिधृष्। धृष्। धृष् क्त। धृष् त। धृष् ट[4]। धृष्टः॥ टुवेपृ। टुवेप्। वेप् अथुच्[5]। वेप् अथु। वेपथुः॥ टुओश्वि। ओश्वि। श्वि। श्वि अथुच्। श्वे अथु। श्वय् अथु। श्वयथुः॥ डुपचष्। डुपच्। पच्। पच् क्त्रि[6]। पच् त्रि। पक्[7] त्रि। पक्[8] त्रि मप्। पक्त्रिम सु। पक्त्रिम अम्। पक्त्रिमम्। डुवप्। डुवप्। वप् क्त्रि। उ[9] अप् त्रि। उप[10] त्रि। उप त्रि मप्। उप्त्रिम सु। उप्त्रिम अम्। उप्त्रिमम् ॥

षः प्रत्ययस्य १।३।६

प० वि०--षः १।१ प्रत्ययस्य ६।१

अर्थ—[आदिः] प्रत्ययस्य आदिः षकारः इत्संज्ञको भवति। (प्रत्यय

१—आदिर्ञिटुडवः (१. ३. ५) २—ञीतः क्तः (३. २. १८७) ३—रदाभ्यां निष्ठातो न पूर्वस्य च दः (८. २. ४२) ४—ष्टुना ष्टुः (८. ४. ४१) ५—ट्वितोऽथुच् (३. ३. ८९) ६—ड्वितः क्त्रिः (३. ३. ८८) ७—चोः कुः (८. २. ३०) ८—क्त्रेर्मप् नित्यम् (४. ४. २०) ९—वचिस्वपियजादीनां किति (६. १. १५) इग्यणः सम्प्रसारणम् (१. १. ४४) १०—सम्प्रसारणाच्च (६. १. १०८)

के आदि षकार की इत्संज्ञा होती है)

उदा०—नर्त्तकी, रजकी।

सि०—नृती। नृत्। नृत् ष्वुन्[1]। नृत् वुन्[2]। नृत् वु। नृत् अक[3]। नर्त्[4] अक। नर्तक ङीष्[5]। नर्तक ई। नर्तक्[6] ई। नर्तकी सु। नर्त्तकी॥ रञ्ज। रञ्ज्। रज् ष्वुन्[7]। रज् वु। रज् अक। रजक। रजक ङीष्। रजक ई। रजक् ई। रजकी। रजकी सु। रजकी स्। रजकी॥

चुटू १।३।७

प० वि०—चुटू १।२ स०—चुश्च टुश्चेति चुटू (इतरे० द्वन्द्वः)।

अर्थ—[प्रत्ययस्य आदिः] प्रत्ययस्य आदी चवर्ग-टवर्गौ इत्संज्ञकौ भवतः (प्रत्यय के आदि चवर्ग और टवर्ग की इत्संज्ञा होती है)

उदा०—ब्राह्मणाः, कुरुचरी।

सि०—ब्राह्मण जस्। ब्राह्मण अस्। ब्राह्मणास्। ब्राह्मणाः। कुरुचर ट[8]। कुरुचर् अ। कुरूचर। कुरुचर ङीप्[9]। कुरुचर ई। कुरुचर्[10] ई। कुरुचरी सु। कुरुचरी स्। कुरुचरी[11]॥

लशक्वतद्धिते १।३।८

प० वि०—लशकु १।१ अतद्धिते ७।१ स०—लश्च शश्च कुश्चेति लशकु (समाहारः द्वन्द्वः) न तद्धितः इति अतद्धितः तस्मिन् अतद्धिते। (नञ् तत्पु०)

अर्थ—[आदिः प्रत्ययस्य] तद्धितवर्जितस्य प्रत्ययस्य आदयः लकार-शकार-कवर्गाः इत्संज्ञकाः भवन्ति॥ (प्रत्यय के आदि ल् श् और कवर्ग की इत्संज्ञा होती है तद्धित को छोड़कर)

उदा०—चयनम्, भवति, पचति, भिन्नः॥

१—शिल्पिनि ष्वुन् (३. १. १४५) २—षः प्रत्ययस्य (१. ३. ६) ३—युवोरनाकौ (७. १. १) ४—पुगन्तलघूपधस्य च (७. ३. ८६) उरण् रपरः (१. १. ५०) ५—कृत्तद्धितसमासाश्च (१. २. ४६) ङ्याप्प्रातिपदिकात् (४. १. १) स्त्रियाम् (४. १. ३) षिद्गौरादिभ्यश्च (४. १. ४१) ६—यचि भम् (१. ४. १८) भस्य (६. ४. १२९) यस्येति च (६. ४. १४८) ७—रजकरजनरजःसूपसंख्यानं कर्त्तव्यम् (६. ४. २४ वा०) ८—चरेष्टः (३. २. १६) ९—टिड्ढा०—(४. १. १५) १०—यस्येति च (६. ४. १४८)

सि०—चिञ् । चि ल्युट् । चि युट् । चि यु । चि अन । चे अन । च् अय् अन । चयन । चयन सु । चयन अम् । चयनम् ॥

तस्य लोपः १।३।९

प० वि०—तस्य ६।१ लोपः १।१

अर्थ—तस्य इत्संज्ञकस्य लोपो भवति । (जिसकी इत्संज्ञा होती है उसका लोप होता है)

यथासंख्यमनुदेशः समानाम् १।३।१०

प० वि०—यथासंख्यम् १।१ अनुदेशः १।१ समानाम् ६।३ स०—संख्याम् अनतिक्रान्तः इति यथासंख्यम् (अव्ययीभावः समासः)

अर्थ—(पश्चात्कथनवाची अनुदेशशब्दः) समानां पश्चात्कथनं यथाक्रमं भवति ।

उदा०—नाडायनः । सौपर्णेयः । आढ्यकुलीनः । शालीयः । क्षत्रियः ।

सि०—नड । नड फक्[1] । नड फ । नड आयन[2] । नाड[3] आयन । नाड्[4] आयन । नाडायन सु । नाडायन स् । नाडायनः । सुपर्णी ढक्[5] । सुपर्णी ढ । सुपर्णी एय । सौपर्णी एय । सौपर्ण् एय । सौपर्णेय । सौपर्णेय सु । सौपर्णेय स् । सौपर्णेयः ॥ शाला छ । शाला ईय । शालीय । शालीयः ॥ क्षत्र घ । क्षत्र इय । क्षत्र् इय । क्षत्रिय । क्षत्रियः ॥

स्वरितेनाधिकारः १।३।११

प० वि०—स्वरितेन ३।१ अधिकारः १।१

अर्थ—स्वरितेन चिह्नेन अधिकारो वेदितव्यः । (स्वरित चिह्न से अधिकार समझना चाहिये)

उदा०—प्रत्ययः । धातोः । ङ्याप्प्रातिपदिकात् । अङ्गस्य । भस्य । पदस्य ।

आत्मनेपदप्रकरणम्—

अनुदात्तङित आत्मनेपदम् १।३।१२

प० वि०—अनुदात्तङितः ५।१ आत्मनेपदम् १।१ ॥ स०—अनुदात्तश्च

१—नडादिभ्यः फक् (४. १. ९९) २—आयन० (७. १. २) ३—किति च (७. २. ११८) ४—यस्येति च (६. ४. १४८) ५—स्त्रिभ्यो ढक् (४. १. १२०) स्त्री

ङश्चेति अनुदात्तङौ। इच्च इच्चेति इतौ। अनुदात्तङौ इतौ यस्य सः अनुदात्तङित् (बहु०) तस्मात्।

अर्थ—अनुदात्तेतः ङितश्च धातोरात्मनेपदं भवति। (अनुदात्त तथा ङकार इत् वाले धातु से आत्मनेपद होता है)

उदा०—एधते, शेते।

सि०—एध। एध्॥ शीङ्। शी त। शे[1] त। शे ते। शेते।

भावकर्मणोः १।३।१३

प० वि०—भावकर्मणोः ७।२ स०—भावश्च कर्म च इति भावकर्मणी तयोः भावकर्मणोः

अर्थ—[आत्मनेपदम्] भावे कर्मणि च आत्मनेपदं भवति। (भाव और कर्म में आत्मनेपद होता है)

उदा०—भावे-ग्लायते भवता, सुप्यते भवता। कर्मणि-क्रियते कटः, ह्रियते भारः। कर्मकर्त्तरि—लूयते केदारः स्वयमेव।

सि०—ग्लायते। ग्लै। ग्ला[2]। ग्ला लट्। ग्ला ल्। ग्ला त। ग्ला यक्[3] त। ग्लायत। ग्लायते[4]। ञिष्वप्। ष्वप्। स्वप्[5]। स्वप् त। स्वप् यक् त। स्वप् य त। स् उ अ[6] प य त। सुप्[7] य त। सुप्यते॥ कृ त। कृ य त। कृ य ते। क्रियते[8]। ह्रियते। लूञ्। लू त। लू यक् त। लू य त। लूयते।

कर्त्तरि कर्मव्यतिहारे १।३।१४

प० वि०—कर्त्तरि ७।१ कर्मव्यतिहारे ७।१॥ स०—कर्मणः व्यतिहारः कर्मव्यतिहारः (ष० तत्पु०) तस्मिन्।

अर्थ—(क्रियावाची कर्मशब्दः) (परस्परव्यवहारवाची विनिमयवाची वा व्यतिहारशब्दः) क्रियायाः विनिमये कर्त्तरि धातोरात्मनेपदं भवति। (क्रिया के आदान प्रदान में वर्तमान धातु से कर्त्ता में आत्मनेपद होता है)

१—शीङः सार्वधातुके गुणः (७.४.२१) २—आदेच उपदेशेऽशिति (६.१.४५) ३—लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः (३. ४. ६९) भावकर्मणोः (१. ३. १३) सार्वधातुके यक् (३. १. ६७) ४—टित आत्मनेपदानां टेरे (३. ४. ७९) ५—धात्वादेः षः सः (६. १. ६४) ६—वचिस्वपियजादीनां किति (६. १. १५) ७—सम्प्रसारणाच्च (६. १. १०८) ८—रिङ्शयग्लिङ्क्षु (७. ४. २८)

गतिश्च हिंसा चाते गतौ हिंसे । गतौ हिंसा
येषां ते गतिहिंसार्थाः ।

उदा०—व्यतिभवते, व्यतिलुनते। कृषीवलाः ।

सि०—व्यतिभू शप् त। व्यतिभवते। व्यति लूञ् । व्यतिलू श्ना झ। व्यतिलु[1] ना झ। व्यतिलु ना झ। व्यतिलुन्[2] झ। व्यतिलुन् अत[3]। व्यतिलुनते[4]। व्यतिपुनते ॥

न गतिहिंसार्थेभ्यः १।३।१५

प० वि०—न अ०। गतिहिंसार्थेभ्यः ५।३ स०—गतिरर्थो येषां धातूनाम् ते गत्यर्थाः (बहु०) हिंसा अर्थो येषां धातूनाम् ते हिंसार्थाः। उत्तर-
गत्यर्थाश्च हिंसार्थाश्च इति गतिहिंसार्थाः (पूर्वपदलोपी समासः) तेभ्यः

अर्थ—गत्यर्थेभ्यः हिंसार्थेभ्यश्च धातुभ्यः कर्मव्यतिहारे आत्मनेपदं न भवति। (गति और हिंसा अर्थवाले धातुओं से कर्मव्यतिहार में आत्मनेपद नहीं होता है)

उदा०—व्यतिगच्छति, व्यतिहिंसन्ति।

सि०—व्यतिगम्लृ। व्यतिगम्। व्यतिगम् तिप्। व्यतिगम् शप तिप्। व्यतिगम् अ ति। व्यतिगछ्[5] अ ति। व्यतिग तुक्[7] छ् अ ति। व्यतिगच्छ्[6] अ ति। व्यतिगच्छति। व्यतिहिंसि। व्यतिहिस्। व्यतिहि नुम्[8] स्। व्यतिहिन्स्। व्यतिहिन्स् शप् ति। व्यतिहिंसति[9]।

नेर्विशः १।३।१७

प० वि०—नेः ५।१ विशः ५।१ ॥

अर्थ—[आत्मनेपदम्] निपूर्वाद् विशः आत्मनेपदं भवति ॥ (निपूर्वक विश् धतु से आत्मनेपद होता है)

उदा०—निविशते।

परिव्यवेभ्यः क्रियः १।३।१८

प० वि०—परिव्यवेभ्यः ५।३ क्रियः ५।१ स०—परि च वि च अव च इति परिव्यवाः (इतरे० द्वन्द्वः) तेभ्यः।

१—प्वादीनां ह्रस्वः (७. ३. ८०) २—श्नाभ्यस्तयोरातः (६. ४. ११२) ३—आत्मनेपदेष्वनतः (७. १. ५) ४—टित आत्मनेपदानां टेरे (३. ४. ७९) ५—इषुगमियमां छः (७. ३. ७७) ६—छे च (६. १. ७३) ७—स्तोः श्चुना श्चुः (८. ४. ४०) ८—इदितो नुम् धातोः (७. १. ५८) ९—मोऽनुस्वारः (८. ३. २३) नश्चापदान्तस्य झलि (८. ३. २४)

अर्थ—परि-वि-अवपूर्वेभ्यः क्रीधातोरात्मनेपदं भवति। (परि, वि और अव उपसर्गपूर्वक क्रीधातु से आत्मनेपद होता है)

उदा०—परिक्रीणीते, विक्रीणीते, अवक्रीणीते।

सि०—परिक्री लट्। परिक्री ल्। परिक्री त। परिक्री श्ना त। परिक्री ना त। परिक्रीनीत[1]। परिक्रीणीत[2]। परिक्रीणीते।

विपराभ्यां जेः १।३।१९

प० वि०—विपराभ्याम् ५।२ जेः ५।१ स०—वि च परा च इति विपरौ (इतरे० द्वन्द्वः) ताभ्याम्।

अर्थ—विपरापूर्वाभ्यां जिधातोरात्मनेपदं भवति॥ (वि तथा परा उपसर्गपूर्वक जि धातु से आत्मनेपद होता है)

उदा०—विजयते, पराजयते।

सि०—विजि। विजि त। विजि शप् त। विजि अ त। विजि अ ते। विजे अ ते। विज् अय् अ ते। विजयते। पराजयते॥

क्रीडोऽनुसंपरिभ्यश्च १।३।२१

प० वि०—क्रीडः ५।१ अनुसंपरिभ्यः ५।३ च अ०। स०—अनु च सञ्च परि च इति अनुसंपरयः (इतरे० द्वन्द्वः) तेभ्यः।

अर्थ—[आङ्] अनुसंपरिपूर्वात् आङ्पूर्वाच्च क्रीड्धातोरात्मनेपदं भवति। (अनु, सं, परि तथा आङ् उपसर्गपूर्वक क्रीड धातु से आत्मनेपद होता है)

उदा०—अनुक्रीडते, संक्रीडते, परि क्रीडते, आक्रीडते।

सि०—अनुक्रीड्। अनुक्रीड। अनुक्रीड त। अनुक्रीड् ते। अनुक्रीड् शप् ते। अनुक्रीडते॥

समवप्रविभ्यः स्थः १।३।२२

प० वि०—समवप्रविभ्यः ५।३ स्थः ५।१॥

अर्थ—सम् अव प्र विपूर्वात् स्थाधातोरात्मनेपदं भवति। (सम्, अव, प्र और विपूर्वक स्थाधातु से आत्मनेपद होता है)

उदा०—संतिष्ठते, अवतिष्ठते, प्रतिष्ठते, वितिष्ठते।

सि०—समस्था। संस्था लट्। संस्था ल्। संस्था त। संस्था त।

१—ईहल्यघोः (६. ४. ११३) २—अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि (८. ४. २)

संस्था शप् त। संस्था अ त। संतिष्ठ्[1] अ त। संतिष्ठत। संतिष्ठते[2] ॥

उद्विभ्यां तपः १।३।२७

प० वि०—उद्विभ्याम् ५।२ तपः ५।१ ॥

अर्थ—[अकर्मकात्] उद्विपूर्वात् अकर्मकतपधातोरात्मनेपदं भवति। (उत् और वि उपसर्गपूर्वक अकर्मक तप्धातु से आत्मनेपद होता है)

उदा०—उत्तपते, वितपते, (दीप्यते इत्यर्थः)

आङो यमहनः १।३।२८

प० वि०—आङः ५।१ यमहनः ५।१ स०—यमश्च हन् च इति यमहन् (समा० द्वन्द्वः) तस्मात्

अर्थ—[अकर्मकात्] आङ्पूर्वात् अकर्मकयमहनधातोरात्मनेपदं भवति ॥ (आङ् उपसर्गपूर्वक अकर्मक यम और हन धातु से आत्मनेपद होता है)

उदा०—आयच्छते, आहते ॥

सि०—आयम। आयम् त। आयम् शप् त। आयम् अ त। आयम् अ ते। आयछ्[3] अ ते। आय तुक्[4] छ् अ ते। आयत्छ् अ ते। आयच्छ्[5] अ ते। आयच्छते ॥ आहते। आहन्। आहन् त। आहन् शप् त। आहन् त। आहत[6]। आहते ॥

समो गम्यृच्छिभ्याम् १।३।२९

प० वि०—समः ५।१ गम्यृच्छिभ्याम् ५।२ स०—गमिश्च ऋच्छिश्च इति गम्यृच्छी (इतरे० द्वन्द्वः) ताभ्याम् ॥

अर्थ—[अकर्मकात्] संपूर्वाद् अकर्मकगमिऋच्छिधातुभ्यामात्मनेपदं भवति। (संपूर्वक अकर्मक गम् और ऋच्छ् धातु से आत्मनेपद होता है)

उदा०—संगच्छते, समृच्छते।

सि०—संगम्लृ। संगम्। संगम् लट्। संगम् त। संगम् शप् त। संगम् अ त। स ग छ् अ त। स ग तुक् छ् अ त। संग त् छ् अ त। संगच्छत। संगच्छते। समृच्छते ॥

१—पाघ्राध्मा० (७. ३. ७८) २—टित आत्मनेपदानां टेरे (३. ४. ७९) ३—इषुगमियमां छः (७. ३. ७७) ४—छे च (६. १. ७३) ५—स्तोः श्चुना श्चुः (८. ४. ४०) ६—सार्वधातुकमपित् (१. २. ४) अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति (६. ४. ३७)

निसमुपविभ्यो ह्वः १।३।३०

प० वि०—निसमुपविभ्योः ५।३ ह्वः ५।१ ॥

अर्थ—नि-सम्-उप-विपूर्वात् ह्वाधातोरात्मनेपदं भवति। (नि, सम्, उप और वि पूर्वक ह्वेञ् धातु से आत्मनेपद होता है)

उदा०—निह्वयते, संह्वयते, उपह्वयते, विह्वयते।

सि०—निह्वेञ्। निह्वे त। निह्वे शप् त। निह्वे अ त। निह्वय् अ त। निह्वयते।

स्पर्द्धायामाङः १।३।३१

प० वि०—स्पर्द्धायाम् ७।१ आङः ५।१ ॥

अर्थ—[ह्वः] स्पर्द्धायां विषये आङ्पूर्वात् ह्वाधातोरात्मनेपदं भवति। (संघर्ष के विषय में आङ् उपसर्गपूर्वक ह्वेञ् धातु से आत्मनेपद होता हैं)

उदा०—मल्लो मल्लम् आह्वयते, छात्रश्छात्रमाह्वयते।

आङ उद्गमने १।३।४०

प० वि०—आङः ५।१ उद्गमने ७।१ ॥

अर्थ—[क्रमः] (ऊर्ध्वगमनवाची उद्गमनशब्दः) ऊर्ध्वगमने वर्तमानात् आङ्पूर्वात् क्रमधातोरात्मनेपदं भवति। (ऊपर जाने अर्थ में वर्तमान आङ्पूर्वक क्रम्धातु से आत्मनेपद होता है)

उदा०—आक्रमते आदित्यः, आक्रमते चन्द्रमाः।

वेः पादविहरणे १।३।४१

प० वि०—वेः ५।१ पादविहरणे ७।१ स०—पादानां विहरणम् पादविहरणम् (ष० तत्पु) तस्मिन् ॥

अर्थ—[क्रमः] (अश्वादीनां गतिविशेषैः पादविहरणमुच्यते) पादविहरणे वर्तमानाद् विपूर्वात् क्रम्धातोरात्मनेपदं भवति। (घोड़े आदि की गति विशेष में वर्तमान विपूर्वक क्रम्धातु से आत्मनेपद होता है)

उदा०—सुष्ठु विक्रमते, साधु विक्रमते।

पूर्ववत्सनः १।३।६२

प० वि०—पूर्ववत् १।१ सनः ५।१ ॥

अर्थ—सनि पूर्वो यो धातुः तद्वत् सनन्तादपि आत्मनेपदं भवति। (सन् के पूर्व जो धातु उसके समान् सन्प्रत्ययान्तधातु से भी आत्मनेपद होता है)

उदा०—आसिसिषते, शिशयिषते ।

सि०—आस । आस् सन्[१] । आस् इट्[२] सन् । आसि स । आ सि सि[३] स । आ सि सि ष[४] लट् । आसिसिष त । आसिसिषत । आसिसिषते ॥ शीङ् । शी सन् । शी स । शी शी स । शि शी स । शि शे स । शि शे इट् स । शि शय् इ स । शि शयि ष । शि शयि ष शप् त । शिशयिष अ ते । शिशियिषते ॥

आम्प्रत्ययवत्कृञोऽनुप्रयोगस्य १।३।६३

प० वि०—आम्प्रत्ययवत् १।१ कृञः ५।१ अनुप्रयोगस्य ६।१ स०—आम् प्रत्ययो यस्मात् सोऽयमाम्प्रत्ययः (बहु०) आम्प्रत्ययस्य इव इति आम्प्रत्ययवत् ।

अर्थ—आम्प्रत्ययस्येव अनुप्रयोगस्य कृञः धातोरात्मनेपदं भवति । (जिससे आम् प्रत्यय हुआ है, उसके समान पश्चात् प्रयोग किये गये कृ धातु से आत्मनेपद होता है)

उदा०—ईक्षांचक्रे, ईहाञ्चक्रे ।

सि०—ईक्ष । ईक्ष् लिट्[५] । ईक्ष् लि । ईक्ष् आम्[६] लि । ईक्ष् आम्[७] । ईक्ष् आम् कृ[८] लिट् । ईक्षाम् कृ कृ[९] लिट । क[१०] कृ लि । च[११] कृ त । च कृ एश्[१२] । च कृ ए । चक्रे[१३] । ईक्षाञ्चक्रे[१४] । ईह् आम् । ईहाञ्चक्रे ॥

१—धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा (३. १. ७) २—आर्धधातुकं शेषः (३. ४. ११४) आर्धधातुकस्येड् वलादेः (७. २. ३५) आद्यन्तौ टकितौ (१. १. ४५) ३—एकाचो द्वे प्रथमस्य (६. १. १) अजादेर्द्वितीयस्य (६. १. २) सन्यङोः (६. १. ६) ४—इण्कोः (८. ३. ५७) आदेशप्रत्यययोः (८. ३. ५९) ५—परोक्षे लिट् (३. २. ११५) ६—इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः (३. १. ३६) उपदेशेऽजनुनासिक इत् (१. ३. २) ७—आमः (२. ४. ८१) ८—कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि (३. १. ४०) ९—लिटि धातोरनभ्यासस्य (६. १, ८) १०—पूर्वोऽभ्यासः (६. १. ४) अत्रऽलोपोऽभ्यासस्य (७. ४. ५८) उरत् (७. ४. ६६) उरण् रपरः (१. १. ५०) हलादिः शेषः (७.४. ६०) ११—कुहोश्चुः (७. ४. ६२) १२—लिटस्तझयोरेशिरेच् (३. ४. ८१) अनेकाल्शित् सर्वस्य (१. १. ५४) १३—इको यणचि (६. १. ७७) १४—नश्चापदान्तस्य झलि (८. ३. २४) अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः (८. ४. ५८)

कर्तारमभिप्रैतीति कर्त्रभिप्रायम् (कर्मण्यण्

स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले १।३।७२

प० वि०—स्वरितञितः ५।१ कर्त्रभिप्राये ७।१ क्रियाफले ७।१ स०—स्वरितश्च ञश्चेति स्वरितञौ। इच्च इच्चेति इतौ। स्वरितञौ इतौ यस्येति स्वरितञित् तस्मात् स्वरितञितः। कर्तुः अभिप्रायः तस्मिन्। क्रियायाः फलं क्रियाफलं तस्मिन्।

अर्थ—[आत्मनेपदम्] क्रियायाः फलं यदि कर्तुरभिप्राये भवेत् तदा स्वरितेतः ञितश्च धातोरात्मनेपदं भवति। (क्रिया का फल यदि कर्ता के अभिप्राय में हो तो स्वरित इत् वाले तथा ञकार इत् वाले धातु से आत्मनेपद होता है)

उदा०—यजते, पचते। ञितः—सुनुते, कुरुते। कर्त्रभिप्राय इति किम्—यजन्ति याजकाः, पचन्ति पाचकाः, कुर्वन्ति कर्मकराः, ॐयद्यपि दक्षिणा भृतिश्च कर्त्तुः फलमिहास्ति तथापि न याजकार्थः नापि कर्मकारार्थः क्रियारम्भः॥

परस्मैपदप्रकरणम्—

शेषात्कर्त्तरि परस्मैपदम् १।३।७८

प० वि०—शेषात् ५।१ कर्त्तरि ७।१ परस्मैपदम् १।१॥

अर्थ—उक्तादन्यः शेषः तस्मात् धातोः कर्त्तरि परस्मैपदं भवति। (पहले कहे हुए से शेष धातु से कर्ता में परस्मैपद होता है)

उदा०—याति, वाति, प्रविशति।

सि०—या तिप्। या शप्[1] तिप्। या[2] तिप्। या ति। वा ति वाति॥ प्र विश् शप् ति। प्रविशति॥

अनुपराभ्यां कृञः १।३।७९

प० वि०—अनुपराभ्याम् ।५।२ कृञः ५।१ स०—अनु च परा च इति अनुपरौ (इतरे० द्वन्द्वः) ताभ्याम्

अर्थ—[परस्मैपदम्] अनुपरापूर्वात् कृञ्धातोः परस्मैपदं भवति। (अनु और परा उपसर्गपूर्वक कृ धातु से परस्मैपद होता हैं)

उदा०—अनुकृञ्। अनुकृ। अनुकृ लट्। अनुकृ ल्। अनुकृ तिप्। अनुकृ ति। अनुकृ उ ति। अनुक उ ति। अनुकर् उ ति। अनुकर् ओ ति। अनुकरोति। पराकरोति॥

१—कर्त्तरि शप् (३. १. ६८) २—अदिप्रभृतिभ्यः शपः (२. ४. ७२)

अभिप्रत्यतिभ्यः क्षिपः १।३।८०

प० वि०—अभिप्रत्यतिभ्यः ५।३ क्षिपः ५।१

अर्थ—अभि प्रति अतिपूर्वात् क्षिपधातोः परस्मैपदं भवति। (अभि, प्रति और अति उपसर्गपूर्वक क्षिप् धातु से परस्मैपद होता है)

उदा०—अभिक्षिपति, प्रतिक्षिपति, अतिक्षिपति।

प्राद्वहः १।३।८१

प० वि०—प्रात् ५।१ वहः ५।१

अर्थ—प्रपूर्वाद् वहधातोः परस्मैपदं भवति।
प्र उपसर्ग पूर्वक वह धातु से परस्मैपद होता है)

उदा०—प्रवहति।

परेर्मृषः १।३।८२

प० वि०—परेः ५।१ मृषः ५।१

अर्थ—परिपूर्वाद् मृषधातोः परस्मैपदं भवति। (परि उपसर्ग पूर्वक मृष्धातु से परस्मैपद होता है)

उदा०—परिमृष्यति।

व्याङ्परिभ्यो रमः १।३।८३

प० वि०—व्याङ्परिभ्यः ५।३ रमः ५।१

अर्थ—विआङ्परिपूर्वाद् रम्धातोः परस्मैपदं भवति। (वि० आङ् और परि उपसर्गपूर्वक रम्धातु से परस्मैपद होता है)

उदा०—विरमति। आरमति। परिरमति।

उपाच्च १।३।८४

प० वि०—उपात् ५।१ च अ०।

अर्थ—[रमः] उपपूर्वाच्च रम्धातोः परस्मैपदं भवति। (उप उपसर्ग पूर्वक रम् धातु से परस्मैपद होता है)

उदा०—उपरमति।

विभाषाऽकर्मकात् १।३।८५

प० वि०—विभाषा १।१ अकर्मकात् ५।१

अर्थ—उपपूर्वाद् अकर्मकाद् रम्धातोः विभाषा परस्मैपदं भवति। (उप उपसर्गपूर्वक अकर्मक रम् धातु से विकल्प से परस्मैपद होता है)।

उदा०—यावद् भुक्तमुपरमति । यावद् भुक्तम् उपरमते ।

इत्यष्टाध्यायी-प्रकाशिकायां प्रथमाध्याये तृतीयः पादः

आकडारादेका संज्ञा १।४।१

प० वि०—आ अ० । कडारात् ५।१ एका १।१ संज्ञा १।१

अर्थ—'कडाराः कर्मधारये' इति एतस्मात्पूर्वम् एका संज्ञा भवति इत्यधिकारो वेदितव्यः । ('कडारा कर्मधारये' इस सूत्र से पहले पहले एक ही संज्ञा होती है, इस बात का अधिकार समझना चाहिए)

उदा०—अततक्षत् । अररक्षत् ॥

सि०—तक्ष णिच्[1] । तक्ष् इ लुङ्[2] । तक्ष् इ चङ् तिप्[3] । तक्ष्[4] अ ति । तक्ष्[5] तक्ष् अ ति । त तक्ष् अ ति । ततक्षति[6] । ततक्षत्[7] । अततक्षत्[8] ।

विप्रतिषेधे परं कार्यम् १।४।२

प० वि०—विप्रतिषेधे ७।१ परम् १।१ कार्यम् १।१

अर्थ—तुल्यबलविरोधे परं कार्यं भवति ।

(तुल्य बल के विरोध होने पर पश्चात् वाले सूत्र का काम होता है)

उदा०—पुरुषेभ्यः ।

सि०—पुरुष भ्यस् । पुरुषे[9] भ्यस् । पुरुषेभ्यः ॥

नद्यादिसंज्ञाप्रकरणम्

यू स्त्र्याख्यौ नदी १।४।३

प० वि०—यू (अविभक्तिको निर्देशः) स्त्र्याख्यौ १।२ नदी १।१

स०—स्त्रियमाचक्षाते इति स्त्र्याख्यौ (उपपदसमासः) ई च ऊ चेति यू ॥

१—हेतुमति च (३. १. २३) २—सनाद्यन्ता धातवः (३. १. ३२) धातोः (३. १. ९१) भूते (३. २. ८४) लुङ् (३. २. ११०), प्रत्ययः (३. १. १.) परश्च (३. १. २), ३—लस्य (३. ४. ७७) तिप्तस्झि० (३. ४. ७८) णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ् (३. १. ४८) ४—आर्धधातुकं शेषः (३. ४. ११४), आर्धधातुके (६. ४. ४६) णेरनिटि (६. ४. ५१) ५—चङि (६. १. ११) ६—गुरुसंज्ञकत्वादकारस्य सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे (७. ४. ९३) इत्येष विधिर्न भवति ७—इतश्च (३. ४. १००) ८—लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः (६. ४. ७१) आद्यन्तौ टकितौ (१. १. ४५) ९—बहुवचने झल्येत् (७. ३. १०३)

अर्थ—ईकारान्तमूकारान्तञ्च स्त्र्याख्यं शब्दरूपं नदीसंज्ञं भवति। (स्त्रीलिङ्ग को कहने वाले ईकारान्त और ऊकारान्त शब्दों की नदी संज्ञा होती है)

उदा०—कुमारी, गौरी, शार्ङ्गरवी, लक्ष्मीः, ब्रह्मबन्धूः, यवागूः ॥

नेयङुवङ्स्थानावस्त्री १।४।४

प० वि०—न अ०। इयङुवङौ १।२ अस्त्री १।१ स०—इयङुवङौ स्थानमनयोरिति इयङुवङस्थानं (बहु०) तौ। न स्त्री इति अस्त्री (नञ् तत्पु०)

अर्थ [यू]—इयङुवङ्स्थानौ यू नदीसंज्ञौ न भवतः स्त्रीशब्दं वर्जयित्वा। (इयङ् उवङ् है स्थान जिसका अर्थात् कहीं पर ईकार और ऊकार के स्थान पर इयङ् या उवङ् आदेश होता है, ऐसे ईकारान्त और ऊकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों की नदी संज्ञा नहीं होती है स्त्री शब्द को छोड़कर)

उदा०—हे श्रीः। हे भ्रूः। सि०—श्री[1] सु। श्रीः। भ्रू सु। भ्रूः।

वामि १।४।५

प० वि०—वा अ०। आमि ७।१

अर्थ—[यू स्त्र्याख्यौ नदी, इयङुवङ्स्थानावस्त्री] इयङुवङ्स्थानौ स्त्र्याख्यौ यू स्त्रीशब्दं वर्जयित्वा आमि परतः वा नदीसंज्ञौ भवतः।

(इयङ् उवङ् है स्थान जिसका ऐसे ईकारान्त और ऊकारान्त, स्त्रीलिङ्ग को कहने वाले शब्दों की विकल्प से नदी संज्ञा होती है आम् के परे रहने पर स्त्री शब्द को छोड़कर)

उदा०—श्रियाम, श्रीणाम्। भ्रुवाम, भ्रूणाम्।

सि०—श्री आम्। श्र् ई आम्। श्र् इयङ्[2] आम्। श्रिय् आम्। श्रियाम्। भ्रुवाम। श्री आम्। श्री नुट्[3] आम्। श्री न् आम्। श्री ण्[4] आम्। श्रीणाम्। भ्रूणाम्।

ङिति ह्रस्वश्च १।४।६

प० वि०—ङिति ७।१ ह्रस्वः १।१ च अ०।

१—अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः (७. ३. १०७) इत्येष विधिर्न भवति २—अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ (६. ४. ७७) इत्यनेन धातुत्वाद् इयङादेशः ङिच्च (१. १. ५२) ३—ह्रस्वनद्यापो नुट् (७. १. ५४) ४—अट्कुप्वाङ्-नुम्व्यवायेऽपि (८. ४. २)

अर्थ—[यू स्त्र्याख्यौ नदी, इयङुवङ्स्थानावस्त्री, वा] ह्रस्वमिकारान्तमुकारान्तं च स्त्र्याख्यम्, इयङुवङ्स्थानौ च यू ङिति प्रत्यये परतः वा नदीसंज्ञौ भवतः स्त्रीशब्दं वर्जयित्वा। (ह्रस्व इकारान्त और उकारान्त जो स्त्रीवाचक शब्द तथा इयङ् उवङ् स्थान है, जिसका, ऐसे जो ईकारान्त और ऊकारान्त स्त्रीवाचक शब्द, इन दोनों की ङित् प्रत्यय के परे रहने पर विकल्प से नदी संज्ञा होती है स्त्री शब्द को छोड़कर)

उदा०—कृत्यै, कृतये, धेन्वै, धेनवे, श्रियै, श्रिये, भ्रुवै, भ्रुवे।

सि०—कृति ङे। कृति आट्[1] ए। कृति आ ए। कृति ऐ[2]। कृत्यै[3]। कृति ङे। कृति ए। कृते[4] ए। कृत् अय्[5] ए। कृतये। धेनु आट् ङे। धेनो आ ए। धेनवे। श्री ङे। श्र् इयङ् ङे। श्रिय् आट् ङे। श्रिय् आ ए। श्रियै। श्रियङ् ङे। श्रियङ् ए। श्रिय् ए। श्रिये। भ्रुवै। भ्रुवे।

शेषो घ्यसखि १।४।७

प० वि०—शेषः १।१ घि १।१ असखि १।१ स०—न सखि इति असखि॥

अर्थ—[ङिति] शेषो घिसंज्ञो भवति ङिति प्रत्यये परतः सखिशब्दं वर्जयित्वा। कश्च शेषः? ह्रस्वमिवर्णावर्णान्तं यन्न स्त्र्याख्यं, स्त्र्याख्यं च यन्न नदीसंज्ञकं स शेषः। (शेष की घिसंज्ञा होती है ङित् प्रत्यय के परे रहने पर, सखिशब्द को छोड़कर। शेष कौन है? ह्रस्व इकारान्त उकारान्त जो स्त्रीवाचक नहीं और स्त्री वाचक जो नदीसंज्ञक नहीं, उसे शेष कहते हैं)

उदा०—अग्नये, वायवे, कृतये, धेनवे।

सि०—अग्नि ङे। अग्नि ए। अग्ने ए। अग्नये। वायु ङे। वायो ए। वायवे। कृति ङे। कृते ए। कृतये। धेनु ङे। धेनो ए। धेनवे।

पतिः समास एव १।४।८

प० वि०—पतिः १।१ समासे ७।१ एव अ०।

अर्थ—[घि] पतिशब्दः समास एव घिसंज्ञो भवति। (पति शब्द की घि संज्ञा होती है केवल समास ही में)

१—ङिति ह्रस्वश्च (१. ४. ६) आण्नद्याः (७. ३. ११२) २—आटश्च (६. १. ९०) ३—इको यणचि (६. १. ७६) ४—शेषो घ्यसखि (१. ४. ७) घेर्ङिति (७. ३. १११) अदेङ् गुणः (१. १. २) स्थानेऽन्तरतमः (१. १. ४९) ५—एचोऽयवायावः (६. १. ७८)

उदा०—प्रजापतिना, प्रजापतये।

सि०—प्रजापति टा। प्रजापतिना। प्रजापति ङे। प्रजापति ए। प्रजापते ए। प्रजापत् अय् ए। प्रजापतये॥

ह्रस्वं लघु १।४।१०

प० वि०—ह्रस्वं १।१ लघु १।१

अर्थ—ह्रस्वमक्षरं लघुसंज्ञं भवति। (ह्रस्व अक्षर की लघु संज्ञा होती है)

उदा०—भेत्ता, अचीकरत्।

सि०—भिदिर्। भिद् तृच्। भिद् तृ। भेद् तृ। भेत्तृ। भेत्तृ सु। भेत्त् अनङ् सु। भेत्तनङ् सु। भेत्तन् सु। भेत्तन् स्। भेत्तान् स्। भेत्तान्। भेत्ता॥ अचीकरत्। कृ णिच्[1]। कृ इ। कार्[2] इ। कारि लुङ्[3]। कारि चङ्[4] लुङ्। करि[5] अ ल्। कर्[6] अ तिप्। कर्[7] कर् अ ति। क[8] कर् अ ति। च[9] कर् अ त्। चि[10] कर अ त्। चीकरत्[11]। अट् चीकरत्। अचीकरत्।

संयोगे गुरु १।४।११

प० वि०—संयोगे ७।१ गुरु १।१

अर्थ—संयोगे परतो ह्रस्वमक्षरं गुरुसंज्ञं भवति।

(संयोग के परे रहने पर ह्रस्व अक्षर की गुरु संज्ञा होती है)

उदा०—कुण्डा, हुण्डा।

सि०—कुडि। कुड्। कु नुम्[12] ड्। कुन्ड्। कुंड्[13]।

१—हेतुमति च (३. १. २६) २—अचो ञ्णिति (७. २. ११५) ३—सनाद्यन्ता धातवः (३. १. ३२) धातोः (३. १. ९०) भूते (३. २. ८४) लुङ् (३. २. ११०) प्रत्ययः (३. १. १) परश्च (३. १. २) ४—णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्त्तरि चङ् (३. १. ४८) ५—णौ चङ्युपधायाः ह्रस्वः (७. ४. १) ६—आर्धधातुकं शेषः (३. ४. ११४) आर्धधातुके (६. ४. ४६) णेरनिटि (६. ४. ५१) ७—चङि (६. १. ११) ८—पूर्वोऽभ्यासः (६. १. ४) अत्र लोपोऽभ्यासस्य (७. ४. ५८) हलादिः शेषः (७. ४. ६०) ९—कुहोश्चुः (७. ४. ६२) १०—सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे (७. ४. ९३) ११—दीर्घो लघोः (७. ४. ९४) १२—इदितो नुम्धातो (७. १. ५८) मिदचोऽन्त्यात्परः (१. १. ४६) १३—नश्चापदान्तस्य झलि (८. ३. २४)

कुण्ड् अ[1] । कुण्ड टाप्[2] । कुण्डा ॥ हुडि । हुड । हु नुम् ड । हुन्ड । हुंड । हुण्ड अ । हुण्ड टाप् । हुण्डा ॥

दीर्घं च १।४।१२

प० वि०—दीर्घं १।१ च अ० ।

अर्थ—[गुरु] दीर्घं चाक्षरं गुरुसंज्ञं भवति ।

(और दीर्घ अक्षर की गुरु संज्ञा होती है)

उदा०—ईक्षांचक्रे, ईहांचक्रे, आम्प्रत्ययवद् (१. ३. ६३) इत्यत्र साधनं द्रष्टव्यम्

यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् १।४।१३

प० वि०—यस्मात् ५।१ प्रत्ययविधिः १।१ तदादि १।१ प्रत्यये ७।१ अङ्गम् १।१ स०—प्रत्ययस्य विधिः प्रत्ययविधिः (प० तत्पु०) तस्य आदि तदादि (ष० तत्पु०)

अर्थ—यस्मात् प्रत्ययो विधीयते धातोर्वा प्रातिपतिकाद् वा तदादि शब्दरूपं प्रत्यये परतः अङ्गसंज्ञं भवति । (जिससे प्रत्यय का विधान किया जाये उसकी तथा वह धातु और प्रातिपदिक जिसके आदि में हो उसकी भी अङ्ग संज्ञा होती है प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०—केन, रामाय, करिष्यति, हरिष्यति, औपगवः, ऐतिकायनः ॥

सि०—किम् टा । क टा । क इन । केन । राम ङे । राम य । रामाय । डुकृञ् । कृञ् । कृ लृट्[3] । कृ ल् । कृ तिप् । कृ स्य[4] ति । कृ इट्[5] स्य ति । कर् इट् स्य ति । करि स्य ति । करिष्यति[6] । हरिष्यति ॥

सुप्तिङन्तं पदम् १।४।१४

प० वि०—सुप्तिङन्तम् १।१ पदम् १।१ स०—सुप् च तिङ् च इति सुप्तिङौ । अन्तश्च अन्तश्च इति अन्तौ । सुप्तिङौ अन्तौ यस्य इति सुप्तिङन्तम् ।

१—अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः (८. ४. ५८) गुरोश्च हलः (३. ३. १०३) २—स्त्रियाम् (४. १. ३) अजाद्यतष्टाप् (४. १. ४) प्रत्ययः (३. १. १) परश्च (३. १. २) ३—लृट् शेषे च (३. ३. १३) ४—स्यतासी लृलुटोः (३. १. ३३) ५—एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् (७. २. १०) ऋद्धनोः स्ये (७. २. ७०) ६—आदेशप्रत्यययोः (८. ३. ५९)

अर्थ—सुबन्तं तिङन्तञ्च शब्दरूपं पदसंज्ञं भवति। (सुप् है अन्त में जिसके और तिङ् है अन्त में जिसके ऐसे शब्दरूप की पदसंज्ञा होती है)

उदा०—जवाहरलालः लोकसभायां भाषणं ददाति।

सि०—जवाहरलाल सु। जवाहरलाल स्। जवाहरलाल रु। जवाहरलाल र। जवाहरलालः॥ लोकसभा ङि। लोकसभा याट्[1] ङि। लोकसभा या आम्[2]। लोकसभा याम्[3]॥ भाषण अम्। भाषणम्। ददाति। डुदाञ्। दा लट। दा ल्। दा तिप्[4]। दा दा तिप[5]। द[6] दा ति। ददाति॥

स्वादिष्वसर्वनामस्थाने १।४।१७

प० वि०—स्वादिषु ७।३ असर्वनामस्थाने ७।१ स०—सु आदिर्येषान्ते स्वादयः तेषु। स्वादिषु। न सर्वनामस्थानम् इति असर्वनामस्थानम् (नञ् तत्पु०) तस्मिन्।

अर्थ—[पदम्] सर्वनामस्थानभिन्नेषु स्वादिषु प्रत्ययेषु परतः पूर्वं पदसंज्ञं भवति। (सर्वनामस्थान भिन्न सु इत्यादि प्रत्ययों के परे रहने पर पूर्व की पदसंज्ञा होती है)

उदा०—राजभ्याम्, राजभिः, राजत्वम्, राजता, राजतरः, राजतमः।

सि०—राजभ्याम्। राजन् भ्याम्। राजभ्याम्[7]। राजन् भिस्। राज भिस्। राजभिः॥ राजन् त्व[8]। राजत्व सु। राजत्व अम्[9]। राजत्वम्॥ राजन् तल्[8]। राजन् त। राजत। राजत टाप्[10]। राजता। राजन् तरप्[11]। राजन् तर। राजतर। राजतर सु। राजतरः॥ राजन् तमप्[12]। राजन् तम। राज तम। राजतम। राजतम सु। राजतमः।

१—याडापः (७. ३. ११३) २—ङेराम्नद्याम्नीभ्यः (७. ३. ११६) ३—अकः सवर्णे दीर्घः (६. १. १०१) ४—तिङ्शित्सार्वधातुकम् (३. ४. ११३) [सार्वधातुके] यक् (३. १. ६७) कर्त्तरि शप् (३. १. ६८) जुहोत्यादिभ्यः श्लुः (२.४.७५) प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः (१.१.६०) ५—श्लौ (६.१.१०) ६—पूर्वोऽभ्यासः (६. १. ४) अत्र लोपोऽभ्यासस्य (७. ४. ५८) ह्रस्वः (७. ४. ५९) अभ्यासे चर्च (८. ४. ५४) ७—स्वादिष्वसर्वनामस्थाने (१. ४. १७) पदस्य (८. १. १६) नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य (८. २. ७) ८—तस्य भावस्त्वतलौ (५. १. ११९) ९—अतोऽम् (७. १. २४) १०—अजाद्यतष्टाप् (४. १. ४) प्रत्ययः (३. १. १) परश्च (३. १. २) ११—द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ (५. ३. ५७) १२—अतिशायने तमबिष्ठनौ (५. ३. ५५)

यचि भम् ॥

प० वि०—यचि ७।१ भम् १।१॥ स०—यश्च अच्च इति यच् (समा० द्वन्द्वः) तस्मिन् यचि ।

अर्थ—[स्वादिष्वसर्वनामस्थाने] सर्वनामस्थानभिन्ने स्वादौ, यकारादौ अजादौ च प्रत्यये परतः पूर्वं भसंज्ञं भवति ॥ (सर्वनामस्थान-भिन्न सु इत्यादि प्रत्ययों में यकारादि और अजादि प्रत्ययों के परे रहने पर पूर्व की भसंज्ञा होती है)

उदा०—गार्ग्यः वात्स्यः, दाक्षिः, प्लाक्षिः, सोमपः ।

सि०—गर्ग यञ्[1] । गर्ग य । गर्ग्[2] य । गार्ग् य[3] । गार्ग्य सु । गार्ग्यः । वत्स यञ् । वत्स य । वत्स् य । वात्स् य । वात्स्य सु । वात्स्यः । दक्ष[4] इञ् । दक्ष इ । दाक्ष् इ । दक्ष् इ । दाक्षि सु । दाक्षिः । प्लक्ष इञ् । प्लाक्षिः ॥ सोमपा ङस । सोमपा अस् । सोमप्[5] अस् । सोमपस् । सोमपः ॥

बहुषु बहुवचनम् १।४।२१

प० वि—बहुषु ७।३ बहुवचनम् १।१

अर्थ—बहुत्वे विवक्षिते बहुवचनं भवति । (बहुत्व के कहने की इच्छा में बहुवचन होता है)

उदा०—पुरुषाः पठन्ति ॥

द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने १।४।२२

प० वि—द्व्येकयोः ७।२ द्विवचनैकवचने १।२॥ स०—द्वौ च एकश्च इति द्व्येकौ (इतरे० द्वन्द्वः) तयोः द्व्येकयोः । द्विवचनं च एकवचनं चेति द्विवचनैकवचने (इतरे० द्वन्द्वः)

अर्थ—द्वित्वे विवक्षिते द्विवचनमेकत्वे विवक्षिते एकवचनं च भवति (दो के कहने की इच्छा हो तो द्विवचन और एक के कहने की इच्छा हो तो एक वचन होता है) ।

१—गर्गादिभ्यो यञ् (४. १. १०५) २—यचि भम् (१. ४. १८) यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् (१. ४. १३) अङ्गस्य (६. ४. १) भस्य (६. ४. १२९) यस्येति च (६. ४. १४८) ३—तद्धितेष्वचामादेः (७. २. ११७) ४—तस्यापत्यम् (४. १. ९२) अत इञ् (४.१.९५) ५—यचि भम् (१. ४. १८) *क्विबन्तं धातुत्वं न जहाति* आतो धातोः (६. ४. १४०)

सूत्रे भीत्रेति धातुनिर्देशः।

उदा०—रामौ गच्छतः। रामः गच्छति ॥

कारकप्रकरणम्

कारके १।४।२३

प० वि०—कारके ७।१

अर्थ—(क्रियायां सिद्धौ साधकत्वं कारकत्वम्) अग्रे वक्ष्यमाणानि कार्याणि कारके भवन्ति इति अधिकारो वेदितव्यः (क्रिया की सिद्धि में जो सहायक हो उसे कारक कहते हैं) आगे कहे जाने वाले कार्य कारक के विषय में होंगे, इस बात का अधिकार समझना चाहिये)।

ध्रुवमपायेऽपादानम् १।४।२४

प० वि०—ध्रुवम् १।१ अपाये ७।१ अपादानम् १।१

अर्थ—[कारके] (पृथग्भवनवाची अपायशब्दः) अपाये सति ध्रुवं यत्कारकं तदपादानसंज्ञं भवति (अपाय अर्थात् अलग होने में ध्रुव या निश्चित या अचल जो कारक उसकी अपादान संज्ञा होती है)।

उदा०—वृक्षात् पत्रं पतति। ग्रामादागच्छति। रथात्पतितः ॥

भीत्रार्थानां भयहेतुः १।४।२५

प० वि०—भीत्रार्थानां ७।३ भयहेतुः १।१॥ स०—भीश्च त्राश्च इति भीत्रौ। अर्थश्च अर्थश्च इति अर्थौ। भीत्रौ अर्थौ येषां धातूनान्ते भीत्रार्थाः (बहु०) तेषाम्। भयस्य हेतुः भयहेतुः (ष० तत्पु०)।

अर्थ—बिभेत्यर्थानां त्रायत्यर्थानां च धातूनां प्रयोगे भयस्य हेतुर्यस्तत्कारकमपादानसंज्ञं भवति। (भयार्थक और रक्षार्थक धातुओं के प्रयोग में भय का कारण जो कारक उसकी अपादानसंज्ञा होती है)।

उदा०—चौरेभ्यो विभेति। चौरेभ्य उद्विजते। त्रायत्यर्थानाम्-चौरेभ्यस्त्रायते। चौरेभ्यो रक्षति ॥

पराजेरसोढः १।४।२६

प० वि०—पराजेः ६।१ असोढः १।१ स०—सोढुं शक्यते इति सोढः न सोढः इति असोढः।

अर्थ—परापूर्वकजिधातोः प्रयोगे असोढो यस्तत्कारकम् अपादानसंज्ञं भवति। (परा उपसर्गपूर्वक जिधातु के प्रयोग में न सहने योग्य जो कारक उसकी अपादान संज्ञा होती है)

उदा०—अध्ययनात् पराजयते ॥

वारणार्थानामीप्सितः १।४।२७

प० वि०—वारणार्थानाम् ६।३ ईप्सितः १।१॥ स०—वारणम् अर्थो येषां धातूनाम् ते वारणार्थाः (बहु) तेषाम् ।

अर्थ—(प्रवृत्तिविघातो वारणम्) वारणार्थानां धातूनां प्रयोगे ईप्सितो योऽर्थस्तत्कारकमपादानसंज्ञं भवति। (प्रवृत्ति के रोकने को वारण कहते हैं) रोकना अर्थ वाले धातुओं के प्रयोग में अत्यन्त ईष्ट जो कारक उसकी अपादान संज्ञा होती है)

उदा०—यवेभ्यो गां वारयति। यवेभ्यो गां निवर्त्तयति।

अन्तर्द्धौ येनादर्शनमिच्छति १।४।२८

प० वि०—अन्तर्द्धौ ७।१ येन ३।१ अदर्शनम् १।१ इच्छति (क्रिया०)। स०—न दर्शनम् अदर्शनम् ।

अर्थ—(व्यवधानवाची अन्तर्द्धिशब्दः) अन्तर्द्धिनिमित्तं येन अदर्शनम् इच्छति तत्कारकमपदानसंज्ञं भवति। (छिपने के कारण से अपना जो अदर्शन चाहता है ऐसा जो कारक उसकी अपादान संज्ञा होती है)

उदा०—उपाध्यायादन्तर्द्धते। उपाध्यायान्निलीयते।

आख्यातोपयोगे १।४।२९

प० वि०—आख्याता १।१ उपयोगे ७।१

अर्थ—(आख्याता प्रतिपादयिता पाठयिता वा। नियमपूर्वकं विद्याग्रहणमुपयोगः) नियमपूर्वकविद्याग्रहणे यः प्रतिपादयिता तत्कारकमपादानसंज्ञं भवति। (नियमपूर्वक विद्या के ग्रहण करने में पढ़ाने वाला जो कारक उसकी अपादान संज्ञा होती है)

उदा०—उपाध्यायादधीते। उपाध्यायादागमयति।

जनिकर्त्तुः प्रकृतिः १।४।३०

प० वि०—जनिकर्त्तुः ६।१ प्रकृतिः १।१॥ स०—जनेः कर्ता जनिकर्ता (ष० तत्पु०) तस्य।

अर्थ—जन्धातोर्यः कर्ता तस्य या प्रकृतिः कारणं हेतुर्वा तत् कारकमपादानसंज्ञं भवति। (जन् धातु का जो कर्त्ता उसकी प्रकृति या कारण जो कारक उसकी अपादान संज्ञा होती है)

उदा०—शृङ्गाच्छरो जायते। गोमयाद् वृश्चिको जायते।

भुवः प्रभवः १।४।३०

प० वि०—भुवः ६।१ प्रभवः १।१॥

अर्थ—भूधातोर्यः कर्त्ता तस्य यः प्रभवः उत्पत्तिस्थानम् तत्कारकमपादनसंज्ञं भवति।

(भूधातु का जो कर्त्ता और उसका जो उत्पत्ति स्थान, वह जो कारक उसकी अपादान संज्ञा होती है)

उदा०—हिमवतो गङ्गा प्रभवति। काश्मीरेभ्यो वितस्ता प्रभवति।

सि०—हिमवत् ङसि। हिमवत् असि। हिमवत् अस्। हिमवतः।

कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम् १।४।३२

प० वि०—कर्मणा ३।१ यम् २।१ अभिप्रैति (क्रिया०) सम्प्रदानं १।१॥

अर्थ-(अभितः प्रकर्षेण एति गच्छति प्राप्नोति इति अभिप्रैति) कर्मणा क्रियया यस्य अभिप्रायं साधयति स यत्कारकं तत् सम्प्रदानसंज्ञं भवति। (क्रिया के द्वारा जिसके अभिप्राय को अच्छी तरह से सिद्ध किया जाय, वह जो कारक उसकी सम्प्रदानसंज्ञा होती है)

उदा०—उपाध्यायाय गां ददाति

रुच्यर्थानां प्रीयमाणः १।४।३३

प० वि०—रुच्यर्थानाम् ६।३ प्रीयमाणः १।१॥ स०—रुचिः अर्थो येषां धातूनाम् ते रुच्यर्थाः (बहु०) तेषाम्।

अर्थ—रुच्यर्थानां धातूनां प्रयोगे प्रीयमाणो योऽर्थस्तत् कारकं सम्प्रदानसंज्ञं भवति।

(रोचना अच्छा लगना है अर्थ जिन धातुओं का ऐसे के प्रयोग में जिसको अच्छा लगता है वह जो कारक उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है)

उदा०—देवदत्ताय रोचते मोदकः। यज्ञदत्ताय स्वदते अपूपः।

श्लाघह्नुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः १।४।३४

प० वि०—श्लाघह्नुङ्स्थाशपाम् ६।३ ज्ञीप्स्यमानः १।१॥ स०—श्लाघश्च ह्नुङ् च स्थाश्च शप् चेति श्लाघह्नुङ्स्थाशपः तेषाम्। (इतरे० द्वन्द्वः)

उत्तम ऋणं इत्यत्र व्युत्पादयन्ति विज्ञाः।

अर्थ—श्लाघह्नुङ्स्थाशपां धातूनां प्रयोगे ज्ञीप्स्यमानो योऽर्थस्तत्कारकं सम्प्रदानसंज्ञं भवति।

(श्लाघ् ह्नुङ् स्था और शप् धातु के प्रयोग में जनाये जाने की इच्छा रखने वाला जो कारक उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है)

उदा०—देवदत्ताय श्लाघते। देवदत्ताय ह्नुते। देवदत्ताय तिष्ठते। देवदत्ताय शपते। श्लाघते ज्ञापयति चेत्यर्थः।

धारेरुत्तमर्णः १।४।३५

प० वि०—धारेः ६।१ उत्तमर्णः १।१॥ स०—उत्तमम् ऋणं यस्य स उत्तमर्णः।

अर्थ—धारयतेः प्रयोगे उत्तमर्णो योऽर्थः तत्कारकं सम्प्रदासंज्ञं भवति। (धारि धातु के प्रयोग में जो ऋण देने वाला है वह जो कारक उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है)

उदा०—देवदत्ताय शतं धारयति। देवदत्ताय सहस्रं धारयति।

स्पृहेरीप्सितः १।४।३६

प० वि०—स्पृहेः ६।१ ईप्सितः १।१

अर्थ—स्पृहिधातोः प्रयोगे ईप्सितो योऽर्थस्तत् कारकं सम्प्रदानसंज्ञं भवति। (स्पृह धातु के प्रयोग में अत्यन्त इष्ट जो कारक उसकी सम्प्रदानसंज्ञा होती है)

उदा०—पुष्पेभ्यः स्पृहयति। फलेभ्यः स्पृहयति।

क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः १।४।३७

प० वि०—क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानाम् ६।३ यम् २।१ प्रति अ०। कोपः १।१॥ स०—क्रुधश्च द्रुहश्च ईर्ष्यश्च असूयश्च इति क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयाः अर्थश्च अर्थश्च अर्थश्च अर्थश्च इति अर्थाः। क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयाः अर्थाः येषां धातूनाम् ते क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थाः (बहु०) तेषाम्॥

अर्थ—(अमर्षः क्रोधः। अपकारो द्रोहः। अक्षमा ईर्ष्या। गुणेषु दोषाविष्करणमसूया) क्रुधार्थानां द्रुहार्थानां ईर्ष्यार्थानां असूयार्थानां च धातूनां प्रयोगे यं प्रति कोपस्तत् कारकं सम्प्रदानसंज्ञं भवति।

(क्रुध् द्रुह ईर्ष्य और असूय् इन अर्थ वाले धातुओं के प्रयोग में जिसके प्रति कोप किया जाता है वह जो कारक उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है)

उदा०—देवदत्ताय क्रुध्यति। देवदत्ताय द्रुह्यति। देवदत्ताय ईर्ष्यति। देवदत्ताय असूयति।

निर्दिष्टा नत्वर्थाः, क्रुधादिष्वकार उच्चारणार्थः।

क्रुधद्रुहोरुपसृष्टयोः कर्म १।४।३८

प० वि०—क्रुधद्रुहो ६।१ उपसृष्टयोः ६।२॥ स०—क्रुधश्च द्रुहश्च इति क्रुधद्रुहौ (इतरे० द्वन्द्वः) तयोः।

अर्थ—[यं प्रति कोपः] उपसर्गपूर्वकयोः क्रुधद्रुहोः धात्वोः प्रयोगे यं प्रति कोपस्तत्कारकं कर्मसंज्ञं भवति।

(उपसर्ग है पूर्व में जिस के ऐसे क्रुध और द्रुह धातु के प्रयोग में जिसके प्रति कोप किया जाय वह जो कारक उसकी कर्मसंज्ञा होती है)

उदा०—देवदत्तमभिक्रुध्यति। देवदत्तमभिद्रुह्यति।

राधीक्ष्योर्यस्य विप्रश्नः १।४।३९

प० वि०—राधीक्ष्योः ६।२ यस्य ६।१ विप्रश्नः १।१॥ स०—राधिश्च ईक्षिश्च इति राधीक्षी (इतरे० द्वन्द्वः) तयोः। विविधः प्रश्नः विप्रश्नः।

अर्थ—राध्यतेः ईक्षतेश्च धात्वोः प्रयोगे यस्य विप्रश्नः तत्कारकं सम्प्रदानसंज्ञं भवति। (राध् और ईक्ष् धातु के प्रयोग में जिसका शुभाशुभ समाचार पूछा जाय ऐसा जो कारक उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है)

उदा०—देवदत्ताय राध्यति। देवदत्ताय ईक्षते।

प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः पूर्वस्य कर्त्ता १।४।४०

प० वि—प्रत्याङ्भ्यां ५।२ श्रुवः ६।१ पूर्वस्य ६।१ कर्त्ता १।१॥ स०—प्रति च आङ् च इति प्रत्याङौ ताभ्याम्।

अर्थ—प्रति-आङ्पूर्वकश्रुधातोः प्रयोगे पूर्वस्य कर्ता, यत्कारकं तत्सम्प्रदानसंज्ञं भवति।(प्रति आङ् पूर्वक श्रुधातु के प्रयोग में पहले का जो कर्त्ता वह जो कारक उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है)

उदा०—देवदत्तः पृच्छति। यज्ञदत्तो देवदत्ताय गां प्रतिशृणोति। यज्ञदत्तो देवदत्ताय गामाशृणोति।

अनुप्रतिगृणश्च १।४।४१

प० वि०—अनुप्रतिगृणः ६।१ च अ०।

अर्थ--[पूर्वस्य कर्ता] अनुपूर्वस्य प्रतिपूर्वस्य च गृणातेः धातोः प्रयोगे पूर्वस्य कर्ता यत्कारकं तत्सम्प्रदानसंज्ञं भवति।

(अनु और प्रति पूर्वक गॄ धातु के प्रयोग में पहले का कर्त्ता जो कारक उस की संप्रदान संज्ञा होती है)।

उदा०—होता प्रथमं शंसति, तम् अन्यः प्रोत्साहयति इति अनुगृणातेरर्थः। होत्रे अनुगृणाति। होत्रे प्रतिगृणाति।

सि०—होतृ ङे। होतृ ए। होतृ ए। होत् र् ए। होत्रे।

साधकतमं करणम् १।४।४२

प० वि०—साधकतमम् १।१ करणम् १।१

अर्थ—क्रियायां सिद्धौ सहायकतमं यत् कारकं तत्करणसंज्ञं भवति। (क्रिया की सिद्धि में अत्यन्त सहायक जो कारक उसकी करण संज्ञा होती है)।

उदा०—दात्रेण लुनाति। परशुना छिनत्ति।

सि०—दात्र। दात्र टा। दात्र इन। दात्रेन। दात्रेण[1]। परशु टा। परशु ना[2]। परशुना।

दिवः कर्म च १।४।४३

प० वि०—दिवः ६।१ कर्म १।१ च अ०।

अर्थ—[करणम्] दिवधातोः प्रयोगे साधकतमं यत्कारकं तत्करणसंज्ञं भवति, चकारात् करणसंज्ञञ्च। (दिव धातु के प्रयोग में अत्यन्त सहायक जो कारक उसकी कर्म संज्ञा होती है और चकार से करणसंज्ञा भी।

उदा०—अक्षान् दीव्यति। अक्षैर्दीव्यति।

परिक्रयणे संप्रदानमन्यतरस्याम् १।४।४४

प० विं०—परिक्रयणे ७।१ सम्प्रदानम् १।१ अन्यतरस्याम् अ०।

अर्थ—(परिक्रयणं नियतकालं वेतनादिना स्वीकरणं, नात्यन्तिकः क्रय एव) परिक्रयणे साधकतमं यत्कारकं तत् सम्प्रदानसंज्ञं भवति विकल्पेन। (परिक्रयण उसे कहते हैं जिसको वेतन इत्यादि देकर किसी नियत समय तक के लिए काम में लगाया जाता है, उसको अत्यन्त खरीद ही नहीं लिया जाता है)

(परिक्रयण में अत्यन्त सहायक जो कारक उसकी विकल्प से सम्प्रदानसंज्ञा होती है, पक्ष में करण संज्ञा भी।

उदा० -शताय परिक्रीतः। शतेन परिक्रीतः। सहस्राय परिक्रीतः। सहस्रेण परिक्रीतः।

१—अट्कुप्वाङ्० (८. ४. २) २—आङो नाऽस्त्रियाम् (७. ३. १०९)।

आधारोऽधिकरणम् १।४।४५

प० वि०—आधारः १।१ अधिकरणम् १।१

अर्थ—(आध्रियन्ते अस्मिन् क्रिया इति आधारः) क्रियायां सिद्धौ आधारो यत्कारकं तदधिकरणसंज्ञं भवति। (क्रिया के करने या होने पर आधार जो कारक उसकी अधिकरण संज्ञा होती है)

उदा०—कटे आस्ते, कटे शेते, स्थाल्यां पचति।

सि०—कट ङि। कट इ। कटे॥ स्थाली ङि। स्थाली आम्। स्थाल्याम्॥

अधिशीङ्स्थासां कर्म १।४।४६

प० वि०—अधिशीङ्स्थासाम् ६।३ कर्म १।१

अर्थ—अधिपूर्वकशीङ्स्थास्धातूनां प्रयोगे आधारो यत्कारकं तत्कर्मसंज्ञं भवति। (अधि उपसर्गपूर्वक शीङ् स्था और आस् धातुओं के प्रयोग में आधार जो कारक उसकी कर्म संज्ञा होती है)

उदा०—ग्रामम् अधिशेते, ग्रामम् अधितिष्ठति, पर्वतम् अध्यास्ते।

अभिनिविशश्च १।४।४७

प० वि०—अभिनिविशः ६।१ च अ०।

अर्थ—अभिनिपूर्वस्य विश् धातोः प्रयोगे आधारो यत्कारकं तत्कर्मसंज्ञं भवति। (अभि और नि पूर्वक विश्धातु के प्रयोग में आधार जो कारक उसकी कर्मसंज्ञा होती है)

उदा०—ग्रामम अभिनिविशते।

उपान्वध्याङ्वसः १।४।४८

प० वि०—उपान्वध्याङ्वसः ६।१

अर्थ—उप अनु अधि आङ्पूर्वस्य वस्धातोः प्रयोगे आधारो यत्कारकं तत्कर्मसंज्ञं भवति। (उप अनु अधि और आङ् उपसर्गपूर्वक वस्धातु के प्रयोग में आधार जो कारक उसकी कर्मसंज्ञा होती है)

उदा०—ग्रामम् उपवसति सेना, पर्वतमुपवसति, ग्राममनुवसति, ग्राममधिवसति, ग्राममावसति।

कर्तुरीप्सिततमं कर्म १।४।४९

प० वि०—कर्तुः ६।१ ईप्सिततमम् १।१ कर्म १।१

अर्थ--कर्तुः ईप्सिततमं यत्कारकं तत्कर्मसंज्ञं भवति। (कर्त्ता का अत्यन्त इष्ट अर्थात् अत्यन्त चाहा हुआ जो कारक उसकी कर्मसंज्ञा होती है)

उदा०—पुस्तकं पठति। वेदान् पठन्ति छात्राः। ग्रामं गच्छति।

तथायुक्तं चानीप्सितम् १।४।५०

प० वि०--तथायुक्तम् १।१ च अ०। अनीप्सितम् १।१ स०—तेने प्रकारेणेति तथा। तथा युक्तम् इति तथायुक्तम्। न ईप्सितम् इति अनीप्सितम्।

अर्थ—[कर्म] येन प्रकारेण कर्तुरीप्सितं तेनैव प्रकारेण कर्तुरनीप्सितमपि यत्कारकं तत्कर्मसंज्ञं भवति।

(जिस प्रकार से कर्त्ता का अत्यन्त चाहा हुआ उसी प्रकार से कर्ता का अत्यन्त न चाहा हुआ जो कारक उसकी भी कर्मसंज्ञा होती है)

उदा०—विषं भक्षयति, चौरान् पश्यति, ग्रामं गच्छन् वृक्षमूलानि उपसर्पति।

सि०—चौरान्। चौर शस्। चौर अस्। चौरास्[1]। चौरान्[2]॥ वृक्षमूलानि। वृक्षमूल शस्। वृक्षमूल शि[3]। वृक्षमूल इ। वृक्षमूल नुम्[4] इ। वृक्षमूल नु इ। वृक्षमूलन् इ। वृक्षमूलान्[5] इ। वृक्षमूलानि॥

अकथितं च १।४।५१

प० वि०—अकथितम् १।१ च अ०। स०—न कथितम् अकथितम् (नञ् तत्पु०)

अर्थ—अपादानादिविशेषकथाभिः अकथितं यत्कारकं तत्कर्मसंज्ञं भवति। (अपादान, सम्प्रदान, करण, अधिकरण इत्यादि से न कहा गया जो कारक उसकी कर्मसंज्ञा होती है)

उदा०—दुहियाचिरुधिप्रच्छिभिक्षिचिञामुपयोगनिमित्तमपूर्वविधौ। ब्रुविशासिगुणेन च यत्सचते तदकीर्त्तितमाचरितं कविना॥ दुहि—गां दोग्धि पयः। याचि—पौरवं गां याचते। रुधि—गामवरुणद्धि व्रजम्। प्रच्छि—माणवकं पन्थानं पृच्छति। भिक्ष—पौरवं गां भिक्षते। चिञ्—

१—प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (६. १. १०२) २—तस्माच्छसो नः पुंसि (६. १. १०३) अलोऽन्त्यस्य (१. १. ५१) ३—जश्शसोः शिः (७. १. २०) अनेकाल्शित्सर्वस्य (१. १. ५४) ४—शि सर्वनामस्थानम् (१. १. ४१) नपुंसकस्य झलचः (७. १. ७२) मिदचोऽन्त्यात्परः (१. १. ४६) ५—सर्वनामस्थाने चास-

वृक्षम् अवचिनोति फलानि। ब्रूवि—माणवकं धर्मं ब्रूते। शासि—माणवकं धर्मम् अनुशास्ति॥

सि०—गो। गो अम्। गा अम्[1]। गाम्[2]॥ पौरव अम्। पौरवम्॥

गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणाम्-
अणिकर्त्ता स णौ १।४।५२

प० वि०—गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणाम् ६।३ अणिकर्ता १।१ सः १।१ णौ ७।१ स०—गतिश्च बुद्धिश्च प्रत्यवसानं चेति गतिबुद्धिप्रत्यवसानानि। अर्थश्च अर्थश्च अर्थश्च इति अर्थाः। गतिबुद्धिप्रत्यवसानानि अर्थाः येषां धातूनां ते गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थाः (बहु०)॥ शब्दः कर्म यस्य इति शब्दकर्म (बहु०) न कर्म विद्यते यस्य सः अकर्मकः। शब्दकर्म च अकर्मकश्च इति शब्दकर्माकर्मकाः॥ गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थाश्च शब्दकर्माकर्मकाश्च इति गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाः तेषाम्। अणौ कर्त्ता अणिकर्ता॥

अर्थ—गत्यर्थानां बुद्ध्यर्थानां प्रत्यवसानार्थानां शब्दकर्मकाणाम् अकर्मकाणां च धातूनां प्रयोगे अण्यन्तावस्थायां यः कर्ता कारकं तत् ण्यन्तावस्थायां कर्मसंज्ञं भवति॥

(गति, बुद्धि, भक्षण अर्थ वाले तथा शब्द कर्म है जिसका ऐसे और अकर्मक धातुओं के प्रयोग में अण्यन्त अवस्था में जो कर्त्ता कारक उसकी ण्यन्त अवस्था में कर्मसंज्ञा हो जाती है)

उदा०—गति। अणौ—गच्छति माणवको ग्रामम्। णौ—गमयति माणवकं ग्रामम्। अणौ-याति माणवको ग्रामम्। णौ-यापयति माणवकं ग्रामम्। बुद्धि। अणौ—बुध्यते माणवको धर्मम्। णौ—बोधयति माणवकं धर्मम्। अणौ—वेत्ति माणवको धर्मम्। णौ—वेदयति माणवकं धर्मम्॥ प्रत्यवसान। अणौ-भुङ्क्ते माणवकः ओदनम्। णौ-भोजयति माणवकम् ओदनम्॥ शब्दकर्म। अणौ-अधीते माणवको वेदम्। णौ-अध्यापयति माणवकं वेदम्। अणौ—पठति माणवको वेदम्। णौ-पाठयति माणवकं वेदम्। अकर्मक। अणौ—आस्ते देवदत्तः। णौ—आसयति देवदत्तम्। अणौ—शेते देवदत्तः। णौ—शाययति देवदत्तम्॥

ऽबुद्धौ (६. ४. ८) १—ओतोऽम्शसोः (६.१.९३) २—अमि पूर्वः (६.१.१०७)

हृक्रोरन्यतरस्याम् १।४।५३

प० वि०—हृक्रोः ६।२ अन्यतरस्याम् अ० । स०—हृ च कृ च इति हृकृ (समा० द्वन्द्वः) तयोः

अर्थ—[अणि कर्त्ता स णौ] हृकृधात्वोः प्रयोगे अण्यन्तावस्थायां यः कर्त्ता यत्कारकं तत् ण्यन्तावस्थायां विकल्पेन कर्मसंज्ञं भवति ।

(हृ और कृ धातु के प्रयोग में अण्यन्त अवस्था में जो कर्त्ता वह जो कारक उसकी ण्यन्त अवस्था में विकल्प से कर्मसंज्ञा हो जाती है)

उदा०—अणौ—हरति भारं माणवकः । णौ–हारयति भारं माणवकं माणवकेन वा । अणौ—करोति कटं देवदत्तः । णौ—कारयति कटं देवदत्तं देवदत्तेन वा ॥

स्वतन्त्रः कर्ता १।४।५४

प० वि०--स्वतन्त्रः १।१ कर्त्ता १।१

अर्थ—क्रियायाः सिद्धौ स्वतन्त्रो यत्कारकं तत् कर्तृसंज्ञं भवति ।

(क्रिया की सिद्धि में स्वतन्त्र जो कारक उसकी कर्ता संज्ञा होती है)

उदा०—देवदत्तः पचति । रामः गच्छति ।

तत्प्रयोजको हेतुश्च १।४।५५

प० वि०—तत्प्रयोजकः १।१ हेतुः १।१ च अ० ।

स०—तस्य प्रयोजकः तत्प्रयोजकः (प० तत्पु०)

अर्थ--[कर्ता] स्वतन्त्रस्य प्रयोजको यत्कारकं तद् हेतुसंज्ञं भवति चकारात्कर्तृसंज्ञञ्च ।

(स्वतन्त्र का जो प्रेरणा करने वाला उसकी हेतु संज्ञा होती है और चकार से कर्त्ता संज्ञा भी)

उदा०--देवदत्तः करोति । यज्ञदत्तः कुर्वाणं देवदत्तं प्रयुङ्क्ते इति यज्ञदत्तः देवदत्तं कारयति ।

साधनं हेतुमति च (३. १ २६) इति सूत्रे द्रष्टव्यम् ।

प्राग्रीश्वरान्निपाताः १।४।५६

प० वि०—प्राक् १।१ रीश्वरात् ५।१ निपाताः १।३॥

अथ--'अधिरीश्वरे' इति एतस्मात् प्राक् निपातसंज्ञाः भवन्ति इति अधिकारो वेदितव्यः । ('अधिरीश्वरे' इस सूत्र से पहले पहले निपातसंज्ञा होती है, इस बात का अधिकार समझना चाहिये)

चादयोऽसत्त्वे १।४।५७

प० वि०—चादयः १।३ असत्त्वे ७।१॥ स०—च आदिर्येषामिति चादयः । न सत्त्वम् असत्त्वम् तस्मिन् असत्त्वे ।

अर्थ—(द्रव्यवाची सत्त्वशब्दः) चादयो निपातसंज्ञाः भवन्ति न चेत् सत्त्वे भवन्ति ।

(च इत्यादि की निपात संज्ञा होती है यदि वे द्रव्य के बोधक न हों तो)

उदा०—च, वा, ह, अह, एव, एवम्, शाश्वत्,

सि०—च सु । च[1] । एव सु । एव । नूनम् सु । नूनम् ।

प्रादयः १।४।५८

प० वि०—प्रादयः १।३ स०—प्र आदिर्येषान्ते प्रादयः ।

अर्थ—[निपाताः असत्त्वे] प्रादयोऽसत्त्वे निपातसंज्ञाः भवन्ति ।

(प्र इत्यादि अद्रव्यवाची की निपात संज्ञा होती है)

उदा०—प्र, परा, अप, सम्, अनु, अव, निस्, दुस, वि, आङ्, नि, अधि, अपि, अति, सु, उत्, अभि, प्रति, परि, उप ।

उपसर्गाः क्रियायोगे १।४।५९

क्रियया योगः

प० वि०—उपसर्गाः १।३ क्रियायोगे ७।१॥ स०—क्रियायाः योगः क्रियायोगः (ष० तत्पु०) तस्मिन् ।

अर्थ—क्रियायोगे प्रादयः उपसर्गसंज्ञाः भवन्ति ।

(क्रिया के साथ सम्बन्ध होने पर प्र इत्यादि की उपसर्ग संज्ञा होती है)

उदा०—प्रणयति, परिणयति, प्रणायकः, परिणायकः ।

सि०—प्र णीञ् । प्र णी । प्र नी । प्र नी शप् तिप् । प्र ने अ ति । प्र नयति । प्रणयति[1] । परिणयति । प्रणीञ् । प्र णी । प्र नी ण्वुल् । प्र नी वु । प्र नी अक । प्र नै अक । प्र नाय् अक । प्रणायक । प्रणायक सु । प्रणायकः । परिणायकः ।

गतिश्च १।४।६०

प० वि०—गतिः १।१ च अ० ।

अर्थ—[क्रियायोगे, प्रादयः] प्रादयः क्रियायोगे गतिसंज्ञकाश्च भवन्ति । (प्र इत्यादि की क्रिया के योग में गतिसंज्ञा भी होती है)

१—उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य (८. ४. १४)

उदा०—प्रकृत्य, प्रहृत्य, प्रकृतम्, प्रहृतम्।

सि०—डुकृञ् । डुकृ । कृ । कृ क्त्वा । कृत्वा । प्र कृत्वा । प्रकृ ल्यप् । प्रकृ ल्य । प्रकृ य । प्रकृ तुक् य । प्र कृ तु य । प्रकृत्य । प्रकृत्य सु । प्रकृत्य । प्रहृत्य । प्रकृतम् । कृ क्त । कृ त । प्रकृत । प्रकृत सु । प्रकृत अम् । प्रकृतम् । प्रहृतम् ।

ते प्राग् धातोः १।४।८०

प० वि०—ते १।३ प्राक् १।१ धातोः ५।१॥

अर्थ–[गतिः उपसर्गाः] ते गति-उपसर्ग सञ्ज्ञकाःधातोः प्राक् भवन्ति । (उन गति और उपसर्ग संज्ञा वाले शब्दों का प्रयोग धातु के पहले होता है)

छन्दसि परेऽपि १।४।८१

प० वि—छन्दिसि ७।१ परे ७।१ अपि १।१

अर्थ—[ते धातोः] छन्दसि विषये ते गति-उपसर्गाः धातोः परेऽपि भवन्ति । (छन्द के विषय में गति और उपसर्ग संज्ञा वाले शब्दों का प्रयोग धातु के पश्चात् भी होता है)

उदा०—याति नि हस्तिना । हन्ति नि मुष्टिना । नियाति । निहन्ति ।

व्यवहिताश्च १।४।८२

प० वि०—व्यवहिताः १।३ च १।१

अर्थ—[ते धातोः] ते गति-उपसर्गसंज्ञकाश्छन्दसि व्यवहिताश्च भवन्ति । (उन गति और उपसर्ग संज्ञा वाले शब्दों का प्रयोग छन्द में व्यवधान युक्त भी होता है)

उदा०—आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयूररोमभिः । आयाहि ।

कर्मप्रवचनीयाः १।४।८३

प० वि०—कर्मप्रवचनीयाः १।३

अर्थ—इतः ऊर्ध्वं कर्मप्रवचनीयसञ्ज्ञाः भवन्ति इति अधिकारो वेदित्तव्यः । (इसके पश्चात् कर्मप्रवचनीय संज्ञा का अधिकार समझना चाहिये)

अपपरी वर्जने १।४।८८

प० वि०—अपपरी १।२ वर्जने ७।१। स०—अपश्च परिश्च इति अपपरी ।

अर्थ—वर्जने अर्थे अपपरी कर्मप्रवचनीयसंज्ञौ भवतः ।

× पञ्चाला ब्रह्मदत्तस्य स्वभूता इत्यर्थः।

(वर्जन अर्थ में अप और परि की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है)

उदा०—अप त्रिगर्त्तेभ्यो वृष्टो देवः। परि त्रिगर्त्तेभ्यो[1] वृष्टो देवः।

आङ् मर्यादावचने १।४।८९

प० वि०—आङ् १।१ मर्यादावचने ७।१।। स०—मर्यादायाः वचनम् मर्यादावचनं (ष० तत्पु०) तस्मिन्।

अर्थ—मर्यादावचने अर्थे आङ् कर्मप्रवचनीयसंज्ञो भवति।

उदा०—आ पाटलिपुत्राद् वृष्टो देवः। आकुमारं यशः पाणिनेः।

सि०—पाटलिपुत्रात्[1]। पाटलिपुत्र ङसि। पाटलिपुत्र आत्। पाटलिपुत्रात्। आकुमारम्। आ कुमारात्। आ सु कुमार ङसि[2]। आकुमार सु। आकुमार अम्। आकुमारम्[3]।

अधिरीश्वरे १।४।९०

प० वि०—अधिः १।१ ईश्वरे ७।१।।

अर्थ—ईश्वरे अर्थे अधिः कर्मप्रवचनीयसंज्ञो भवति।

(अधिक कहने अर्थ में अधि की कर्म प्रवचनीय संज्ञा होती है)

उदा०—अधि ब्रह्मदत्ते पञ्चालाः। अधि पञ्चालेषु ब्रह्मदत्तः। तत्र स्वामीत्यर्थः

लः परस्मैपदम् १।४।९९

प० वि०—लः ६।१ परस्मैपदम् १।१।।

अर्थ—लादेशाः परस्मैपदसंज्ञाः भवन्ति। (ल् के स्थान में जो आदेश होते हैं उनकी परस्मैपदसंज्ञा होती है)

उदा०—भवति, भवतः, भवन्ति। भवसि, भवथः, भवथ। भवामि, भवावः, भवामः।

सि०—भू लट्। भू तिप्। भू ति। भू शप् ति। भू अ ति। भो अ ति। भव् अति। भवति। भू मिप्। भू मि। भू शप् मि। भू अ मि। भो अ मि। भव् अ मि। भव् आ[4] मि। भव् आमि। भवामि।

तङानावात्मनेपदम् १।४।१००

प० वि०—तङानौ १।२ आत्मनेपदम् १।१।। स०—तङ् च आनश्च इति तङानौ (इतरे० द्वन्द्वः)

१—पञ्चम्यपाङ्परिभिः (२. ३. १०) इति पञ्चमी २—आङ् मर्यादाभिविध्योः (२. १. १२) ३—अव्ययीभावश्च (१. १. ४०) नाव्ययीभावा० (२. ४. ८३) अमि पूर्वः (६. १. १०७) ४—अतो० (७. ३. १०१)।

अर्थ—तङानौ आत्मनेपदसंज्ञौ भवतः।
(तङ् और आन की आत्मनेपदसंज्ञा होती है)

उदा०—एधते, एधेते, एधन्ते। एधसे, एधेथे, एधध्वे। एधे, एधावहे, एधामहे। एधमानः।

सि०—एध। एध् लट्। एध् ल। एध् ल्। एध् त। एध् शप् त। एध् अ त। एध् अ ते[1]। एधते। एध् आताम्। एध् शप् आताम्। एध् अ आताम्। एध् अ इय्[2] ताम्। एध् अ इ[3] ताम्। एध् एताम्[4]। एध् एत् आम्। एध् एत् ए[1]। एधेते। एधन्ते। एध् झ। एध् अन्त। एध् शप् अन्त। एध् अ अन्त। एध् अन्त। एधन्ते॥ एध् लट्। एध् ल्। एध् थास्। एध् से[5]। एध् शप् से। एध् अ से। एधसे। एध् शप् आथाम्। एध् अ आथाम्। एध् अ इय्[2] थाम्। एध् अ इ[3] थाम्। एध् ए थाम्। एधे थाम्। एधेथे। एध् शप् ध्वम्। एध् अ ध्वे[1]। एधध्वे। एध् शप् इट्। एध् अइ। एध ए। एधे। एध शप् वहि। एध् अ वहि। एध वहि। एध वहे[1]। एधावहे[6]। एध् महिङ्। एध् शप् महि। एध अ महे। एध महे। एधामहे। एध् लट्। एध् शानच्[7]। एध् आन। एध् शप्[8] आन। एध् अ आन। एध् अ मुक्[9] आन। एध् अ मु आन। एध् अम् आन। एधमान सु। एधमानः।

तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रथममध्यमोत्तमाः १।४।१०१

प० वि०—तिङः ६।१ त्रीणि १।३ त्रीणि १।३ प्रथममध्यमोत्तमाः १।३
स०—प्रथमश्च मध्यमश्च उत्तमश्चेति प्रथममध्यमोत्तमाः (इतरे० द्वन्द्वः) प्रथममध्यमोत्तमाश्च प्रथममध्यमोत्तमाश्चेति प्रथममध्यमोत्तमाः।

अर्थ–तिङः त्रीणि त्रीणियथा संख्यं प्रथममध्यमोत्तमसंज्ञाः भवन्ति।
(तिङ् के तीन तीन की क्रमशः प्रथम, मध्यम और उत्तम संज्ञा होती है)

उदा०—तिप्, तस्, झि, इति प्रथमः। सिप्, थस्, थ, इति

१–टित आत्मनेपदानां टेरे (३. ४. ७९) २—आतो ङितः (७. २. ८१) ३—लोपो व्योर्वलि (६. १. ६६) ४—आद् गुणः (६. १. ८७) ५—थासः से (३. ४. ८०) अनेकाल्शित्सर्वस्य (१. १. ५४) ६—अतो दीर्घो यञि (७. ३. १०१) ७—लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे (३. २. १२४) ८—कर्त्तरि शप् (३. १. ६८) ९—आने मुक् (७. २. ८२) आद्यन्तौ टकितौ (१. १. ४५)

मध्यमः। मिप्, वस्, मस्, इति उत्तमः। त आताम्, झ, इति प्रथमः। थास्, आथाम्, ध्वम् इति मध्यमः। इट्, वहि, महिङ् इति उत्तमः।

तान्येकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः १।४।१०२

प० वि०—तानि १।३ एकवचनद्विवचनबहुवचनानि १।३ एकशः ११ स०—एकवचनं च द्विवचनं च बहुवचनं चेति एकवचनद्विवचनबहुवचनानि (इतरे० द्वन्द्वः)

अर्थ—[तिङस्त्रीणित्रीणि] तानि तिङः त्रीणि त्रीणि एकशः एकवचनद्विवचनबहुवचनसंज्ञानि भवन्ति। (उन तिङ् के तीन तीन की एक एक करके एकवचन, द्विवचन और बहुवचन संज्ञा होती है)

उदा०--तिबित्येकवचनम्, तस् इति द्विवचनम्, झि इति बहुवचनम्।

सुपः १।४।१०३

प० वि०—सुपः ६।१

अर्थ—[त्रीणि त्रीणि, एकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः] सुपः त्रीणि त्रीणि एकशः एकवचनद्विवचनबहुवचनसंज्ञानि भवन्ति।

(सुप् के तीन तीन पद एक एक करके एकवचन, द्विवचन और बहुवचन संज्ञावाले होते हैं)

उदा०—सु इति एकवचनम्, औ इति द्विवचनम्, जस् इति बहुवचनम्, एवं सर्वत्र।

विभक्तश्च १।४।१०४

प० वि०—विभक्तिः १।१ च अ०।

अर्थ—[तिङः, सुपः, त्रीणि त्रीणि] सुपः तिङश्च त्रीणि त्रीणि विभक्तिसंज्ञानि भवन्ति।

(सुप् और तिङ् के तीन तीन की विभक्ति संज्ञा होती है)

उदा०—पठतः। रामान्।

सि०—पठ् शप् तस्। पठ् अ तस्[1]। पठतस्। पठतः। राम शस्। राम अस्[1]। रामास्। रामान्[2]॥

१—न विभक्तौ तुस्माः (१. ३. ४) २—तस्माच्छसो नः पुंसि (६. १. ६६) अलोऽन्त्यस्य (१. १. ५१) हलन्त्यम् (१. ३. ३) न विभक्तौ० (१. ३. ४)

युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः १।४।१०५

प० वि०—युष्मदि ७।१ उपपदे । ७।१ समानाधिकरणे ७।१ स्थानिनि ७।१ अपि अ० । मध्यमः १।१

अर्थ—युष्मदि उपपदे सति समानाभिधेये तुल्यकारके प्रयुज्यमाने अप्रयुज्यमाने अपि मध्यमपुरुषो भवति ।

(युष्मद् शब्द के उपपद रहने पर और समान अधिकरण में युष्मद् शब्द के प्रयोग होने या न होने पर भी मध्यम पुरुष होता है)

उदा०—त्वं पचसि, युवाम् पचथः, यूयम् पचथ । पचसि, पचथः पचथ ।

अस्मद्युत्तमः १।४।१०७

प० वि०—अस्मदि ७।१ उत्तमः १।१

अर्थ—[उपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि] अस्मदि उपपदे सति समानाभिधेये तुल्यकारके प्रयुज्यमाने अप्रयुज्यमाने अपि उत्तमपुरुषो भवति । (अस्मद् शब्द के उपपद रहने पर और समान अधिकरण में अस्मद् शब्द के प्रयोग होने या न होने पर भी उत्ताम पुरुष होता है)

उदा०—अहं पचामि, पचामि । आवां पचावः, पचावः । वयं पचःमः, पचामः ।

शेषे प्रथमः १।४।१०८

प० वि०— शेषे ७।१ प्रथमः १।१

अर्थ—(उक्तादन्यः शेषः) यत्र युष्मदस्मदी समानाधिकरणे उपपदे न स्तः तत्र शेषे प्रथमपुरुषो भवति । (जहां युष्मद् और अस्मद् समान अधिकरण में उपपद नहीं हैं वहां शेष में प्रथम पुरुष होता है)

उदा०—सः पचति, पचति । तौ पचतः, पचतः । ते पचन्ति, पचन्ति ।

परः सन्निकर्षः संहिता १।४।१०९

प० वि०—परः १।१ सन्निकर्षः १।१ संहिता १।१

अर्थ—(अतिशयवाची परशब्दः) अतिशयः सन्निकर्षः संहिता संज्ञा भवति । (अत्यन्त निकट की संहिता संज्ञा होती है)

सि०—दधिअत्र । दध्य्अत्र । दध्यत्र ॥

विरामोऽवसानम् १।४।११०

प० वि०—विरामः १।१ अवसानम् १।१

अर्थ—विरामः अवसानसंज्ञो भवति।
(विराम की अवसान संज्ञा होती है)
उदा०—रामः, रामाः, रामैः, रामेभ्यः।
सि०—रामः। राम सु। रामस्। रामरु। रामर्। रामः

इतिश्रीमत्पदवाक्यप्रमाणज्ञमहावैयाकरणपण्डितब्रह्मदत्ताचार्याणामन्तेवासिना देवप्रकाशपातञ्जलेन विरचितायामष्टाध्यायी-प्रकाशिकायां प्रथमाध्याये
चतुर्थः पादः
इति प्रथमोऽध्यायः

समर्थः पदविधिः २।१।१

प० वि०–समर्थः १।१। पदविधिः १।१ स०–समर्थाद् विधिः समर्थविधिः। समर्थस्य समर्थयोर्वा विधिः समर्थविधिः। समर्थानां विधिः समर्थविधिः। समर्थे विधिः समर्थविधिः। समर्थविधिश्च समर्थविधिश्च समर्थविधिश्च समर्थविधिश्च समर्थविधिश्च इति समर्थविधयः। (सर्वविभक्त्यन्तसमासः) पदाद् विधिः पदविधिः। पदस्य विधिः पदविधिः पदयोर्विधिः पदविधिः। पदानां विधिः पदविधिः। पदे विधिः पदविधिः। पदविधिश्च पदविधिश्च पदविधिश्च पदविधिश्च पदविधिश्च इति पदविधयः। (सर्वविभक्त्यन्तःसमासः) समर्थविधयश्च पदविधयश्च इति समर्थः पदविधिः (पूर्वः समास उत्तरपदलोपी, यादृच्छिकी विभक्तिश्च)

अर्थ—(परिभाषेयम्) समर्थानां सम्बद्धार्थानां पदानाम् अस्मिन् शास्त्रे विधिर्भवति (यह परिभाषा सूत्र है। समर्थ=सम्बद्ध अर्थ वाले पदों का इस व्याकरण शास्त्र में विधान होता है)

उदा०—*येन सह यस्य योगो भवति, तेन सह स समर्थो भवति। वक्ष्यति, द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः (२. १. २३)। कष्टं श्रितः कष्टश्रितः। इत्यत्र कष्ट-शब्दस्य श्रित-शब्देन सह योगोऽस्ति। अत एव समासो भवति। परन्तु भुङ्क्ते त्वं कष्टं, श्रितः शिष्यो गुरुम् इत्यत्र कष्ट-शब्दस्य श्रितेन सह समर्थता सम्बन्धो वा नास्ति, अतः असमर्थत्वात् समासो न भवति। एवं सर्वत्र समर्थस्य कार्यं भवति इति योजनीयम्।*

(जिसके साथ जिसका सम्बन्ध होता है उसके साथ वह समर्थ होता है। कहेंगे, द्वितीया इत्यादि सूत्र। 'कष्टं श्रितः' यहाँ पर कष्ट शब्द का श्रित शब्द के साथ सम्बन्ध है। क्योंकि कष्ट को प्राप्त होना यहां अर्थ है। अतः दोनों शब्दों में समर्थता है, इसलिए यहां समास होता है परन्तु भुङ्क्षे त्वं कष्टं, श्रितः शिष्यो गुरुम्, यहाँ पर भोग रहा है तू कष्ट को, प्राप्त हुआ शिष्य गुरु को, यहां पर कष्ट शब्द का श्रित के साथ कोई सम्बन्ध नहीं, अतः समास नहीं होता है।

[सुप्] आमन्त्रिते पराङ्गवत्स्वरे २।१।२

प्राक्कडारात्समासः २।१।३

प० वि०—प्राक् १।१ कडारात् ५।१

अर्थ—'कडाराः कर्मधारये' इति एतस्मात् प्राक् समासो भवति इति अधिकारो वेदितव्यः। ('कडाराः कर्मधारये' इस सूत्र से पहले पहले समास का अधिकार समझना चाहिये)

सह सुपा २।१।४

प० वि०—सह अ०। सुपा ३।१

अर्थ—[सुप्] सुपा सह सुप् समस्यते इति अधिकारो वेदितव्यः। (सुबन्त के साथ सुबन्त का समास होता है, इस बात का अधिकार है)

समासप्रकरणम्

अव्ययीभावः १।१।५

प० वि०—अव्ययीभावः १।१

अर्थ—अव्ययीभावः इति अधिकारो वेदितव्यः (इसके पश्चात् अव्ययीभाव का अधिकार समझना चाहिये)

अव्ययं विभक्ति-समीप-समृद्धि-व्यृद्धि-अर्थाभाव-अत्यय-असंप्रति-शब्दप्रादुर्भाव-पश्चाद्-यथा-आनुपूर्व्य-यौगपद्य-सादृश्य-संपत्ति-साकल्य-अन्तवचनेषु २।१।६

प० वि०—अव्ययम्। १।१ विभक्ति-अन्तवचनेषु ७।३ स०—विभक्तिश्च समीपञ्च समृद्धिश्च व्यृद्धिश्च अर्थाभावश्च अत्ययश्च असम्प्रतिश्च शब्दप्रादुर्भावश्च पश्चाच्च यथा च आनुपूर्व्यञ्च यौगपद्यञ्च सादृश्यञ्च सम्पत्तिश्च साकल्यञ्च अन्तश्च इति विभक्तिसमीपसमृद्धिव्यृद्ध्यर्थाभावात्ययासम्प्रतिशब्दप्रादुर्भावपश्चाद्यथानुपूर्व्ययौग्यपद्यसादृश्यसंपत्तिसाकल्यान्ताः।

वचनञ्च वचनञ्च वचनञ्च वचनञ्च वचनञ्च वचनञ्च वचनञ्च वचनञ्च वचनञ्च वचनञ्च वचनञ्च वचनञ्च वचनञ्च वचनञ्च वचनञ्च वचनञ्च इति वचनानि। विभक्ति-समीप-समृद्धि-व्यृद्धि-अर्थाभाव-अत्यय—असम्प्रति- शब्दप्रादुर्भाव-पश्चाद्-यथा-आनुपूर्व्य-यौगपद्य-सादृश्य-संपत्ति-साकल्यन्तानां वचनानि इति विभक्तिसमीपसमृद्धिव्यृद्धि-अर्थाभावात्ययासम्प्रतिशब्दप्रादुर्भावपश्चाद्-यथानुपूर्व्ययौगपद्यसादृश्यसंपत्तिसाकल्यान्तवचनानि (ष० तत्पु०) तेषु ॥

अर्थ—विभक्त्यादिषु अर्थेषु यदव्ययं तत् समर्थेन सुबन्तेन सह समस्यते अव्ययीभावश्च समासो भवति।

(विभक्ति इत्यादि अर्थों में जो अव्यय वह समर्थ अर्थात् सम्बन्धित सुवन्त के साथ समास को प्राप्त होते हैं और उसकी अव्ययीभाव संज्ञा होती है)

उदा०—विभक्तिवचने—अधिस्त्रि, अधिकुमारि। समीपवचने—उपकुम्भम्, उपकृष्णम्। समृद्धिवचने—सुमद्रम्, सुमगधम्। व्यृद्धि-वचने—दुर्गवदिकम्, दुर्यवनम्। अर्थाभाववचने—निर्मक्षिकम्, निर्मशकम्। अत्ययवचने - निर्हिमम्, निःशीतम्। असम्प्रतिवचने—अतितैसृकम्। शब्दप्रादुर्भाववचने—इतिपाणिनि, तत्पाणिनि। पश्चाद्-वचने—अनुरथम्। ❀ यथा—योग्यता, वीप्सा, पदार्थानतिवृत्तिः सादृश्यं चेति यथार्थाः ❀ योग्यतावचने—अनुरूपम्। वीप्सावचने—प्रत्यर्थम्। पदार्थानति वृत्तिवचने—यथाशक्ति। आनुपूर्व्यवचने—अनुज्येष्ठम्। यौगपद्यवचने—सचक्रं धेहि। सादृश्यवचने—ससखि। सम्पत्तिवचने-सब्रह्म बाभ्रवाणाम्, सक्षत्रं शलङ्कायनानाम्। साकल्यचवने—सतृणम-भ्यवहरति, सबुसमभ्यवहरति। अन्तवचने—साग्न्यधीते।

सि०—स्त्रीषु अधिकृत्य कथा प्रवर्त्तते इति अधिस्त्रि इति लौकिको विग्रहः। अलौकिकविग्रहस्तु-स्त्री सुप् अधि सु। अधि सु स्त्री सुप्[1]। अधिस्त्री[2]। अधिस्त्रि[3]। अधिस्त्रि सु[4]। अधिस्त्रि[5]। अधिकुमारि।

१—प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् (१. १. ४३) उपसर्जनं पूर्वम् (२. २. ३०) २—प्राक्कडारात्समासः (२. १. ३) कृत्तद्धितसमासाश्च (१. २. ४६) सुपो० (२. ४. ७१) प्रत्ययस्य० (१. १. ६०) ३—अव्ययीभावश्च (२. ४. १८) ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य (१. २. ४७) ४—ङ्याप्प्रातिपदिकात् (४. १. १) स्वौ० (४. १. २) सुपः (१. ४. १०२) विभक्तिश्च (१. ४. १०२) द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने (१. ४. २२) इति एकत्वे विवक्षिते सु, प्रत्ययः (३. १. १) परश्च (३. १. २) ५—अव्ययीभावश्च (१. १. ४०) अव्ययादाप्सुपः (२.

कुम्भस्य समीपम् इति लौकिको विग्रहः। अलौकिकविग्रहस्तु कुम्भ ङस् उप सु। उप सु कुम्भ ङस्। उपकुम्भ। उपकुम्भ सु। उपकुम्भ अम्[1]। उपकुम्भम्। उपकृष्णम्।

मगधानां समृद्धिः इति सुमगधम्। मगध आम् सु सु। सु सु मगध आम्। सुमगध। सुमगध सु। सुमगध अम्। सुमगधम्। सुमद्रम्।

गवदिकानामृद्धेरभावो दुर्गवदिकम्। गवदिक आम् दुर् सु। दुर् सु गवदिक आम्। दुर्गवदिक। दुर्गवदिक सु। दुर्गवदिक अम। दुर्गवदिकम्।

मत्तिकाणाभावः इति निर्मत्तिकम्। मत्तिक आम् निर् सु। निर् सु मत्तिक आम्। निर्मत्तिक। निर्मत्तिक सु। निर्मत्तिक अम्। निर्मत्तिकम्।

अतीतानि हिमानि इति निर्हिमम्। निर् सु हिम जस्। निर् सु हिम जस्। निर्हिम सु। निर्हिम अम्। निर्हिमम्।

तैसृकस्य असम्प्रति इति अतितैसृकम्। तैसृक ङस् अति सु। अति सु तैसृक ङस्। अतितैसृक सु। अतितैसृक अम्। अतितैसृकम्।

पाणिनिः शब्दस्य प्रकाशता। पाणिनि सु इति सु। इति सु पाणिनि सु। इतिपाणिनि। इतिपाणिनि सु। इतिपाणिनि।

रथस्य पश्चात् इति अनुरथम्। रथ ङस् अनु सु। अनु सु रथ ङस्। अनुरथ। अनुरथ सु। अनुरथ अम्। अनुरथम्।

रूपस्य योग्यम् इति अनुरूपम्। रूप ङस् अनु सु। अनु सु रूप ङस्। अनुरूप। अनुरूप सु। अनुरूप अम्। अनुरूपम्।

अर्थमर्थं प्रति इति प्रत्यर्थम्। अर्थ अम् प्रति सु। प्रति सु अर्थ अम्। प्रतिअर्थ। प्रत्यर्थ सु। प्रत्यर्थ अम्। प्रत्यर्थम्।

शक्तिमनतिक्रम्य इति यथाशक्ति। शक्ति अम् यथा सु। यथा सु शक्ति अम्। यथाशक्ति। यथाशक्ति सु। यथाशक्ति।

ज्येष्ठमानुपूर्व्यम् इति अनुज्येष्ठम्। ज्येष्ठ अम् अनु सु। अनु सु ज्येष्ठ अम्। अनुज्येष्ठ। अनुज्येष्ठ सु। अनुज्येष्ठ अम्। अनुज्येष्ठम्।

युगपच्चक्रं धेहि इति सचक्रं धेहि। सह सु चक्र टा। सह सु

---

४. ८२) प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः (१. १. ६०)। १—अव्ययादाप्सुपः इति प्राप्ते, नाव्ययीभावादतोऽम्त्वपञ्चम्याः (२. ४. ८३) परः सन्निकर्षः संहिता (१.

× नहि समानशब्दोऽव्ययम् ।

चक्र टा। सहचक्र। सचक्र[1]। सचक्र सु। सचक्र अम्। सचक्रम्।

सदृशः सख्या इति ससखि। समान सु सखि टा। समान सु सखि टा। स[2] सखि। ससखि सु। ससखि। ब्रह्मणः सम्पत्तिः इति सब्रह्म। ब्रह्मन् टा सह सु। सह सु ब्रह्मन् टा। स[1] ब्रह्मन्। सब्रह्मन् सु। सब्रह्मन्। सब्रह्म।

तृणानां साकल्यम् इति सतृणम्। तृण भिस् सह सु। सह स तृण भिस्। स[1] तृण। सतृण सु। सतृण अम्। सतृणम्।

अग्नेरन्तः इति साग्नि। अग्नि टा सह सु। सह सु अग्नि टा। स[1] अग्नि। साग्नि सु। साग्नि।

यथाऽसादृश्ये २।१।७

प० वि०—यथा अ०। असादृश्ये ७।१॥ स०—न सादृश्यम् इति असादृश्यम् (नञ् तत्पु०) तस्मिन्।

अर्थ—असादृश्ये वर्तमानं यथा इति अव्ययं सुबन्तेन सह समस्यते अव्ययीभावश्च समासो भवति। (सादृश्य से भिन्न अर्थ में यथा यह अव्यय समर्थ सुवन्त के साथ समास को प्राप्त होता है और उसकी अव्ययीभाव संज्ञा होती है।

उदा०—यथावृद्धम् ब्राह्मणानामामन्त्रयस्व। यथाध्यापकम्।

सि०—यथावृद्धम्। ये ये वृद्धाः। यथा सु वृद्ध जस्। यथावृद्ध। यथावृद्ध सु। यथावृद्ध अम्। यथावृद्धम्।

[विभाषा] अपपरिबहिरञ्चवः [पञ्चम्या] २।१।११

आङ् मर्यादाभिविध्योः २।१।१२

प० वि०—आङ् १।१ मर्यादाभिविध्योः ७।२॥ स०—मर्यादा च अभिविधिश्चेति मर्यादाभिविधी (इतरे० द्वन्द्वः) तयोः।

अर्थ—[पञ्चम्या] आङ् इति एतद् अव्ययं मर्यादायाम् अभिविधौ च वर्तमानं पञ्चम्यन्तेन सुबन्तेन सह विभाषा समस्यते अव्ययीभावश्च समासो भवति। (मर्यादा और अभिविधि में वर्तमान आङ् अव्यय पञ्चम्यन्त समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होता है)

---

४. १०८) संहितायाम् (६. १. ७०) एकः पूर्वपरयोः (६. १. ८१) अमि पूर्वः (६. १. १०३) १—अव्ययीभावे चाकाले (६. ३. ८१)। २—समानस्य (६. ३. ८४) योगविभागात् सभावः

उदा०—मर्यादायाम्—आपटलिपुत्रं वृष्टो देवः। आपाटलिपुत्रात्। अभिविधौ–आकुमारं यशः पाणिनेः। आ कुमारेभ्यः।

सि०—आपाटलिपुत्रम्। आ पाटलिपुत्रात्। आङ् सु पाटलिपुत्र ङसि। आ पाटलिपुत्र। आपाटलिपुत्र सु। आपाटलिपुत्र अम्। आपाटलिपुत्रम्। आकुमारम्। आ कुमारेभ्यः। आङ् सु कुमार, भ्यस्। आकुमार। आकुमार सु। आकुमार अम्। आकुमारम्।

तत्पुरुषः २।१।२१

प० वि०—तत्पुरुषः १।१

अर्थ—प्राग्बहुव्रीहेः तत्पुरुषः इति अधिकारो वेदितव्यः।

('शेषो बहुव्रीहिः' से पहले-पहले तत्पुरुष का अधिकार समझना चाहिये)

द्विगुश्च २।१।२२

प० वि०—द्विगुः १।१ च अ०।

अर्थ—द्विगुश्च समासस्तत्पुरुषसंज्ञो भवति। (द्विगु समास की तत्पुरुष संज्ञा होती है)। उदा०—पञ्चराजी। पञ्चगवम्।

सि०—पञ्चनां राज्ञां समाहारः। पञ्चन् आम् राजन् आम्। पञ्चन् राजन्[1]। पञ्चराजन् टच्[2]। पञ्चराजन् अ। पञ्चराज्[3] अ। पञ्चराज ङीप्[4]। पञ्चराज ई। पञ्चराज् ई[5]। पञ्चराजी। पञ्चराजी सु। पञ्चराजी स्। पञ्चराजी।

पञ्चगवम्। पञ्चानां गवाम् समाहारः। पञ्चन् आम् गो आम्। पञ्च गो। पञ्चगो टच्[6]। पञ्चगो अ। पञ्चगव् अ। पञ्चगव सु। पञ्चगव अम्। पञ्चगवम्।

द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः २।१।२३

प० वि०—द्वितीया १।१ श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः ३।३

स०—श्रितश्च अतीतश्च पतितश्च गतश्च अत्यस्तश्च प्राप्तश्च आपन्नश्च इति श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नाः (इतरे० द्वन्द्वः) तैः

१—तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च (२. १. ५०) २—राजाहःसखिभ्यष्टच् (५. ४. ९१) ३—नस्तद्धिते (६. ४. १४४) ४—संख्यापूर्वो द्विगुः (२. १. (५१) अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियां भाष्यते (२. ४. ३० वा०) द्विगोः (४. १. २१) ५—यचि भम् (१. ४. १८) भस्य (६. ४. १२९)। यस्येति च (६. ४. १४८) ६—गोरतद्धितलुकि (५. ४. ९२)

अर्थ—(द्वितीयान्तं सुबन्तं श्रितादिभिः समर्थैः सुबन्तैः सह समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति) (द्वितीयान्त सुबन्त श्रित इत्यादि समर्थ सुबन्तों के साथ समास को प्राप्त होता है और उसकी तत्पुरुषसंज्ञा होती है)

उदा०—कष्टश्रितः, नरकश्रितः, कान्तारातीतः, नरकपतितः, ग्रामगतः, तरङ्गात्यस्तः, सुखप्राप्तः, सुखापन्नः।

सि०—कष्टश्रितः। कष्टं श्रितः। कष्ट अम् श्रित सु। कष्ट श्रित। कष्टश्रित सु। कष्टश्रितः। कान्तारम् अतीतः। कान्तार अम् अतीत सु। कान्तारातीतः। नरकं पतितः। नरक अम् पतित सु। नरकपतितः॥ तरङ्गान् अत्यस्तः। तरङ्ग शस् अत्यस्त सु। तरङ्गात्यस्तः। सुखम् प्राप्तः। सुख अम् प्राप्त सु। सुखप्राप्तः॥ सुखम् आपन्नः। सुख अम् आपन्न सु। सुखापन्नः।

तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन २।१।२६

प० वि०—तृतीया १।१ तत्कृतार्थेन ३।१ गुणवचनेन ३।१ तेन कृतम्। तत्कृतम् (तृ० तत्पु०) तत्कृतञ्च अर्थश्च इति तत्कृतार्थम् तेन। गुणस्य वचनम् गुणवचनम् (ष० तत्पु०) तेन।

अर्थ—तृतीयान्तं सुबन्तं तत्कृतेन गुणवचनेन अर्थशब्देन च समस्यते तत्पुरुषश्च समासो भवति। (तृतीयान्त सुबन्त उसके द्वारा किया जाय ऐसे गुणवाची शब्द तथा अर्थ शब्द के साथ समास को प्राप्त होता है, और उसकी तत्पुरुष संज्ञा होती है)

उदा०—शङ्कुलाखण्डः, किरिकाणः, अर्थशब्देन—धान्यार्थः।

सि०—शङ्कुलया खण्डः। शङ्कुला टा खण्ड सु। शङ्कुलाखण्डः। किरिणा काणः। किरि टा काण सु। किरिकाणः। धान्येन अर्थः। धान्य टा अर्थ सु। धान्यर्थः।

चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः २।१।३५

प० वि०—चतुर्थी १।१ तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः ३।३ स०—तस्मै अर्थम् तदर्थम्। तदर्थञ्च अर्थश्च बलिश्च हितञ्च सुखञ्च रक्षितश्च इति तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षिताः (इतरे० द्वन्द्वः) तैः.

अर्थ—चतुर्थ्यन्तं सुबन्तं तदर्थ-अर्थ-बलि-हित-सुख-रक्षित इति एतैः सुबन्तै सह समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति॥ (चतुर्थ्यन्त सुबन्त तदर्थ, अर्थ, बलि, हित, सुख और रक्षित इन सुबन्तों के साथ समास

को प्राप्त होता है और उसकी तत्पुरुष संज्ञा होती है)

उदा०—तदर्थ-यूपदारुः, कुण्डलहिरण्यम्। अर्थ—×अर्थेन नित्यसमासवचनं सर्वलिङ्गता च वक्तव्या ×ब्राह्मणार्थं पयः। ब्राह्मणार्था यवागूः॥ कुबेरबलिः, महाराजबलिः। गोहितम्। गोसुखम्। गोरक्षितम्, अश्वरक्षितम्॥

सि०—यूपाय दारुः। यूप ङे। दारु सु। यूपदारुः। कुण्डलाय हिरण्यम्। कुण्डल ङे हिरण्य सु। कुण्डलहिरण्यम्। ब्राह्मणाय अर्थम्। ब्राह्मण ङे अर्थ सु। ब्राह्मणार्थम्। कुबेराय बलिः। कुबेर ङे बलि सु। कुबेरबलिः। महाराजाय बलिः। महाराज ङे बलि सु। महाराजबलिः। गवे हितम्। गो ङे हित सु। गोहितम्। गवे सुखम्। गो ङे सुख सु। गोसुखम्। गवे रक्षितम्। गो ङे रक्षित सु। गोरक्षितम्।

पञ्चमी भयेन २।१।३६

प० वि०—पञ्चमी १।१ भयेन ३।१

अर्थ—पञ्चम्यन्तं सुबन्तं भयशब्देन सुबन्तेन सह समस्यते। तत्पुरुषश्च समासो भवति। (पञ्चम्यन्त सुबन्त भय शब्द के साथ समास को प्राप्त होता है और उसकी उत्पुरुष संज्ञा होती है)

उदा०—वृकभयम्, चौरभयम्।

सि०—वृकेभ्यो भयम्। वृक भ्यस् भय सु। वृकभय। वृकभय स। वृकभय अम्। वृकभयम्।

सप्तमीं शौण्डैः २।१।३६

प० वि०—सप्तमी १।१ शौण्डैः ३।३

अर्थ—सप्तम्यन्तं सुबन्तं शौण्डादिभिः सह समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति॥ (सप्तम्यन्त सुबन्त शौण्ड इत्यादि सुबन्तों के साथ समास को प्राप्त होता है और उसकी तत्पुरुष संज्ञा होती है)

उदा०—अक्षशौण्डः, अक्षधूर्तः, अक्षकितवः।

सि०—अक्षेषु शौण्डः। अक्ष सुप् शौण्ड सु। अक्षशौण्डः। अक्षेषु कितवः। अक्ष सुप कितव सु। अक्षकितवः।

दिक्संख्ये संज्ञायाम् २।१।४६

प० वि०—दिक्संख्ये १।२ संज्ञायाम् ७।१ स०—दिक्च संख्या च इति दिक्संख्ये (इतरे० द्वन्द्वः)

अर्थ—[समानाधिकरणेन] दिग्वाचिनः शब्दा संख्या च संज्ञायां गम्यमानायां समानाधिकरणेन सुबन्तेन सह समस्यन्ते तत्पुरुषश्च समासो भवति। (दिशावाची शब्द और संख्यावाची शब्द समान अधिकरण वाले समर्थ सुबन्त के साथ संज्ञा गम्यमान हो तो समास को प्राप्त होते हैं, और उसकी तत्पुरुष संज्ञा होती है)

उदा०—पूर्वेषुकामशमी। अपरेषुकामशमी। संख्या–सप्तर्षयः।

सि०—पूर्वा च इषुकामशमी च। पूर्वा सु इषुकामशमी सु। पूर्वेषुकामशमी। सप्तन् जस ऋषि जस्। सप्तर्षि। सप्तर्षि जस्। सप्तर्षयः।

इत्यत्र ग्रामाणां संज्ञा ज्ञातव्या। पूर्वाचासाविषुकामशमी चेति पूर्वेषुकामशमी। मन्दधियां पूर्वोत्तरपदविभागमात्रप्रदर्शनार्थं वाक्यं कृतम्। नह्यत्र वाक्येन भवितव्यम्। नहि वाक्येन संज्ञा गम्यते

तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च २।१।५०

प० वि०—तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे ७।१ च अ०। स०—तद्धितस्य अर्थः तद्धितार्थः (ष० तत्पु०) उत्तरञ्च तत्पदं च इति उत्तरपदं (कर्म० तत्पु०) तद्धितार्थश्च उत्तरपदं च समाहारश्च इति तद्धितार्थोत्तरपद-समाहारम् (समा० द्वन्द्वः) तस्मिन्।

अर्थ—[दिक्संख्ये, समानाधिकरणे] तद्धितार्थे विषये, उत्तरपदे च परतः, समाहारे च अभिधेये दिक्संख्ये समानाधिकरणेन सुबन्तेन सह समस्येते, तत्पुरुषश्च समासो भवति। (तद्धित के अर्थ के विषय में, उत्तरपद के परे रहने पर और समाहार अभिधेय हो तो दिशावाची और संख्यावाची शब्द समानाधिकरण सुबन्त के साथ समास को प्राप्त होते हैं और उसकी तत्पुरुष संज्ञा होती है)

उदा०—दिक्। तद्धितार्थे-पौर्वशालः, आपरशालः। उत्तरपदे-पूर्वशालाप्रियः, अपरशालाप्रियः। समाहारे दिक्शब्दो न संभवति। संख्या। तद्धितार्थे-पाञ्चनापितिः, पञ्चकपालः। उत्तरपदे–पञ्चगवधनः, दशगवधनः, समाहारे–पञ्चफली, दशपूली, पञ्चकुमारि, दशकुमारि।

सि०—पूर्वस्यां शालायां भवः। पूर्वा ङि शाला ङि भवः[1]। पूर्वा शाला[2]

१—अलौकिको विग्रहः। २—समर्थः पदविधिः (२. १. १) प्राक्कडारात्समासः (२. १. ३) तत्पुरुषः (२. १. २१) तद्धितार्थोत्तरपदसमारे च (२.

भवः । पूर्वशाला[1] भवः । पूर्वाशाला अण्[2] । पौर्वशाला[3] अ । पौर्वशाल[4] अ । पौर्वशाल सु पौर्वशालः । अपरस्यां शालायां भवः इति आपरशालः । पूर्वा शाला प्रिया यस्य । पूर्वा सु शाला सु प्रिया सु[5] । पूर्वा शाला प्रिया[6] । पूर्वाशालाप्रिया । पूर्वशालाप्रिया[7] । पूर्वशालाप्रिय[8] । पूर्वशालाप्रियः । अपरा शाला प्रिया यस्य इति अपरशालाप्रियः । पञ्चानां नापितानाम् अपत्यम्[9] । पञ्चन् आम् नापित आम् अपत्यम् । पञ्चनापित अपत्यम् । पञ्चनापित इञ्[10] । पाञ्चनापितिः । पञ्च गावः धनं यस्य । पञ्चन् जस् गो जस् धन सु । पञ्च गो धन[11] । पञ्च गो टच्[12] धन । पञ्च गो अ धन । पञ्चगव्[13] अ धन । पञ्चगवधन सु । पञ्चगवधनः । दशगवधनः । पञ्चनां फलानां समाहारः । पञ्चन् आम् फल आम् । पञ्चफल[14] ङीप् । पञ्चफल ई । पञ्चफल ई । पञ्चफली सु । पञ्चफली स् । पञ्चफली । पञ्चकुमारि । पञ्चानां कुमारीणां समाहारः । पञ्चकुमारी । पञ्चकुमारि[15] सु । पञ्चकुमारि ।

संख्यापूर्वो द्विगुः २।१।५१

प० वि०—संख्यापूर्वः १।१ द्विगुः १।१ स० संख्यापूर्वा यस्य सः संख्यापूर्वः (बहु०)

अर्थ—[तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च] तद्धितार्थे उत्तरपदे समाहारे च यः संख्यापूर्वः समासः स द्विगुसंज्ञो भवति । (तद्धित के अर्थ के

१. ५०) कृत्तद्धितसमासाश्च (१. २. ४६) सुपो धातुप्रातिपदिकयोः (२. ४. ७१) १—स्त्रियाः पुंवद्० (६. ३. ३२) २—प्राग्दीव्यतोऽण् (४. १. ८३) तत्र भवः (४. ३. ५३) प्रत्ययः (३. १. १) परश्च. (३. १. १) ३—तद्धितेष्वचामादेः (७. २. ११७) वृद्धिरादैच् (१. १. १) स्थानेऽन्तरतमः (१. १. ४६) ४—यस्येति च (६. ४. १४८) ५—इत्यत्र पूर्वं त्रयाणां पदानां बहुव्रीहिः । अनेकमन्य पदार्थे (२. २. २४) पश्चात् प्रियशब्दे परतः पूर्वयोः पदयोस्तत्पुरुषः ६—सुपो धातुप्रातिपदिकयोः (२. ४. ७१) ७—तद्धितार्थोत्तरपद समाहारे च ८—गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य (१. २. ४८) ६—इत्यत्र तद्धितार्थेविषयभूते प्राक् समासः । १०—अत इञ् (४. १. ६५) ११—तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च (२. १. ५०) १२—गोरतद्धितलुकि (५. ४. ६१) १३—अवङ्स्फोटयनस्य (६. १. १२३) ङिच्च (१. १. ५२) १४—द्विगुरेकवचनम् (२. ४. १) अकारान्तोत्तरपदो द्विगु स्त्रियां भाष्यते (२. ४. ३० वा०) द्विगोः (४. १. २१) १५—गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य (१. २. ४८)

विषय में, उत्तरपद के परे रहने पर और समाहार के अभिधेय में संख्या है पूर्वपद में जिसके ऐसे समास की द्विगु संज्ञा होती है)

उदा०—तद्धितार्थे–पञ्चकपालः । उत्तरपदे–पञ्चनावप्रियः । समाहारे–पञ्चपूली ।

सि०—पञ्चसु कपालेषु[1] संस्कृतः । पञ्चकपाल[2] अण् । पञ्चकपाल[3] । पञ्चकपाल सु । । पञ्चकपालः ॥
पञ्चनावप्रियः । पञ्च नावः प्रियाः यस्य । पञ्चन् जस् नौ जस् प्रिया जस् । पञ्चन् नौ प्रिया । पञ्च नौ टच्[4] प्रिया । पञ्चनाव अ प्रिया पञ्चनाव प्रिया । पञ्चनावप्रिय सु । पञ्चनावप्रियः ।

विशेषणं विशेष्येण बहुलम् २।१।५६

प० वि०—विशेषणं १।१ विशेष्येण ३।१ बहुलम् १।१॥

अर्थ—[समानाधिकरणेन] (भेदकं विशेषणं भेद्यं विशेष्यम्) विशेषणवाचि सुबन्तं विशेष्यवाचिना समानाधिकरणेन सुबन्तेन सह समस्यते तत्पुरुषश्च समासो भवति । (विशेषणवाची सुबन्त विशेष्यवाची समान अधिकरण वाले समर्थ सुबन्त के साथ समास को प्राप्त होता है और उसकी तत्पुरुष संज्ञा होती है)

उदा०—नीलोत्पलम्, रक्तोत्पलम् ।

सि०—नीलञ्च तदुत्पलञ्च इति नीलोत्पलम् । नील सु उत्पल सु । नील उत्पल । नील उत्पल । नीलोत्पल स । नीलोत्पल अम् । नीलोत्पलम् ।

युवा खलतिपलितवलिनजरतीभिः २।१।६६

प० वि०—युवा १।१ खलतिपलितवलिनजरतीभिः ३।३॥ स०—खलतिश्च पलितश्च वलिनश्च जरती च इति खलतिपलितवलिनजरत्यः (इतरे० द्वन्द्वः) ताभिः ।

अर्थ—युवशब्दः खलत्यादिभिः समानाधिकरणैः सुबन्तैः सह समस्यते तत्पुरुषश्च समासो भवति ॥ (युवन् शब्द खलति इत्यादि समान अधिकरण वाले समर्थ सुबन्तों के साथ समास को प्राप्त होता है और उसकी तत्पुरुष संज्ञा होती है) ।

उदा०—युवखलतिः, युवखलती । युवपलितः, युवपलिता । युववलिनः,

१—तद्धितार्थे विषयभूते पूर्वं समासः २—संस्कृतम् (४. ४. ३) ३—द्विगोर्लुगनपत्ये (४. १. ८८) ४—नावो द्विगोः (५. ४. ९९)

युववलिना । युवजरन्, युवजरती ।

सि०—युवा चासौ खलतिश्च इति युवखलतिः । युवन् सु खलति सु । युवन् खलति । युवखलति । युवखलति सु । युवखलति स् । युवखलतिः । युवखलती । युवतिः चासौ खलती च इति । युवति सु खलती सु । युवति खलती । युवन्[1] खलती । युवखलती । युवखलती सु । युवखलती । युवा चासौ पलितश्च इति । युवन् सु पलित सु । युवपलितः । युवतिश्चासौ पलिता च इति । युवति सु पलिता सु । युवति पलिता । युवन् पलिता । युवपलिता । युवपलिता सु । युवपलिता स् । युवपलिता । युवा चासौ वलिनश्च इति । युवन् सु वलिन सु । युवन् वलिन । युव वलिन । युव वलिन सु । युववलिनः । युवतिश्चासौ वलिना च इति । युवति सु वलिना सु । युवति वलिना । युवन्[1] वलिना । युव वलिना । युववलिना, सु । युववलिना स् । युववलिना । युवा चासौ जरन् च इति । युवन् सु जरत् सु । युवन् जरत् । युवजरत् । युवजरत् सु । युवजर नुम् त् स् । युव जर न त् स् । युवजरन् त । युवजरन् । युवतिश्चासौ जरती च इति । युवति सु जरती सु । युवति जरती । युवन्[1] जरती । युवजरती । युवजरती सु । युवजरती स् । युवजरती ।

इत्यष्टाध्यायी-प्रकाशिकायां द्वितीयाध्याये प्रथमः पादः

नञ् २।२।६

प० वि०—नञ् १।१

अर्थ—नञ् समर्थेन सुबन्तेन सह समस्यते ।

(नञ् यह समर्थ सुबन्त के साथ समास को प्राप्त होता है)

उदा०—अब्राह्मणः, अनीश्वरवादः । × नञो नलोपस्तिङि क्षेपे (६. ३. ७३ वा०) × अनेन वार्तिकेन ज्ञाप्यते नञो तिङन्तेन सह समासो भवति । अपचसि त्वं जाल्मः ।

सि०—न ब्राह्मणः इति । नञ् सु ब्राह्मण सु । न ब्राह्मण । नब्राह्मण । अ[2] ब्राह्मण । अब्राह्मण सु । अब्राह्मणः । न ईश्वरवादः इति । नञ् सु ईश्वरवाद सु । न ईश्वरवाद । अईश्वरवाद । अनुट्[3] ईश्वरवाद । अनु-ईश्वरवाद । अनईश्वरवाद । अनीश्वरवाद सु । अनीश्वरवादः ।

१—तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः (१. २. ४२) पुंवत्कर्मधारय० (६. ३.) । २—नलोपो नञः (६. ३. ७१) ३—तस्मान्नुडचि (६. ३. ७२) ।

ईषदकृता २।१।७

प० वि०—ईषत् १।१ अकृता ३।१।।

स०—न कृत् इति अकृत् (नञ् तत्पु०) तेन

अर्थ—ईषद् इत्ययं शब्दोऽकृदन्तेन सुबन्तेन सह समस्यते तत्पुरुषश्च समासो भवति । (ईषत् यह जो शब्द वह अकृदन्त सुबन्त के साथ समास को प्राप्त होता है और उसकी तत्पुरुष संज्ञा होती है)

उदा०—ईषत्कडारः, ईषत्पिङ्गलः ।

सि०—ईषच्चासौ कडारश्च इति । ईषत् सु कडार सु । ईषत् सु कडार सु । ईषत्कडार । ईषत्कडार सु । ईषत्कडारः ।

षष्ठी २।१।८

प० वि०—षष्ठी १।१

अर्थ—षष्ठ्यन्तं सुबन्तं समर्थेन सुबन्तेन सह समस्यते तत्पुरुषश्च समासो भवति ।। (षष्ठ्यन्त सुबन्त समर्थ सुबन्त के साथ समास को प्राप्त होता है और उसकी तत्पुरुष संज्ञा होती है)

उदा०—राजपुरुषः, ब्राह्मणकम्बलः ।

सि०—राज्ञः पुरुषः । राजन् ङस् पुरुष सु । राजन् पुरुष । राजपुरुष । राजपुरुष सु । राजपुरुष स् । राजपुरुष रु । राजपुरुष र् । राजपुरुषः ।

याजकादिभिश्च २।२।९

प० वि०—याजकादिभिः ३।३ च अ० । स०—याजकः आदिर्येषां ते याजकादयः (बहु०) तैः ।

अर्थ—[षष्ठी] षष्ठ्यन्तं सुबन्तं याजकादिभिः सुबन्तैः सह समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति । (षष्ठ्यन्त सुबन्त याजक आदि समर्थ सुबन्तों के साथ समास को प्राप्त होता है और उसकी तत्पुरुष संज्ञा होती है)

उदा०—ब्राह्मणयाजकः, क्षत्रिययाजकः ।

न निर्द्धारणे २।२।१०

प० वि०—न अ० । निर्द्धारणे ७।१

अर्थ—[षष्ठी] निर्द्धारणे या षष्ठी सा न समस्यते । (निर्द्धारण में जो षष्ठी वह समास को नहीं प्राप्त होती है)

अथ शब्दस्य

उदा०—(जातिगुणक्रियाभिः समुदायादेकदेशस्य पृथक्करणं निर्द्धारणम्) क्षत्रियः मनुष्याणां शूरतमः। कृष्णा गवां संपन्नक्षीरतमा। ❀ इत्यत्र मनुष्यशब्दस्य शूरतमशब्देन सह समासो न भवति।❀

पूरणगुणसुहितार्थसदव्ययतव्यसमानाधिकरणेन २।१।१७

प० वि०—पूरणगुणसुहितार्थसदव्ययतव्यसमानाधिकरणेन ३।१ स०—पूरणं च गुणश्च सुहितं च इति पूरणगुणसुहितानि॥ अर्थश्च अर्थश्च अर्थश्च इति अर्थाः॥ पूरणगुणसुहितानि अर्थाः येषां ते पूरणगुणसुहितार्थाः॥ पूरणगुणसुहितार्थाश्च सच्च अव्ययञ्च तव्यञ्च समानाधिकरणञ्चेति पूरणगुणसुहितार्थसदव्ययतव्यसमानाधिकरणम् (समा० द्वन्द्वः) तेन॥

अर्थ—[षष्ठी, न] पूरणार्थ-गुणार्थ--सुहितार्थ-सद्-अव्यय-तव्य-समानाधिकरण इत्येतैः सुबन्तैः सह षष्ठी न समस्यते। (पूरण अर्थ वाले, गुणवाचक, तृप्ति अर्थ वाले, सत् (शतृ, शानच्) प्रत्ययान्त, अव्यय संज्ञक, तव्यप्रत्ययान्त और समानाधिकरण सुबन्त के साथ षष्ठी समास को नहीं प्राप्त होती है)

उदा०—पूरणार्थ–छात्राणां पञ्चमः, छात्राणां दशमः॥ गुणार्थ–बलाकायाः शौक्ल्यम्, काकस्य कार्ष्ण्यम्॥ सुहितार्थ–फलानां सुहितः, फलानां तृप्तः॥ सत्–ब्राह्मणस्य कुर्वन्, ब्राह्मणस्य कुर्वाणः॥ अव्यय–ब्राह्मणस्य कृत्वा, ब्राह्मणस्य हृत्वा। तव्य--ब्राह्मणस्य कर्त्तव्यम्॥ समानाधिकरण—राज्ञः पाटलिपुत्रस्य, पाणिनेः सूत्रकारस्य॥

कुगतिप्रादयः २।१।१८

प० वि०—कुगतिप्रादयः १।३ स०—कुश्च गतिश्च प्रादयश्च इति कुगतिप्रादयः। प्र आदिर्येषां ते प्रादयः॥

अर्थ—[नित्यम्] कुः गतिः प्रादयश्च समर्थेन शब्दान्तरेण सह नित्यं समस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति। (कु यह शब्द, गति संज्ञा वाले तथा प्र इत्यादि दूसरे समर्थ शब्दों के साथ समास को प्राप्त होते हैं और उसकी तत्पुरुष संज्ञा होती है)

उदा०—कुपुरुषः। गतिः। उररीकृतम्। ×प्रादयः दुर्निन्दायाम् ×दुष्पुरुषः। ×स्वतीपूजायाम् ×सुपुरुषः अतिपुरुषः। ×प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया ×प्रगतः आचार्यः प्राचार्यः॥ ×अत्यादयः क्रान्ता-

द्यर्थे द्वितीयया ×अतिक्रान्तः खट्वाम्, अतिखट्वः ॥ ×अवादयः क्रुष्टाद्यर्थे तृतीयया ×अवक्रुष्टः कोकिलया अवकोकिलः ॥ ×पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या ×परिग्लानोऽध्ययनाय, पर्यध्ययनः ×निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या ×निष्क्रान्तः कौशाम्ब्याः, निष्कौशाम्बिः ॥ ×इवेन सह समासो विभक्त्यलोप पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च वक्तव्यम् ×वाससीइव । ×वागर्थाविव ॥ प्रादिप्रसङ्गे कर्मप्रवचनीयानां प्रतिषेधो वक्तव्यः ×वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत् । साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति ॥

सि०—कुपुरुषः ॥ कुः पापार्थे । कुत्सितः पुरुषः । कु सु पुरुष सु । कुपुरुष । कुपुरुषः ॥

उपपदमतिङ् २।२।१९

प० वि०—उपपदम् १।१ अतिङ् १।१ स०—न तिङ् अतिङ् (नञ् तत्पु०)

अर्थ--[नित्यम्] अतिङन्तम् उपपदम् समर्थेन शब्दान्तरेण सह नित्यं समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति । (तिङ् जिसके अन्त में न हो ऐसा उपपद, समर्थ शब्दान्तर के साथ नित्य समास को प्राप्त होता है और उसकी तत्पुरुष संज्ञा होती है)

उदा०—कुम्भकारः, नगरकारः ।

सि०—कुम्भकारः । कुम्भं करोति इति । कुम्भ अम् कृ अण्[1] । कुम्भ अम् कार[2] । कुम्भ कार । कुम्भकार सु । कुम्भकारः ।

शेषो बहुव्रीहिः २।२।२३

प० वि०—शेषः १।१ बहुव्रीहिः १।१

अर्थ—शेषः समासो बहुव्रीहिसंज्ञो भवति । (कहे हुए से शेष समास की बहुव्रीहि संज्ञा होती है इस बात का अधिकार समझना चाहिये)

अनेकमन्यपदार्थे २।२।२४ अन्यपदार्थे वर्तमानम्

प० वि०—अनेकम् १।१ अन्यपदार्थे ७।१ ॥ स०—न एकम् इति अनेकम् ॥ अन्यश्चासौ पदार्थश्च इति अन्यपदार्थः (कर्म०तत्पु०) तस्मिन्

अर्थ—अन्यपदार्थे गम्यमाने अनेकं सुबन्तं परस्परं समस्यते, बहुव्रीहिश्च समासो भवति । (अन्य पदार्थ के ज्ञान होने में अनेक सुबन्त पर-

---

१—कर्मण्यण् (३. २. १) प्रत्ययः (३. १. १) परश्च (३. १. २) २—उपपदमतिङ् (२. २. १९)

स्पर समास को प्राप्त होते हैं और उसकी बहुव्रीहि संज्ञा होती है)

उदा०—चित्रगुः। शबलगुः। प्राप्तोदको ग्रामः॥

सि०—चित्राः गावः यस्य। चित्रा जस् गो जस्। चित्रा[1] गो। चित्रगु[2]। चित्रगु सु। चित्रगुः। शबलाः गावः यस्य। शबला जस् गो जस्। शबलगुः॥ प्राप्तम् उदकं यं ग्रामं सः। प्राप्त सु उदक सु। प्राप्त उदक। प्राप्तोदक सु। प्राप्तोदकः॥

दिङ्नामान्यन्तराले २।२।२६

प० वि०—दिङ्नामानि १।३ अन्तराले ७।१ स०—दिशां नामानि इति दिङ्नामानि।

अर्थ—दिङ्नामानि सुबन्तानि अन्तराले वाच्ये समस्यन्ते, बहुव्रीहिश्च समासो भवति। (दिशा नाम वाले सुबन्त अन्तराल (दो दिशाओं की मध्यवर्ती उपदिशा) के ज्ञान होने में समास को प्राप्त होते हैं और उसकी बहुव्रीहि संज्ञा होती है)

उदा०—दक्षिणपूर्वा दिक्, पूर्वोत्तरा, उत्तरपश्चिमा, पश्चिमदक्षिणा।

सि०—दक्षिणस्याश्च पूर्वस्याश्च दिशोर्यद् अन्तरालं, दक्षिण[3]-पूर्वा। दक्षिणपूर्वा सु। दक्षिणपूर्वा॥

तेन सहेति तुल्ययोगे २।२।२८

प० वि०—तेन ३।१ सह अ०। तुल्ययोगे ७।१ स०—तुल्यश्चासौ योगश्च इति तुल्ययोगः (कर्म० तत्पु०) तस्मिन्।

अर्थ—सह इति एतत् सुबन्तं तुल्ययोगे वर्तमानं तृतीयान्तेन सुबन्तेन सह समस्यते, बहुव्रीहिश्च समासो भवति। (सह यह सुबन्त तुल्ययोग में वर्तमान होने पर तृतीयान्त सुबन्त के साथ समास को प्राप्त होता है और उसकी बहुव्रीहि संज्ञा होती है)

उदा०—सपुत्रः, सच्छात्रः।

सि०—सह पुत्रेण[4] आगतः पिता इति। सह पुत्रेण। सह पुत्र टा। स[5] पुत्र। सपुत्र सु। सपुत्रः॥ सह छात्रेण आगतः अध्यापकः इति।

१—सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ (२. २. ३५) २—गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य (१. २. ४८) स्त्रियाः पुंवद्० (६. ३. ३२) इत्यनेन चित्राशब्दस्य पुंस्त्वम्। ३—सर्वनाम्नः वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः ४—सहयुक्तेऽप्रधाने (२. ३. १९) इति तृतीया विभक्तिः ५—वोपसर्जनस्य (६. ३. ८२) इति सहस्य सभावः

सह छात्रेण । सह छात्र टा । सह छात्र । स छात्र । स तुक्[1] छात्र । सत्छात्र । सच्छात्र[2] सु । सच्छात्रः ॥

चार्थे द्वन्द्वः २।२।२९

प० वि०—चार्थे ७।१ द्वन्द्वः १।१ स०—चस्य अर्थः चार्थः (ष० तत्पु०) तस्मिन्

अर्थ—[अनेकम्] अनेकं सुबन्तं चार्थे वर्तमानं परस्परं समस्यते, द्वन्द्वश्च समासो भवति । (अनेक सुबन्त च के अर्थ में वर्तमान परस्पर समास को प्राप्त होते हैं और उसकी द्वन्द्व संज्ञा होती है)

अर्थ—रामलक्ष्मणौ । प्लक्षन्यग्रोधौ । धवखदिरपलाशाः ।

सि०—रामश्च लक्ष्मणश्च इति । राम सु लक्ष्मण सु । रामलक्ष्मण । रामलक्ष्मण[3] औ । रामलक्ष्मणौ[4] । धवश्च खदिरश्च पलाशश्च इति । धव सु खदिर सु पलाश सु । धवखदिरपालाश । धवखदिरपलाश जस् । धवखदिरपलाश अस् । धवखदिरपलाशास्[5] । धवखदिरपलाशाः ।

उपसर्जनं पूर्वम् २।२।३०

प० वि०—उपसर्जनम् १।१ पूर्वम् १।१॥

अर्थ—उपसर्जनसंज्ञकं पूर्वं प्रयोक्तव्यम् । (उपसर्जन संज्ञा वाले का पूर्व में प्रयोग करना चाहिए)

द्वन्द्वे घि २।२।३२

द्वन्द्वे ७।१ घि १।१

अर्थ—[पूर्वम्] द्वन्द्वे समासे घ्यन्तं पूर्वं प्रयोक्तव्यम् । (द्वन्द्व समास में घि है अन्त में जिसके ऐसे शब्द का पूर्व में प्रयोग करना चाहिए)

उदा०—पटुगुप्तौ, मृदुगुप्तौ ।

सि०—पटुगुप्तौ । पटुश्च गुप्तश्च । पटु सु गुप्त सु । पटुगुप्त । पटुगुप्त[6] औ । पटुगुप्तौ । मृदुश्च गुप्तश्च इति । मृदु सु गुप्त सु । मृदुगुप्त । मृदुगुप्त औ । मृदुगप्तौ ।

१—छे च (६. १. ७१) २—स्तोः श्चुना श्चुः (८. ४. ३९) ३—अल्पाच्तरम् (२. २. ३४) ४—वृद्धिरेचि (६. १. ८५) प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (६. १. ९८) नादिचि (६. १. १००) वृद्धिरेचि (६.१.७५) ५—प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (६. १. ९८) ६—शेषो घ्यसखि (१. ४. ७) द्वन्द्वे घि (२. २. ३२)

अजाद्यदन्तम् २।२।३३

प० वि०—अजाद्यदन्तम् १।१ स०—अच् आदिर्यस्य तत् अजादि (बहु०) अत् अन्ते यस्य इति अदन्तम् (बहु०) अजादि चादः अदन्तं च इति अजाद्यदन्तम्। (कर्म० तत्पु०)

अर्थ—[द्वन्द्वे] अजाद्यदन्तं शब्दरूपं द्वन्द्वे समासे पूर्वं प्रयोक्तव्यम्। (अच् है आदि में जिस के और अकार जिस के अन्त में है उसका द्वन्द्व समास में पूर्व प्रयोग होता है)।

उदा०—उष्ट्रखरम्, उष्ट्रशशकम् × बहुष्वनियमः × अश्वरथेन्द्राः, इन्द्रथाश्वाः।

अल्पाच्तरम् २।२।३४

प० वि०—अल्पाच्तरम् १।१ स०—अल्पः अच् यस्मिन् इति अल्पाच् (बहु०) द्वौ इमौ अल्पाचौ, अयम् अनयोरतिशयेन अल्पाच् इति अल्पाच्तरः।

अर्थ—[द्वन्द्वे] अल्पाच्तरं शब्दरूपं द्वन्द्वे समासे पूर्वं प्रयोक्तव्यम्।

(अल्प अच् वाले शब्द का द्वन्द्व समास मे पूर्व प्रयोग करना चाहिए)।

उदा०—रामलक्ष्मणौ। प्लक्षन्यग्रोधौ। धवखदिरपलाशाः × बहुष्वनियमः × शङ्खदुन्दुभिवीणाः। वीणाशङ्खदुन्दुभिः। × लघ्वक्षरं पूर्वं निपततीति वक्तव्यम् × कुशकाशम्। शरशादम्॥ × अभ्यर्हितं च पूर्वं निपततीति वक्तव्यत् × मातापितरौ, सीतारामौ, रुक्मिणीकृष्णौ, गौरीशङ्करौ, कमलाजवाहरौ। × भ्रातुश्च ज्यायसः पूर्वनिपातो वक्तव्यः × युधिष्ठिरार्जुनौ॥ × संख्यायाः अल्पीयस्याः पूर्वनिपातो वक्तव्यः × द्वित्राः, त्रिचतुराः, नवतिशतम्। (१८०)

सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ २।२।३५

प० वि०—सप्तमीविशेषणे १।२ बहुव्रीहौ ७।१॥

स०—सप्तमी च विशेषणञ्च इति सप्तमीविशेषणे (इतरे० द्वन्द्वः)

अर्थ—सप्तम्यन्तं विशेषणं च बहुव्रीहिसमासे पूर्वं प्रयोक्तव्यम्। (सप्तम्यन्त और विशेषण का बहुव्रीहि समास में पूर्व प्रयोग करना चाहिए)।

उदा०—सप्तमी—कण्ठेकालः[1] उरसिलोमा[1]॥ विशेषण-चित्रगुः, शबलगुः।

१—अमूर्द्धमस्तकात् स्वाङ्गादकामे (६.३.१२)

निष्ठा २।२।३६

प० वि०—निष्ठा १।१

अर्थ—[बहुव्रीहौ] निष्ठान्तं शब्दरूपं बहुव्रीहिसमासे पूर्वं प्रयोक्तव्यम् (बहुव्रीहि समास में निष्ठान्त का पूर्व प्रयोग करना चाहिये)।

उदा०—कृतकटः, भिक्षितभिक्षः।

सि०—कृतकटः। कृतः कटः येन सः। कृत सु कट सु। कृतकटः।

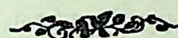
कडाराः कर्मधारये २।२।३७

प० वि०—कडाराः १।३ कर्मधारये ७।१

अर्थ—कर्मधारये समासे कडारादयः शब्दाः पूर्वं वा प्रयोक्तव्याः। (कर्मधारय समास में कडार इत्यादि शब्दों का विकल्प से पूर्व प्रयोग करना चाहिये)

उदा०—कडारजैमिनिः, जैमिनिकडारः।

इत्यष्टाध्यायी-प्रकाशिकायां द्वितीयाध्याये द्वितीयः पादः



विभक्तिप्रकरणम्

अनभिहिते २।३।१

प० वि०—अनभिहिते ७।१ स०—न अभिहितम् अनभिहितम्।

अर्थ—अनभिहिते अनुक्ते अनिर्दिष्टे अकथिते कर्मादौ विभक्तिर्भवति इति अधिकारो वेदितव्यः। (नहीं कहे गये कर्त्ता ,कर्म इत्यादि में विभक्ति होती है, इस बात का अधिकार समझना चाहिए)

कर्मणि द्वितीया २।३।२

प० वि०—कर्मणि ७।१ द्वितीया १।१

अर्थ—अकथिते कर्मणि द्वितीया विभक्तिर्भवति।

(अकथित कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है)

उदा०—कटं करोति। ग्रामं गच्छति।

उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु।
द्वितीयाऽऽम्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते॥

उभयतो ग्रामम्। सर्वतो ग्रामम्। धिग् देवदत्तम्। उपर्युपरि ग्रामम्। अध्यधि ग्रामम्। अधोऽधो ग्रामम्। ×अभितः परितःसमया-

निकषा-हा-प्रतियोगेषु च दृश्यते× अभितो ग्रामम्। परितो ग्रामम्। समया ग्रामम्। निकषा ग्रामम्। हा देवदत्तम्। बुभुक्षितं न प्रतिभाति किंचित्।

अन्तरान्तरेणयुक्ते २।३।४

प० वि०—अन्तरान्तरेणयुक्ते ७।१ स०—अन्तरा च अन्तरेण च इति अन्तरान्तरेणौ। अन्तरान्तरेणाभ्याम् युक्तम् इति अन्तरान्तरेण-युक्तम् (तृ० तत्पु०) तस्मिन्।

अर्थ—[द्वितीया] अन्तरा अन्तरेण इत्येताभ्यां युक्ते द्वितीया विभक्तिर्भवति। (अन्तरा और अन्तरेण इन दोनों निपातों से सम्बद्ध शब्दों में द्वितीया विभक्ति होती है)

उदा०—अन्तरा त्वां च मां च कमण्डलुः। अन्तरेण त्वां च मां च कमण्डलुः।

कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे २।३।५

प० वि०—कालाध्वनोः ६।२ अत्यन्तसंयोगे ७।१ स०—कालश्च अध्वा च इति कालाध्वानौ (इतरे० द्वन्द्व) तयोः। अत्यन्तश्चासौ संयोगश्च इति अत्यन्तसंयोगः (कर्म० तत्पु०) तस्मिन्।

अर्थ—अत्यन्तसंयोगे गम्यमाने कालशब्देभ्यः अध्वशब्देभ्यश्च द्वितीया विभक्तिर्भवति। (अत्यन्त संयोग जाने जाने पर कालवाची तथा मार्गवाची शब्दों से द्वितीया विभक्ति होती है)

उदा०—%क्रियागुणद्रव्यैः साकल्येन कालाध्वनोः सम्बन्धः अत्यन्त-संयोगः%। मासमधीते, संवत्सरमधीते। मासं कल्याणी, संवत्सरं कल्याणी। मासं गुडधानाः, संवत्सरं गुडधानाः। अध्वनः-क्रोशमधीते, योजनमधीते। क्रोशं कुटिला नदी, योजनं कुटिला नदी। क्रोशं पर्वतः, योजनं पर्वतः॥

अपवर्गे तृतीया २।३।६

प० वि०—अपवर्गे ७।१ तृतीया १।१

अर्थ—[कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे] अपवर्गः फलप्राप्तौ सत्यां क्रियापरिसमाप्तिः। अपवर्गे गम्यमाने कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे तृतीया विभक्तिर्भवति। (फल प्राप्त हो जाने पर क्रिया की जो समाप्ति हो जाती है उसे अपवर्ग कहते हैं) (अपवर्ग जाने जाने पर कालवाची और मार्गवाची शब्दों के अत्यन्त संयोग में तृतीया विभक्ति होती है)

उदा०—मासेन वेदोऽधीतः। संवत्सरेण वेदोऽधीतः। अध्वनः-क्रोशेन अध्यायोऽधीतः। योजनेन अध्यायोऽधीतः।

कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया २।३।८

प० वि०—कर्मप्रवचनीययुक्ते ७।१ द्वितीया १।२ स०—कर्मप्रवचनीयेन युक्तं कर्मप्रवचनीययुक्तम् (तृतीया तत्पु०) तस्मिन्।

अर्थ-कर्मप्रवचनीयेन युक्ते द्वितीया विभक्तिर्भवति (कर्मप्रवचनीय संज्ञा वाले शब्दों के योग में द्वितीया विभक्ति होती है)

उदा०—वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत्, वृक्षम् अनु।

चतुर्थी सम्प्रदाने २।३।१३

प० वि०—चतुर्थी १।१ सम्प्रदाने ७।१

अर्थ—[अनभिहिते] अनुक्ते सम्प्रदाने चतुर्थी विभक्तिर्भवति। (नही कहे गये सम्प्रदान कारक में चतुर्थी विभक्ति होती है)

उदा०—भिक्षुकाय धनं ददाति। उपाध्यायाय गां ददाति। देवदत्ताय रोचते। पुष्पेभ्यः स्पृहयति।

नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगाच्च २।३।१६

प० वि०—नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगात् ५।१ च अ०। स०—नमश्च स्वस्तिश्च स्वाहाश्च स्वधाश्च अलं च वषट् च इति नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालंवषडः (इतरे० द्वन्द्वः) तैर्योगः (तृतीया तत्पु०) ~~तस्मिन्॥~~ तस्मात्

अर्थ—[चतुर्थी] नमः स्वस्ति स्वाहा स्वधा अलं वषट् इत्येतैर्योगे चतुर्थी विभक्तिर्भवति। (नमः, स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा, अलं और वषट् इन शब्दों के योग में चतुर्थी विभक्ति होती है)

नमो देवेभ्यः। स्वस्ति प्रजाभ्यः। स्वाहाऽग्नये। स्वधा पितृभ्यः। अलं मल्लो मल्लाय। अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणम्। प्रभुर्मल्लो मल्लाय। शक्तो मल्लो मल्लाय। वषड् अग्नये।

कर्तृकरणयोस्तृतीया २।३।१८

प० वि०—कर्तृकरणयोः ७।२ तृतीया १।१ स०—कर्ता च करणं च इति कर्तृकरणे (इतरे० द्वन्द्वः) तयोः।

अर्थ—अनुक्ते कर्त्तरि करणे च तृतीया विभक्तिर्भवति।

(अनुक्त कर्त्ता और करण कारक में तृतीया विभक्ति होती है)

उदा०—कर्त्ता-देवदत्तेन कृतम्। यज्ञदत्तेन कृतम। करण-दात्रेण लुनाति। परशुना छिनत्ति।

सहयुक्तेऽप्रधाने २।३।१९

प० वि—सहयुक्ते ७।१ अप्रधाने ७।१ स०—सहेन युक्तम् सहयुक्तम् (तृतीया तत्पु०) तेन। न प्रधानम् अप्रधानम् तस्मिन् अप्रधाने।

अर्थ—[तृतीया] सहशब्देन युक्ते अप्रधाने तृतीया विभक्तिर्भवति। (सह शब्द के योग में अप्रधान में तृतीया विभक्ति होती है)

उदा०—पुत्रेण सह आगतः पिता।

येनाङ्गविकारः २।३।२०

प० वि०—येन ३।१ अङ्गविकारः १।१ स०—अङ्गस्य विकारः।

अर्थ—[तृतीया] येन अङ्गस्य विकारः लक्ष्यते तस्मात् तृतीया विभक्तिर्भवति। (जिस शब्द से अङ्ग का विकृत होना जाना जाता हैं उससे तृतीया विभक्ति होती है)

उदा०—लोचनेन काणः। पादेन खञ्जः। पाणिना कुण्ठः। कुणिः

सि०—पाणिना। पाणि टा। पाणि ना। पाणिना॥

हेतौ २।३।२३

प० वि—हेतौ ७।१

अर्थ—[तृतीया] फलसाधनयोग्यः पदार्थो लोके हेतुरुच्यते। हेतुवाचिनस्तृतीया विभक्तिर्भवति। (फल को सिद्ध करने योग्य वस्तु को संसार में हेतु कहते हैं) (हेतुवाची शब्दों से तृतीया विभक्ति होती है)

उदा०—धनेन कुलम्। विद्यया यशः।

सि०—विद्या टा। विद्ये[1] आ। विद्यय्[2] आ। विद्यया।

षष्ठी हेतुप्रयोगे २।३।२६

प० वि०—षष्ठी १।१ हेतुप्रयोगे ७।१ स०—हेतोः प्रयोगः हेतुप्रयोगः (ष० तत्पु०) तस्मिन्।

अर्थ—हेतुशब्दस्य प्रयोगे षष्ठी विभक्तिर्भवति। (हेतु शब्द के

१—आङि चापः (७. ३. १०५) २—एचोऽयवायावः (६.१. ७५)

अन्नं हेतुः ।

प्रयोग में षष्ठी विभक्ति होती है)

उदा०—अन्नस्य हेतोर्वसति ।

सि०—अन्न ङस् । अन्न स्य[1] । अन्नस्य ॥

हेतुशब्दाच्च सामानाधिकरण्यात् षष्ठी ।

सर्वनाम्नस्तृतीया च २।३।२७

प० वि०—सर्वनाम्नः ५।१ तृतीया १।१ च अ० । — हेतुवाचिभ्यः ।

अर्थ—[षष्ठी हेतुप्रयोगे] सर्वनामशब्देभ्यः तृतीया विभक्तिर्भवति चकारात् षष्ठी अपि हेतु शब्दस्य प्रयोगे (सर्वनाम संज्ञा वाले शब्दों से तृतीय और षष्ठी विभक्ति होती है हेतु शब्द के प्रयोग में)

उदा०—कस्य हेतोर्वसति । केन हेतुना वसति ॥

अपादाने पञ्चमी २।३।२८

प० वि०—अपादाने ७।१ पञ्चमी १।१

अर्थ—अनुक्ते अपादाने कारके पञ्चमी विभक्तिर्भवति । (नहीं कहे गये अपादानकारक में पञ्चमी विभक्ति होती है)

उदा०—वृक्षात् पत्रं पतति ॥ ×पञ्चमीविधाने ल्यब्लोपे कर्मण्युपसंख्यानम् ×प्रासादमारुह्य प्रेक्षते, प्रासादात्प्रेक्षते ॥ ×अधिकरणे चोपसंख्यानम् ×आसने उपविश्य प्रेक्षते, आसनात् प्रेक्षते ॥

अन्यारादितरर्त्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते २।३।२९

प० वि०—अन्यारादितरर्त्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते ७।१

स०—अन्यश्च आराच्च इतरश्च ऋते च दिक्छब्दश्च अञ्चूत्तरपदश्च । आच्च आहिश्च इति अन्यारादितरर्त्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहयः तैर्युक्तम् इति अन्यारादितरर्त्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्तम्, तस्मिन्

अर्थ—अन्य आरात् इतर ऋते दिक्छब्द अञ्चूतरपद आच् आहि इत्येतैः योगे पञ्चमी विभक्तिर्भवति । (अन्य, आरात्, इतर, ऋते, दिशावाची शब्द, अञ्चुधातु है उत्तरपद में जिसके ऐसे, आच् और आहि के योग में पञ्चमी विभक्ति होती है)

उदा०—अन्य इत्यर्थग्रहणम्, तेन पर्यायप्रयोगेऽपि भवति । अन्यो देवदत्तात् । भिन्नो देवदतात् । अर्थान्तरं देवदत्तात् । विलक्षणो देवदत्तात् । आराद् देवदत्तात् । आराद् यज्ञदत्तात् । इतरो देवदत्तात् । ऋते

१—टाङसिङसामिनात्स्याः (७.१. १२) यथासंख्यमनुदेशः समानाम् (१. ३. १०)

इति अव्ययं वर्जनार्थे वर्तते। ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः। दिक्शब्द—पूर्वो ग्रामात्। उत्तरो ग्रामात्। अञ्चूत्तरपद–प्राग् ग्रामात्। प्रत्यग् ग्रामात्। आच्–दक्षिणा[1] ग्रामात्। उत्तरा ग्रामात्। आहि–दक्षिणाहि[2] ग्रामात्। उत्तराहि ग्रामात्।

पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम् २।३।३२

प० वि०—पृथग्विनानानाभिः ३।३ तृतीया १।१ अन्यतरस्याम् अ०।

स०—पृथक् च विनाश्च नानाश्च इति पृथग्विनानानाः तैः पृथग्विनानानाभिः

अर्थ—[पञ्चमी] पृथग् विना नाना इत्येतैः योगे तृतीया विभक्तिर्भवति अन्यतरस्याम् पञ्चमी च। (पृथक् विना और नाना के योग में विकल्प से तृतीया विभक्ति होती है, और पक्ष में पञ्चमी भी)

उदा०—पृथग् देवदत्तेन देवदत्ताद् वा। विना देवदत्तेन देवदत्ताद् वा। नाना देवदत्तेन देवदत्ताद् वा।

दूरान्तिकार्थैः षष्ठ्यन्यतरस्याम् २।३।३४

प० वि०—दूरान्तिकार्थैः ३।३ षष्ठी १।१ अन्यतरस्याम्। अ०।

स०—दूरश्च अन्तिकश्चेति दूरान्तिकौ। दूरान्तिकौ अर्थौ येषां ते दूरान्तिकार्थाः तैः।

अर्थ—[पञ्चमी] दूरार्थैरन्तिकार्थैश्च शब्दैर्योगे षष्ठी विभक्तिर्भवति अन्यतरस्याम् पञ्चमी च। (दूर तथा अन्तिक (पास) है अर्थ जिन शब्दों का उनके योग में षष्ठी विभक्ति होती है पक्ष में पञ्चमी भी)

उदा०—दूरं ग्रामात् ग्रामस्य वा। विप्रकृष्टं ग्रामात् ग्रामस्य वा। अन्तिकं ग्रामात् ग्रामस्य वा। अभ्याशं ग्रामात् ग्रामस्य वा। समीपं ग्रामात् ग्रामस्य वा।

दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च २।३।३५

प० वि०—दूरान्तिकार्थेभ्यः ५।३ द्वितीया १।१ च अ०।

अर्थ—[षष्ठ्यन्यतरस्याम्] दूरान्तिकार्थेभ्यः शब्देभ्यः द्वितीया विभक्तिर्भवति, विकल्पेन षष्ठी पक्षे पञ्चमी च। (दूरार्थ और अन्तिकार्थ शब्दों से द्वितीया विभक्ति होती है, विकल्प से षष्ठी और पक्ष में पञ्चमी भी)

१—दक्षिणादाच् (५. ३. ३६) २—आहि च दूरे (५. ३. ३७)

उदा०—दूरं दूरस्य दूराद् वा ग्रामस्य। विप्रकृष्टं विप्रकृष्टस्य विप्रकृष्टाद् वा ग्रामस्य। अन्तिकम् अन्तिकस्य अन्तिकाद् वा ग्रामस्य। समीपं समीपस्य समीपाद् वा ग्रामस्य। अभ्याशम् अभ्याशस्य अभ्याशाद् वा ग्रामस्य। सनीडं सनीडस्य सनीडाद् वा ग्रामस्य।

सप्तम्यधिकरणे च २।३।३६

प० वि०—सप्तमी १।१ अधिकरणे ७।१ च अ०।

अर्थ—[दूरान्तिकार्थेभ्यः] अधिकरणे कारके सप्तमी विभक्तिर्भवति चकारात् दूरान्तिकार्थेभ्यश्च। (अधिकरण कारक में सप्तमी विभक्ति होती है चकार से दूरार्थ और अन्तिकार्थ शब्दों से भी)।

उदा०—कटे आस्ते। शकटे आस्ते। ग्रामे वसति। दूरे अन्तिके वा ग्रामस्य।

×निमित्तात् कर्मसंयोगे×

चर्मणि द्वीपिनं हन्ति दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम्।
केशेषु चमरीं हन्ति सीम्नि पुष्कलको हतः॥

यस्य च भावेन भावलक्षणम् २।३।३७

प० वि०—यस्य ६।१ च अ०। भावेन ३।१ भावलक्षणम् १।१॥ स०—भावस्य लक्षणम् भावलक्षणम्।

अर्थ—[सप्तमी] भावः क्रिया इति अनर्थान्तरम्। यस्य [भाववतः] क्रियया क्रियान्तरं लक्ष्यते ततः सप्तमी विभक्तिर्भवति। (जिस क्रिया से दूसरी क्रिया लक्षित होती है उससे सप्तमी विभक्ति होती है)

उदा०—गोषु दुह्यमानासु गतः। दुग्धासु आगतः। अग्निषु हूयमानेषु गतः। हुतेषु आगतः।

षष्ठी चानादरे २।३।३८

प० वि०—षष्ठी १।१ च अ०। अनादरे ७।१ स०—न आदरः इति अनादरः। (नञ् तत्पु०) तस्मिन्।

अर्थ—[यस्य भावेन भावलक्षणम्] यस्य क्रियया क्रयायाः लक्षणं भवति तत्र षष्ठी चकारात् सप्तमी अनादरे गम्यमाने।

(जिस क्रिया से दूसरी क्रिया का लक्षण किया जाय वहां षष्ठी और चकार से सप्तमी विभक्ति होती है अनादर ज्ञान होने पर)

उदा०—रुदति कन्या प्राव्राजीत्। रुदतः कन्या प्राव्राजीत्।

यतश्च निर्धारणम् २।३।४१

प० वि०--यतः अ० । च अ० । निर्धारणम् १।१

अर्थ—[षष्ठी, सप्तमी] (जातिगुणक्रियाभिः समुदायाद् एकदेशस्य पृथक्करणम् निर्धारणम्) यस्मात् जाति-गुण-क्रियाशब्दात् एकदेशस्य पृथक्करणम् भवति तस्मात् षष्ठीसप्तम्यौ विभक्ती भवतः।

(जाति गुण और क्रिया के द्वारा समुदाय से एक देश या एक विभाग का अलग करना निर्धारण कहलाता है) (जिस जातिवाचक गुणवाचक तथा क्रियावाचक शब्द से जाति गुण या क्रिया के एक भाग का अलग होना पाया जाय उससे षष्ठी और सप्तमी विभक्ति होती है)।

उदा०—जाति—मनुष्याणां क्षत्रियः शूरतमः। मनुष्येषु क्षत्रियः शूरतमः। गुण—गवां कृष्णा संपन्नक्षीरतमा। गोषु कृष्णा संपन्नक्षीरतमा। क्रिया—अध्वगानां धावन्तः शीघ्रतमाः। अध्वगेषु धावन्तः शीघ्रतमाः।

प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा २।३।४६

प० वि०—प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे ७।१ प्रथमा १।१॥

स०—प्रातिपदिकस्य अर्थः प्रातिपदिकार्थः। प्रातिपदिकार्थश्च लिङ्गं च परिमाणं च वचनं च इति प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनम्। द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकम् अभिसम्बध्यते इति नियमात् मात्रशब्दः प्रत्येकम् अभिसम्बध्यते।

अर्थ—प्रातिपदिकार्थः—प्रातिपतिकस्य सत्ता। लिङ्गं—स्त्री-पुं-नपुंसकानि। परिमाणं—तोलनम्। वचनम्—एकत्व-द्वित्व-बहुत्वानि। प्रातिपदिकार्थमात्रे लिङ्गमात्रे परिमाणमात्रे वचनमात्रे प्रथमा विभक्तिर्भवति। (प्रातिपदिक की सत्ता में, लिङ्गमात्र में, परिमाणमात्र में और वचनमात्र में प्रथमा विभक्ति होती है)

उदा०—प्रातिपदिकार्थ—उच्चैः, नीचैः,। लिङ्ग—कुमारी, वृक्षः, कुण्डम्। परिमाण—द्रोणः, खारी, आढकम्। वचन—एकः, द्वौ, बहवः।

सि०—उच्चैस् सु। उच्चैः। कुमारी सु। कुमारी[1]। वृक्ष सु। वृक्ष स्। वृक्षः। द्रोण सु। द्रोणः। आढक सु। आढक अम्[2]। आढकम्[3]। एकः। द्वौ। बहवः।

१—हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल् (६. १. ६८) २—अतोऽम् (७. १. २४) ३—अमि पूर्वः (६. १. १०७)

बहु जस्। बहो[1] जस्। बहो अस्। बहव् अस्। बहव स्। बहव रु। बहव र्। बहवः

सम्बोधने च २।३।४७

प० वि०—सम्बोधने ७।१। च अ०।

अर्थ—[प्रथमा] सम्बोधने च प्रथमा विभक्तिर्भवति (और सम्बोधने में प्रथमा बिभक्ति होती है)

उदा०—राम, रमे, कुमारि, साधो।

सि०—राम सु। राम स्। राम[2]। रमे। रमा सु। रमे[3] सु। रमे स्। रमे[2]। कुमारि। कुमारी सु। कुमारि[4] स्। कुमारि। साधो। साधु सु। साधु स्। साधो[5] स्। साधो।

साऽऽमन्त्रितम् २।३।४८

प० वि०—सा १।१ आमन्त्रितम् १।१

अर्थ—[सम्बोधने प्रथमा] सम्बोधने या प्रथमा सा आमन्त्रित-संज्ञका भवति। (सम्बोधन में जो प्रथमा उसकी आमन्त्रित संज्ञा होती हैं)

एकवचनं सम्बुद्धिः २।३।४९

प० वि०—एकवचनम् १।१ सम्बुद्धिः १।१।। स०—एकं चादः वचनं च इति एकवचनम् (कर्म० तत्पु०)

अर्थ—[प्रथमा आमन्त्रितम्] आमन्त्रितप्रथमायाः एकवचनं सम्बुद्धिसंज्ञं भवति। (आमन्त्रित प्रथमा के एकवचन की सम्बुद्धि संज्ञा होती है)

उदा०—राम। रमे। कुमारि। साधो।

षष्ठी शेषे २।३।५०

प० वि०—षष्ठी १।१ शेषे ७।१

अर्थ—कर्मादीनाम् अविवक्षा शेषः। कर्मादीनि कारकाणि यत्र न विवक्ष्यन्ते, सः शेषः। शेषे षष्ठी विभक्तिर्भवति। (कर्मादि कारकों की जहाँ कहने की इच्छा न हो उसे शेष कहते हैं। ऐसे शेष में षष्ठी

१—जसि च (७. ३. १०९) २—एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः (६. १. ६७) ३—सम्बुद्धौ च (७. ३. १०६) ४—अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः (७. ३. १०७) ५—ह्रस्वस्य गुणः (७. ३. १०८) अदेङ्गुणः (१. १. २) स्थानेऽन्तरतमः (१.१.४९)

विभक्ति होती है)।

उदा०—राज्ञः पुरुषः। पशोः पादः। पितुः पुत्रः।

सि०—राजन् ङस्। राजन् अस्। राजुन्[1] अस्। राज् ञ्[2] अस्। राज्ञस्। राज्ञः। पशु ङस्। पशु अस्। पशो[3] अस्। पशोस्[4]। पशोरु। पशोर्। पशोः। पितृ ङस्। पितृ अस्। पितुर्[5] स्। पितुर्[6]। पितुः।

ज्ञोऽविदर्थस्य करणे २।३।५१

प० वि०—ज्ञः ६।१ अविदर्थस्य ६।१ करणे ७।१॥ स०—विदः अर्थः विदर्थः (ष० तत्पु०) न विदर्थः अविदर्थः (नञ्तत्पु०) तस्य।

अर्थ—(षष्ठी) अविदर्थस्य अज्ञानार्थस्य ज्ञाधातोः करणे कारके षष्ठी विभक्तिर्भवति।

(ज्ञान अर्थ से भिन्न अर्थ वाले ज्ञा धातु के करण कारक में षष्ठी विभक्ति होती है)।

उदा०—सर्पिषो जानीते। मधुनो जानीते।

सि०—सर्पिष् ङस्। सर्पिषः। मधु ङस्। मधु[7] नुट् ङस। मधु न् अस। मधुनः।

अधीगर्थदयेशां कर्मणि २।३।५१

प० वि०—अधीगर्थदयेशाम् ६।३ कर्मणि ७।१॥ स०—अधीग् अर्थो येषां धातूनाम् इति अधीगर्थाः (बहु०) अधीगर्थाश्च दयश्च ईट् च इति अधीगर्थदयेशः तेषाम्।

अर्थ—[षष्ठी शेषे] अधीगर्थदयेशां धातूनां कर्मणि कारके शेषत्वेन विवक्षिते षष्ठी विभक्तिर्भवति। (अधि उपसर्ग पूर्वक इक् धातु के अर्थ वाले धातुओं के तथा दय और ईश धातुओं के कर्म कारक में षष्ठी विभक्ति होती है)

उदा०—मातुरध्येति। मातुः स्मरति। सर्पिषो दयते। सर्पिष ईष्टे। मधुन ईष्टे।

१—अल्लोपोऽनः (६. ४. १३४) २—स्तोः श्चुना श्चुः (८. ४. ३९) ३—घेर्ङिति (७. ३. १११) ४—ङसिङसोश्च (६. १. १०६) ५—ऋत उत् (६. १. १०७) उरण् रपरः (१. १. ५०) ६—रात्सस्य (८. २. २४) ७—इकोऽचि विभक्तौ (७. १. ७३) मिदचोऽन्त्यात्परः (१. १. ४६)

कर्तृकर्मणोः कृति २।३।६५

प० वि०—कर्तृकमणोः ७।२ कृति ७।१ स०—कर्ता च कर्म च इति कर्तृकर्मणी (इतरे० द्वन्द्वः) तयोः।

अर्थ—(षष्ठी) कृत्प्रयोगे कर्तरि कर्मणि च कारके षष्ठी विभक्तिर्भवति।

(कृदन्त के प्रयोग में कर्त्ता और कर्म कारक में षष्ठी विभक्ति होती है)

उदा०—भवतः शायिका। भवतः आसिका। कर्मणि–अपां स्रष्टा। पुरां भेत्ता।

सि०—शायिका। शीङ् ण्वुल्[1]। शी वु। शै अक[2]। शाय् अक। शायक टाप्[3]। शायिका[4]। आसिका। आस् ण्वुल्। आस् अक। आसक। आसक टाप्। आसक आ। आसिका। स्रष्टा। सृज् तृच्। सृष्[5] तृ। सृ अम्[6] ष् तृ। स्र[7] षतृ। स्रष्टृ[8]। स्रष्टृ सु। स्रष्ट् अनङ् सु। स्रष्टन् सु। स्रष्टान् स्। स्रष्टान्। स्रष्टा। भेत्ता। भिदिर्। भिद् तृच्। भिद् तृ। भेद् तृ। भेत् तृ। भेत्तृ। भेत्तृ सु। भेत्त् अनङ् सु। भेत्तन् स्। भेत्तान् स्। भेत्तान्। भेत्ता।

न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम् २।३।६९

प० वि०—न अ०। लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम् ६।३ स०—लश्च उश्च उकश्च अव्ययं च निष्ठा च खलर्थश्च तृन् च इति लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनः तेषाम्।

अर्थ—[षष्ठी] ल उ उक अव्यय निष्ठा खलर्थ तृन् इत्येवमन्तानां प्रयोगे षष्ठी विभक्तिर्न भवति।

ल् के स्थान में कृदादेश, उ, उक, अव्यय, निष्ठा, खल् अर्थ वाले और तृन् इन प्रत्ययान्तों के प्रयोग में षष्ठी विभक्ति नहीं होती है)

१—ण्वुल्तृचौ (३. १. १३३) २—युवोरनाकौ (७. १. १) यथासंख्यमनुदेशः समानाम् (१. ३. १०) अचोऽञ्णिति (७. २. ११५) वृद्धिरादैच् (१. १. १) स्थानेऽन्तरतमः (१. १. ४९) ३—कृत्तद्धितसमासाश्च (१. २. ४६) ङ्याप्प्रातिपदिकात् (४. १. १) स्त्रियाम् (४. १. ३) अजाद्यतष्टाप् (४. १. ४) प्रत्ययः (३. १. १) परश्च (३. १. २) ४—प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुपः (७. ३. ४३) ५—व्रश्चभ्रस्ज० (८. २. ३६) ६—सृजिदृशोर्झल्यमकिति (६. १. ५७) ७—इको यणचि (६. १. ७४) ८—ष्टुना ष्टुः (८. ४. ४०)।

उदा०—श इति शतृशानचौ कानच्क्वसू किकिनौ च गृह्यन्ते । शतृ—ओदनं पचन् । शानच्—ओदनं पचमानः । कानच्—ओदनं पेचानः । क्वसु—ओदनं पेचिवान् । किकिनौ—पपिः सोमम् । ददिर्गाः । उ-कटं चिकीर्षुः । ओदनं बुभुक्षुः । उक-आगामुकं वाराणसीं रक्ष आहुः । अव्यय-कटं कृत्वा । निष्ठा-ओदनं खादितवान् । देवदत्तेन कृतम् । खलर्थ—ईषत्करः कटो भवता । तृन्-कर्ता कटान् । ×द्विषः शतुर्वा वचनम्× चौरं द्विषन् । चौरस्य द्विषन् ॥

सि०—पचन् । डुपचष् । पच् लट्[1] । पच् शतृ[2] । पच् अतृ । पच् अत् । पच शप्[3] अत् । पच् अ अत् । पच् अ[4] त् । पचत् । पचत् सु । पच नुम्[5] त् सु । पचन्त् सु । पचन्त् स् । पचन्त्[6] । पचन्[7] ॥ पचमानः । डुपचष् । पच् शानच् । पच् आन । पच् शप् आन । पच् अ आन । पच् अ मुक्[8] आन । पच् अ म् आन । पचमान सु । पचमानः । पेचानः । पच् कानच्[9] । पच् आन । पच् पच्[10] आन । पेच् आन[11] । पेचान सु । पेचानः । पेचिवान् । पच् क्वसु[12] । पच् वस् । पच पच्[10] वस् । पेच् वस् । पेच् इट्[13] वस् । पेच् इ वस् । पेचिवस् । पेचिवस् सु । पेचिवास् सु । पेचिवा नुम्[14] स सु । पेचिवान्स् सु । पेचिवान्स् स् । पेचिवान्स् । पेचिवान् ॥

पपिः । पा कि[15] । पा इ । प् इ[16] । पा प् इ[17] । प[18] पि । पपि

१—वर्तमाने लट् (३. २. १२३) २—लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे (३. २. १२४) ३—तिङ्शित्सार्वधातुकम् (३. ४. ११३) सार्वधातुके यक् (३. १. ६७) कर्त्तरि शप् (३. १. ६८) ४—अतो गुणे (६. १. ९४) ५—उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः (७. १. ७०) मिदचोऽन्त्यात्परः (१. १. ४६) ६—हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल् (६. १. ६६) ७—हलोऽनन्तराः संयोगः (१. १. ७) संयोगान्तस्य लोपः (८. २. २३) ८—आने मुक् (७. २. ८२) आद्यन्तौ टकितौ (१. १. ४५) ९—लिटः कानज्वा (३. २. १०६) १०—लिटि धातोरनभ्यासस्य (६. १. ८) ११—पूर्वोऽभ्यासः (६. १. ४) अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि (६. ४. १२०) १२—क्वसुश्च (३. २. १०७) १३—वस्वेकाजाद्घसाम् (७. २. ६७) आद्यन्तौ टकितौ (१. १. ४५) १४—उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः (७. १. ७०) मिदचोऽन्त्यात्परः (१. १. ४६) १५—आदृगम० (३. २. १७१) १६—आतो लोप इटि च (६. ४. ६४) १७—द्विर्वचनेऽचि (१. १. ५८) १८—ह्रस्वः (७. ४. ५९)

सु । पपिः । दा क्रिन्[1] । दा इ । द् इ । दा द् इ । द् दि । द् दि सु । द्‌दिः । स्वरे विशेषः ।

चिकीर्षुः । डुकृञ् । कृ सन् । कृ स । कृ स । कृ स । किर् स । कीर् स । कीर् कीर् स । की कीर् स । चिकीर् स । चिकीर्ष । चिकीर्ष उ[2] । चिकीर्ष् उ[3] । चिकीर्षु । चिकीर्षु सु । चिकीर्षुः ॥

बुभुक्षुः । भुज् सन् । भुज् स । भुज् स । भुज् भुज् स । भु भुज् स । बु भुज्[4] स । बुभुग्[5] स । बुभुक् स[6] । बुभुक् ष[7] । बुभुक्ष उ[8] । बुभुक्ष्[9] उ । बुभुक्षु सु । बुभुक्षुः । आगामुकम् । आ गम्लृ । आगम् उकञ्[10] । आगामुक । आगामुक अम् । आगामुकम् । अव्यय—कृत्वा । डुकृञ् । कृ क्त्वा । कृ त्वा । कृ त्वा[11] । कृत्वा सु । कृत्वा[12] । निष्ठा—खादितवान् । खाद् । खाद् क्तवतु । खाद् तवत् । खाद् इट् तवत् । खादितवत् । खादितवत् सु । खादितवात् सु । खादितवा नुम् त्[13] सु । खादितवान्त् सु । खादितवान्त् स् । खादितवान्त् । खादितवान् । कृतम् । डुकृञ् । कृ क्त । कृ त । कृत । कृत सु । कृत अम् । कृतम् । ईषत्करः । ईषत्कृ । ईषत्कृ[14] खल् । ईषत्कर् अ । ईषत्कर सु । ईषत्करः । तृन् । कर्त्ता ।

कृत्यानां कर्तरि वा २।३।७१

प० वि०—कृत्यानाम् ६।३ कर्तरि ७।१ वा अ० ।

अर्थ—[षष्ठी] कृत्यानां प्रयोगे कर्त्तरि वा षष्ठी विभक्तिर्भवति ।

१—आदृगम० (३. २. १७१) २—सनाशंसभिक्ष उः (३. २. १६८) ३—आर्धधातुकं शेषः (३. ४. ११४) अतो लोपः (६. ४. ४८) ४—पूर्वोऽभ्यासः (६. १. ४) अभ्यासे चर्च (८. ४. ५३) ५—चोः कुः (८. २. ३०) ६—खरि च (८. ४. ५४) ७—आदेशप्रत्यययोः (८. ३. ५८) ८—सनाशंसभिक्ष उः (३. २. १६८) ९—आर्धधातुकं शेषः (३. ४. ११४) आर्धधातुके (६. ४. ४६) अतो लोपः (६. ४. ४७) १०—लषपतपदस्थाभूवृष हनकमगमशृभ्य उकञ् (३. २. १५४) ११—आर्धधातुकं शेषः (३. ४. ११४) सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७. ३. ८४) क्ङिति च (१. १. ५) १२—क्त्वातोसुन्कसुनः (१. १. ३९) अव्ययादाप्सुपः (२. ४. ८२) १३—उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः (७. १. ७०) मिदचोऽन्त्यात्परः (१. १. ४६) १४—ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल् (३. ३. १२६)

(कृत्य प्रत्ययों के प्रयोग में कर्त्ता में विकल्प से षष्ठी विभक्ति होती है)

उदा०—भवता कटः कर्तव्यः । भवतः कटः कर्तव्यः ॥

चतुर्थी चाशिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः २।३।७३

प० वि०—चतुर्थी १।१ च अ० । आशिषि ७।१ आयुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः ३।३। स०—आयुष्यं च मद्रं च भद्रं च कुशलं च सुखं च अर्थश्च हितं च इति आयुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितानि, तैः

अर्थ—आशिषि गम्यमानायाम् आयुष्य-मद्र-भद्र-कुशल-सुख-अर्थ-हित इत्येतैर्योगे चतुर्थी विभक्तिर्भवति चकारात् षष्ठी । (आशीर्वाद अर्थ जाना जाय तो आयुष्य, मद्र, भद्र, कुशल, सुख, अर्थ और हित के योग में चतुर्थी और चकार ग्रहण से षष्ठी विभक्ति होती है)

उदा०—×अत्र आयुष्यादीनां पर्यायग्रहणम् कर्त्तव्यम्× आयुष्यं देवदत्ताय भूयात् । आयुष्यं देवदत्तस्य भूयात् । चिरं जीवितं देवदत्ताय देवदत्तस्य वा भूयात् । भद्रं देवदत्ताय देवदत्तस्य वा । कुशलं देवदत्ताय देवदत्तस्य वा । सुखं देवदत्ताय देवदत्तस्य वा । शं देवदत्ताय देवदत्तस्य वा । अर्थो देवदत्ताय देवदत्तस्य वा । प्रयोजनं देवदत्ताय देवदत्तस्य वा । हितं देवदत्ताय देवदत्तस्य वा । पथ्यं देवदत्ताय देवदत्तस्य वा ।

इत्यष्टाध्यायी-प्रकाशिकायां द्वितीयाध्याये तृतीयः पादः

—०—

एकवद्भावप्रकरणम्

द्विगुरेकवचनम् २।४।१

प० वि०—द्विगुः १।१ एकवचनम् १।१ स०—एकस्य वचनम् । एकवचनम् । (ष० तत्पु०) ।

अर्थ—द्विगुः समासः एकस्य अर्थस्य वाचको भवति ।

ॐअत्र समाहारद्विगोरेव ग्रहणम्ॐ

(द्विगु समास एक अर्थ का वाचक होता है) यहां द्विगु से समाहार अर्थ में विहित द्विगु लिया जाता है ।

उदा०—पञ्चपूली । दशपूली ।

द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम् २।४।२

प० वि०—द्वन्द्वः १।१ च अ० । प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम् ६।३ स०—प्राणिश्च तूर्यश्च सेना च इति प्राणितूर्यसेनाः तासामङ्गानि इति

प्राणितूर्यसेनाङ्गानि (ष० तत्पु) तेषाम्। अङ्गशब्दः प्रत्येकम् अभिसम्बध्यते।

अर्थ—प्राण्यङ्गानां तूर्याङ्गानां सेनाङ्गानां च द्वन्द्वः एकवद् भवति।

(प्राणी, वाजा और सेना के अङ्गों का द्वन्द्व एकवद् हो जाता है)

उदा०—प्राणि–पाणिपादम् कण्ठपृष्ठग्रीवाजङ्घम्। तूर्य–वंशीवीणम्। मृदङ्गशङ्खपणवम्। सेना–हस्त्यश्वोष्ट्रम्। रथशकटम्।

सि०—पाणी च पादौ च इति पाणिपादम्। पाणि औ पाद औ। कण्ठश्च पृष्ठं च ग्रीवा च जङ्घा च इति। वंशी च वीणा च इति। मृदङ्गश्च शङ्खश्च पणवश्च इति। हस्तिनश्च अश्वाश्च उष्ट्राश्च इति।

येषां च विरोधः शाश्वतिकः २।४।९

प० वि०—येषां ६।३ च अ०। विरोधः १।१ शाश्वतिकः १।१

अर्थ—[एकवचनम्] येषां जीवानां शाश्वतिकः सनातनो विरोधः तेषां द्वन्द्वः एकवद् भवति।

(जिन प्राणियों का सनातन विरोध है, उनका द्वन्द्व एकवद् हो जाता है)

उदा०—अहिनकुलम्। मार्जारमूषकम्।

सि०—अहिश्च नकुलश्च इति। मार्जारश्च मूषकश्च इति।

सः नपुंसकम् २।४।१७

प० वि०—सः १।१ नपुंसकम् १।१

अर्थ—अस्मिन् एकवचनप्रकरणे यस्य एकवद्भावो विहितः, सः नपुंसकलिङ्गो भवति।

उदा०—पाणिपादम्।

अव्ययीभावश्च २।४।१८

प० वि०—अव्ययीभावः १।१ च अ०।

अर्थ—[नपुंसकम्] अव्ययीभावः समासो नपुंसकलिङ्गो भवति।
(अव्ययी भाव समास नपुंसक लिङ्ग होता है)

उदा०—उपकृष्णम्। उपगु। अधिस्त्रि।

परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः २।४।२६

प० वि०—परवत् अ०। लिङ्गम् १।१ द्वन्द्वतत्पुरुषयोः ७।२
स०—द्वन्द्वश्च तत्पुरुषश्च इति द्वन्द्वतत्पुरुषौ (इतरे० द्वन्द्वः) तयोः।

अर्थ—द्वन्द्वसमासे तत्पुरुषसमासे च परस्य इव लिङ्गं भवति। (द्वन्द्व और तत्पुरुष समास में पर के लिङ्ग के समान लिङ्ग होता है)

उदा०—गुणवृद्धी। अर्द्धपिप्पली।

सि०—गुणश्च वृद्धिश्च इति। पिप्पल्याः अर्द्धम्। अर्द्धपिप्पली सु। अर्द्धपिप्पली।

धात्वादेशप्रकरणम्

आर्धधातुके २।४।३५

प० वि०—आर्धधातुके ७।१

अर्थ—इतोऽग्रे वक्ष्यमाणानि कार्याणि आर्धधातुके विषये भवन्ति इत्यधिकारो वेदितव्यः॥ (आगे कहे जाने वाले कार्य आर्धधातुक के विषय में होते हैं, इस बात का अधिकार समझना चाहिये)

अस्तेर्भूः २।४।५२

प० वि०—अस्तेः ६।१ भूः १।१

अर्थ—[आर्धधातुके] आर्धधातुके विषये अस्तेर्भूरादेशो भवति। (आर्धधातुक के विषय में अस् धातु के स्थान में भू यह आदेश होता है)

उदा०—भविता, भवितुम्, भवितव्यम्।

ब्रुवो वचिः २।४।५३

प० वि०—ब्रुवः ६।१ वचिः १।१

अर्थ—ब्रू इत्येतस्य स्थाने वचिरादेशो भवति आर्धधातुके विषये।

उदा०—वक्ता, वक्तुम्, वक्तव्यम्।

लुक्श्लुप्रकरणम्

सुपो धातुप्रातिपदिकयोः २।४।७१

प० वि०—सुपः ६।१ धातुप्रातिपदिकयोः ७।२ स०—धातुश्च प्रातिपदिकं च इति धातुप्रातिपदिके तयोः

अर्थ—[लुक्] धातौ प्रातिपदिके च स्थितस्य सुपः लुग्भवति। (धातु और प्रातिपदिक में स्थित सुप् का लुक् होता है)

उदा०—पुत्रीयति, राजपुत्रः।

सि०—पुत्रीयति। आत्मनः पुत्रम् इच्छति इति॥ पुत्र अम् क्यच्[1]।

१—सुप आत्मनः क्यच् (३. १. ८)

पुत्र अम् य[1] । पुत्र[2] य । पुत्रीय[3] । पुत्रीय लट्[4] । पुत्रीय ल् । पुत्रीय तिप् पुत्रीय ति । पुत्रीय शप् ति । पुत्रीय अ ति । पुत्रीयति । राजपुत्रः ।। राज्ञः पुत्रः । राजन् ङस् पुत्र सु । राजन् पुत्र । राजपुत्रः ।

अदिप्रभृतिभ्यः शपः २।४।७२

प० वि०—अदिप्रभृतिभ्यः ५।३ शपः ६।१ स०—अदेः प्रभृतयः इति अदिप्रभृतयः तेभ्यः ।

अर्थ—[लुक्] अदिप्रभृतिभ्यः शपः लुक् भवति । (अद इत्यादि धातुओं के पश्चात् शप् का लुक् होता है)

उदा०—अत्ति, अत्तः, अदन्ति । अत्सि, अत्थः, अत्थ । अद्मि, अद्वः, अद्मः ।

सि०—अद । अद् । अद् लट । अद् ल् । अद् तिप् । अद् ति । अद् शप्[5] ति । अद्[6] ति । अत्[7] ति । अत्ति । अदन्ति । अद् झि । अद् अन्त् इ । अदन्ति ।।

बहुलं छन्दसि १।४।७३

प० वि०—बहुलम् १।१ छन्दसि ७।१

अर्थ—छन्दसि विषये शपो बहुलं लुग्भवति । (छन्द के विषय में शप् का बहुल करके लुक् होता है)

उदा०—वृत्रं हनति, अहिः शयते । अन्येभ्यश्च भवति । त्राध्वं नो देवाः ।

सि०—हनति । हन् शप् तिप् । शयते । शीङ् शप् त । शी अ त । शे अ त । शय् अ त । शयते । त्राध्वं । त्रै । त्रा[8] । त्राध्वम् ।।

यङोऽचि च २।४।७४

प० वि०—यङः ६।१ अचि ७।१ च अ० ।

अर्थ—यङो लुग्भवति अचि प्रत्यये परतः चकारात् बहुलम् च । (यङ् का लुक् होता है अच् प्रत्यय के परे रहने पर और चकार ग्रहण से बहुल करके भी)

१—सनाद्यन्ता धातवः (३.१.३२) २—सुपो धातुप्रातिपदिकयोः (२. ४. ७१) ३—क्यचि च (७. ४. ३३) ४—वर्तमाने लट् (३. २. १२३) ५—कर्त्तरि शप् (३. १. ६८) ६—अदिप्रभृतिभ्यः शपः (२. ४. ७२) ७—खरि च (८. ४. ५४) ८—आदेच उपदेशेऽशिति (६. १. ४४)

उदा०—लोलुवः, पोपुवः, बहुलग्रहणादनचि अपि भवति, शाकुनिको लालपीति, दुन्दुभिर्वावदीति ।

सि०—लालपीति । लप् । लप् य[1] । लप् लप् य[2] । ल लप् य[3] । ला[4] लप् य । ला लप्[5] । लालप् लट् । लालप् ल् । लालप् तिप् । लालप् ईट्[6] ति । लालपीति ॥ वावदीति । वद् यङ् । वद् य । वद् वद् य । व वद् य । वा वद् य । वा वद् । वा वद् लट् । वावद् ल् । वा वद् तिप् । वावद् ईट् ति । वावदी ति । वावदीति

जुहोत्यादिभ्यः श्लुः २।४।७४

प० वि०—जुहोत्यादिभ्यः ५।३ श्लुः १।१ स०—जुहोतिः आदिर्येषान्ते जुहोत्यादयः (बहु०) तेभ्यः

अर्थ—जुहोत्यादिभ्यः शपः श्लुर्भवति । (जुहोत्यादि धातुओं के पश्चात् शप् का श्लु हो जाता है)

उदा०—जुहोति, जहुतः, जुह्वति । जुहोषि, जुहुथः, जुहुथ । जुहोमि, जुहुवः, जुहुमः ।

सि०—जुहोति । हु । हु लट् । हु ल् । हु तिप् । हु शप्[7] तिप् । हु[8] ति । हु हु[9] ति । झु[10] हु ति । जु[11] हु ति । जुहोति[12] । जुह्वति । जुहु झि । जुहु अति[13] । जुह्वति[14] ॥

गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु २।४।७७

प० वि०—गाति-स्था-घु-पा-भूभ्यः ५।३ सिचः ६।१ परस्मैपदेषु ७।३ स०—गातिश्च स्थाश्च घु च पाश्च भूश्च इति गातिस्थाघुपाभवः (इतरे० द्वन्द्वः) तेभ्यः

अर्थ—गाति-स्था-घु-पा-भूभ्यः सिचः लुग्भवति परस्मैपदेषु परतः ॥

१—धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ् (३. १. २२) २—सन्यङोः (६. १. ९) ३—पूर्वोऽभ्यासः (६. १. ४) अत्र लोपोऽभ्यासस्य (७. ४. ५८) हलादिः शेषः (७. ४. ६०) ४—दीर्घोऽकितः (७. ४. ८३) ५—यङोऽचि च (२. ४. ७३) सनाद्यन्ता धातवः (३. १. ३२) ६—यङो वा (७. ३. ९४) आद्यन्तौ टकितौ (१. १. ४५) ७—कर्तरि शप् (३. १. ६८) ८—जुहोत्यादिभ्यः श्लुः (२. ४. ७५) ९—श्लौ (६.१. १०) १०—कुहोश्चुः (७. ४. ६२) ११—अभ्यासे चर्च (८.४.५३) १२—सार्वधातुक० (७.३.८४) १३—उभेऽभ्यस्तम् (६.१. ५) अदभ्यस्तात् (७.१. ४) १४—हुश्नुवोः सार्वधातुके (६.४. ८७)

(गा स्था घु (दा-धा) पा और भू धातुओं के पश्चात् सिच् का लुक् होता है परस्मैपद के परे रहने पर)

उदा०—अगात्, अस्थात्, अदात्, अधात्, अपात्, अभूत्।

सि०—अगात्। इण्। इ। गा[1]। गा लुङ्[2]। गा ल्। गा तिप्। गा च्लि[3] ति। गा सिच्[4] ति। गा[5] ति। गा त्[6]। अट्[7] गात्। अगात्। अभूत्। भू लुङ्। भू तिप्। भू सिच् तिप्। भू ति। भू ति। भू त्। अट् भूत्। अभूत्

विभाषा घ्राधेट्शाच्छासः २।४।७८

प० वि०—विभाषा १।१ घ्राधेट्शाच्छासः ५।१॥ स०—घ्राश्च धेट् च शाश्च छाश्च साश्च इति घ्राधेट्शाच्छासाः तस्मात्। ❀सत्यप्येकवद्भावे नपुंसकता न भवति, अन्यथा 'छासात्' प्राप्नोति।❀

अर्थ—[सिचः परस्मैपदेषु लुक्] घ्रा-धेट्-शा-छा-सा इत्येतेभ्यः उत्तरस्य सिचः परस्मैपदेषु विभाषा लुग्भवति। (घ्रा, धेट्, शा, छा और सा धातुओं के पश्चात् सिच् का लुक् होता है विकल्प से परस्मैपद के परे रहने पर)

उदा०—अघ्रात्, अघ्रासीत्। अधात्, अधासीत्। अशात्। अशासीत्। अच्छात्, अच्छासीत्। असात्, असासीत्।

सि०—अघ्रात्। घ्रा। घ्रा लुङ्। घ्रा च्लि लुङ्। घ्रा सिच् लुङ्। घ्रा सिच् ल्। घ्रा सिच् तिप्। घ्रा तिप्। घ्रा त्। अट् घ्रा त्। अघ्रात्। अट् घ्रा सक्[8] इट् सिच् ईट्[9] ति। अघ्रासीत्। अधात्। धेट्। धे। धा[10]। अट् धा सिच् तिप्। अ धात्। अट् धा सक् इट् सिच् ईट् तिप्। अधासीत्। अशात्। शो। शा। अट् शा सिच् तिप। अशात्। अच्छात्। अच्छासीत्। अच्छात्। छो। छा[10]। अट् छा सिच् तिप्। अ छात्। अ तुक् छा त्। असात्। सो। सा[10]। अट् सा सिच् तिप्। असात्। असासीत्।

तनादिभ्यस्तथासोः २।४।७९

प० वि०—तनादिभ्यः ५।३ तथासोः ७।२

१—इणो गा लुङि (२. ४. ४५) २—भूते (३. २. ८४) लुङ् (३. २. ११०) ३—च्लि लुङि (३. १. ४३) ४—च्लेः सिच् (३. १. ४४) ५—गातिस्था० (२. ४. ७७) ६—इतश्च (३. ४. १००) ७—लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः (६. ४. ७१) ८—यमरममातां सक् च (७. २. ७३) ९—अस्तिसिचोऽपृक्ते (७. ३. ९६) आद्यन्तौ टकितौ (१. १. ४५) १०—आदेच उप० (६. १. ४८)

स०—तन् आदिर्येषान्ते तनादयः (बहु०) तयोः

अर्थ—[विभाषा लुक्] तनादिभ्यः धातुभ्यः सिचः विभाषा लुग्भवति तप्रत्यये थासि च परतः। (तन् इत्यादि धातुओं के पश्चात् सिच् का विकल्प से लुक् होता हैं त और थास् प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०—अतत, अतनिष्ट। अतथाः, अतनिष्ठाः। असात्, असनिष्ट। असाथाः, असनिष्ठाः।

सि०—अतत। तनु। तन्। तन् लुङ्। तन् ल्। तन् त। तन् च्लि त। तन् सिच् त। तन् त। त[1] त। अट्तत। अतत। अट् तन् सिच् इट् त। अ तन् इस् त। अ त निस् त। अ त नि ष्[2] त। अतनिष्ट[3]। असात्। सन् सिच् त। सन् त। स आ[4] त। सात। असात।

मन्त्रे घसह्वरणशवृदहाद्वृच्कृगमिजनिभ्यो]लेः] २।४।८०

आमः २।४।८१

प० वि०—आमः ५।१

अर्थ—[लेः] आमः परस्य लेर्लुग्भवति।

उदा०—ऊहाञ्चक्रे। ईहाञ्चक्रे। ईक्षाञ्चक्रे।

अव्ययादाप्सुपः २।४।८२

प० वि०—अव्ययात् ५।१ आप्सुपः ६।१ स०—आप् च सुप् च इति आप्सुप् तस्य आप्सुपः।

अर्थ—[लुक्] अव्ययात्परस्य आपः सुपश्च लुग्भवति (अव्यय के पश्चात आप् और सुप् का लुक् होता है)

उदा०—तत्र शालायाम्। यत्र शालायाम्। सुपः—कृत्वाः, हृत्वा।

सि०—तत्र। तद् ङि त्रल्[5]। तद्[6] त्र। त अ[7] त्र। तत्र[8] टाप्[9]। तत्र सु। तत्र[10]। कृत्वा। डुकृञ्। कृ त्वा। कृत्वा। कृ त्वा सु। कृत्वा।

१—अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनां० (६. ४. ३७) २—आदेशप्रत्यययोः (८. ३. ५९) ३—ष्टुना ष्टुः (८. ४. ४०)। ४—जनसनखनां० (६. ४.४२) ५—प्राग्दिशो विभक्तिः (५.३. १.) सप्तम्यास्त्रल् (५.३. १०) प्रत्ययः (३. १. १) परश्च (३. १. २) ६—कृत्तद्धितसमासाश्च (१. २. ४६) सुपो धातुप्रातिपदिकयोः (२. ४. ७१) ७—अष्टनः आ विभक्तौ (७. २. ८४) त्यदादीनामः (७. २. १०२) अलोऽन्त्यस्य (१. १. ५१) ८—अतो गुणे (६. १. ९४) ९—अजाद्यतष्टाप् (४. १. ४) १०—तद्धितश्चासर्वविभक्ति :(१. १. ३७) अव्ययादाप्सुपः (२. ४. ८२)।

नाव्ययीभावादतोऽम्त्वपञ्चम्याः २।४।८३

प० वि०—न १।१ अव्ययीभावात् ५।१ अतः ५।१ अम् १।१ तु १।१ अपञ्चम्याः ५।१

स०—न पञ्चमी इति अपञ्चमी तस्याः ।

अर्थ—[सुपः लुक्] अदन्तादव्ययीभावादुत्तरस्य सुपो लुङ् न भवति किन्तु पञ्चमीं विहाय तस्य सुपः स्थाने अम् आदेशो भवति ।

(अकारान्त अव्ययीभाव के पश्चात् सुप् का लुक् नहीं होता है परन्तु पञ्चमी को छोड़कर उस सुप् के स्थान में अम् आदेश होता है)

उदा०—उपकुम्भम् ।

तृतीयासप्तम्योर्बहुलम् २।४।८४

प० वि०—तृतीयासप्तम्योः ६।२ बहुलम् १।१॥ स०—तृतीया च सप्तमी च इति तृतीयासप्तम्यौ तयोः

अर्थ—[अतः अव्ययीभावात् अम्] अदन्तादव्ययीभावात् तृतीया-सप्तम्योः विभक्त्योर्बहुलमम्भावो भवति । (अकारान्त अव्ययीभाव के पश्चात् तृतीया और सप्तमी का बहुल करके अम् आदेश होता है)

उदा०—उपकुम्भेन कृतम् । उपकुम्भे कृतम् । उपकुम्भं कृतम् ।

सि०—उपकुम्भेन । उपकुम्भ टा । उपकुम्भ इन । उपकुम्भेन । उपकुम्भ ङि । उपकुम्भ इ । उपकुम्भे ।

लुटः प्रथमस्य डारौरसः २।४।८५

प० वि०—लुटः ६।१ प्रथमस्य ६।१ डारौरसः १।३ स०—डाश्च रौश्च रश्च इति डारौरसः । डारौरसश्च डारौरसश्च डारौरसः (एकशेषः)

अर्थ—लुट्लकारस्य प्रथमपुरुषस्य स्थाने डारौरसः आदेशाः यथा-संख्यम् आत्मनेपदे परस्मैपदे च भवन्ति । (लुट् लकार के प्रथमपुरुष के स्थान में डा, रौ और रस् आदेश यथाक्रम आत्मनेपद और परस्मैपद में होते हैं)

उदा०—एधिता । एधितारौ । एधितारः । परस्मैपदे–भविता । भवितारौ । भवितारः ।

सि०—एधिता । एध । एध् लुट्[1] । एध् ल् । एध् त । एध् तासि[2]

१—अनद्यतने लुट् (३. ३. १५) प्रत्ययः (३. १. १) परश्च (३. १. २)
२—स्यतासी लृलुटोः (३. १. ३३)

त । एध् तास् डा । एध् इट्[1] तास् डा । एध् इ तास् डा । एध् इ त्[2] आ । एधिता । एधितास् रौ । एधितारौ[3] । एधितास् रस् । एधितारस् । एधितारः ।

भविता । भू लुट् । भू ल् । भू ति । भू तासि ति । भू तास् डा । भू तास् आ । भू त् आ । भू इट् त् आ । भो[4] इ त् आ । भव्[5] इ त् आ । भविता । भवितारौ । भवितारः ।

इतिश्रीमत्पदवाक्यप्रमाणज्ञमहावैयाकरणपण्डितब्रह्मदत्ता-
चार्याणामन्तेवासिना देवप्रकाशपातञ्जलेन विर-
चितायामष्टाध्यायी-प्रकाशिकायां
द्वितीयाध्याये चतुर्थः पादः ।
इति द्वितीयोऽध्यायः

प्रत्ययाधिकारप्रकरणम्

प्रत्ययः ३।१।१

प० वि०—प्रत्ययः १।१

अर्थ—इतोऽग्रे आ पञ्चमाध्यायपरिसमाप्तेः प्रत्यय इत्यधिकारो वेदितव्यः । (इसके पश्चात् पंचमाध्याय पर्यन्त प्रत्यय का अधिकार समझना चाहिये)

परश्च ३।१।२

प० वि०—परः १।१ च अ० ।

अर्थ—[प्रत्ययः] प्रत्ययः परो भवति इति अधिकारो वेदितव्यः । (प्रत्यय परे होते हैं, इस बात का अधिकार समझना चाहिये)

आद्युदात्तश्च ३।१।३

प० वि० आद्युदात्तः १।१ च अ० । स०—आदिश्चासौ उदात्तश्चेति आद्युदात्तः (कर्म० तत्पु०)

१—आर्धधातुकं शेषः (३. ४. ११४) आर्धधातुकस्येड् वलादेः (७. २. ३५) आद्यन्तौ टकितौ (१. १. ४६) २—डित्करणसामर्थ्यादभ्यास्यापि टेर्लोपो भवति (इष्टिः) ३—रि च (७. ४. ५१) ४—सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७. ३. ८४) ५—एचोऽयवायावः (६. १. ७८) ।

अर्थ—आ पञ्चमाध्यायपरिसमाप्तेः सामान्येन सर्वे प्रत्ययाः आद्युदात्ताः भवन्ति इत्यधिकारो वेदितव्यः। (पंचम अध्याय पर्यन्त सामान्यतया सभी प्रत्यय आद्युदात्त होते हैं, इस बात का अधिकार समझना चाहिए)

उदाहरणं साधनं च 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः (८. ४. ६५) इत्यत्र द्रष्टव्यम्।

अनुदात्तौ सुप्पितौ ३।१।४

प० वि०—अनुदात्तौ १।२ सुप्पितौ १।२ स०—सुप् च पिच्चेति सुप्पितौ (इतरे० द्वन्द्वः)

अर्थ—आ पञ्चमाध्यायपरिसमाप्तेः सुप्-पितौ प्रत्ययावनुदात्तौ भवतः इत्यधिकारो वेदितव्यः। (पंचम अध्याय पर्यन्त सुप् और पकार इत् वाले प्रत्यय अनुदात्त होते हैं, इस बात का अधिकार समझना चाहिये)

उदाहरणं साधनं च उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः (८. ४. ६५) इत्यत्र द्रष्टव्यम्।

सनादिप्रकरणम्

गुप्तिज्किद्भ्यः [सन्] ३।१।५

धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा ३।१।६

प० वि०—धातोः ५।१ कर्मणः ५।१ समानकर्तृकात् ५।१ इच्छायाम् ७।१ वा अ०। स०—समानः कर्त्ता यस्य सः समानकर्तृकः तस्मात्।

अर्थ—[सन्] समानकर्तृकात् कर्मणः धातोर्विकल्पेन सन् प्रत्ययो भवति इच्छायां गम्यमानायाम्।

(समान कर्ता है जिसका ऐसा जो कर्म रूप धातु उससे इच्छा द्योतन होने पर विकल्प से सन् प्रत्यय होता है)

उदा०—चिकीर्षति। चिकीर्षतः। चिकीर्षन्ति। जिहीर्षति। जिहीर्षतः। जिहीर्षन्ति।

सि०—साधनं तु न पदान्त० (१. १. ५७) इति सूत्रे द्रष्टव्यम्।

कारिका—शैषिकान्मतुबर्थीयाच्छैषिको मतुबर्थिकः।
सरूपः प्रत्ययो नेष्टः सनन्तान्न सनिष्यते॥

('शेषे' अधिकार करके तथा मतुप् प्रत्यय के अर्थ में, जिन तद्धित प्रत्ययों का विधान किया गया है, उन प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से पुनः समान रूप वाले शैषिक तथा मतुप अर्थ वाले प्रत्यय नहीं होते। एवं सनन्त से सन् प्रत्यय की उत्पत्ति नहीं होती है)

सुपः आत्मनः क्यच् ३।१।८

प० वि०—सुपः ५।१ आत्मनः ६।१ क्यच् १।१

अर्थ—[कर्मणः इच्छायाम् वा] आत्मसंबन्धिनः सुबन्तात् कर्मण इच्छायां विकल्पेन क्यच् प्रत्ययो भवति । (स्वसम्बन्धी सुबन्त कर्म से इच्छा में विकल्प करके क्यच् प्रत्यय होता है)

उदा०—पुत्रीयति ।

सि०—आत्मनः पुत्रम् इच्छति इति । पुत्र अम् क्यच् । पुत्र अम् य । पुत्रीय । पुत्रीय लट् । पुत्रीय तिप् । पुत्रीय शप् तिप् । पुत्रीय अ ति । पुत्रीयति । साधनसूत्राणि तु सुपो धातुप्रातिपदिकयोरित्यत्र द्रष्टव्यानि ।

काम्यच्च ३।१।९

प० वि०—काम्यच १।१ च अ० ।

अर्थ—[कर्मणः इच्छायां वा, सुपः आत्मनः] आत्मनः सुबन्तात् कर्मण इच्छायां वा काम्यच् प्रत्ययो भवति । (स्वसम्बन्धीसुबन्त कर्म से इच्छा में विकल्प से काम्यच् प्रत्यय होता है)

उदा०—पुत्रकाम्यति । वस्त्रकाम्यति ।

सि०—आत्मनः पुत्रम् इच्छति । पुत्रम् काम्यच् । पुत्र अम्[1] काम्य । पुत्रकाम्य लट्[2] । आत्मनः वस्त्रं काम्यति इति । वस्त्र अम्[1] काम्यच् ।

उपमानादाचारे ३।१।१०

प० वि०—उपमानात् ५।१ आचारे ७।१

अर्थ—[कर्मणः वा, सुपः] उपमानवाचिकर्मणः सुबन्तादाचारार्थे वा क्यच् प्रत्ययो भवति । (उपमानवाची कर्म सुबन्त से आचार अर्थ में विकल्प से क्यच् प्रत्यय होता है)

उदा०—पुत्रीयति छात्रम् । प्रावारीयति कम्बलम् ।

सि०—पुत्रीयति । पुत्रम् इव आचरति छात्रं गुरुः इति । पुत्र अम् य । पुत्र क्य । पुत्री[3] य । पुत्रीय लट् । प्रावारम् इव आचरति कम्बलं नरः इति ।

१—सनाद्यन्ता धातवः (३. १. ३२) सुपो धातुप्रातिपदिकयोः (२. ४. ७१)
२—धातोः (३. १. ९१) वर्तमाने लट् (३. २. १२३) प्रत्ययः (३. १. १) परश्च (३. १. २) ३—क्यचि च (७. ४. ३३)

कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्च ३।१।११

प० वि०—कर्त्तुः ५।१ क्यङ् १।१ सलोपः १।१ च अ० । स०—सस्य लोपः सलोपः (ष० तत्पु०)

अर्थ—[सुपः उपमानादाचारे] उपमानवाचिनः कर्त्तुः सुबन्ताद् आचारार्थे वा क्यङ् प्रत्ययो भवति, सकारस्य च लोपो भवति ।

(उपमानवाची कर्त्ता सुबन्त से आचार के अर्थ में विकल्प से क्यङ् प्रत्यय होता है और सकार का लोप होता है)

उदा०—श्येनायते । ओजायते । अप्सरायते । पयायते । पयस्यते ।

ओजसोऽप्सरसो नित्यं पयसस्तु विभाषया ।

सि०—श्येनायते । श्येनः इव आचरति काकः इति । श्येन सु क्यङ् । श्येन सु य । श्येन[1] य । श्येना[2] य । श्येनाय लट् । श्येनाय ल् । श्येनायत[3] । श्येनाय ते[4] । श्येनाय शप् ते । श्येनाय अ ते । श्येनायते । ओजस् सु क्यङ् । ओजस् य । ओज य । ओजाय लट् । ओजायते । अप्सरस । अप्सरस् सु क्यङ् । अप्सरायते । पयायते पयस्यते ॥

धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ् ३।१।२२

प० वि०- धातोः ५।१ एकाचः ५।१ हलादेः ५।१ क्रियासमभिहारे ७।१ यङ् १।१ स०—एकोऽच् यस्मिन् इति एकाच् (बहु०) तस्मात् । हल् आदिर्यस्य इति हलादिः (बहु०) तस्मात् । क्रियायाः समभिहारः क्रियासमभिहारः तस्मिन् ।

अर्थ—[वा] पौनपुन्यं भृशार्थो वा क्रियासमभिहारः । एकाज् यो धातुर्हलादिः तस्मात् क्रियायाः समभिहारे वा यङ् प्रत्ययो भवति ।

(एक अच वाला धातु जो हलादि उससे क्रिया के बारम्बार या अधिक होने में यङ् प्रत्यय विकल्प से होता है)

उदा०—पापच्यते । यायज्यते । जाज्वल्यते । देदीप्यते ।

सि०—पुनः पुनः भृशं वा पचति इति पापच्यते । डुपचष् पाके । पच् । पच् य । पच् पच् य । प पच् य । पा पच् य । पापच्य । पापच्य

१—सनाद्यन्ता धातवः (३. १. ३२) सुपो धातुप्रातिपदिकयोः (२. ४. ७१) २–अकृत्सार्वधातुकयोः दीर्घः (७. ४. २५) ३—अनुदात्तङित आत्मनेपदम् (१. ३. १२) ४—टित आत्मनेपदानां टेरे (३. ४. ७९)

लट् । पापच्य ल् । पापच्य त । पापच्य ते । पापच्य शप् ते । पापच्य अ ते । पापच्यते ॥

जाज्वल्यते । ज्वल् यङ् । जाज्वल्यते । दीप् यङ् । दीप् य । दीप् दीप् य । दी दीप् य । दि दीप् य । देदीप्य । देदीप्य लट् । देदीप्यते । साधनसूत्राणि तु 'न धातुलोप आर्धधातुके' इत्यत्र द्रष्टव्यानि ।

सत्यापपाशरूपवीणातूलश्लोकसेनालोमत्वचवर्म-वर्णचूर्णचुरादिभ्यो णिच् ३।१।२५

प० वि०—सत्याप-पाश-रूप-वीणा-तूल-श्लोक-सेना-लोम-त्वच-वर्म-वर्ण-चूर्ण-चुरादिभ्यः ५।३ णिच् १।१ स०—सत्यापश्च पाशश्च रूपं च वीणा च तूलश्च श्लोकश्च सेना च लोम च त्वचं च वर्म च वर्णं च चूर्णं च चुरादयश्च इति सत्यापपाशरूपवीणातूलश्लोकसेनालोमत्वच-वर्मवर्णचूर्णचुरादयः, तेभ्यः ।

अर्थ—सत्याप-पाश-रूप-वीणा-तूल-श्लोक-सेना-लोम-त्वच-वर्म-वर्ण-चूर्ण-चुरादिभ्यो णिच् प्रत्ययो भवति ।

(सत्याप इत्यादि से णिच् प्रत्यय होता है)

उदा०—सत्यापयति । × अर्थवेदसत्यानामापुग्वक्तव्यः × अर्थापयति । वेदापयति । × आपुग्वचनसामर्थ्याट्टिलोपो न भवति × पाशाद्-विमोचने । विपाशयति । रूपाद्दर्शने । रूपयति । वीणया उपगायति । उपवीणयति । तूलेन अनुकुष्णाति । अनुतूलयति । श्लोकैरुपस्तौति । उपश्लोकयति । सेनयाऽभियाति । अभिषेणयति त्वचं गृह्णाति । त्वचयति । अकारान्तस्त्वचशब्दः । वर्मणा संनह्यति । संवर्मयति । चूर्णैरवध्वंसयति । अवचूर्णयति । चुरादिभ्यो स्वार्थे । चोरयति, चिन्तयति ।

सि०—सत्यापयति । सत्यम् आचष्टे इति । सत्याप् णिच् । सत्याप् इ । सत्यापि[1] । सत्यापि लट्[2] । सत्यापि ल् । सत्यापि तिप् । सत्यापि शप्[3] तिप् । सत्यापि अ ति । सत्यापे[4] अ ति । सत्याप् अय्[5] अ ति । सत्यापयति । वेदापयति । अर्थापयति । विपाशयति । विपाश णिच् ।

१—सनाद्यन्ता धातवः (३. १. ३२) २—धातोः (३. १. ९१) वर्तमाने लट् (३. २. १२३) ३—कर्त्तरि शप् (३. १. ६८) ४—सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७. ६. ८४) अदेङ्गुणः (१. १. २) स्थानेऽन्तरतमः (१. १. ४९) ५—एचोऽयवायावः (६. १. ७५)

विपाश् णिच् । विपाशि । विपाश् अय् अ तिप् । विपाशयति । अभिषेणयति । अभिसेना णिच् । अभिसेन् णिच् । अभिसेन् इ । अभिसेनि । अभिषेनि[1] शप् तिप् । अभिषेणयति । वर्मयति । वर्मन् णिच् । वर्म् णिच् । वर्मि । वर्मि शप् तिप् । वर्मयति । चोरयति । चुर । चुर् । चुर् णिच् । चोर् इ । चोरि । चोरि लट् । चोरि ल् । चोरि तिप् । चोरि ति । चोरि शप् ति । चोर् अय् अ ति । चोरयति ।

हेतुमति च ३।१।२६

प० वि०—हेतुमति ७।१ च अ० ।

अर्थ—हेतुरस्ति अस्य इति हेतुमत् तस्मिन् हेतुमति । स्वतन्त्रस्य कर्त्तुः प्रयोजकः तदीयो व्यापारः प्रेषणादिलक्षणो हेतुमान् तस्मिन्नभिधेये धातोः णिच् प्रत्ययो भवति ।

(स्वतन्त्र कर्ता के प्रेरक को हेतु कहते हैं । तथा प्रेरक का भेजना इत्यादि लक्षण वाला जो व्यापार उससे हेतुमान् कहते हैं ऐसे प्रेरणा करने अर्थ में धातु से णिच् प्रत्यय होता है)

उदा०—ज्योतिःस्वरूपः निरुक्तं पठति । युधिष्ठिरो मीमांसको ज्योतिःस्वरूपं निरुक्तं पाठयति । एटागुरुकुले वीरेन्द्रः महाभाष्यम् अधीते । आचार्यः ज्योतिःस्वरूपः वीरेन्द्रं महाभाष्यमध्यापयति । युधिष्ठिरो वेदं अवगच्छति । महावैयाकरणाः ब्रह्मदत्ताचार्याः युधिष्ठिरं वेदमवगमयन्ति । किरठलमहाविद्यालये रघुवीरसिंहः वेदमपठत् । पण्डितो जगदेवसिंहः सिद्धान्ती रघुवीरसिंहं वेदमपाठयत् । क्षेमसिंहः कर्पटिकां पचति । प्रकाशवती क्षेमसिंहं कर्पटिकां पाचयति ।× तत्करोति तदाचष्टे इत्युपसंख्यानम् × पटुं करोति आचष्टे वा इति पटयति ।

सि०—पाठयति । पठ व्यक्तायां वाचि । पठ् । पठ् णिच् । पठ् इ । पाठि[2] । पाठि लट् । पाठि ल् । पाठि तिप् । पाठि शप् तिप् । पाठि अ ति । पाठे अ ति । पाठ् अय् अ ति । पाठयति । अध्यापयति । अधि इङ् अध्ययने । इ णिच् । आ[3] इ । आ पुक्[4] इ । आपि । अधि आपि । अध्यापि लट् । अध्यापि तिप् । अध्यापि शप् ति । अध्यापि अ ति । अध्यापे अ ति । अध्यापय् अ ति । अध्यापयति ।

१—उपसर्गात्० (८. ३. ६५) । २—अत उपधायाः (७. २.) वृद्धिरादैच् (१. १. १) स्थानेऽन्तरतमः (१. १. ४६) ३—क्रीङ्जीनां णौ (६. १. ४८) ४—अर्त्तिह्रीव्ली० (७. ३. ३६)

अवगमयति। गम्लृ सृप्लृ गतौ। गम्। गम् णिच्। गम् इ। गामि[1]। गमि[2]। गमि लट्। गमि तिप्। गमि शप् ति। गमे अ ति। गमय् अ ति। गमयति। अवगयति।

पाचयति। पच् णिच्। पाच् इ। पाचि तिप्। पाचि शप् तिप्। पाचय् अ ति। पाचयति।

पटयति[3]। पटु णिच्। पटु अम् णिच्। पटु णिच्। पटु इ। पट् इ। पट् इ। पटि। पटि तिप्। पटि शप तिप्। पटे अ ति। पट् अय् अ ति। पटयति।

कण्ड्वादिभ्यो यक् ३।१।२७

प० वि०—कण्डूरादिर्येषान्ते कण्ड्वादयः तेभ्यः (बहु०)

अर्थ—कण्ड्वादिभ्यो यक् प्रत्ययो भवति।

(कण्डूञ इत्यादि से यक् प्रत्यय होता है)

उदा०—कण्डूयति। कण्डूयते।

सि०—कण्डूयति। कण्डूञ्। कण्डू यक्। कण्डूय। कण्डूय लट्। कण्डूय तिप्। कण्डूय शप् ति। कण्डूय अ ति। कण्डूयति। कण्डूय लट्। कण्डूय त। कण्डूय शप् त। कण्डूय त। कण्डूय ते। कण्डूयते।

सनाद्यन्ता धातवः ३।१।३२

प० वि०—सनाद्यन्ताः १।३ धातवः १।३ स०—सन् आदिर्येषां ते सनादयः। सनादयः प्रत्ययाः अन्ते येषान्ते सनाद्यन्ताः।

अर्थ—सनाद्यन्ताः धातुसंज्ञाः भवन्ति।

(सनादि हैं अन्त में जिस के ऐसे समुदाय की धातु संज्ञा होती है)

उदा०—चिकीर्षति। पुत्रीयति। पुत्रकाम्यति। पुत्रीयति छात्रम्। श्येनायते। पयायते। पयस्यते। पापच्यते। सत्यापयति। चोरयति। पाठयति। अध्यापयति। कण्डूयति। कण्डूयते।

विकरणप्रकरणम्

स्यतासी लृलुटोः ३।१।३३

प० वि० स्यतासी १।२ लृलुटोः ७।२ स०—स्यश्च तासिश्च इति स्यतासी। लृ च लुट् च इति लृलुटौ (इतरे० द्वन्द्वः) तयोः।

१—उत उपधायाः (७. २. ११६) २—जनीजृष्क्नसुरञ्जो अमन्ताश्च (धातुपाठे) मितां ह्रस्वः ६. ४. ९२) ३—ससूत्रा साधनिका (१. १. ५६ द्र०)

अर्थ—लृलुटोः परतः धातोः स्यतासी प्रत्ययौ भवतः।

(लृ से लृट और लृङ् दोनों का ग्रहण होता है। लृट् तथा लुट् के परे रहने पर धातुमात्र के पश्चात क्रमशः स्य और तासि प्रत्यय (विकरण) होते हैं)

उदा०—लृट्–भू। भविष्यति, भविष्यतः, भविष्यन्ति। भविष्यसि, भविष्यथः, भविष्यथ। भविष्यामि,भविष्यावः, भविष्यामः। एध वृद्धौ। एधिष्यते, एधिष्येते, एधिष्यन्ते। एधिष्यसे, एधिष्येथे, एधिष्यध्वे। एधिष्ये, एधिष्यावहे, एधिष्यामहे। लुङ्—भू। अभविष्यत्, अभविष्यताम्, अभविष्यन्। अभविष्यः, अभविष्यतम्, अभविष्यत। अभविष्यम्, अभविष्याव, अभविष्याम। एध—ऐधिष्यत, ऐधिष्येताम्। ऐधिष्यन्त। ऐधिष्यथाः, ऐधिष्येथाम्, ऐधिष्यध्वम्। ऐधिष्ये, ऐधिष्यावहि, ऐधिष्यामहि। लुट—भू। भविता, भवितारौ, भवितारः। भवितासि, भवितास्थः, भवितास्थ। भवितास्मि, भवितास्वः, भवितास्मः। एध्। एधिता, एधितारौ, एधितारः। एधितासे, एधितासाथे, एधिताध्वे। एधिताहे, एधितास्वहे, एधितास्महे॥

सि०—भविष्यति॥ भू। भू लृट्[१]। भू लृ। भू तिप्। भू स्य[२] तिप्। भू इट्[३] स्य तिप्। भू इ स्य ति। भो[४] इ स्य ति। भव्[५] इ स्य ति। भवि स्य ति। भविष्यति[६]॥ भविष्य झि। भविष्य अन्त् इ। भविष्य अन्ति। भविष्यन्ति[७]। भविष्य सिप्। भविष्यसि। भविष्यथः। भविष्यथ। भविष्यामि। भविष्य मिप्। भविष्य मि। भविष्या[८] मि। भविष्यामि। भविष्यावः। भविष्यामः। एधिष्य त। एधिष्य ते[९]। एधिष्यते। एधिष्य आताम्। एधिष्य आते[९]। एधिष्य इय्ते[१०]। एधिष्य इते[११]। एधिष्येते। एधिष्य झ। एधिष्य अन्त। एधिष्य अन्ते। एधिष्यन्ते। एधिष्य थास्। एधिष्य से[१२]। एधिष्यसे॥ एधिष्य आथाम्। एधिष्य आथे। एधिष्य इय्थे। एधिष्य इथे। एधिष्येथे।

१—लृट् शेषे च (३. ३. १३) २—स्यतासी लृलुटोः (३. १. ३३) ३—आर्धधातुकस्येड्वलादेः (७. २. ३५) आद्यन्तौ टकितौ (१. १. ४५) ४—सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७. ३. ८४) ५—एचोऽयवायावः (६. १. ७८) ६—इण्कोः (८. ३. ४६) आदेशप्रत्यययोः (८. ३. ५९) ७—अतो गुणे (६. १. ९४) ८—अतो दीर्घो यञि (७. ३. १०१) ९—टित आत्मनेपदानां टेरे (३. ४. ७९) १०—आतो ङितः (७. २. ८१) ११—लोपो व्योर्वलि (६. १. ६४) १२—थासस्से (३. ४. ८०) अनेकाल्शित् सर्वस्य (१. १. ५४)

एधिष्य ध्वम्। एधिष्य ध्वे। एधिष्यध्वे। एधिष्ये। एधिष्य इट्। एधिष्य ए। एधिष्ये। एधिष्य वहि। एधिष्य वहे। एधिष्या वहे एधिष्यावहे॥ एधिष्य महिङ्। एधिष्य महि। एधिष्य महे। एधिष्या[8] महे। एधिष्यामहे। भू लृङ्[1]। भविष्य ति। भविष्य त्[2]। भविष्यत्। अट् भविष्यत्। अ भविष्यत्। अभविष्यत्। अभविष्य तस्। अभविष्य ताम्। अभविष्यताम्॥ अभविष्य झि। अभविष्य अन्ति। अभविष्य अन्त्। अभविष्य अन्[3]। अभविष्यन्॥ अभविष्य सिप्। अभविष्य सि। अभविष्य स्। अभविष्यः। अभविष्य थस्। अभविष्य तम्। अभविष्यताम्। अभविष्य थ। अभविष्य त। अभविष्यत। अभविष्य मिप्। अभविष्य मि। अभविष्य अम्। अभविष्य वस्। अभविष्य व। अभविष्याव। एधिष्य। एधिष्य त। एधिष्य ते। एधिष्यते। आट्[4] एधिष्यते। आ एधिष्यते। ऐ[5] धिष्यते। ऐधिष्य आताम्। ऐधिष्य इय्ताम्। ऐधिष्य इताम्। ऐधिष्येताम्। ऐधिष्य झ। ऐधिष्य अन्त। ऐधिष्यन्त। ऐधिष्यथाः। ऐधिष्य आथाम्। ऐधिष्य इय्थाम्। ऐधिष्य इथाम्। ऐधिष्येथाम्। ऐधिष्यध्वम्। ऐधिष्य इट्। ऐधिष्ये।

भविता। भू लुट्। भू ल्। भू तिप्। भू तासि तिप्। भू तास् ति। भू इट् तास् ति। भू इ तास् ति। भो इ तास् ति। भव् इ तास् ति। भवितास् ति। भवितास् डा। भवित् आ। भविता। भवितारौ। भवितारः। भवितास् सिप्। भवितास् सि। भविता[6] सि। भवितासि। भवितास् थस्। भवितास्थः। भवितास्थ। भवितास् मिप्। भवितास्मि, भवितास्वः। भवितास्मः॥

एधिता। एधितारौ। एधितारः। एधितास् थास्। एधितास् से। एधिता से। एधितासे। एधितास् आथाम्। एधितास् आथे। एधितासाथे। एधितास् ध्वम्। एधितास् ध्वे। एधिताध्वे[7]। एधितास् इ। एधितास ए। एधिताह्[8] ए। एधिताहे। एधितास् वहि। एधितास् वहे। एधितास्वहे।

१—लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ (३. ३. १३९) २—इतश्च (३. ४. १००) ३—संयोगान्तस्य लोपः (८. २. २३) ४—आडजादीनाम् (६. ४. ७२) आद्यन्तौ टकितौ (१. १. ४५) ५—आटश्च (६. १. ८७) ६—तासस्त्योर्लोपः (७. ४. ५०) ७—धि च (८. २. २५) ८—ह एति (७. ३. ५२)

सिब्बहुलं लेटि ३।१।३४

प० वि०—सिप् १।१ बहुलम् १।१ लेटि ७।१

अर्थ—लेटि परतः धातोः बहुलं सिप् प्रत्ययो भवति ।

(लेट् के परे रहने पर धातुमात्र से बहुल करके सिप् प्रत्यय (विकरण) होता है)

उदा०—भाविषति । भाविषाति । भाविषत् । भाविषात् । भाविषद् । भाविषाद् । भविषति । भविषाति । भविषत् । भविषात् । भविषद् । भविषाद् । भवति । भवाति । भवत् । भवात् । भवद् । भवाद् ॥१८॥

भाविषतः । भाविषातः । भविषतः । भविषातः । भवतः ॥ भवातः ॥६॥

भाविषन्ति । भाविषान्ति । भाविषन् । भाविषान् । भविषन्ति । भविषान्ति । भविषन् । भविषान् । भवन्ति । भवान्ति । भवन् । भवान् ॥१२॥

भाविषसि । भाविषासि । भाविषः । भाविषाः । भविषसि । भविषासि । भविषः । भविषाः । भवसि । भवासि । भवः । भवाः ॥१२॥

भाविषथः । भाविषाथः । भविषथः । भविषाथः । भवथः । भवाथः ॥६॥

भाविषथ । भाविषाथ । भविषथ । भविषाथ । भवथ । भवाथ ॥६॥

भाविषमि । भाविषामि । भाविषम् । भाविषाम् । भविषमि । भविषामि । भविषम् । भविषाम् । भवमि । भवामि । भवम् । भवाम् ॥१२॥

भाविषवः । भाविषावः । भाविषव । भाविषाव । भविषवः । भविषावः । भविषव । भविषाव । भववः । भवावः । भवव । भवाव ॥१२॥

भाविषमः । भाविषामः । भाविषम । भाविषाम । भविषमः । भविषामः । भविषम । भविषाम । भवमः । भवामः । भवम । भवाम ॥१२॥

सि०—×सिब्बहुलं णिद् वक्तव्यः× भाविषति । भू लेट्[1] । भू तिप् । भू सिप्[2] ति । भू स् ति । भू इट्[3] स् ति । भू इ स् ति । भौ[4] इ स् ति । भाविस् ति । भाविष्[5] ति । भाविष् अट्[6] ति । भाविष् अ ति । भाविषति । भाविष् आट्[6] ति । भाविषाति । भाविष अट् त्[7] । भाविषत् ।

१—लिङर्थे लेट् (३. ४.७) २—सिब्बहुलं लेटि (३. १. ३४) ३—आर्धधातुकस्येड्वलादेः (७. २. ३५) ४—सिब्बहुलं णिद् वक्तव्यः (वा०) अचोऽञ्णिति (७. २.११५) वृद्धिरादैच् (१. १. १) स्थानेऽन्तरतमः) १.१.४९) ५—इण्कोः (८. ३. ५७) आदेशप्रत्यययोः (८. ३. ५९) ६–लेटोऽडाटौ (३. ४. ९४) आद्यन्तौ टकितौ (१. १. ४५) ७—इतश्च लोपः परस्मैपदेषु (३.४.९७)

भाविष् आट् ति। भाविष् आ त्। भाविषात्। भाविषद्[1]। भाविषाद्। भविषति। भू इट् सिप् तिप्। भो[2] इ स् ति। भव् इ स् ति। भविष् ति। भविष् अट् ति। भविषति। भू इट् सिप् आट् ति। भविषाति॥ भवति। भू शप् अट्[3] तिप्। भू अ अ ति। भो अ अ ति। भव् अ अ ति। भवति। भू शप् आट् तिप्। भव् अ आ ति। भवाति॥ भाविषवः। भू इट् सिप् अट् वस्। भाविष् अ वस्। भाविषवः। भू इट् सिप् आट् वस्। भाविषावः। भाविषव[4]। भाविषाव॥ एवं सर्वत्र सूत्रपूर्वकं साधनीयम्॥

कासप्रत्ययादाममन्त्रे लिटि ३।१।३५

प० वि०—कास्प्रत्ययात् ५।१ आम् १।१ अमन्त्रे ७।१ लिटि ७।१ स०—काश्च प्रत्ययश्च इति कास्प्रत्ययम् (समा० द्वन्द्वः) तस्मात्। न मन्त्रः अमन्त्रः (नञ् तत्पु०) तस्मिन्।

अर्थ—कासृधातोः प्रत्ययन्ताच्च धातोराम् प्रत्ययो भवति लिटि प्रत्यये परतः। (कासृ शब्द कुत्सायाम् तथा प्रत्यय है अन्त में जिसके ऐसे धातुओं से आम् प्रत्यय होता है लिट् के परे रहने पर)

उदा०—कासाञ्चक्रे, कासाञ्चक्राते, कासाञ्चक्रिरे। कासाञ्चकृषे, कासाञ्चक्राथे, कासाञ्चकृढ्वे। कासाञ्चक्रे, कासाञ्चकृवहे, कासाञ्चकृमहे। प्रत्ययान्तात्—लोलूयाञ्चक्रे, लोलूयाञ्चक्राते, लोलूयाञ्चक्रिरे। लोलूयाञ्चकृषे, लोलूयाञ्चक्राथे, लोलूयाञ्चकृढ्वे। लोलूयाञ्चक्र, लोलूयाञ्चकृवहे, लोलूयाञ्चकृमहे॥

सि०—कासाञ्चक्रे। कासृ। कास् लिट्। कास् आम् लिट्। कास् आम् लि। कास् आम्। कासाम् कृञ् लिट्। कासाम् कृ णल्। कासाम् कृ कृ त। कासाम् क कृ त। कासाञ्च कृ त। कासाम् च कृ एश्। कासाम् च कृ ए। कासाम् चक्रे। कासां[5] चक्रे। कासाञ्चक्रे[6]। कासाञ्चकृ आताम्। कासाञ्चकृ आते। कासाञ्चक्राते[7]। कासाञ्चकृ

१—झलां जशोऽन्ते (८. २. ३९) २—णिदभावपक्षे सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७. ३. ८४) ३—कर्त्तरि शप् (३. १. ६८) ४—स उत्तमस्य (३. ४. ९८) ५—एतेषां साधकानि सूत्राणि आम्प्रत्ययवदिति सूत्रे द्रष्टव्यानि विशेषस्तु नश्चापदान्तस्य झलि (८. ३. २४) ६—लेलुंकि प्रातिपदिकसंज्ञा ततः सु, मन्तत्वादव्ययसंज्ञा, सोर्लुक्, पदसंज्ञा, वा पदान्तस्य (८. ४. ५८) ७—इको यणचि (६. १. ७४)

झ। कासाञ्चकृ इरेच्[1]। कासाञ्चकृ इरे। कासाञ्चक्रिरे॥ कासाञ्चकृ थास्। कासाञ्चकृ से। कासाञ्चकृ षे। कासाञ्चकृषे। कासाञ्चकृ ध्वे। कासाञ्चकृ ढ्वे[2]। कासाञ्चकृढ्वे।

लोलूयाञ्चक्रे। लूञ्। लू। लू यङ्। लू लू यङ्। लो लू य। लोलूय। लोलूय लिट्। लोलूय आम् लि। लोलूय आम्। लोलूयाम् चक्रे। लोलूयां चक्रे। लोलूयाञ्चक्रे॥

इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः ३।१।३६

प० वि०—इजादेः ५।१ च अ०। गुरुमतः ५।१ अनृच्छः ५।१ स०—इच् आदिर्यस्य सः इजादिः (बहु०) तस्मात्। गुरुर्वर्णो विद्यते अस्मिन् सः गुरुमान् तस्मिन्। न ऋट् अनृट् तस्मात् (नञ् तत्पु०)

अर्थ—[अमन्त्रे लिटि] इजादिर्यो धातुर्गुरुमान् ऋच्छतिवर्जितस्तस्माच्च लिटि परतः आम्प्रत्ययो भवति अमन्त्रे।

(इच् प्रत्याहार में आने वाला कोई वर्ण आदि में है जिसके ऐसे गुरु वर्ण वाले धातु से लिट् के परे रहने पर आम् प्रत्यय होता है, ऋच्छ् धातु को छोड़ कर अमन्त्र में)

उदा०—एधाञ्चक्रे। इन्दाञ्चकार।

एधाञ्चक्रे। एध। एध् लिट्। एध आम् लिट्। एध् आम्। एधाम् कृ लिट्। एधाम् चक्रे। एधां चक्रे। एधाञ्चक्रे।

इन्दाञ्चकार। इदि परमैश्वर्ये। इदि। इ नुम् द्। इन्द् लिट्। इन्द् आम् लिट्। इन्द् आम्। इन्दाम् कृ लिट्। इन्दाम् कृ णल्। इन्दाम् कृ कृ अ। इन्दाम् क कृ अ। इन्दाम् च कृ अ। इन्दाम् च कार् अ। इदाम् चकार। इन्दां चकार, इन्दाञ्चकार।

कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि ३।१।४०

प० वि०—कृञ् १।१ च अ०। अनुप्रयुज्यते। क्रिया०। लिटि ७।१

अर्थ—पश्चादर्थे अनु। आम्प्रत्ययस्य पश्चात् कृञनुप्रयुज्यते लिटि परतः। (आम् प्रत्यय के पश्चात् कृञ् का अनुप्रयोग होता है लिट् के परे रहने पर)

उदा०—%कृञ् इति प्रत्याहारग्रहणं, तेन कृ-भू-अस्तयो गृह्यन्ते, तत्सामर्थ्यादस्ते र्भूर्भावो न भवति।%

१—लिटस्तझयोरेशिरेच् (३. ४. ८१) अनेकाल्शित्सर्वस्य (१. १. ५४)
२—इणः षीध्वंलुङ्लिटां० (८.३.७८) ३—इदितो नुम् धातोः (७. १. ५८)

एधाञ्चक्रे, एधाञ्चक्राते, एधाञ्चक्रिरे। एधाञ्चकृषे, एधाञ्चक्राथे, एधाञ्चकृढ्वे। एधाञ्चक्रे, एधाञ्चकृवहे, एधाञ्चकृमहे। एधाम्बभूव, एधाम्बभूवतुः, एधाम्बभूवुः। एधाम्बभूविथ, एधाम्बभूवथुः, एधाम्बभूव। एधाम्बभूविव। एधाम्बभूविम।

एधामास। एधामासतुः। एधामासुः। एधामासिथ। एधामासथुः। एधामास। एधामास। एधामासिव। एधामासिम। इन्दाञ्चकार। इन्दाञ्चक्रतुः। इन्दाञ्चक्रुः। इन्दाञ्चकर्थ। इन्दाञ्चक्रथुः। इन्द्राचक्र। इन्दाञ्चकार, इन्दाञ्चकर। इन्दाञ्चकृव। इन्दाञ्चकृम। इन्दाम्बभूव। इन्दामास।

सि०—एधाम्बभूव। एधाम् भू लिट्। एधाम् भू तिप्। एधाम् भू णल्। एधाम् भू ण। एधाम् भू वुक्[1] अ। एधाम् भूव् अ। एधाम् भूव् भूव् अ। एधाम् भू भूव् अ। एधाम् भु भूव् अ। एधाम् भ भूव् अ। एधाम्बभूव। एधाम्बभूवतुः। एधाम्बभूव् तस्। एधाम्बभूव् अतुस्॥ एधाम्बभूविथ। एधाम्बभूव् इट् थल्। एधाम्बभूविथ॥ एधामास। एधाम् अस् लिट्। एधाम् अस् तिप्। एधाम् अस णल्। एधाम् अस् अस् णल्। एधाम अ अस् णल्। एधाम् आ[2] अस् अ। एधाम् आ आस् अ। एधाम् आस्[3] अ। एधामास। एधामासिथ। एधाम् आस् इट् थल्। एधामासिथ॥

इन्दाञ्चकार। इन्दाञ्चक्रतुः। इन्दाम् च कृ अतुस्। इन्दाञ्चक्रतुः। इन्दाञ्चकार। इन्दाञ्चकर। इन्दाम् च कृ णल्। इन्दाञ्चकर्[4] अ। इन्दाञ्चकर॥

च्लि लुङि ३।१।४३

प० वि०—च्लि। १।१ नपुंसकनिर्देशः। लुङि ७।१

अर्थ—लुङि परतः धातोश्च्लिः प्रत्ययो भवति।

(लुङ् के परे रहने पर धातु से च्लि प्रत्यय होता है)

उदा०—अभूत्। ऐधिष्ट॥

१—भुवो वुक् लुङ्लिटोः (६. ४. ८८) आद्यन्तौ टकितौ (१. १. ४५) २—अत आदेः (७. ४. ७०) ३—अकः सवर्णे दीर्घः (६. १. ९७) ४—णलुत्तमो वा (७. १. ९१) इति णिदभावपक्षे—सार्वधातुकार्धधातुकयोः ७. ३. ८४)

च्लेः सिच् ३।१।४४

प० वि०—च्लेः ६।१ सिच् १।१

अर्थ—च्लेः स्थाने सिजादेशो भवति । (च्लि के स्थान में सिच् आदेश होता है)

उदा०—अभूत् । अभूताम् । अभूवन् । अभूः । अभूतम् । अभूत । अभूवम् । अभूव । अभूम ।

ऐधिष्ट । ऐधिषाताम् । ऐधिषत । ऐधिष्ठाः । ऐधिषाथाम् । ऐधिध्वम् । ऐधिषि । ऐधिष्वहि ऐधिष्महि ॥

सि०—अभूत् । भू लुङ् । भू ल् । भू तिप् । भू सिच् ति । भू ति । भू त् । अट् भू त् । अभूत् । अभू तस् । अभू ताम् । अभूताम् । अभू झि । अभू अन्ति । अभू वुक् अन्ति । अभूव् अन्त् । अभूवन्त् । अभूवन् । अभूवस् । अभूव ॥

साधकानि सूत्राणि गतिस्थाघुपाभूभ्यः (२।४।७७) इत्यत्र द्रष्टव्यानि ।

शल इगुपधादनिटः क्सः ३।१।४५

प० वि०—शलः ५।१ इगुपधात् ५।१ अनिटः ५।१ क्सः १।१ स०—इक् उपधायां यस्य स इगुपधः (बहु०) तस्मात् । न विद्यते इट् यस्मात् सोऽनिट (बहु०) तस्मात् ।

अर्थ—[च्लेः] शलन्तो यो धातुरिगुपधः अनिट्च तस्मात् परस्य च्लेः स्थाने क्सः आदेशो भवति । (शल् प्रत्याहार में आने वाला कोई वर्ण है अन्त में जिसके ऐसा जो इक् उपधावाला अनिट् धातु, उसके पश्चात् च्लि के स्थान में क्स आदेश होता है)

उदा०—अधुक्षत्, अधुक्षताम्, अधुक्षन् । अधुक्षः, अधुक्षतम्, अधुक्षत । अधुक्षम्, अधुक्षाव, अधुक्षाम ।

सि०—अधुक्षत् । दुह प्रपूरणे । दुह लुङ् । दुह् तिप् । दुह् ति । दुह् च्लि ति । दुह् क्स ति । दुह् स ति । दुघ्[1] स ति । धुक्[2] स ति । धुक् ष[3] ति । धुक् ष त् । अट् धुक्षत् । अधुक्षत् । अधुक्षत् ॥ अधुक्ष

१—दादेर्धातोर्घः (८. २. ३२) २—खरि च (८. ४. ५४) एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः (८. २. ३७) ३—आदेशप्रत्यययोः (८. ३. ५९)

तस्। अधुक्ष ताम्[1]। अधुक्षताम्। अधुक्षाव। अधुक्ष वस्। अधुक्ष व। अधुक्षा व। अधुक्षाव।

णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्त्तरि चङ् ३।१।४८

प० वि०—णिश्रिद्रुस्रुभ्यः ५।३ कर्त्तरि ७।१ चङ् १।१ स०—णिश्च श्रिश्च द्रुश्च स्रु श्च इति णिश्रिद्रुस्रवः (इतरे० द्वन्द्वः) तेभ्यः।

अर्थ—[च्लेः] ण्यन्तेभ्यो धातुभ्यः श्रिद्रुस्रु इत्येतेभ्यश्च परस्य च्लेश्चङादेशो भवति कर्तृवाचिनि लुङि परतः॥ (णिच् है अन्त में जिसके ऐसे धातु से तथा श्रि द्रु स्रु इन धातुओं के पश्चात् कर्तावाची लुङ् के परे रहने पर च्लि के स्थान में चङ् आदेश होता है)

उदा०—कारयति। अचीकरत्, अचीकरताम्, अचीकरन्। अचीकरः। अचीकरतम्, अचीकरत। अचीकरम्, अचीकराव, अचीकराम।

अशिश्रियत्, अशिश्रियताम्, अशिश्रियन्। अशिश्रियः, अशिश्रियतम्, अशिश्रियत। अशिश्रियम्, अशिश्रियाव, अशिश्रियाम।

अदुद्रुवत्, अदुद्रुवताम्, अदुद्रुवन्, अदुद्रुवः, अदुद्रुवतम्, अदुद्रुवत। अदुद्रुवम्, अदुद्रुवाव, अदुद्रुवाम।

असुस्रुवत्। असुस्रुवताम्। असुस्रुवन्। असुस्रुवः। असुस्रुवतम्। असुस्रुवत। असुस्रुवम्। असुस्रुवाव। असुस्रुवाम।

सि०—अचीकरत्। डुकृञ्। कृ णिच्[2]। कृ इ। कार्[3] इ। कारि। कारि लुङ्। कारि ल्। कारि तिप्। कारि चङ्[4] तिप्। कारि च तिप्। कारि अ ति। करि अ[5] ति। कर् अ[6] ति। कर् कर् अ[7] ति।

क कर् अ ति। च कर् अ ति। चि[8] कर् अ ति। ची[9] कर् अ ति। ची कर् अ त्। चीकरत्। अट् चीकरत्। अचीकर तस्। अचीकर ताम्। अचीकरताम्। अचीकर झि। अचीकर अन्ति। अचीकर अन्त्।

१—तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः (३. ४. १०१) यथासंख्यमनुदेशः समानाम् (१. ३. १०) २—हेतुमति च (३. १. २६) ३—अचो ञ्णिति (७. २. ११५) वृद्धिरादैच् (१. १. १) स्थानेऽन्तरतमः (१. १. ४९) उरण् रपरः (१. १. ५०) ४—णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्त्तरि चङ् (३. १. ४८) ५—णौ चङ्युपधायाः ह्रस्व (७. ४. १) ६—आर्धधातुकं शेषः (३. ४. ११३) णेरनिटि (६. ४. ५१) ७—चङि (६. १. ११) ८—सन्वल्लघुनि० (७. ४. ९३) ९—दीर्घो लघोः

अचीकर अन्। अचीकरन्। अचीकर सिप्। अचीकर सि। अचीकर स्। अचीकरः।

अशिश्रियत्। श्रिञ्। श्रि। श्रि लुङ्। श्रि ल्। श्रि तिप्। श्रि चङ् तिप्। श्रि अ ति। श्रियङ्[1] अ ति। श्रिय अ ति। श्रिय् अ ति। श्रिय् श्रिय् अ ति। शि श्रिय् अति। शि श्रिय् अत्। शिश्रियत्। अट् शिश्रियत्। अशिश्रियत्। अशिश्रियताम्। अशिश्रिय तस्। अशिश्रिय ताम्। अशिश्रियताम्। अदुद्रुवत्। द्रु लुङ्। द्रु ल्। द्रु तिप्। द्रु चङ् तिप्। द्रु अ ति। द्रुवङ् अ ति। द्रुव् अ ति। द्रुव् द्रुव् अ ति। दु द्रुव् अ ति। दु द्रुव् अ त्। दुद्रुवत्। अट् दुद्रुवत्। अदुद्रुवत्। असुस्रुवत्। स्रु। स्रु लुङ्। स्रु ल्। स्रु तिप्। स्रु चङ् ति। स्रु अ ति। स्रुवङ्[1] अ ति। स्रुव् अ ति। स्रुव् स्रुव् अ ति। सु स्रुव् अ ति। सुस्रुवत्। अट् सुस्रुवत्। असुस्रुवत्।

अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ् ३।१।५२

प० वि०—अस्यतिवक्तिख्यातिभ्यः ५।३ अङ् १।१

स०—अस्यतिश्च वक्तिश्च ख्यातिश्च इति अस्यतिवक्तिख्यातयः, तेभ्यः।

अर्थ—[च्लेः कर्त्तरि लुङि] असु क्षेपणे, वच परिभाषणे, ब्रूञादेशो वा, ख्या प्रकथने चक्षिङादेशो वा इत्येतेभ्यो धातुभ्यः च्लेरङादेशो भवति कर्तृवाचिनि लुङि परतः। (असु, वच और ख्या धातुओं के पश्चात् कर्त्ता-वाची लुङ् के परे रहने पर च्लि के स्थान में अङ् आदेश होता है)

उदा०—अस्यतेः पुषादिपाठादेवाङि सिद्धे पुनर्ग्रहणमात्मनेपदार्थम्। ×उपसर्गादस्यत्यूह्योर्वा वचनम्× (१. ३. ४६) पर्यास्थत, पर्यास्थेताम्, पर्यास्थन्त। पर्यास्थथाः, पर्यास्थेथाम्, पर्यास्थध्वम्। पर्यास्थे, पर्यास्थावहि, पर्यास्थामहि। वक्ति॥ अवोचत्, अवोचताम्, अवोचन्। अवोचः, अवोचतम्, अवोचत। अवोचम्, अवोचाव, अवोचाम। ख्याति। आख्यत्, आख्यताम्, आख्यन्। आख्यः, आख्यतम्, आख्यत। आख्यम्, आख्याव, आख्याम॥

सि०—परि असु। परि अस् लुङ्। परि अस् ल्। परि अस् त।

(७.४.८३) १—अचि श्नुधातुभ्रुवां० (६. ४. ७७) ङिच्च (१. १. ५२)

परि अस् च्लि त । परि अस् अङ् त । परि अस् थुक्[1] अङ् त । परि अस् थ् अ त । परि अस्थत । परि आट् अस्थत । परि आ अस्थत । पर्यास्थत । अवोचत् । वच् लुङ् । वच् ल् । वच् तिप् । वच् अङ् ति । व उम् च्[2] अ ति । वउ च् अ ति । वोच ति । वोचत् । अट् वोचत् । अवोचत् । आख्यत् । आङ् ख्या । आख्या लुङ् । आख्या ल् । आख्या तिप् । आख्या अङ् तिप् । आख्या अ तिप् । आख्य्[3] अ ति । आख्य् अ त् । आख्यत् । आ आट् ख्यत् । आ आ ख्यत् । आख्यत् । आख्यतम् । आख्य तस् । आख्यतम् ॥

पुषादिद्युताद्य्लृदितः परस्मैपदेषु ३।१।५५

प० वि०—पुषादिद्युताद्य्लृदितः ५।१ परस्मैपदेषु ७।३ स०—पुषः आदिः येषान्ते पुषादयः ॥ द्युतः आदिः येषां ते द्युतादयः ॥ लृत् इत् यस्य सोऽयम् लृदित् । पुषादयश्च द्युतादयश्च लृदिश्च इति पुषादिद्युताद्य्लृदित् (समा० द्वन्द्वः) तस्मात् ॥

अर्थ—[च्लेः अङ् कर्त्तरि लुङि] पुषादिभ्यो द्युतादिभ्यः लृदिद्भ्यश्च धातुभ्यः परस्य च्लेरङादेशो भवति लुङि कर्तृवाचिपरस्मैपदेषु परतः ॥ पुष आदि में है जिनके ऐसे द्युत आदि में है जिनके ऐसे तथा लृकार इत् वाले धातुओं के पश्चात् कर्तावाची लुङ् परस्मैपद के परे रहने पर 'च्लि' के स्थान में 'अङ्' आदेश होता है)

उदा०—पुषादयो दिवादिस्थाः गृह्यन्ते न भ्वादिस्थाः । पुषादि—अपुषत्, अपुषताम्, अपुषन् । अपुषः, अपुषतम्, अपुषत । अपुषम्, अपुषाव, अपुषाम ॥ द्युतादि—अद्युतत्, अद्युतताम्, अद्युतन् । अद्युतः, अद्युततम्, अद्युतत । अद्युतम्, अद्युताव, अद्युताम । लृदित्—अगमत् अगमताम्, अगमन् । अगमः, अगमतम्, अगमत । अगमम्, अगमाव, अगमाम ॥

सि०—पुष । पुष् । पुष् लुङ् । पुष् ल् । पुष् तिप् । पुष् च्लि तिप् । पुष् अङ् ति । पुष् अ ति । पुष्[4] अत् । पुषत् । अट् पुषत् । अपुषत् । (एवं सर्वत्र)

१—अस्यतेस्थुक् (७. ४. १७) आद्यन्तौ टकितौ (१. १. ४५) २—वच उम् (७. ४. २०) ३—आतो लोप इटि च (६. ४. ६४) ४—पुगन्तलघूपधस्य च (७. ३. ८६) क्ङिति च (१. १. ५)

इरितो वा ३।१।५७

प० वि०—इरितः ५।१ वा अ० । स०—इश्च रश्च इति इरौ । इश्च इच्च इति इतौ । इरौ इतौ यस्य सोऽयम् इरित् (बहु०) तस्मात्

अर्थ—[च्लेः लुङि परस्मैपदेषु] इरितो धातोः परस्य वा च्लेरङादेशो भवति लुङि कर्तृवाचिपरस्मैपदेषु परतः ॥ (इर् है इत् जिसका ऐसे धातुओं के पश्चात् कर्तावाची लुङ् परस्मैपद के परे रहने पर च्लि के स्थान में विकल्प से अङ् आदेश होता है)

उदा०—अङि । भिदिर्—अभिदत्, अभिदताम्, अभिदन् । अभिदः, अभिदतम्, अभिदत । अभिदम्, अभिदाव, अभिदाम ॥ सिचि । अभैत्सीत्, अभैत्ताम्, अभैत्सुः । अभैत्सीः, अभैत्तम्, अभैत्त । अभैत्सम्, अभैत्स्व, अभैत्स्म । छिदिर्—अङ् अच्छिदत्, अच्छिदताम्, अच्छिदन् । अच्छिदः, अच्छिदतम्, अच्छिदत । अच्छिदम् । अच्छिदाव, अच्छिदाम ॥ चङ्-अच्छैत्सीत्, अच्छैत्ताम्, अच्छैत्सुः । अच्छैत्सीः, अच्छैत्तम्, अच्छैत्त । अच्छैत्सम्, अच्छैत्स्व, अच्छैत्स्म ॥

सि०—भिदिर् । भिद् । भिद् लुङ् । भिद् तिप् । भिद् च्लि तिप् । भिद् अङ् ति । भिद् अ ति । भिद् अ ति । भिद् अ त् । भिदत् अट् भिदत् । अभिदत् । भिद् लुङ् । भिद् तिप् । भिद् च्लि तिप् । भिद् सिच् तिप् । भैद् स्[1] तिप् । भैद् स् त् । भैद् स् ईट्[2] त् । भैत्[3] स् ई त् । भैत्सीत् । अट् भैत्सीत् । अभैत्सीत् । अभैत्ताम् । अभैत् स् तस् । अभैत् स् ताम् । अभैत्[4] ताम् । अभैत्ताम् । अभैत्स् झि । अभैत्स् जुस् । अभैत्स् उस् । अभैत्सुः ॥

चिण् ते पदः ३।१।६०

प० वि०—चिण् १।१ ते ७।१ पदः ५।१

अर्थ—[च्लेः लुङिः कर्त्तरि] पद गतौ इत्यस्माद् धातोः परस्य कर्तृवाचिनि लुङि तशब्दे परतः च्लेश्चिणादेशो भवति । (पद धातु के पश्चात् कर्तावाची लुङ् आत्मनेपद त प्रत्यय के परे रहने पर च्लि के स्थान चिण्

१—सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु (७. २. १) २—अपृक्त एकाल्प्रत्ययः (१. २. ४१) अस्तिसिचोऽपृक्ते (७. ३. ९६) ३—खरि च (८. ४. ५४) ४—झलो झलि (८. २. २६)

आदेश होता है)

उदा०—उदपादि सस्यम् । प्रापादि विद्यां ब्राह्मणः । उदपादि, उदपत्साताम्, उदपत्सत ।

सि०—उदपादि । उद् पद । उप् पद् । उद् पद् लुङ् । उद् पद् ल् । उद् पद् त । उद् पद् च्लि त । उद् पद् चिण त । उद् पद् चिण[1] । उद् पद् इ । उपाद्[2] इ । उद् पादि । उद् अट् पादि । उद् अ पादि । उदपादि ॥

अचः कर्मकर्त्तरि ३।१।६२

प० वि०—अचः ५।१ कर्मकर्त्तरि ७।१

अर्थ—[चिण् ते अन्यतरस्याम्] अजन्ताद् धातोः परस्य च्लेः स्थाने कर्मकर्त्तरि तप्रत्यये परतः विकल्पेन चिण् आदेशो भवति । (अजन्त धातु के पश्चात् च्लि के स्थान में कर्मकर्त्ता त प्रत्यय के परे रहने पर विकल्प से चिण् आदेश होता है)

उदा०—कर्त्तरि—देवदत्तः कटं करोति । कर्मकर्त्तरि—अकृत वा अकारि कटः स्वयमेव । कर्त्तरि—देवदत्तः केदारं लुनाति । कर्मकर्त्तरि—अलावि केदारः स्वयमेव । अलविष्ट केदारः स्वयमेव ॥

सि०—अकारि । कृ लुङ् । कृ ल् । कृ चिण् त । कृ इ त । कार् इ त । कारि । अट् कारि । अकारि । अकृत । कृ लुङ् । कृ त । कृ सिच् त । कृ[3] सिच् त । कृ स् त । कृ[4] त । अट् कृत । अकृत ॥ अलावि । लूञ् । लू लुङ् । लू ल् । लू त । लू चिण् त । लौ इ त । लावि त । लावि । अट् लावि । अलावि । अलविष्ट । लू लुङ् । लू ल् । लू त । लू सिच् त । लू इट् स त । लो इ स त । लविष् त । लविष्ट । अट् लविष्ट । अलविष्ट ॥

चिण भावकर्मणोः ३।१।६६

प० वि०—चिण् १।१ भावकर्मणोः ७।२ स०—भावश्च कर्म च इति भावकर्मणी तयोः ।

अर्थ—[च्लेः लुङि] धातोः परस्य च्लेश्चिणादेशो भवति भावे

१—चिणो लुक् (६. ४. १०४) २—अत उपधायाः (७. २. ११६) ३—सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७. ३. ८४) उश्च (१. २. १२) क्ङिति च (१. १. ५) ४—ह्रस्वादङ्गात् (८. २. २७)

कर्मणि च लुङि तप्रत्यये परतः ॥ (धातु के पश्चात् च्लि के स्थान में चिण् आदेश होताहै भाव और कर्म विषयक लुङ् में आत्मनेपद त प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०—भावे लुङि—अशायि देवदत्तेन । कर्मणि लुङि—अपाठि वेदः देवदत्तेन ॥ ×कर्मोपदिष्टाः विधयः कर्मकर्त्तर्यपि भवन्ति× कर्मणि लटि—देवदत्तेन काष्ठं भिद्यते । कर्मकर्त्तरि लुङि—अभेदि काष्ठं स्वयमेव ॥

सि०—अशायि । शीङ् । शी लुङ् । शी त । शी चिण् त । शै इ त । शाय् इ त । शायि । अट् शायि । अशायि । अपाठि । पठ । पठ् लुङ् । पठ् ल् । पठ् त । पठ् चिण् त । पाठ् इ त । पाठ् इ । पाठि । अट् पाठि । अपाठि ॥ अभेदि ॥ भिदिर् । भिद् । भिद् लुङ् । भिद् ल् । भिद् त । भिद् चिण् त । भिद् इ त । भेद् इ त । भेदि । अट भेदि । अभेदि ॥

सार्वधातुके यक् ३।१।६७

प० वि०—सार्वधातुके ७।१ यक् १।१

अर्थ—[भावकर्मणोः] भावकर्मवाचिनि सार्वधातुके प्रत्यये परतः धातोर्यक् प्रत्ययो भवति । (भाव और कर्मवाची सार्वधातुक प्रत्यय के परे रहने पर धातु से यक् प्रत्यय होता है)

उदा०—कर्त्तरि लटि—देवदत्तः आस्ते । भावे लटि—आस्यते देवदत्तेन । कर्त्तरि लटि—देवदत्तः ओदनं पचति । कर्मणि लटि—पच्यते ओदनः देवदत्तेन । ×कर्मकर्त्तर्यपि कर्मोपदिष्टो यग् भवति× कर्त्तरि लटि—देवदत्तः काष्ठं लुनाति । कर्मणि लटि—काष्ठं लूयते देवदत्तेन । कर्मकर्त्तरि लटि—लूयते काष्ठं स्वयमेव ॥

सि०—आस्यते । आस् लट् । आस् ल् । आस् त । आस् यक् त । आस्यत । आस्यते ॥ पच्यते । डुपचष् । पच् लट् । पच् ल् । पच् त । पच् यक् त । पच्यत । पच्यते ॥ लूयते । लूञ् लट् । लू ल् । लू त । लू यक् त । लू य त । लूयते ॥

कर्त्तरि शप् ३।१।६८

प० वि०—कर्त्तरि ७।१ शप् १।१

अर्थ—[सार्वधातुके] कर्तृवाचिनि सार्वधातुके प्रत्यये परतः धातोः शप् प्रत्ययो (विकरणः) भवति ॥ (कर्त्तावाची सार्वधातुक प्रत्यय के परे रहने पर धातु से शप् प्रत्यय होता है)

उदा०—भवति । एधते । चोरयति । चिकीर्षति । पापच्यते ।

सि०—भवति। भू लट्। भू ल्। भू तिप्। भू शप् तिप्। भू अ ति। भो अ ति। भवति। एधते। एध्। एध् लट्। एध ल्। एध त। एध् शप् त। एध् अ त। एध् अ ते। एधते॥

चोरयति। चुर्। चुर् णिच्। चुर् इ। चोरि। चोरि लट्। चोरि ल्। चोरि ति। चोरि शप् ति। चोरि अ ति। चोरे अ ति। चोरय् अ ति। चोरयति।

पापच्यते। पच् यङ्। पच् य। पच् पच् य। प पच् य। पा[1] पच य। पापच्य शप् त। पापच्य अ त। पापच्यत। पापच्यते॥

दिवादिभ्यः श्यन् ३।१।६९

प० वि०—दिवः आदिर्येषान्ते दिवादयः तेभ्यः।

अर्थ—[सार्वधातुके कर्त्तरि शप्] दिवादिभ्यो धातुभ्यः शपः स्थाने श्यन् प्रत्ययो भवति कर्त्तृवाचिसार्वधातुके प्रत्यये परतः।

(कर्तावाची सार्वधातुक प्रत्यय के परे रहने पर दिव् है आदि में जिसके ऐसे धातुओं से शप् के स्थान में श्यन् प्रत्यय होता है)

उदा०—दीव्यति, दीव्यतः, दीव्यन्ति। दीव्यसि, दीव्यथः, दीव्यथ। दीव्यामि, दीव्यावः, दीव्यामः।

सि०—दिवु। दिव् लट्। दिव् तिप्। दिव् ति। दिव् श्यन् ति। दिव् य ति। दीव्[2] य ति। दीव्यति॥

स्वादिभ्यः श्नुः ३।१।७३

प० वि०—स्वादिभ्यः ५।३ श्नुः १।१ स०—सुः आदिर्येषां ते स्वादयः तेभ्यः।

अर्थ—[सार्वधातुके कर्त्तरि शप्] कर्तृवाचिनि सार्वधातुके प्रत्यये परतः स्वादिभ्यो धातुभ्यः शपः स्थाने श्नुप्रत्ययो भवति।

(कर्त्तावाची सार्वधातुक प्रत्यय के परे रहने पर सु इत्यादि धातुओं के पश्चात् शप् स्थान में श्नु प्रत्यय होता है)

उदा०—सुनोति, सुनुतः, सुन्वन्ति। सुनोषि, सुनुथः, सुनुथ। सुनोमि, सुनुवः, सुन्वः, सुनुमः, सुन्मः॥

सि०—षुञ्। षु। सु[3] लट्। सु ल्। सु ति। सु श्नु[4] ति। सु नु

१—दीर्घोऽकितः (७. ४. ८३) २—हलि च (८. २. ७७) ३—धात्वादेः षः सः (६. १. ६२) ४—स्वादिभ्यः श्नुः (३. १. ७३)

ति । सु नो[1] ति । सु[2] नोति । सुनुतः । सु श्नु[2] तस् । सुनु अन्ति । सुन्वन्ति[3] । सुनुवः । सुन्वः[4] । सु नु वस् । सु न् वस । सुन्वः ॥

श्रुवः शृ च ३।१।७४

प० वि०—श्रुवः ६।१ शृ । १ । १ नपुंसकनिर्देशः । च अ० ।

अर्थ—[सार्वधातुके कर्त्तरि शप्] श्रु श्रवणे इत्यस्माद् धातो परस्य शपः स्थाने कर्तृवाचिनि सार्वधातुके प्रत्यये परतः श्नुविकरणो भवति, तत्संनियोगेन श्रुवः शृ इत्ययमादेशो भवति । (श्रु धातु के पश्चात् कर्तावाची सार्वधातुक प्रत्यय के परे रहने पर शप् के स्थान में श्नु विकरण होता है और उसके संयोग से श्रु धातु के स्थान में शृ आदेश होता है)

उदा०—शृणोति । शृणुतः । शृण्वन्ति ।

तुदादिभ्यः शः ३।१।७७

प० वि०—तुदादिभ्यः ५।३ शः १ । १ सि०—तुदः आदिर्येषां ते तुदादयः तेभ्यः ।

अर्थ—[सार्वधातुके कर्त्तरि शप्] कर्तृवाचिनि सार्वधातुके प्रत्यये परतः तुदादिभ्यो धातुभ्यः शपः स्थाने शविकरणो भवति ।

(कर्त्तावाची सार्वधातुक प्रत्यय के परे रहने तुद इत्यादि धातुओं के पश्चात शप् के स्थान में श विकरण होता है)

उदा०—तुदति, तुदतः, तुदन्ति । तुदसि, तुदथः । तुदथ । तुदामि, तुदावः, तुदामः ।

सि०—तुदति । तुद् लट् । तुद् तिप् । तुद शप् ति । तुद अ ति । तुद्[5] अ त । तुदति । तुद अ अन्ति । तुदन्ति ।

रुधादिभ्यः श्नम् ३।१।७८

प० वि०—रुधादिभ्यः ५।३ श्नम् १।१ स०—रुधः आदिर्येषान्ते रुधादयः तेभ्यः ।

अर्थ—[सार्वधातुके कर्त्तरि शप्] कर्तृवाचिनि सार्वधातुके प्रत्यये

१—सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७.३. ८४) २—सार्वधातुकार्धधातुकयोः इति प्राप्ते–सार्वधातुकमपित (१. २. ४) क्ङिति च (१. १. ५) इति गुणस्य निषेधः ३—हुश्नुवो० (६. १. ८७) ४—लोपश्चास्यान्यतरस्यां म्वोः (६. ४. १०७) ५—पुगन्तलघूपधस्य (१. २. २४) क्ङिति च ।

परतः रुधादिभ्यो धातुभ्यः शपः स्थाने श्नम् विकरणो भवति। (कर्त्तावाची सार्वधातुक प्रत्यय के परे रहने पर रुध इत्यादि धातुओं से शप् के स्थान में श्नम् विकरण होता है)

उदा० — रुणद्धि, रुन्धः रुन्द्धः, रुन्धन्ति। रुणत्सि, रुन्धः, रुन्ध। रुणध्मि, रुन्ध्वः, रुन्ध्मः। रुन्धे, रुन्धाते, रुन्धते। रुन्त्से, रुन्धाथे, रुन्ध्वे। रुन्धे, रुन्ध्वहे, रुन्ध्महे ॥

सि०—रुधिर्। रुध्। रुध् लट्। रुध् ल्। रुध् तिप्। रुध् ति। रु श्नम्[1] ध् ति। रुनध् ति। रुणध्[2] ति। रुणध् धि[3]। रुणद्[4] धि। रुणद्धि। रुन्धः। रुध्। रुध् लट। रुध् तस्। रु श्नम ध् तस्। रु न ध् तस्। रु न्[5] ध् तस्। रुन्ध् धस्। रुन्[6] धस्, रुन्धः। रुन्ध् धस्। रुन्द्धस्। रुन्द् धः। रुन्द्धः। रुन्धन्ति। रुध् झि। रु श्नम् ध् अन्ति। रुनध् अन्ति। रुन्धन्ति। रुणत्सि। रुणध् सिप्। रुणत् सि। रुणत्सि ॥ रुन्धे। रुध्। रुध लट्। रुध् त। रु श्नम् ध् त। रु न ध् त। रु न् ध् त। रुन्ध् ते। रुन्ध् धे। रुन्धे ॥

तनादिकृञ्भ्य उः ३।१।७९

प० वि०—तनादिकृञ्भ्यः ५।३ उः १।१ स०—तन् आदिर्येषान्ते तनादयः। तनादयश्च कृञ्च इति तनादिकृञः तेभ्यः ॥

अर्थ—[सार्वधातुके कर्त्तरि शप्] तनु विस्तारे, इत्येवमादिभ्यो धातुभ्यः कृञश्च उप्रत्ययो भवति, कर्तृवाचिनि सार्वधातुकप्रत्यये परतः। (तनु विस्तारे धातु है आदि में जिनके ऐसे धातुओं के पश्चात् तथा कृञ् धातु के पश्चात् कर्तावाची सार्वधातुक प्रत्यय के परे रहने पर शप् के स्थान में उ विकरण होता है)

अत्रेदं बोध्यम्—कृञ् तनादौ पठ्यते, स चानार्षः पाठः, अन्यथा तनादित्वादेव उप्रत्यये सिद्धे कृञः पृथग्ग्रहणमनर्थकं स्यात्। सायणतः प्राचीनाः पाणिनीयाः (मैत्रेयं वर्जयित्वा), अन्ये च हैमादयः, सर्व एव वैयाकरणाः कृञं भ्वादावप्यपाठिषुः (सायणेनैव कृञ् भ्वादेः निष्काषितः द्र० माधवीया धातुवृत्तिः पृ० १६३ ऋग्भाष्यं १।८२।१) तथा सति कृञो भ्वादिपाठात् शब्भवति, तनादिकृञ्भ्य उ इत्यत्र कृञ्ग्रहणाच्च उः।

१—मिदचोऽन्त्यात्परः (१. १. ४६) २—अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि (६. ४. २) ३—झषस्तथोर्धोऽधः (८. ड. ४०) ४—झलां जश् झशि (८. ४. ५२) ५—श्नसोरल्लोपः (६. ४. १११) ६—झरो झरि सवर्णे (८. ४. ६४)

एतदेवाभिप्रेत्याचार्यदयानन्देनाप्युक्तम्—"डुकृञ् करणे इत्यस्य भ्वादिगणान्तर्गतपाठात् शब्विकरणोऽत्र गृह्यते, तनादिभिः सह पाठादुविकरणोऽपि" (यजुर्भाष्यं ३।५८)।

उदा०—तनोति, तनुतः, तन्वन्ति। तनोषि, तनुथः, तनुथ। तनोमि, तनुवः तन्वः। तनुमः तन्मः॥ करोति, कुरुतः, कुर्वन्ति। करोषि, कुरुथः, कुरुथ। करोमि, कुर्वः। कुर्मः॥

सि०—तनोति। तनु। तन् लट्। तन् ल्। तन् तिप्। तन् उ ति। तनु ति। तनोति। तनुतः। तनुवः, तन्वः[1]। कुरुतः। कृ उ तस्। कर[2] उ तस। कुर[3] उ तस्। कुरुतः। कुर् उ मस्। कुर्[4] मस। कुर्मः॥

क्र्यादिभ्यः श्ना ३।१।८१

प० वि०—क्र्यादिभ्यः ५।३ श्ना १।१ स०—क्रीः आदिर्येषां ते क्र्यादयः तेभ्यः।

अर्थ—[सार्वधातुके कर्त्तरि शप्] कर्तृवाचिनि सार्वधातुके प्रत्यये परतः क्र्यादिभ्यो धातुभ्यः शपः स्थाने श्नाविकरणो भवति॥

(कर्तावाची सार्वधातुक प्रत्यय के परे रहने पर डुक्रीञ् इत्यादि धातुओं से शप् के स्थान में श्नाविकरण होता है)

उदा०—क्रीणाति, क्रीणीतः, क्रीणन्ति। क्रीणासि, क्रीणीथः, क्रीणीथ। क्रीणामि, क्रीणीवः, क्रीणीमः।

सि०—क्रीणाति। डुक्रीञ्। क्री लट्। क्री ल्। क्री तिप्। क्री ति। क्री श्ना ति। क्री ना ति। क्री ना ति। क्री णा[5] ति। क्रीणाति। क्रीणा तस्। क्रीणीतः[6]। क्रीणा अन्ति। क्री ण्[7] अन्ति। क्रीणन्ति।

हलः श्नः शानज्झौ ३।१।८३

प० वि०—हलः ५।१ श्नः ६।१ शानच् १।१ हौ ७।१

अर्थ—[हलन्ताद् धातोरुत्तरस्य श्नाप्रत्ययस्य स्थाने शानज् आदेशो भवति हौ परतः॥ (हलन्ताद् धातु के पश्चात् श्ना प्रत्यय के स्थान में शानच् आदेश होता है लोट् मध्यम पुरुष एकवचन हि प्रत्यय के परे रहने पर)

१—लोपश्चास्यान्यतरस्यां म्वोः (६. ४. १०७) २—सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७. ३. ८४) उरण् रपरः (१. १. ५०) ३—अत उत्सार्वधातुके (६. ४. ११०) ४—नित्यं करोतेः (६. ४. १०८) ५—अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि (८. ४. २) ६—ई हल्यघोः (६. ४. ११३) ७—श्नाभ्यस्तयोरातः (६. ४. ११२)

उदा०—मुषाण रत्नानि, पुषाण ।
सि०—मुष । मुष् लोट् । मुष् सिप् । मुष् हि । मुष् श्ना सि । मुष् श्ना सि । मुष् श्ना हि[1] । मुष् शानच् हि । मुष् आन हि । मुषान[2] । मुषाण[3] । पुषाण ॥

कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः ३।१।८७

प० वि०—कर्मवत् अ० । कर्मणा ३।१ तुल्यक्रियः १।१ स०—तुल्या क्रिया यस्य कर्त्तुरिति तुल्यक्रियः कर्ता ।

अर्थ—[कर्त्तरि (इत्यत्र प्रथमया विपरिणम्यते)] कर्मणा तुल्यक्रियः कर्ता कर्मवद् भवति । ॐयस्मिन् कर्मणि कर्तृभूतेऽपि तद्वत्क्रिया लक्ष्यते यथा कर्मणि, स कर्त्ता कर्मवद् भवति ॥ यावन्तो धातवः सन्ति ते सर्वे चतुर्विधाः—कर्मस्थभावकाः, कर्मस्थक्रियाः, कर्तृस्थभावकाः, कर्तृस्थक्रियाः । अस्मिन् सूत्रे कर्मस्थभावकानां कर्मस्थक्रियाणां च कर्त्ता कर्मवद् भवति, न कर्तृस्थभावकानां न कर्तृस्थक्रियाणाम् ॥ कोऽयं कर्मस्थभावकः कर्मस्थक्रियश्च इति उच्यते । कर्मणि तिष्ठति इति कर्मस्थः, कर्मस्थो भावो यस्य धातोः सः कर्मस्थभावकः । कर्मस्था क्रिया यस्य धातो सः कर्मस्थक्रियः । पुनश्च कोऽयं भावः केयं क्रिया च इति ? उच्यते—अपरिस्पन्दनसाधनसाध्यो धात्वर्थो भावः, सपरिस्पन्दनसाधनसाध्यो धात्वर्थः क्रिया ॥ॐ

(कर्त्तरि शप् से कर्त्तरि की अनुवृत्ति आती है जिसका प्रथमा विभक्ति में विपरिणाम अर्थात् बदल कर कर्तृ हो जाता है । (कर्म से तुल्य क्रिया वाला कर्त्ता कर्म के समान होता है) । जिस कर्म के कर्ता हो जाने पर भी कर्म के समान ही क्रिया लक्षित होती है, वह कर्त्ता कर्मवत् होता है । जितने धातु हैं वे सभी चार प्रकार के होते हैं—कर्मस्थभावक, कर्मस्थक्रिय, कर्तृस्थभावक, कर्तृस्थक्रिय । इस सूत्र में कर्मस्थभावक और कर्मस्थक्रिय धातुओं का कर्ता कर्मवद् होता है कर्तृस्थभावक और कर्तृस्थक्रिय धातुओं का नहीं होता ॥

कर्मस्थभावक और कर्मस्थक्रिय शब्द का क्या अर्थ है, इसका अर्थ बतलाया जाता है । कर्म में जो स्थित है उसको कर्मस्थ कहते हैं और कर्मस्थ भाव है जिस धातु का उस धातु को कर्मस्थभावक कहते हैं । उसी प्रकार कर्मस्थ क्रिया है जिस धातु की उस धातु को कर्मस्थक्रिय कहते हैं ।

१—सेर्ह्यपिच्च (३. ४. ८७) २—अतो हेः (६. ४. १०५) ३—अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि (८. ४. १)

भाव और क्रिया शब्द का क्या अर्थ है वह बतलाया जाता है—अपरिस्पन्दन अर्थात् हिलना डोलनादि चेष्टा से रहित साधन अर्थात् कर्त्ता आदि कारक द्वारा सिद्ध होने वाला धातु का अर्थ भाव कहा जाता है। सपरिस्पन्दन अर्थात् हिलना डोलना आदि चेष्टा से युक्त साधन के द्वारा सिद्ध होने वाला धातु का अर्थ क्रिया कही जाती है।

कर्मस्थः पचतेर्भावः कर्मस्था च भिदेः क्रिया।
मासासिभावः कर्तृस्थः कर्तृस्था च गमेः क्रिया॥

कारिका का अर्थ—'पचति' का धात्वर्थ भाव कर्म में रहता है जैसे 'ओदनं पचति देवदत्तः'। गलना रूपी भाव ओदन कर्म में होता है न कि कर्त्ता देवदत्त में। 'भिनत्ति' की धात्वर्थ क्रिया कर्म में रहती है। जैसे 'देवदत्तः काष्ठं भिनत्ति' फटना रूपी क्रिया काष्ठ में होती है न कि कर्त्ता देवदत्त में। 'आस्ते' (ठहरता है) का धात्वर्थ भाव कर्त्ता में रहता है। जैसे मासमास्ते देवदत्तः। ठहरना रूपी भाव कर्त्ता देवदत्त में रहता है न कि कर्म मास में। 'गच्छति' की धात्वर्थ क्रिया कर्त्ता में होती है। जैसे 'देवदत्तो ग्रामं गच्छति'। जाना रूपी क्रिया देवदत्त में होती है न कि कर्म ग्राम में।

उदा०—यगात्मनेचिण्चिण्वद्भावाः प्रयोजनम्। कर्त्तरि—देवदत्तः काष्ठं भिनत्ति। कर्मणि—काष्ठं भिद्यते देवदत्तेन। कर्मकर्त्तरि—काष्ठं भिद्यते स्वयमेव। कर्त्तरि—देवदत्तः काष्ठम् अभिदत्। कर्मणि—अभेदि काष्ठं देवदत्तेन। कर्मकर्त्तरि—अभेदि काष्ठं स्वयमेव।

सि०—भिद्यते। भिदिर्। भिद् लट्। भिद् ल्। भिद् त। भिद् यक्[1] त। भिद्[2] य ते। भिद् य ते। भिद्यते। अभेदि। भिद्। भिद् लुङ्। भिद् ल्। भिद् त। भिद् च्लि त। भिद् चिण् त। भिद् इ त। भेद् इ। भेदि। अट् भेदि। अभेदि।

धातोः ३।१।९१

प० वि०—धातोः इति पञ्चमीषष्ठ्योरेकवचनयोः तन्त्रेण निर्देशः। तेन यत्र सूत्रेषु पञ्चमीनिर्देशस्तत्र पञ्चम्यन्तं यत्र च ऋहलोर्ण्यत् इत्यादिषु षष्ठीनिर्देशस्तत्र षष्ठ्यन्तं धातोः पदं संबद्ध्यते। आधुनिका वैयाकरणा ऋहलोर्ण्यत् आदिषु सूत्रेषु पञ्चम्यर्थे षष्ठीमाहुः तन्न, परशब्दयोगे षष्ठ्या अन्यत्रापि दर्शनात्। यथाह कात्यायनः—'एकादशिनोः परः षट्कस्तनुशिरा' (ऋक्सर्वा० उपो० ५।५)। पाणिनिना पञ्चम्येव

१—सार्वधातुके यक् (३. १. ६७) २—पुगन्तलघूपधस्य च (७. ३. ८६) क्ङिति च (१. १. ५)

विहिता इति चेत् तदीयसूत्रेषु बहुत्र षष्ठ्याः प्रयोगदर्शनात् षष्ठी प्रयोगोऽपि ज्ञापनीयः। न तु पञ्चम्यर्थे षष्ठी वक्तव्या। हिन्दीभाषायामपि परयोगे, 'ग्राम से परे, ग्राम के परे', इत्युभयथा प्रयुज्यते।

अर्थ—इतोऽग्रे वक्ष्यमाणानि कार्याणि आ तृतीयाध्यायपरिसमाप्तेः धातोरेव भवन्ति इत्ययमधिकारो वेदितव्य।

(इसके पश्चात् आगे कहे जाने वाले कार्य तृतीय अध्याय के अन्त तक धातु से ही होते हैं. इस बात का अधिकार समझना चाहिये।)

तत्रोपपदं सप्तमीस्थम् ३।१।९२

प० वि०—तत्र अ०। उपपदम् १।१ स०—समीपोच्चारितं पदम् उपपदम् (अव्ययीभावः) सप्तम्यां विभक्तौ तिष्ठति इति सप्तमीस्थम् (उपपदसमासः)।

अर्थ—एतस्मिन् धात्वधिकारे सप्तमीस्थं=सप्तमीनिर्दिष्टं पदमुपपदसंज्ञं भवति। (इस धातु के अधिकार में सप्तमी विभक्तिस्थ अर्थात् सप्तमी विभक्ति से निर्दिष्ट पद की उपपद संज्ञा होती है)

उदा०—कर्मण्यण्—कुम्भकारः नगरकारः।

सि०—कुम्भं करोति इति। कुम्भ अम् कृ अण्। कुम्भ अम् कृ अ। कुम्भ अम् कार् अ। कुम्भ अम् कार[1]। कुम्भ[2] कार। कुम्भकार सु। कुम्भकार स्। कुम्भकारः।

कृत्प्रत्ययप्रकरणम्

कृदतिङ् ३।१।९३

प० वि—कृत् १।१ अतिङ् १।१ स०—न तिङ इति अतिङ्।

अर्थ—एतस्मिंन् धात्वधिकारे तिङ्भिन्नः प्रत्ययः कृत्संज्ञको भवति। (इस धातु अधिकार में तिङ् भिन्न प्रत्यय की कृत्संज्ञा होती है)

उदा०—कर्त्तव्यम्, हर्त्तव्यम्, कृतम, हृतम्, कारकः, हारकः, पाकः, चिकीर्षकः, जिहीर्षकः।

वाऽसरूपोऽस्त्रियाम् ३।१।९४

प० वि०—वा अ०। असरूपः १।१ अस्त्रियाम् ७।१ स०—समानं

१—समर्थः पदविधिः (२. १. १) प्राक्कडारात्समासः (२. १. ३) उपपदमतिङ् (२. २. १९) २—कृत्तद्धितसमासाश्च (१. २. ४६) सुपो धातुप्रातिपदिकयोः (२. ४. ७१) प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् (१. २. ४३) उपसर्जनं पूर्वम् (२. २. ३०)।

रूपं यस्य स सरूपः (बहु०) न सरूपः इति असरूपः [नञ् तत्पु०] न स्त्री इति अस्त्री तस्याम्।

अर्थ--एतस्मिन् धात्वधिकारेऽसरूपः प्रत्ययो विकल्पेन भवति। स्त्र्यधिकारविहितप्रत्ययं वर्जयित्वा। (इस धातु के अधिकार में असरूप प्रत्यय विकल्प से होते हैं, स्त्री-अधिकार में विधान किये गए प्रत्ययों को छोड़कर)

❀सर्वत्र अपवादेन उत्सर्गाः बाध्यन्ते, तत्र असरूपोऽपवादो विकल्पेन बाधकः स्यादिति प्रयोजनाय सूत्रमिदमारभ्यते, पक्षे उत्सर्गस्य प्रवृत्तिः❀ (सब जगह अपवाद सूत्र के द्वारा उत्सर्ग सूत्र बाध लिया जाता है, वहां इस सूत्र से अपवाद विकल्प से बाधक है, इस प्रयोजन के लिए इस सूत्र का आरम्भ किया जाता है, पक्ष में उत्सर्ग की भी प्रवृत्ति होती है)

ण्वुलतृचौ उत्सर्गौ, इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः इत्यपवादः तद्विषये ण्वुल्तृचावपि भवतः (ण्वुल्तृचौ यह सूत्र उत्सर्ग है परन्तु 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' अपवाद सूत्र है, अतः उत्सर्ग सूत्र से ण्वुल्तृच् भी होगा)

उदा०—विक्षेपकः। विक्षेप्ता। विक्षिपः।

सि०—विक्षिप् ण्वुल्। विक्षिप् वु। विक्षिप् वु। विक्षिप् अक[1]। विक्षेप् अक। विक्षेपक सु। विक्षेपकः। विक्षेप्ता। विक्षिप् तृच्। विक्षिप् तृ। विक्षेप् तृ। विक्षेप्तृ सु। विक्षेप्तृ अनङ् सु। विक्षेप्तन् सु। विक्षेप्तान् सु। विक्षेप्तान् स्। विक्षेप्तान्। विक्षेप्ता। विक्षिपः। विक्षिप् क। विक्षिप्[2] अ। विक्षिप सु विक्षिपः॥

कृत्यप्रत्ययप्रकरणम्

कृत्याः ३।१।९५

प० वि०—कृत्याः १।३

अर्थ—ण्वुल्तृचौ इत्येतस्मात् प्राग् धातोर्विहिताः ये प्रत्ययाः कृत्यसंज्ञकास्ते इत्यधिकारः। (ण्वुल्तृचौ इस सूत्र के पहले धातु से विधान किये गये जितने प्रत्यय है, उनकी कृत्य संज्ञा होती है, इस बात का अधिकार समझना चाहिये)

तव्यत्तव्यानीयरः ३।१।९६

प० वि०—तव्यत्तव्यानीयरः १।३ स०—तव्यच्च तव्यश्च अनीयर्च

१–युवोरनाकौ (७. १. १) २—पुगन्तलघूपधस्य च (७. ३. ८६) क्ङिति च (१. १. ५)

इति तव्यत्तव्यानीयर. ।

अर्थ—[धातोः] धातोस्तव्यत् तव्य अनीयर् इत्येते प्रत्ययाः भवन्ति।

(धातु से तव्यत् तव्य और अनीयर् प्रत्यय होते हैं)

उदा०—कर्त्तव्यम्, कर्त्तव्यम। करणीयम् × केलिमर उपसंख्यानम् × पचेलिमाः माषाः, पक्तव्याः इत्यर्थः ।

सि०—डुकृञ् । कृञ् । कृ तव्यत् । कृ तव्य । कर् तव्य[1] । कर्त्तव्य सु । कर्त्तव्य अम् । कर्त्तव्यम् । कृ तव्य । कर्तव्य सु । कर्त्तव्य अम् । कर्त्तव्यम् । करणीयम् । कृ अनीयर् । कृ अनीय । कर् अनीय । करणीय । करणीय सु । करणीय अम् । करणीयम् । डुपचष् केलिमर् । पच् एलिम । पचेलिम जस् । पचेलिम अस् । पचेलिमास् । पचेलिमाः ॥

अचो यत् ३।१।९७

प० वि०—अचः ५।१ यत् १।१

अर्थ—अजान्ताद् धातोर्यत् प्रत्ययो भवति ।

(अजन्त धातु से यत् प्रत्यय होता है)

उदा०—गेयम् । पेयम् । चेयम् । जेयम् । × तकिशसिचतियतिजनीनामुपसंख्यानम् × तक्यम् । शस्यम् । चत्यम् । यत्यम् । जन्यम् । × हनो वा वध च × वध्यम्, घात्यम् ।

सि०—गेयम् । गै । गा[2] । गा यत् । ग् ई[3] य । गे य[4] । गेय सु । गेय अम् । गेयम् । पा यत् । पेयम् । जि यत् । जेयम् । हन् यत् । वध यत् । वध् य । वध्यम् । हन् ण्यत् । हन् य । हान्[5] य । घात्[6] य । घात्यम् ।

पोरदुपधात् ३।१।९८

प० वि०—पोः ५।१ अदुपधात् ५।१ स०—अद् उपधायां यस्य स अदुपधः तस्मात् ।

अर्थ—अदुपधात् पवर्गान्ताद् धातोर्यत् प्रत्ययो भवति ।

१—कर्त्तरि कृत् (३. ४. ६७) लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः (३. ४. ६९) तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः (३. ४. ७०) तव्यत्तव्यानीयरः (३. १. ९६) प्रत्ययः (३. १. १) परश्च (३. १. २) २—आदेच उपदेशेऽशिति (६. १. ४४) ३—ईद् यति (६. ४. ६५) अलोऽन्त्यस्य (१. १. ५१) ४—सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७. ३. ८४) ५—अत उपधायाः (७. २. ११६) ६—हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु (८. ३. ५४)

(अकार है उपधा में जिस के ऐसे पवर्गान्त धातु से यत् प्रत्यय होता है)
उदा०--शप्यम्, लभ्यम्।
सि०—शप। शप् यत्। शप्यम्। लभ। लभ् यत्। लभ्यम्।

शकिसहोश्च ३।१।९९

प० वि०--शकिसहोः ६।२ च अ०। स०—शकिश्च सहश्च इति शकिसहौ तयोः।

अर्थ—शकिसहोः धात्वोः परः यत्प्रत्ययो भवति।
(शक् और सह धातु के परे यत् प्रत्यय होता है)
उदा०--शक्यम्, सह्यम्।

गदमदचरयमश्चानुपसर्गे ३।१।१००

प० वि०--गदमदचरयमः ५।१ च अ०। अनुपसर्गे ७।१ स०—गदश्च मदश्च चरश्च यं च इति गदमदचरयम्, तस्मात्। न उपसर्गः अनुपसर्गः, तस्मिन्।

अर्थ—उपसर्गरहितेभ्यो गदादिभ्यो धातुभ्यो यत् प्रत्ययो भवति।
(उपसर्गरहित गद व्यक्तायां वाचि,मदी हर्षे, चर गतिभक्षणयोः, यम उपरमे इन धातुओं से यत् प्रत्यय होता है)

उदा०—गद्यम्। मद्यम्। चर्यम। यम्यम्। × चरेराङि चागुरौ × आचर्यो देशः।

एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप् ३।१।१०९

प० वि०--एतिस्तुशास्वृदृजुषः ५।१ क्यप् १।१ स०—एतिश्च स्तुश्च शाश्च वा च दा च जुट् च इति एतिस्तुशास्वृदृजुट् तस्मात्।

अर्थ--एत्यादिभ्यो धातुभ्यः क्यप् प्रत्ययो भवति।
(इण् गतौ, ष्टुञ् स्तुतौ, शासु अनुशिष्टौ, वृञ् वरणे, दृङ् आदरे, जुषी प्रीतिसेवनयोः इन धातुओं से क्यप् प्रत्यय होता है)

उदा०—इत्यः। स्तुत्यः। शिष्यः। वृत्यः। आदृत्यः। जुष्यः। × अञ्जेश्चोपसंख्यानं संज्ञायाम् × आज्यं घृतम्।

सि०—इण्। इ क्यप्। इ य। इ य[1]। इ तुक्[2] य। इत्य। इत्यः। शास् क्यप्। शिस्[3] क्यप्। शिष्[4] य। शिष्यः। जुषी। जुष् क्यप्।

१—आर्धधातुकं शेषः (३. ४. ११४) सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७. ३. ८४) क्ङिति च (१. १. ५) २--ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् (६. १. ६९) ३—शास इदङ्हलोः (६. ४. ३४) ४—शासिवसिघसीनां च (८. ३. ६०)

आङ् अञ्ज् य । आ अज्[1] य । आज्य । आज्य सु । आज्य अम्[2] । आज्यम् ।

ऋहलोर्ण्यत् ३।१।१२४

प० वि०—ऋहलोः ६।२ ण्यत् १।१ स०—ऋ च हल् च इति ऋहलौ तयोः ।

अर्थ—ऋवर्णान्तस्य हलन्तस्य च धातोः परो यत् प्रत्ययो भवति ।

(ऋवर्णान्त और हलन्त धातु के परे ण्यत् प्रत्यय होता है)

उदा०—कार्यम् । हार्यम् । पाठ्यम् । पाक्यम् ।

सि०—डुकृञ् करणे । कृ ण्यत् । कार् य । कार्य सु । कार्य अम् । कार्यम् । पठ ण्यत् । पठ् य । पाठ् य । पाठ्य सु । पाठ्य अम् । पाठ्यम् ।

ण्वुल्तृचौ ३।१।१३३

प० वि०—ण्वुल्तृचौ १।२ स०—ण्वुल्च् तृच्च इति ण्वुल्तृचौ ।

अर्थ—धातोः ण्वुल्तृचौ प्रत्ययौ भवतः । (धातु से ण्वुल् और तृच् प्रत्यय होते हैं)

उदा०—पाचकः, पाठकः । कर्ता, हर्ता, जेता ।

सि०—डुपचष् । पच् ण्वुल् । पच् वु । पच् अक । पाच् अक । पाचक सु । पाचकः । पठ् ण्वुल् । पाठकः । डुकृञ् तृच् । कृ तृ । कर् तृ । कर्तृ सु । कर्त् अनङ् सु । कर्तनङ् सु । कर्तन् स् । कर्तान् स् । कर्तान् । कर्ता । हर्ता ॥

नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः ३।१।१३४

प० वि०—नन्दिग्रहिपचादिभ्यः ५।३ ल्युणिन्यचः १।३ स०—नन्दिश्च ग्रहिश्च पचश्च इति नन्दिग्रहिपचाः (इतरे० द्वन्द्वः) आदिश्च आदिश्च आदिश्च इति आदयः । नन्दिग्रहिपचाः आदयो येषान्ते नन्दिग्रहिपचादयः (बहु०) तेभ्यः । ल्युश्च णिनिश्च अच्च इति ल्युणिन्यचः ।

अर्थ—नन्दादिभ्यो ग्रहादिभ्यः पचादिभ्यश्च धातुभ्यः ल्युः णिनिः अच्च प्रत्ययाः यथासंख्यं भवन्ति ।

(नन्द् इत्यादि, ग्रह इत्यादि और पच् इत्यादि धातुओं से ल्यु, णिनि और

१—अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति (६. ४. २४) २—अतोऽम् (७. १. २४)

अच् प्रत्यय क्रमशः होते हैं)

उदा०—नन्दनः । ग्राही । पचः । ×अजपि सर्वधातुभ्यः× भवः ।

सि०—टुनदि । नद् नुम्[1] द् । नंद्[2] । नन्द्[3] । नन्द् ल्यु । नन्द् अन[4] । नन्दन सु । नन्दनः । ग्राही । ग्रह् णिनि । ग्रह इन् । ग्राहिन् सु । ग्राहीन्[5] स् । ग्राहीन्[6] । ग्राही[7] । पचः । पच् अच् । पचः । भू । भू अच् । भो अ । भव सु । भवः ॥

इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः ३।१।१३५

प० वि०—इगुपधज्ञाप्रीकिरः ५।१ कः १।१ स०—इग् उपधायां यस्य स इगुपधः । इगुपधश्च ज्ञाश्च प्रीश्च कीश्च इति इगुपधज्ञाप्रीकिर् तस्मात् ।

अर्थ—इगुपधेभ्यो जनातेः प्रीणातेः किरतेश्च धातुभ्यः कप्रत्ययो भवति । (इक् है उपधा में जिसके ऐसे और ज्ञा अवबोधने, प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च, कृ विक्षेपे इन धातुओं से क प्रत्यय होता है)

उदा०—इगुपध-बुधः । कृशः । ज्ञा-जानातिति ज्ञः । प्रीणातीति प्रियः । किरतीति किरः ।

सि०—बुध । बुध् क । बुध्[8] अ । बुधः । ज्ञः । ज्ञा क । ज्ञा अ । ज्ञ्[9] अ । ज्ञ सु । ज्ञः । प्रीञ् । प्री क । प्री अ । प्र् इयङ्[10] अ । प्रियङ् अ । प्रिय् अ । प्रिय सु । प्रियः । कृ क । कृ अ । किर्[11] अ । किर सु । किरः ॥

आतश्चोपसर्गे ३।१।१३६

प० वि०—आतः ५।१ च अ० । उपसर्गे ७।१।

अर्थ—[कः] उपसर्गे उपपदे आकारान्तेभ्यो धातुभ्यः कप्रत्ययो

१—इदितो नुम्धातोः (७. १. ५८) २—नश्चापदान्तस्य झलि (८. ३. २४) ३—अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः (८. ४.) ४—युवोरनाकौ (७. १. १) यथासंख्यमनुदेशः समानाम् (१. ३. १०) ५—सुडनपुंसकस्य (१. १. ४२) सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ (६. ४. ८) ६—हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल् (६. १. ६६) ७—नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य (८. २. ७) ८—आर्धधातुकं शेषः (३. ४. ११४) पुगन्तलघूपधस्य च (७. ३. ८६) क्ङिति च (१. १. ५) ९—आतो लोप इटि च (६. ४. ६४) १०—अचिश्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ (६. ४. ७७) ङिच्च (१. १. ५२) ११—ऋत इद्धातोः (७. १०. १०)

भवति। (उपसर्ग के उपपद रहने पर आकारान्त धातु से क प्रत्यय होता है)

उदा०—प्ररातीति प्ररः। प्रलातीति प्रलः।

सि०—प्रला क। प्रला अ। प्रल्[1] अ। प्रल सु। प्रलः। प्ररा क। प्रर्[2] अ। प्ररः।

शिल्पिनि ष्वुन् ३।१।१४५

प० वि०—शिल्पिनि ७।१ ष्वुन् १।१

अर्थ—शिल्पिनि कर्त्तरि धातोः ष्वुन् प्रत्ययो भवति (शिल्पी कर्त्ता अभिधेय हो तो धातु से ष्वुन् प्रत्यय होता है)

उदा०×—नृतिखनिरञ्जिभ्यः परिगणनं कर्त्तव्यम्× नर्त्तकः। खनकः। रजकः। नर्त्तकी। खनकी। रजकी॥

सि०—नृत् ष्वुन्। नृत् वु। नृत् अक। नर्त् अक। नर्तक सु। नर्त्तकः। नर्त्तकी। नर्त्तक ङीष्[2]। नर्त्तक ई। नर्त्तक् ई[3]। नर्त्तकी सु। नर्त्तकी। रजकः, रजकी। रञ्ज् ष्वुन्। रज्[4] अक। रजकः। रजकी। सर्वासु विभक्तिषु रूपाणि कुमारीवत् अभ्यसितव्यानि।

इत्यष्टाध्यायी-प्रकाशिकायां तृतीयाध्याये प्रथमः पादः

कर्मण्यण् ३।२।१

प० वि०—कर्मणि ७।१ अण् १।१

अर्थ—[धातोः] कर्मण्युपपदे धातोरण् प्रत्ययो भवति। 'कर्मणि' इत्यधिक्रियते। (कर्म के उपपद रहने पर धातु से अण् प्रत्यय होता है)

उदा०—अत्र त्रिविधं कर्म गृह्यते—निर्वर्त्यमानं विक्रियमाणं प्राप्यञ्च। निर्वर्त्यमानं—कुम्भकारः। नगरकारः। विक्रियमाणं—केदारलावः। काण्डलावः। प्राप्यं-वेदाध्यायः। शास्त्राध्यायः।

सि०—कुम्भकारः। कुम्भं करोति इति। कुम्भ अम् कृ अण्। कुम्भ अम् कृ अ। कुम्भ अम् कार् अ। कुम्भ अम् कार[3]।

उरण् रपरः (१. १. ५०) १—आतो० (६.४. ६४) २—षिद्गौरादिभ्यश्च (४. १. ४१) ३—यचि भम् (१. ४. १८) भस्य (६. ४. १२९) यस्येति च (६. ४. १४८) ४—रजकरजनरजःसूपसंख्यानं कर्त्तव्यम् (६. ४. २४ वा०) ५—समर्थः पदविधिः (२. १. १) प्राक्कडारात् समासः (२. १. ३) उपपदमतिङ् (२. २. १९) प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् (१. २. ४२) उपसर्जनं पूर्वम् (२. २. ३०)

कुम्भकार[1] सु। कुम्भकार स्। कुम्भकारः। केदारलावः। केदारं लुनाति इति। केदार अम् लूञ्। केदार अम् लू अण्। केदार अम् लौ[2] अ। केदार अम् लाव् अ। केदार अम् लाव। केदारलावः। वेदाध्यायः। वेदान् अधीते इति। वेद शस् अधि इङ् अण्। वेद शस् अधि इ अ। वेद शस् अधि ऐ[2] अ। वेद शस् अधि आय। वेद शस् अधि आय। वेद अध्याय। वेदाध्यायः।

आतोऽनुपसर्गे कः ३।२।३

प० वि०—आतः ५।१ अनुपसर्गे ७।१ कः १।१ स०—न उपसर्गः अनुपसर्गः तस्मिन्।

अर्थ—[कर्मणि] अनुपसर्गे कर्मण्युपपदे आकारान्तधातुभ्यः कप्रत्ययो भवति। (उपसर्ग रहित कर्म के उपपद रहने पर आकारान्त धातु से कप्रत्यय होता है)

उदा०—गोदः। कम्बलदः।

सि०—गोदः। गां ददाति इति। गो अम् दा क। गो अम् द्[3] अ। गो अम् द। गोद। गोद सु। गोदः। कम्बलदः

सुपि स्थः ३।२।४

प० वि०—सुपि ७।१ च अ०।

अर्थ—[क] सुबन्त उपपदे तिष्ठतेर्धातोः कप्रत्ययो भवति। इतोऽग्रे 'सुपि' इत्यधिकारः तेन उत्तरत्र कर्मणि सुपि इत्युभावुपतिष्ठेते। तत्र सकर्मकाद्धातोः कर्मणि इति संबध्यते अकर्मकात् सुपीति।

(सुबन्त के उपपद रहने पर स्था धातु से कप्रत्यय होता है।

उदा०—गृहस्थः। विषमस्थः। समस्थः।

सि०—गृहे तिष्ठतीति गृहस्थः। गृह ङि स्था क। गृह ङि स्थ्[3] अ। गृह ङि स्थ। गृहस्थ। गृहस्थ सु। गृहस्थः।

शमि धातोः संज्ञायाम् ३।२।१४

प० वि०—शमि ७।१ धातोः ५।१ संज्ञायाम् ७।१

१—कृत्तद्धितसमासाश्च (१. २. ४६) सुपो० (२. ४. ५) ड्याप्प्रातिपदिकात् (४. १. १) स्वौ० (४. १. २) सुपः (१. ४. १०२) विभक्तिश्च (१. ४. १०३) द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने (१. ४. २२) एकत्वे विवक्षिते सु, प्रत्ययः (३. १. १)
२—अचो ञ्णिति (७. २. ११५) ३—आतो लोप इटि च (६. ४. ६४)।

अर्थ—[हरतेरनुद्यमनेऽच् इत्यस्मात् सूत्राद् अजनुवर्तते] शम्युपपदे संज्ञायां विषये धातोरच् प्रत्ययो भवति।

(शम् के उपपद रहने पर संज्ञा के विषय में धातु से अच् प्रत्यय होता है)

उदा०—शङ्करः। शम्भवः।

सि०—शं करोतीति शङ्करः। शम् अम् कृ अच्। शम् कर। शं कर। शङ्कर सु। शङ्करः।

अधिकरणे शेतेः ३।२।१५

प० वि०—अधिकरणे ७।१ शेते। क्रिया०।

अर्थ—[सुपि] अधिकरणे सुबन्त उपपदे शेतेर्धातोरच् प्रत्ययो भवति। (अधिकरण कारक में सुबन्त के उपपद रहने पर शीङ् धातु से अच् प्रत्यय होता है)

उदा०—खशयः। गर्तशयः।

सि०—खे शेते इति खशयः। ख ङि शी अच। ख ङि शे अ। ख ङि शय। खशय[1]। खशय सु। खशयः।

चरेष्टः ३।२।१६

प० वि०—चरेः ५।१ टः १।१

अर्थ—[अधिकरणे] अधिकरणे सुबन्त उपपदे चरतेर्धातोष्टप्रत्ययो भवति। (अधिकरण सुबन्त के उपपदरहने पर चर् धातु से टप्रत्यय होता है)

उदा०—कुरुचरी। मद्रचरी। कुरुचरः। मद्रचरः। खचरः। व्योमचरः।

सि०—कुरुचरः। कुरुषु चरतीति। कुरु सुप् चर् ट। कुरु सुप् चर् अ। कुरु सुप् चर। कुरुचर ङीप्[2]। कुरुचर ई। कुरुचर् ई। कुरुचरी। कुरुचरी सु। कुरुचरी। व्योमचरः। व्योम्नि चरतीति।

भिक्षासेनादायेषु च ३।२।१७

प० वि०—भिक्षासेनादायेषु ७।३ च अ०॥ स०—भिक्षा च सेना च आदायश्च इति भिक्षासेनादायाः तेषु।

अर्थ—[चरेष्टः] भिक्षा सेना आदाय इत्येतेषूपपदेषु चरतेर्धातोष्टप्रत्ययो भवति। (भिक्षा, सेना और आदाय सुबन्त के उपपद रहने पर चर् धातु से ट प्रत्यय होता है)

उदा०—भिक्षाचरः। सेनाचरः। आदायचरः॥

१—सुपो धातुप्रातिपदिकयोः (२. ४. ७१) २—टिड्ढाण० (४, १. १५)

सि०—भिक्षां चरतीति भिक्षाचरः। भिक्षा अम् चर् ट। भिक्षा अम् चर। भिक्षा चर। भिक्षाचर सु। भिक्षाचरः।

कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु ३।२।२०

प० वि०—कृञः ५।१ हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु ७।३ स०—हेतुश्च ताच्छील्यञ्च आनुलोम्यञ्च इति हेतुताच्छील्यानुलोम्यानि तेषु।

अर्थ—[टः] कर्मण्युपपदे करोतेर्धातोष्टप्रत्ययो भवति हेतौ ताच्छील्ये आनुलोम्ये च गम्यमाने। (कर्म के उपपद रहने पर कृ धातु से टप्रत्यय होता है हेतु, ताच्छील्य और आनुलोम्य गम्यमान होने पर।

उदा०—हेतुः आवश्यकं कारणम्। ताच्छील्यम् तत्स्वभावता। आनुलोम्यमनुकूलता। हेतौ—यशस्करी विद्या। ताच्छील्ये—श्राद्धकरः। अर्थकरः। आनुलोम्ये—वचनकरः। प्रैषकरः।

सि०—यशस्करी। यशः करोतीति। यशस् अम् कृ ट। यशस् अम् कर् अ। यशस्कर ङीप्। यशस्कर् ई। यशस्करी।

एजेः खश् ३।२।२८

प० वि०—एजेः ५।१ खश् १।१

अर्थ—एजृ कम्पने इत्यस्मात् ण्यन्तात् कर्मण्युपपदे खश् प्रत्ययो भवति। (एजृ कम्पने इस ण्यन्त धातु से कर्म के उपपद रहने पर खश् प्रत्यय होता है)

उदा०—वृक्षमेजयः। जनमेजयः।

सि०—वृक्षमेजयः। वृक्षान् एजयति इति। वृक्ष शस् एज् णिच्[1]। वृक्ष शस् एजि। वृक्ष शस् एजि खश्। वृक्ष शस् एजि शप्[2] अ। वृक्ष शस् एजे अ अ। वृक्ष शस् एजय अ। वृक्ष शस एजय। वृक्ष एजय। वृक्ष मुम्[3] एजय। वृक्षमेजय। वृक्षमेजय सु। वृक्षमेजयः। जनमेजयः।

प्रियवशे वदः खच् ३।२।३८

प० वि०—प्रियवशे ७।१ वदः ५।१ खच् १।१ स०—प्रियश्च वशश्च इति प्रियवशं तस्मिन्।

अर्थ—प्रिय वश इत्येतयोः कर्मणोरुपपदयोर्वदेर्धातोः खच् प्रत्ययो भवति। (प्रिय और वश कर्म के उपपद रहने पर वद् धातु से खच्

१—हेतुमति च (३. १. २६) २—तिङ्शित्सार्वधातुकम् (३. ४.११३) [सार्वधातुके] यक् (३. १. ६७) कर्त्तरि शप् (३. १, ६८) ३—अरुर्द्विषद-

प्रत्यय होता है।

उदा०—प्रियंवदः। वशंवदः।

सि०—प्रियंवदः। प्रियं वदतीति। प्रिय अम् वद् खच्। प्रिय अम् वद् अ। प्रिय अम् वद। प्रिय वद। प्रिय मुम् वद। प्रियम् वद। प्रियंवद। प्रियंवद सु। प्रियंवदः। वशंवदः। वशं वदतीति।

द्विषत्परयोस्तापेः ३।२।३९

प० वि०—द्विषत्परयोः ७।२ तापेः ५।१ स०—द्विषच्च परश्च इति द्विषत्परौ तयोः।

अर्थ—[खच्] द्विषत्परयोः कर्मणोरुपपदयोस्तापेर्धातोः खच् प्रत्ययो भवति। (द्विषत् और पर कर्म के उपपद रहने पर ण्यन्त तप्धातु से खच् प्रत्यय होता है)

उदा०—द्विषन्तपः। परन्तपः।

सि०—द्विषन्तपः। द्विषन्तं तापयतीति। द्विषत् अम् तापि। द्विषत् अम् तापि खच्। द्विषत् अम् तापि अ। द्विषत् अम् तपि[1] अ। द्विषत् अम् तप्[2] अ। द्विषत् अम् तप। द्विषत् तप। द्विष मुम् त् तप। द्विषम्त् तप। द्विषम्[3] तप। द्विषं तप। द्विषन्तपः। परन्तापयतीति परन्तपः।

स्पृशोऽनुदके क्विन् ३।२।५८

प० वि०—स्पृशः ५।१ अनुदके ७।१ क्विन् १।१ स०—न उदकमिति अनुदकम् तस्मिन्।

अर्थ—उदकभिन्ने सुबन्ते उपपदे स्पृश्धातोः क्विन् प्रत्ययो भवति। (उदकभिन्न सुबन्त के उपपद रहने पर स्पृश् धातु से क्विन् प्रत्यय होता है)

उदा०—घृतं स्पृशति इति घृतस्पृक्। मन्त्रेण स्पृशति मन्त्रस्पृक। जलेन स्पृशति जलस्पृक्।

सि०—घृतं स्पृशति इति। घृत अम् स्पृश्[4]। घृत अम् स्पृक्[5]। घृतस्पृक् सु। घृतस्पृक्। घृतस्पृग्। घृतस्पृशौ। घृतस्पृशः। घृतस्पृशम्। घृत-

---

जन्तस्य मुम् (६. ३. ६७)

१—खचि ह्रस्वः (६-४-९४) २—णेरनिटि (६।४।५१) ३—संयोगान्तस्य लोपः (८. २. २३) ४—अपृक्त एकाल्प्रत्ययः (१. २. ४१) वेरपृक्तस्य (६. १. ६४) अदर्शनं लोपः (१. १. ५९) ५—क्विन्प्रत्ययस्य कुः (८. २. ६२)

स्पृशौ। घृतस्पृशः। घृतस्पृशा। घृतस्पृड्भ्याम्। घृतस्पृड्भिः। घृतस्पृशि। घृतस्पृशोः। घृतस्पृक्[1] सु। घृतस्पृक्षु

त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च ३।२।६०

प० वि०—त्यदादिषु ७।३ दृशः ५।१ अनालोचने ७।१ कञ् १।१ च अ०। स०—त्यद् आदिर्येषान्ते त्यदादयः तेषु। न लोचनम् अनालोचनम् तस्मिन्।

अर्थ—[क्विन्] त्यदादिषूपपदेषु अनालोचनेऽर्थे वर्तमानाद् दृशेर्धातोः कञ् प्रत्ययो भवति चकारात् क्विञ्च॥

(त्यद् इत्यादि के उपपद रहने पर न देखने अर्थ में वर्तमान दृश् धातु से कञ् प्रत्यय होता है और चकार से क्विन् भी)

उदा०—कञ्-त्यादृशः। त्यादृशी। तादृशः। तादृशी। यादृशः। यादृशी। एतादृशः। एतादृशी। क्विन्—त्यादृक्। तादृक्। यादृक्। एतादृक्। ×समानान्ययोश्चेति वक्तव्यम्× सदृशः। सदृशी। अन्यादृशः। अन्यादृशी। सदृक्। अन्यादृक्। ×दृशेः क्सश्च वक्तव्यः× तादृक्षः, यादृक्षः, अन्यादृक्षः, कीदृक्षः॥

सि०—त्यद् अम् दृश् कञ्। त्यद् अम् दृश् अ। त्यद् अम् दृश। त्य आ[2] दृश। त्यादृश। त्यादृश सु। त्यादृशः। त्यादृश ङीप्[3]। त्यादृश ई। त्यादृश् ई। त्यादृशी सु। त्यादृशी। त्यादृक्। त्यादृश् क्विन्। त्यादृक्। समान दृश। स दृश। सदृशः। तादृक्षः। तादृश् क्स। तादृश् स। तादृष् स। तादृक् स। तादृक्ष। तादृक्ष। तादृक्ष सु। तादृक्षः। कीदृशः। किम् दृश। कीदृश[4]। कीदृशी॥

क्विप् च ३।२।७६

अर्थ—[सुपि उपसर्गेऽपि] सोपसर्गे निरुपसर्गे च सुप्युपपदे धातोः क्विप् प्रत्ययो भवति। (उपसर्ग वा निरुपसर्ग सुबन्त के उपपद रहने पर धातु से क्विप् प्रत्यय होता है)

उदा०—उखास्रत्। पर्णध्वत्। वाहाभ्रट्।

सि०—उखास्रत्। उखायाः स्रंसते इति। उखा ङसि स्रंसु। उखा-ङसि स्रंस् क्विप्। उखा ङसि स्रंस् व्। उखा ङसि स्रस्[5]। उखा-

१—व्रश्चभ्रस्ज० (८. २. ३६) षढोः कः सि (८. २. ४१) २—आ सर्वनाम्नः (६. ३. ४१) ३—टिड्ढा० (४. १. १५) ४—इदंकिमोरीश्की (६. ३. ९०) ५—अनिदितां हल० (६. ४. २४)

स्रद्[1]। उखास्रत्[2]। वाहाभ्रट्। वाहाद् भ्रश्यति इति। वाह ङसि भ्रंशु। वाह ङसि भ्रंश् क्विप्। वाह ङसि भ्रश्। वाहभ्रश्। वाहभ्रष्[3]। वाहभ्रड्। वाहभ्रट्[2]। वाहा[4] भ्रट्

सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये ३।२।७८

प० वि०—सुपि ७।१ अजातौ ७।१ णिनिः १।१ ताच्छील्ये ७।१

स०—न जातिरिति अजाति तस्याम्। तस्य शीलं तच्छीलम्। तच्छीलस्य भावः ताच्छील्यम्, तस्मिन्।

अर्थ—अजातिवाचिनि सुबन्ते उपपदे ताच्छील्ये गम्यमाने धातोर्णिनिः प्रत्ययो भवति। (अजातिवाची सुबन्त के उपपद रहने पर तत्स्वभावता ज्ञान होने पर धातु से णिनि प्रत्यय होता है)

उदा०—उष्णभोजी। शीतभोजी। प्रियवादी। धर्मोपदेशी॥

सि०—उष्णभोजी। उष्णं भोक्तुं शीलमस्य इति। उष्ण अम् भुज् णिनि। उष्ण अम् भुज् इन्। उष्ण अम् भोज् इन्। उष्णभोजिन्। उष्णभोजिन् सु। उष्णभोजीन्[5] स्। उष्णभोजीन्। उष्णभोजी। उष्णभोजिनौ। उष्णभोजिनः। उष्णभोजिनम्। उष्णभोजिनौ। उष्णभोजिनः॥ शीतभोजी। शीतं भोक्तुं शीलं यस्य। प्रियवादी। प्रियं वदितुं शीलं यस्य। धर्मोपदेशी। धर्मम् उपदेष्टुं शीलं यस्य॥

कर्तर्युपमाने ३।२।७९

प० वि०—कर्त्तरि ७।१ उपमाने ७।१

अर्थ—[णिनि] कर्तृवाचिनि उपमान उपपदे धातोर्णिनिप्रत्ययो भवति। (कर्तावाची उपमान के उपपद रहने पर धातु से णिनि प्रत्यय होता है)

उदा०—उष्ट्रक्रोशी। काकवादी॥

सि०—उष्ट्रः इव क्रोशतीति उष्ट्रक्रोशी। उष्ट्र सु क्रुश् णिनि। उष्ट्र सु क्रोश् इन्। उष्ट्र क्रोशिन्। उष्ट्रक्रोशिन् सु। उष्ट्रक्रोशी। काक इव वदतीति। काकवादी॥

मनः ३।२।८२

प० वि०—मनः ५।१

१—वसुस्रंसु० (८. २. ७२) २—वावसाने (८. ४. ५५) ३—व्रश्चभ्रस्ज० (८.२. ३६) ४—अन्येषामपि दृश्यते (६. ३. १३७) ५—सौ च (६. ४. १३)

अर्थ—[सुपि णिनि] सुबन्त उपपदे मन्यतेर्णिनिप्रत्ययो भवति। (सुबन्त के उपपद रहने पर दिवादिगणस्थ मन् धातु से णिनि प्रत्यय होता है)

उदा०—दर्शनीयमानी। सरूपमानी।

सि०—दर्शनीयमानी। दर्शनीयं मन्यते इति। दर्शनीय अम् मन णिनि। दर्शनीय अम् मानिन्। दर्शनीयमानिन। दर्शनीयमानिन् सु। दर्शनीयमानीन् स्। दर्शनीयमानीन्। दर्शनीयमानी। सरूपमानी। सरूपं मन्यते इति सरूपमानी। सरूपमानिनौ। सरूपमानिनः। सरूपमानिनम्। सरूपमानिनौ। सरूपमानिनः। सरूपमानिना। सरूपमानिभ्याम्। सरूपमानिभिः।

आत्ममाने खश्च ३।२।८३

प० वि०—आत्ममाने ७।१ खश् १।१ च अ०। स०—आत्मनः स्वस्य मननम् आत्ममानं तस्मिन्।

अर्थ—[णिनि] आत्ममाने वर्तमानान्मन्यतेर्धातोः सुबन्त उपपदे खश्प्रत्ययो भवति णिनिश्च।

(अपने आपको मानना इस अर्थ में वर्तमान मन् धातु से सुबन्त के उपपद रहने पर खश् प्रत्यय होता है चकार से णिनि)

उदा०—पण्डितंमन्यः। शोभनंमन्यः।

सि०—पण्डितंमन्यः। आत्मानं पण्डितं मन्यत इति। पण्डित अम् मन् खश्। पण्डित अम् मन् श्यन् अ। पण्डित अम् मन्य। पण्डित अम् मन्य। पण्डित मन्य। पण्डित मुम् मन्य। पण्डित म् मन्य। पण्डितंमन्य सु। पण्डितंमन्यः। शोभनंमन्यः।

भूते ३।२।८४

प० वि०—भूते ७।१

अर्थ—इतोऽग्रे वक्ष्यमाणाः प्रत्ययाः वर्तमाने लडिति यावद् भूते भवन्ति इत्यधिकारो वेदितव्यः।

(यहां से 'वर्तमाने लट्' इस सूत्र तक कहे जाने जाने वाले प्रत्यय भूतकाल में होते हैं इस बात का अधिकार समझना चाहिए)

करणे यजः ३।२।८५

प० वि०—करणे ७।१ यजः ५।१

अर्थ—[णिनि] करण उपपदे यजतेर्धातोः णिनिप्रत्ययो भवति

भूते।(करण के उपपद रहने पर यज् धातु से णिनि प्रत्यय होता है)

उदा०—अग्निष्टोमयाजी। राजसूययाजी। अश्वमेधयाजी।

सि०—अग्निष्टोमयाजी। अग्निष्टोमेन इष्टवान्। अग्निष्टोम टा यज् णिनि। अग्निष्टोम टा याजिन्। अग्निष्टोमयाजिन्। अग्निष्टोमयाजी। अग्निष्टोमयाजिनौ। अग्निष्टोमयाजिनः। राजसूययाजी।

कर्मणि हनः ३।२।८६

प० वि०—कर्मणि ७।१ हनः ५।१

अर्थ—[णिनि] कर्मण्युपपदे हन्तेर्धातोर्णिनिः प्रत्ययो भवति भूते। (कर्म के उपपद रहने पर हन् धातु से णिनि प्रत्यय होता है भूतकाल में)

उदा०—पितृघाती। पितृव्यघाती। मातुलघाती।

सि०—पितरं हतवान् इति पितृघाती। पितृ अम् हन् णिनि। पितृ अम् हान् इन्। पितृ अम् घान्[1] इन्। पितृ अम् घात्[2] इन्। पितृ अम् घातिन्। पितृघातिन् सु। पितृघातीन्[3] सु। पितृघाती। पितृघातिनौ। पितृघातिनः॥

सोमे सुञः ३।२।९०

प० वि०—सोमे ७।१ सुञः ५।१

अर्थ—[ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप् इत्यतः क्विबिति अनुवर्तते] सोमे कर्मण्युपपदे सुञः धातो क्विप्प्रत्ययो भवति। (सोम कर्म के उपपद रहने पर षुञ् अभिषवे धातु से क्विप् प्रत्यय होता है भूतकाल में)

उदा०—सोमसुत्।

सि०—सोमसुत्। सोमं सुतवान् इति। सोम अम् षुञ् क्विप्। सोम अम् षु क्विप्। सोम अम् सु क्विप्। सोम अम् सु व्। सोम अम् सु। सोम अम् सु तुक्[4]। सोम अम् सुत्। सोमसुत्। सोमसुत् सु सोमसुत्। सोमसुतौ। सोमसुतः। सोमसुतम्। सोमसुतौ। सोमसुतः। सोमसुता। सोमसुद्[5] भ्याम्। सोमसुति। सोमसुतोः। सोमसुत्सु[6]॥

१—हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु (७.३.५४) २—हनस्तोऽचिण्णलोः (७.३.३२) ३—सौ च (६.४.१३) ४—ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् (६.१.७१) ५—स्वादिष्वसर्वनामस्थाने (१.४.१७) झलां जशोऽन्ते (८.२.३९) ६—खरि च (८.४.५४)

अग्नौ चेः ३।२।९१

प० वि०—अग्नौ ७।१ चेः ५।१

अर्थ—[क्विप्] अग्नौ कर्मणि उपपदे चिनोतेर्धातोर्भूते क्विप् प्रत्ययो भवति। (अग्नि कर्म के उपपद रहने पर चिञ् चयने धातो से क्विप् प्रत्यय होता है भूतकाल में)

उदा०—अग्निचित्।

सप्तम्यां जनेर्डः ३।२।९७

प० वि०—सप्तम्याम् ७।१ जनेः ५।१ डः १।१

अर्थ—सप्तम्यन्त उपपदे जनेर्धातोर्डः प्रत्ययो भवति भूते। (सप्तम्यन्त के उपपद रहने पर जन् धातु से ड प्रत्यय होता है भूतकाल में)

उदा०—कटजः, उपसरजः, पङ्कजः, वारिजः।

सि०—कटजः। कटे जात इति। कट ङि जन् ड। कट ङि जन् अ। कट ङि ज्[1] अ। कट ङि ज। कट ज। कटज सु। कटजः॥ पङ्के जातः, पङ्कजः। वारिणि जातः, वारिजः। उपसरे जातः, उपसरजः

पञ्चम्यामजातौ ३।२।९८

प० वि०—पञ्चम्याम् ७।१ अजातौ ७।१ स०—न जातिरिति अजाति तस्याम् अजातौ॥

अर्थ—[डः] अजातिवाचिनि पञ्चम्यन्त उपपदे जनेर्धातोर्डः प्रत्ययो भवति भूते। (अजातिवाची पञ्चम्यन्त सुबन्त के उपपद रहने पर जन् धातु से 'ड' प्रत्यय होता है भूतकाल में)

उदा०—संस्कारजः, गोमयजः, दुःखजः।

सि०—संस्काराज्जातः इति संस्कारजः। संस्कार ङसि जन् ड। संस्कारजः। गोमयजः। गोमयाज् जायते वृश्चिक इति॥

निष्ठा ३।२।१०२

प० वि०—निष्ठा १।१

अर्थ—धातोर्भूते निष्ठाप्रत्ययो भवति। (धातु से भूतकाल में निष्ठा प्रत्यय होता है)

उदा—क्तक्तवतू निष्ठा (१. १. २५) क्त—कृतः। कृतौ। कृताः। कृतम्। कृतौ। कृतान्। कृतेन। कृताभ्याम्। कृतैः। कृता। कृते। कृताः।

१—डित्वकरणसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपो भवति (भाष्येष्टिः)

कृताम् । कृते । कृताः । कृतया । कृताभ्याम् । कृताभिः । कृतम् । कृते । कृतानि । कृतम् । कृते । कृतानि । भिन्नः । छिन्नः । द्राणः । म्लानः । लूनः । जीनः । उच्छूनः । शुष्कः । पक्वः । क्षामः । भावितः । हितम् । दत्तः । क्तवतु—कृतवान् । कृतवन्तौ । कृतवन्तः । कृतवन्तम् । कृतवन्तौ । कृतवतः । कृतवता । कृतवद्भ्याम् । कृतवद्भिः । कृतवती । कृतवत्यौ । कृतवत्यः । कृतवतीम् । कृतवत्यौ । कृतवतीः । कृतवत्या । कृतवतीभ्याम् । कृतवतीभिः । कृतवत् । कृतवती । कृतवन्ति । कृतवत् । कृतवती कृतवन्ति ॥ भिन्नवान् । छिन्नवान् । द्राणवान् । म्लानवान् । लूनवान् । जीनवान् । उच्छूनवान् । शुष्कवान् । पक्ववान् । क्षामवान् । भावितवान् । हितवान् । दत्तवान् ॥

सि०—कृतः । डुकृञ् । कृ क्त । कृ त । कृ त[1] । कृत[2] । कृत सु । कृतः ॥ कृतौ । कृत औ[3] । कृत[4] औ । कृतौ[5] । कृत जस् । कृताः[6] । कृत अम् । कृतम्[7] । कृतौ । कृतान् । कृत शस् । कृत अस् । कृतास्[6] । कृतान्[8] । कृतेन । कृत टा । कृत इन[9] । कृतेन[10] । कृताभ्याम् । कृत भ्याम् । कृता[11] भ्याम् । कृत भिस् । कृत ऐस्[12] । कृतैस् । कृतैः ॥ कृत टाप्[13] । कृत आ । कृता[14]सु । कृता स् । कृता[15] । कृते । कृता औ । कृता शी[16] । कृता ई । कृते[17] । कृता जस् । कृताः[6] । कृता अम् । कृताम् । कृते । कृता शस् । कृता अस् । कृतास् । कृताः ॥ कृता टा । कृते[18] आ । कृतया । कृताभ्याम् । कृताभिः ।

१—आर्धधातुकं शेषः (३. ४. ११४) आर्धधातुकस्येड् वलादेः (७. २. ३५) एकाच उपदेशेऽनुदात्तात (७. २. १०) २—सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७. ३. ८४) क्ङिति च (१. १. ५) ३—वृद्धिरेचि (६. १. ८५) प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (६. १. ९८) ४—नादिचि (६. १. १००) ५—वृद्धिरेचि (६. १. ८५) वृद्धिरादैच् (१. १. १) स्थानेऽन्तरतमः (१. १. ४९) ६—प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (६. १. ९८) ७—अमि पूर्वः (६. १. १०३) ८—तस्माच्छसो नः पुंसि (६. १. ९९) ९—टाङसिङसामिनात्स्याः (७. १. १२) १०—आद्गुणः (६. १. ८४) ११—सुपि च (७.३.१०२) १२—अतो भिस ऐस् (७. १. ९) अनेकाल्शित्सर्वस्य (१.१.५४) १३—अजाद्यतष्टाप् (४. १. ४) १४—अकः सवर्णे दीर्घः (६. १. ९७) १५—हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल् (६. १. ६६) १६—औङ आपः (७. १. १८) अनेकाल्शित्सर्वस्य (१.१.५४) १७—आद्गुणः (६. १. ८४) १८—आङि चापः (७. ३. १०५)

कृतम् । कृत सु । कृत अम् । कृतम् । कृते । कृत औ । कृत शी[1] । कृत ई । कृते । कृतानि । कृत जस् । कृत शि[2] । कृत नुम्[3] इ । कृतन् इ । कृतान्[4] इ । कृतानि । कृतम् । कृते । कृतानि । कृतेन । कृताभ्याम् । कृतैः ॥

भिन्नः ॥ भिदिर् क्त । भिद् त । भिन्न[5] सु । भिन्नः । छिदिर् । छिद् क्त । छिन्नः ॥ द्राणः । द्रा क्त । द्रा त । द्रा न[6] । द्राण[6] । द्राण सु । द्राणः ॥ म्लानः । ग्लै म्लै हर्षक्षये । म्लै क्त । म्ला त । म्लान[6] । म्लान सु । म्लानः ॥ लूनः । लूञ् । लू क्त । लू त । लू न[7] । लून सु । लूनः ॥ जीन । ज्या वयोहानौ । ज्या क्त । ज्या त । ज् इ[8] आ त । जि आ त । जि[9] त । जी[10] त । जो न[7] । जीन सु । जीनः ॥ उच्छूनः । टुओश्वी गतिवृद्ध्योः । श्वी क्त । श्वी त । श् उ[11] ई त । शु ई त । शु[9] त । शू[10] त । शून[12] । शून सु । शूनः । उत् शूनः । उच् शूनः[13] । उच् छूनः[14] । उच्छूनः ॥ शुष्कः । शुष् क्त । शुष्क[15] सु । शुष्कः । पक्वः । पच् क्त । पच् त । पच् व[16] । पक् व । पक्व सु । पक्वः ॥ क्षै क्त । क्षा[17] त । क्षा म[18] । क्षाम सु । क्षामः ॥ भावितः । भू णिच् क्त । भौ इ त । भाव् इट् त । भाव् इ त । भावित सु । भावितः ॥ हितम् । डुधाञ् । धा क्त । धा त । हि त[19] । हित सु । हित अम् । हितम् ॥ दत्तः । दा क्त । दा त । दद्[20] त । दत्[21] त । दत्त सु । दत्तः ॥

१—नपुंसकाच्च (७. १. १६) २—जश्शसोः शिः (७. १. २०) अनेकाल्शित् सर्वस्य (१. १. ५४) ३—शि सर्वनामस्थानम् (१. १. ४२) नपुंसकस्य झलचः (७. १. ७२) मिदचोऽन्त्यात्परः (१. १. ४६) ४—सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ (६. ४. ८) ५—रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः (८. २. ४२) ६—संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः (८. २. ४३) अट्कुप्वाङ्नुम्० (८. ४. २) ७—ल्वादिभ्यश्च (८. २. ४४) ८—ग्रहिज्यावयि० (६. १. १६) इग्यणः सम्प्रसारणम् (१. १. ४४) ६—सम्प्रसारणाच्च (६. १. १०४) १०—हलः (६. ४. २) ११—वचिस्वपियजादीनां किति (६. १. १५) इग्यणः सम्प्रसारणम (१. १. ४४) १२—ओदितश्च (८. २. ४५) १३—स्तोः श्चुना श्चुः (८. ४. ३६) १४—शश्छोऽटि (८. ४. ६२) १५—शुषः कः (८. २. ५१) १६—पचो वः (८. २. ५२) १७—आदेच उपदेशे० (६. १. ४४) १८—क्षायो मः (८. २. ५३) १६—दधातेर्हिः (७. ४. ४२) २०—दो दद्घोः (८. ४. ४६) २१—खरि च (८. ४. ५४)

कृतवान् । कृ तवतु । कृ तवत् । कृतवत् सु । कृतवात्[1] स् । कृतवा नुम्[2] त् स् । कृतवान्त् स् । कृतवान् । कृतवत् ङीप्[3] । कृतवती सु । कृतवती । कृतवती: । कृतवती जस् । कृतवती: । कृतवन्ति । कृतवत् जस् । कृतव नुम्[4] त् शि । कृतवन्त् इ । कृतवन्ति ॥

लुङ् ३।२।११०

प० वि०—लुङ् १।१

अर्थ—[भूते] धातोर्भूते लुङ् प्रत्ययो भवति । (धातु से भूतकाल में लुङ् प्रत्यय होता है)

उदा०—अचैषीत्, अचैष्टाम्, अचैषु: । अचैषी:, अचैष्टम्, अचैष्ट । अचैषम्, अचैष्व, अचैष्म । अकार्षीत् । अकार्ष्टाम् । अकार्षु: । अकार्षी: । अकार्ष्टम् । अकार्ष्ट । अकार्षम् । अकार्ष्व । अकार्ष्म ।

सि०—अचैषीत् । चिञ् । चि लुङ् । चि ल् । चि तिप् । चि च्लि तिप् । चि सिच् ति । चै[5] स् ति । चै ष्[6] ति । चै ष् ति । चैष् ईट् त्[7] । चैष् ईत् । अट् चैषीत् । अ चैषीत् । अचैषीत् । अचैष् तस् । अचैष ताम्[8] । अचैष्टाम्[9] । अचैष् झि । अचैष् जुस्[10] । अचैषुस् । अचैषु: ॥

अनद्यतने लङ् ३।२।१११

प० वि०—अनद्यतने ७।१ लङ् १।१ स०—न विद्यतेऽद्यतनोऽस्मिन् सोऽनद्यतनस्तस्मिन् (बहु०) ।

अर्थ—अनद्यतनभूतेऽर्थे वर्तमानाद् धातोर्लङ् प्रत्ययो भवति ।

१—अत्वसन्तस्य चाधातो: (६. ४. १४) २—उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातो: (७. १. ७०) मिदचोऽन्त्यात्पर: (१. १. ४६) ३—उगितश्च (४. १. ६) ४—नपुंसकस्य झलच: (७. १. ७२) ५—आर्धधातुकस्येड्वलादे: (७. २. ३५) एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् (७. २. १०) सिचि वृद्धि: परस्मैपदेषु (७. २. १) इको गुणवृद्धी (१. १. ३) स्थानेऽन्तरतम: (१. १. ४९) ६—इण्को: (८. ३. ५७) आदेशप्रत्यययो: (८. ३. ५९) ७—इतश्च (३. ४. १००) अपृक्त एकाल्प्रत्यय: (१. २. ४१) अस्तिसिचोऽपृक्ते (७. ३. ९६) आद्यन्तौ टकितौ (१. १. ४५) ८—तस्थस्थमिपां तान्तन्ताम: (३. ४. १०१) ९—ष्टुना ष्टु: (८. ४. ४०) १०—सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च (३. ४. १०९) अनेकाल्शित्सर्वस्य (१. १. ५४)

(जिसमें आज का सम्बन्ध न हो ऐसे भूत अर्थ में वर्तमान धातु से लङ् प्रत्यय होता है)

उदा०—अभवत्। अभवताम्। अभवन्। अभवः। अभवतम्। अभवत। अभवम्। अभवाव। अभवाम। ऐधत। ऐधेताम्। ऐधन्त। ऐधथाः। ऐधेथाम्। ऐधध्वम्। ऐधे। ऐधावहि। ऐधामहि।

सि०—अभवत्। भू लङ्। भू ल्। भू तिप्। भू ति। भू शप् ति। भू अ ति। भो अ ति। भव् अ ति। भवति। भवत्[1]। अट्[2] भवत्। अभवत्। अभवताम्। अभव तस्। अभव ताम्। अभवताम्॥ अभवन्। अभव झि। अभव अन्ति। अभव अन्त्[1]। अभव अन्[3]। अभवन्। अभवाव। अभव वस। अभवा[4] वस्। अभवाव[5]। अभवाम॥

ऐधत। एध। एध्। एध् लङ्। एध् ल्। एध् त। एध् शप् त। एधत। आट् एधत। आ एधत। ऐधत[6]। ऐध आताम्। ऐध इय्ताम्[7]। ऐध इताम्[8]। ऐधेताम्। ऐध झ। ऐध अन्त। ऐधन्त। एध थास्। ऐधथाः। ऐधेथाम्। ऐधध्वम्। ऐधे। ऐध इट्। ऐध इ। ऐधे। ऐध वहि। ऐधावहि। ऐधामहि।

परोक्षे लिट् ३।२।११५

प० वि०—परोक्षे ७।१ लिट् १।१ स०—अक्ष्णः परम् इति परोक्षम्। इन्द्रियेभ्यः परम् इत्यर्थः। (मयूरव्यंसकादित्वात्समासः)

अर्थ—[अनद्यतने भूते] अनद्यतनभूतपरोक्षेऽर्थे वर्तमानाद् धातोर्लिट् प्रत्ययो भवति। (आज न होने वाले परोक्षभूत में वर्तमान धातु से लिट प्रत्यय होता है)

उदा०—बभूव। बभूवतुः। बभूवुः। बभूविथ। बभूवथुः। बभूव। बभूव। बभूविव। बभूविम।

एधाञ्चक्रे। एधाञ्चक्राते। एधाञ्चक्रिरे। एधाञ्चकृषे। एधाञ्चक्राथे। एधाञ्चकृढ्वे। एधाञ्चक्रे। एधाञ्चकृवहे। एधाञ्चकृमहे।

१—इतश्च (३. ४. १००) २—लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः (६. ४. ७१) आद्यन्तौ टकितौ (१. १. ४५) ३—हलोऽनन्तराः संयोगः (१. १. ७) संयोगान्तस्य लोपः (८. २. २३) ४—अतो दीर्घो यञि (७. ३. १०१) ५—नित्यं ङितः (३. ४. ९९) ६—आटश्च (६. १. ८७) ७—आतो ङितः (७. २. ८१) ८—लोपो व्योर्वलि (६ १. ६४)

सि०—भू लिट् । भू णल् । भू अ । भू वुक् अ । भूव् भूव् अ । भ भूव् अ । भ भूव् अ । ब भूव् अ । बभूव । एधाञ्चक्रे–इत्यस्य साधनं इजादेश्च० (३. १. १३६) इत्यत्र द्रष्टव्यम् ।

लट् स्मे ३।२।११८

प० वि०—लट् १।१ स्मे ७।१

अर्थ—[भूतानद्यतनपरोक्षे भूतानद्यतनपरोक्षे स्मशब्द उपपदे धातोर्लट् प्रत्ययो भवति । (अनद्यतन परोक्ष भूत में स्म शब्द के उपपद रहने पर लट् प्रत्यय होता है) ।

उदा०—धर्मेण स्म कुरवो युध्यन्ते । युधिष्ठिरो यजते स्म ।

सि०—युध्यन्ते । युध । युध् लट् । युध् त । युध श्यन् त । युध् य त । युध् य त । युध् य ते । युध्यते । युध्येते । युध्यन्ते ।

अपरोक्षे च ३।२।११९

प० वि०—अपरोक्षे ७।१ च अ० ।

स०—न परोक्षम् इति अपरोक्षम् तस्मिन् (नञ् तत्पु०)

अर्थ—[स्मे, भूते, अनद्यतने] स्मोपपदे भूतानद्यतनापरोक्षेऽर्थे वर्तमानाद् धातोर्लट् प्रत्ययो भवति । (अनद्यतन अपरोक्ष भूत में वर्तमान धातु से स्म शब्द के उपपद रहने पर लट् प्रत्यय होता है) ।

उदा०—देहलीविश्वविद्यालये भाषाविज्ञानविद् आचार्यो गङ्गारामो मामध्यापयति स्म । उर्मिला अष्टाध्यायीं पठनाय वदति स्म ।

सि०—अध्यापयति । इङ् । इ णिच् । इ इ । आ इ । आ पुक् इ । आपि लट् । आपि ल् । आपि तिप् । आपि शप् ति । आपि अ ति । आपे अ ति । आपय् अ ति । आपयति । अधि आपयति । अध्यापयति ।

वर्तमाने लट् ३।२।१२६

प० वि०—वर्तमाने ७।१ लट् १।१

अर्थ—वर्तमानेऽर्थे वर्तमानाद् धातोर्लट् प्रत्ययो भवति ।
(वर्तमान अर्थ में वर्तमान धातु से लट् प्रत्यय होता है) ।

वर्तमाने इत्यधिकारः उणादयो बहुलं (३।३।१) इतियावत् ।

उदा०—पण्डितप्रवरः केदारनाथशर्मा सारस्वतोऽखिलभारतीयसंस्कृत-साहित्यसम्मेलनस्य प्रधानमन्त्रिपदमलङ्करोति । लीलाधरशर्मा तत्र कार्यालयमन्त्रिरूपेण विराजते ।

प्रथमगणः—भवति, भवतः, भवन्ति। भवसि, भवथः, भवथ। भवामि, भवावः, भवामः।

द्वितीयगणः—अत्ति, अत्तः, अदन्ति। अत्सि, अत्थः, अत्थ। अद्मि, अद्वः, अद्मः।

तृतीयगणः—जुहोति, जुहुतः, जुह्वति। जुहोषि, जहुथः, जुहुथ। जुहोमि, जुहुवः, जुहुमः।

चतुर्थगणः—दीव्यति, दीव्यतः, दीव्यन्ति। दीव्यसि, दीव्यथः, दीव्यथ। दीव्यामि, दीव्यावः, दीव्यामः।

पञ्चमगणः—सुनोति, सुनुतः सुन्वन्ति। सुनोषि, सुनुथः, सुनुथ। सुनोमि, सुनुवः, सुन्वः, सुनुमः, सुन्मः।

षष्ठगणः—तुदति, तुदतः तुदन्ति। तुदसि, तुदथः, तुदथ। तुदामि, तुदावः, तुदामः।

सप्तमगणः—रुणद्धि, रुन्धः, रुन्द्धः, रुन्धन्ति। रुणत्सि, रुन्धः, रुन्ध। रुणध्मि, रुन्ध्वः, रुन्ध्मः। रुन्धे, रुन्धाते, रुन्धते। रुन्त्से, रुन्धाथे, रुन्ध्वे। रुन्धे, रुन्ध्वहे, रुन्ध्महे।

अष्टमगणः—तनोति, तनुतः, तन्वन्ति। तनोषि, तनुथः, तनथ। तनोमि, तनुवः, तन्वः। तनुमः तन्मः।

नवमगणः—क्रीणाति, क्रीणीतः, क्रीणन्ति। क्रीणासि, क्रीणीथः, क्रीणीथ। क्रीणामि, क्रीणीवः, क्रीणीमः।

दशमगणः—चोरयति, चोरयतः, चोरयन्ति। चारयसि, चोरयथः चोरयथ। चोरयामि, चोरयावः, चोरयामः।

सन्-बुभूषति, बुभूषतः, बुभूषन्ति। बुभूषसि, बुभूषथः, बुभूषथ। बुभूषामि, बुभूषावः, बुभूषामः।

यङ्-बोभूयते, बोभूयेते, बोभूयन्ते। बोभूयसे, बोभूयेथे, बोभूयध्वे। बोभूये, बोभूयावहे, बोभूयामहे।

यङ्लुक्—बोभवीति, बोभोति, बोभूतः बोभुवति। बोभवीषि, बोभोषि, बोभूथः, बोभूथ। बोभवीमि, बोभोमि, बोभूवः, बोभूमः।

सि०—बुभूषति। भू सन्[1]। भू सन्[2]। भू सन्[3]। भू भू सन्। बु

1—धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा (३. १. ७) २—आर्धधातुकं शेषः (३. ४. ११४) आर्धधातुकस्येड्वलादेः (७. २. ३५) सनि ग्रहगुहोश्च (७. २. १२) ३—सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७. ३. ८४) इको झल् (१. १. ९),

भू सन् । बुभूषन् । बुभूष लट् । बुभूष तिप् । बुभूष शप् ति । बुभूषति ।

बोभवीति । भू । भू यङ् । भू । भू भू । बू भू । बु भू । बो[1] भू । बोभू लट् । बोभू तिप् । बोभू ति । बोभू ईट्[2] ति । बोभू ई ति । बोभो ईति । बोभवीति । बोभोति । बोभुवति । बो भू झि । बोभू अति । बोभ् उवङ्[3] अति । बोभुवति ।

लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे ३।२।१२४

प० वि०—लटः ६।१ शतृशानचौ १।२ अप्रथमासमानाधिकरणे ७।१

स०—शता च शानच्च इति शतृशानचौ । प्रथमया समानाधिकरणम् इति प्रथमासमानाधिकरणम् (तृ० तत्पु०) । न प्रथमासमानाधिकरणम् इति अप्रथमासमानाधिकरणम् (नञ् तत्पु०) तस्मिन् ।

अर्थ—[नन्वोर्विभाषा इति सूत्रान्मण्डूकप्लुतिन्यायेन विभाषा-ग्रहणमिहानुवर्तते, अतोऽत्रेयं व्यवस्था ज्ञातव्या—प्रथमासमानाधिकरणे विभाषा अन्यत्र नित्यमिति] अप्रथमासमानाधिकरणे प्रत्ययार्थे लटः स्थाने शतृशानचौ प्रत्ययौ नित्यं भवतः, प्रथमासमानाधिकरणे तु विक-ल्पेन भवतः ।

(नन्वोर्विभाषा इस सूत्र से विभाषा की अनुवृत्ति मण्डूकप्लुति न्याय से आती है । और वह विभाषा व्यवस्थित विभाषा है । इसलिए यहां यह व्यवस्था समझनी चाहिए कि जब प्रथमाविभक्ति से समान अधिकरण है तब विकल्प से शतृ और शानच् प्रत्यय होते हैं और जब प्रथमासमानाधिकरण नहीं है तब नित्य ही ये दोनों प्रत्यय होते हैं)

उदा०—शतृ–पचन्तं देवदत्तं पश्य । पचता देवदत्तेन कृतम् । पचन्तीं देवदत्तां पश्य । पचन्त्या देवदत्तया कृतम् । पचति पचन् वा देवदत्तः । अस्ति सन् वा ब्राह्मणः । करोति कुर्वन् वा ब्राह्मणः ।

शानच्—पचमानं देवदत्तं पश्य । पचमानेन देवदत्तेन कृतम् । कुर्वाणेन देवदत्तेन दृष्टम् । कुरुते कुर्वाणो वा देवदत्तः । आस्ते आसीनो वा आचार्यः ।

सि०—पचन्तम् । डुपचष् । पच् लट् । पच् शतृ । पच् अत् । पच शप् अत् । पच अ अत् । पचत् अम् । पच नु म्[4] त अम् । पचन्त्

क्ङिति च (१. १. ५)

१—गुणो यङ्लुकोः (७. ४. ८२)।२—यङो वा (७. ३. ९४) ३—अचिश्नु० (६.४. ७७) ङिच्च (१. १. ५३). ४—उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः (७. १.

अम् । पचन्तम् । पचत् टा । पचता । पचन्तीम् । पचत्[1] ङीप् । पचत् ई । पच नुम्[2] त् ई । पचन्ती अम् । पचन्तीम् । पचन्ती टा । पचन्त्या । पचन् । पचत् सु । पचनुमत्[2] स् । पचन्त् स् । पचन्त् । पचन् । सन् । अस् लट् । अस् शतृ । अस् अत् । स् अत् । सत् सु । स नुम् त् स् । सन्त् स् । सन्त् । सन् । कुर्वन् । कृ शतृ । कृ उ अत् । कृ उ अत् । कुर्[3] उ अत । कुर् वत्[4]। कुर्वत् । कुर्वत् सु । कुर्व नुम् त सु । कुर्वन्त् स् । कुर्वन्त् । कुर्वन् ।। पचमानम । पच् शानच् । पच् शप् आन । पच अ आन । पच आन । पच मुक्[5] आन । पचमान अम् । पचमानम् । पचमान टा । पचमानेन । कुर्वाणेन । कृ शानच् । कृ आन । कृ उ आन । कुर् उ आन । कुर्व् आन । कुर्वान । कुर्वाण । कुर्वाण टा । कुर्वाण इन । कुर्वाणेन । आसीनः । आस् शानच । आस् आन । आस् ईन[6] । आसीन सु । आसीनः ।।

सम्बोधने च ३।२।१२५

प० वि०—सम्बोधने ७।१ च अ० ।

अर्थ—[लटः शतृशानचौ] सम्बोधने च विषये लटः स्थाने शतृशानचौ प्रत्ययौ भवतः ।। (सम्बोधन के विषय में शतृ और शानच प्रत्यय होते हैं)

उदा०—हे पचन् । हे पचमान ।

तौ सत् ३।२।१२७

प० वि०—तौ १।२ सत् १।१

अर्थ—[शतृशानचौ] तौ शतृशानचौ सत्संज्ञौ भवतः ।

(उस शतृ और शानच् प्रत्ययों की सत्संज्ञा होती है)

उदा०—ब्राह्मणस्य करिष्यन् । ब्राह्मणस्य करिष्यमाणः ।

सि०—करिष्यन् । कृ लृट् । कृ ल् । कृ शतृ । कृ अत् । कृ स्य अत् । कृ इट्[7] स्य अत् । कृ इ स्य अत् । कर्[8] इ स्य अत् । करि स्य अत ।

---

७०) मिदचोऽन्त्यात्परः (१. १. ४६)

१–स्त्रियाम् (४. १. ३) उगितश्च (४. १. ४६) २–शप्श्यनोर्नित्यम् (७. १. ८१) ३—अत उत्सार्वधातुके (६.४.११०) उरण् रपरः (१. १. ५०) ४—इको यणचि (६. १. ७५) ५—आने मुक् (७. २. ८२) ६—ईदासः (७. २. ८३) आदेः परस्य (१. १. ५३) ७—ऋद्धनो स्ये (७. २. ७०) ८—सार्व-

करिष्य अत्। करिष्यत्। करिष्य नुम् त् सु। करिष्यन्त् स्। करिष्यन्त्। करिष्यन्। करिष्यमाणः। करिष्य मुक्[1] आन। करिष्यमाणः॥

आक्वेस्तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु ३।२।१३४

प० वि०—आ अ०। क्वेः ५।१ तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु ७।३ स०—तस्मिन् शीलम्, तच्छीलम्, धात्वर्थे स्वभावतः प्रवृत इत्यर्थः। तस्मिन् धर्मा इति तद्धर्म, तस्मिन् स्वभावेन विनापि प्रवृत्त इत्यर्थः तत्साधुकारी। तस्मिन् कार्यकरणे शिल्पी इत्यर्थः।

अर्थ–आ 'भ्राजभासधुर्विद्य तोर्जिपृजुग्रावस्तुवः क्विप्' इत्येतस्माद् ये प्रत्ययाः विहिताः ते सर्वे तच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु कर्तृषु भवन्ति इत्यधिकारो वेदितव्यः॥

(भ्राजभासधुर्विद्युतोर्जिपृजुगावस्तुवः क्विप् इस सूत्र को लेकर, यहां से जो प्रत्यय विधान किये जाते हैं, वे सभी तच्छील अर्थात् धात्वर्थ में स्वभाव से प्रवृत्ति, तद्धर्म अर्थात् विना भी स्वभाव के किसी कार्य में प्रवृत्ति, तत्साधुकारी अर्थात् किसी काम को सुन्दरता से करना, इन अर्थों में होते हैं ऐसा अधिकार है)

तृन् ३।२।१३५

प० वि०—तृन् १।१

अर्थ—वर्तमानकाले धातुभ्यस्तृन् प्रत्ययो भवति तच्छीलादिषु कर्तृषु। (तच्छीलादि कर्त्ता अर्थ में धातु से वर्तमानकाल में तृन् प्रत्यय होता है)

उदा०—तच्छीले–परुषं वदिता। कठोरं वदिता। तद्धर्मणि—वेदानुपदेष्टा। धर्ममुपदेष्टा। तत्साधुकारिणि–कटं कर्त्ता। ओदनं पक्ता।

सि०—वद व्यक्तायां वाचि। वद् तृन्। वद् तृ। वद् इट् तृ। वदितृ। वदितृ सु। वदित् अनङ् सु। वदितन् स। वदितान स्। वदितान। वदिता।

ग्लाजिस्थश्च क्स्नुः ३।२।१३९

प० वि०—ग्लाजिस्थः। ५।१ च अ०। क्स्नुः १।१ स०—ग्लाश्च जिश्च स्थाश्च इति ग्लाजिस्थाः, समाहारद्वन्द्वेऽपि नतुंसकत्वं न द्र० २।४।७८। तस्मात्।

अर्थ—[भुवश्च] ग्ला जि स्था इत्येतेभ्यो धातुभ्यो भवतेश्च तच्छीलादिषु कर्त्तृषु वर्तमाने क्स्नुः प्रत्ययो भवति।

धातुकार्धधातुकयोः (७. ३. ८४) १—आने मुक् (७. २. ८२)

(ग्ला जि स्था और भू धातुओं से तच्छीलादि कर्ता अर्थ में वर्तमान काल में क्स्नु प्रत्यय होता है)

उदा०—ग्लास्नुः । जिष्णुः । स्थास्नुः । भूष्णुः ।

सि०—ग्लै । ग्ला[1] क्स्नु । ग्लास्नुः । जि स्नु[2] । जिष्णुः । स्थास्नुः । भू स्नु । भू ष्णु । भूष्णुः ।

❀गिच्चायं प्रत्ययो न कित् । तेन स्था इत्यत्र घुमास्था० (६।४।६६) इति ईकारो न भवति ।❀

जागुरूकः ३।२।१६५

प० वि०—जागुः ५।१ ऊकः १।१

अर्थ—जागर्त्तेरूकः प्रत्ययो भवति तच्छीलादिषु कर्तृषु वर्तमानकाले ।

(वर्तमान काल में जागृ धातु से ऊक प्रत्यय होता है तच्छीलादि कर्त्ता अर्थ में)

उदा०—जागरूकः ।

सि०—जागृ ऊक । जागर् ऊक । जागरूकः ।

सनाशंसभिक्ष उः ३।२।१६८

प० वि०—सनाशंसभिक्षः ५।१ उः १।१ स०—संश्च आशंसश्च भिट् च इति सनाशंसभिट् तस्मात् ।

अर्थ—सन्नन्तेभ्यः आशंस-भिक्षिभ्याञ्च धातुभ्यां तच्छीलादिषु कर्तृषु उः प्रत्ययो भवति वर्तमानकाले ।

(सनन्त, आङ् शसि इच्छायां और भिक्ष धातु से तच्छीलादि कर्त्ता अर्थ में वर्तमान काल में उ प्रत्यय होता है)

उदा०—कटं चिकीर्षुः । व्याकरणं पिपठिषुः । आशंसुः । भिक्षुः ॥

सि०—चिकीर्षतीति चिकीर्षुः । कृ सन् । कृ सन् । कृ सन् । कॄ सन् । किर् सन् । कीर् सन् । कीर् कीर् स । की कीर् स । कि कीर् स । चिकीर् ष । चिकीर्ष उ । चिकीर्ष्[3] उ । चिकीर्षु । चिकीर्षु सु । चिकीर्षुः ॥ पिपठिषुः ॥ आशंसुः । शसि । शस् । श नुम् स् । शन्स् । शंस् उ । शंसुः ॥

१—आदेच उपदेशेऽशिति (६. १. ४४) २—सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७. ३. ८४) इति सूत्रेण गुणे प्राप्ते क्ङिति च (१. १. ५) इत्यनेन कित्वादगुणः । ३—अतो लोपः (६. ४. ४८)

स्थेशभासपिसकसो वरच् ३।२।१७५

प० वि०—स्थेशभासपिसकसः ५।१ वरच् १।१ स०—स्थाश्च ईशश्च भासश्च पिसश्च कस्च इति स्थेशभासपिसक:, तस्मात् ।

अर्थ—स्था, ईश, भास, पिस कस् इत्येतेभ्यो धातुभ्यस् तच्छीलादिषु कर्तृषु वर्तमानकाले वरच् प्रत्ययो भवति । (स्था, ईश, भास, पिस कस् धातुओं से तच्छीलादि कर्ता अर्थ में वर्तमान काल में वरच् प्रत्यय होता है)

उदा०—स्थावरः । ईश्वरः । भास्वरः । पेस्वरः । विकस्वरः ।

भ्राजभासधुर्विद्युतोर्जिपॄजुग्रावस्तुवः क्विप् ३।२।१७१

प० वि०—भ्राजभासधुर्विद्युतोर्जिपॄजुग्रावस्तुवः ५।१ क्विप् १।१ स०—भ्राजश्च भासश्च धुर्विश्च द्युतश्च ऊर्जिश्च पॄ च जुश्च गावस्तुश्च इति भ्राजभासधुर्विद्युतोर्जिपॄजुग्रावस्तु, तस्मात् ॐअचि श्नुधातुभ्रुवामिति उवङादेशःॐ

अर्थ—भ्राज-भास-धुर्वि-द्युत-ऊर्जि-पॄ-जु-गावस्तु इत्येतेभ्यो धातुभ्यः क्विप् प्रत्ययो भवति तच्छीलादिषु कर्तृष्वर्थेषु । (भ्राज्, भास्, धुर्व्, द्युत, ऊर्ज्, पॄ, जु और ग्राव उपपद पूर्वक स्तु इन धातुओं से तच्छीलादि कर्ता अर्थ में क्विप् प्रत्यय होता है)

उदा०—भ्राज्—विभ्राट् । विभ्राड् । विभ्राजौ । विभ्राजः । विभ्राजम् । विभ्राजौ । विभ्राजः । विभ्राजा । विभ्राड्भ्याम् । विभ्राड्भिः ॥

भास्—भाः । भासौ । भासः । भासम् । भासौ । भासः । भासा । भाभ्याम् । भाभिः ।

धुर्व्—धूः । धुरौ । धुरः । धुरम् । धुरौ । धुरः । धुरा । धूर्भ्याम् । धूर्भिः ।

द्युत्—द्युत् । द्युतौ । द्युतः । द्युतम् । द्युतौ । द्युतः । द्युता । द्युद्भ्याम् । द्युद्भिः ॥

ऊर्ज्—ऊर्क् । ऊर्ग् । ऊर्जौ । ऊर्जः । ऊर्जम् । ऊर्जौ । ऊर्जः । ऊर्जा । ऊर्ग्भ्याम् । ऊर्ग्भिः ।

पॄ—पूः । पुरौ । पुरः । पुरम् । पुरौ । पुरः । पुरा । पूर्भ्याम् । पूर्भिः ॥

जु—जूः । जुवौः । जुवः । जुवम् । जुवौ । जुवः । जुवा । जूभ्याम् । जूभिः । वचिप्रच्छ्यायतस्तुकटप्रुजुश्रीणां दीर्घश्चेति वक्तव्यम् इत्यनेन जूरित्यत्र दीर्घत्वम् ॥

ग्रावस्तु—ग्रावस्तुत् । ग्रावस्तुतौ । ग्रावस्तुतः । ग्रावस्तुद्भ्याम् ।

ग्रावस्तुद्भिः ॥

सि०—विभ्राट्। भ्राज् क्विप्। भ्राज सु। भ्राष्[1] सु। विभ्राड्[2]। विभ्राट्[3] ॥

भाभ्याम्। भास् भ्याम्। भार्[4] भ्याम्। भाभ्याम्। धूः। धुर्व् क्विप्। धुर्व्। धुर्[5]। धुर् सु। धूर्[6] स्। धूर्। धूः। ऊर्ज्। ऊर्ग्[7]। ऊर्क्। पूः। पॄ क्विप्। पुर्[8]। पुर् सु। पूः ॥

जूः। जुवा। जू टा। जुवङ्[9] आ। जुव् आ। जुवा। ग्रावस्तुत्। ग्रावस्तु क्विप्। ग्रावस्तु तुक्। ग्रावस्तुत्। ग्रावस्तुत् सु। ग्रावस्तुत् ॥

अन्येभ्योऽपि दृश्यते ३।२।१७८

प० वि०—अन्येभ्यः ५।३ अपि अ०। दृश्यते। क्रिया०।

अर्थ—[क्विप्] अन्येभ्योऽपि धातुभ्यः क्विप् प्रत्ययो दृश्यते तच्छीलादिषु कर्तृषु वर्तमानकाले। (अन्य धातुओं से भी तच्छीलादि कर्ता के अर्थ में क्विप् प्रत्यय देखे जाते हैं)

उदा०—छित्। भित्।

सि०—छिदिर्। छिद् क्विप्। छिद्। छिद् सु। छिद्। छित्। छिद्। छिदौ। छिदः। भिद्। भित्। भिदौ। भिदः ॥

भुवः सञ्ज्ञान्तरयोः ३।२।१७९

प० वि०—भुवः ५।१ सञ्ज्ञान्तरयोः ७।२ स०—संज्ञा च अन्तरश्च इति संज्ञान्तरौ तयोः।

अर्थ—[क्विप्] भवतेर्धातोः संज्ञायाम् अन्तरे च गम्यमाने क्विप् प्रत्ययो भवति तच्छीलादिषु कर्तृषु। (भू धातु से संज्ञा या अन्तर गम्यमान हो तो क्विप् प्रत्यय होता है तच्छीलादि कर्ता अर्थ में)

उदा०—संज्ञायाम्—विभूर्नाम कश्चित्। अन्तरे—प्रतिभू ॐधनिका-धमर्णयोरन्तरे यस्तिष्ठति स प्रतिभूरुच्यतेॐ

१—व्रश्चभ्रस्जसृजमृज० (८. २. ३६) २—झलां जशोऽन्ते (८. २. ३९) ३—वावसाने (८. ४. ५५) ४—स्वादिष्वसर्वनामस्थाने (१. ४. १७) ससजुषोः रुः (८. २. ६६) ५—राल्लोपः (६. ४. २१) ६—हलि च (८.२.७७) ७—चोः कुः (८. २. ३०) ८—उदोष्ठ्य पूर्वस्य (७. १. १०२) उरण् रपरः (१. १. ५०) ९—क्विबन्तं धातुत्वं न जहाति इति धातुत्वात् अचिश्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ (६. ४. ७७)

अर्त्तिलूधूसूखनसहचर इत्रः ३।२।१८४

प० वि०—अर्त्तिलूधूसूखनसहचरः ५।१ इत्रः १।१ स०—अर्त्तिश्च लूश्च धूश्च सूश्च खनश्च सहश्च चर्च इति अर्त्तिलूधूसूखनचहचर् तस्मात्।

अर्थ—[करणे] ऋ गतौ। लूञ् छेदने। धू विधूनने। षू प्रेरणे। खनु अवदारणे। षह मर्षणे। चर गतिभक्षणयोः एतेभ्यो धातुभ्यः करणे कारके इत्रः प्रत्ययो भवति। (ऋ, लू, धू, षू, खनु, षह और चर इन धातुओं से करण कारक में इत्र प्रत्यय होता है)

उदा०—अरित्रम्। लवित्रम्। धवित्रम्। सवित्रम्। खनित्रम्। सहित्रम्। चरित्रम्।

ञीतः क्तः ३।२।१८७

प० वि०—ञीतः ५।१ क्तः १।१ ॥ स०—ञि इत् यस्य सो ञीत् तस्मात्।

अर्थ—[वर्तमाने] ञीतो धातोर्वर्तमानेऽर्थे क्तप्रत्ययो भवति। (ञि है इत् जिसका ऐसे धातु से वर्तमान काल के अर्थ में क्त प्रत्यय होता है)

उदा०—मिन्नः। क्ष्विण्णः। धृष्टः।

सि०—मिन्नः। ञिमिदा स्नेहने। मिद् क्त। मिद् त। मिन् न। मिन्न। मिन्न सु। मिन्नः॥ ञिक्ष्विदा। क्ष्विद् क्त। क्ष्विद् त। क्ष्विन् न। क्ष्विण् न। क्ष्विण्ण। क्ष्विण्ण सु। क्ष्विण्णः॥

धृष्टः। ञिधृषा। धृष् क्त। धृष् त। धृष् त। धृष्ट। धृष्टः॥

मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च ३।२।१८८

प० वि०—मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यः ५।३ च अ०। स०—मतिश्च बुद्धिश्च पूजा च इति मतिबुद्धिपूजाः। अर्थश्च अर्थश्च अर्थश्च इति अर्थाः। मतिबुद्धिपूजाः अर्थाः येषां धातूनामिति मतिविद्धिपूजार्थाः तेभ्यः।

अर्थ—[क्तः] मत्यर्थेभ्यो बुद्ध्यर्थेभ्यः पूजार्थेभ्यश्च धातुभ्यो वर्तमाने अर्थे क्तप्रत्ययो भवति। (मत्यर्थक बुद्ध्यर्थक और पूजार्थक धातुओं से वर्तमानकाल के अर्थ में क्त प्रत्यय होता है)

उदा०—मतिरिच्छा। राज्ञां मतः। राज्ञामिष्टः। बुद्धिर्ज्ञानम्। राज्ञां बुद्धः। राज्ञां ज्ञातः। पूजा सत्कारः। राज्ञां पूजितः। राज्ञामर्चितः।

सि०—मतः। मन् क्त। मन् त। म[1] त। मत सु। मतः। इष्टः। इष् क्त। इष् त। इष्ट[2]। इष्ट सु। इष्टः। बुद्धः। बुध् क्त। बुध् त।

१—अनुदात्तोपदेश० (६. ४. ३७) मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः (१. १. ८) २—ष्टुना ष्टुः (८. ४. ४१)

बुध् ध[1]। बुद् ध। बुद्ध सु। बुद्धः। ज्ञातः। ज्ञा क्त। ज्ञातः।

पूजितः। पूज् क्त। पूज् त। पूज् इट् त। पूजितः। अर्चितः अर्च् इट् त। अर्चितः।

इत्यष्टाध्यायी-प्रकाशिकायां तृतीयाध्याये द्वितीयः पादः

उणादयो बहुलम् ३।३।१

प० वि०—उणादयः १।३ बहुलम् १।१

स०—उण् आदिर्येषां ते उणादयः। बहून् अर्थान् लातीति बहुलम्।

अर्थ—[वर्तमाने] उणादयः प्रत्यया वर्तमानकाले धातुभ्यो बहुलं भवन्ति। (धातुओं से उण् इत्यादि प्रत्यय वर्तमानकाल में बहुल करके होते हैं)

बहुलशब्दस्य कोऽर्थः तदुच्यते—

क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति॥

(कहीं कार्य की प्रवृत्ति होना, कहीं न होना, कहीं विकल्प से कार्य होना कहीं पर अन्य के स्थान पर अन्य कार्य का हो जाना यह चार प्रकार का कार्य बाहुलक कहाता है।

उदा०—कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण् (उणा० १।१।) कारुः। वायुः। पायुः। जायुः। मायुः। स्वादुः। साधुः। आशुः। क्विब्वचिप्रच्छिश्रिस्रुद्रुप्रुज्वां दीर्घोऽसंप्रसारणं च (उणा० २।५७) वाक्। प्राट शब्दप्राट्। श्रीः। स्रूः। द्रूः। कटप्रूः। जूः।

साधुः। साध्नोति धर्म्यं कर्म इति साधुः सज्जनः। साधुः। साधू। साधवः। साधुम्। साधू। साधून्।। साधुना। साधुभ्याम्। साधुभिः। साधवे। साधुभ्याम्। साधुभ्यः। साधोः। साधुभ्याम्। साधुभ्यः। साधोः। साध्वोः। साधूनाम्। साधौ। साध्वोः। साधुषु। हे साधो। हे साधू। हे साधवः।

वाक्, वाग्। वाचौ। वाचः। वाचम्। वाचौ। वाचः। वाचा। वाग्भ्याम्। वाग्भिः। वाचे। वाग्भ्याम्। वाग्भ्यः। वाचः। वाग्भ्याम वाग्भ्यः। वाचः। वाचोः। वाचाम्। वाचि। वाचो। वाक्षु।

१—झषस्तथोर्धोऽधः (८. २. ४०)

शब्दप्राट्, शब्दप्राड् । शब्दप्राशौ । शब्दप्राशः । शब्दप्राशम् । शब्दप्राशौ । शब्दप्राशः । शब्दप्राशा । शब्दप्राड्भ्याम् । शब्दप्राड्भिः ।

❀ अत्रायं विवेकः—क्विपि छ्वोः शूडनुनासिके च (६।४।१८) इति शकारे 'शब्दप्राश्' प्रातिपदकम्, विचि (३।२।७५) तु शब्दप्राच्छ् । तस्य शब्दप्राट् शब्दप्राच्छौ, शब्दप्राच्छः इति रूपाणि भवन्ति ।

श्रीः । श्रियौ । श्रियः । श्रियम् । श्रियौ । श्रियः । श्रिया । श्रीभ्याम् । श्रीभिः । श्रिये, श्रियै । श्रीभ्याम् । श्रीभ्यः । श्रियः, श्रियाः । श्रीभ्याम् । श्रीभ्यः । श्रियः, श्रियाः । श्रियोः । श्रियाम्, श्रीणाम् । श्रियि, श्रियाम् । श्रीयोः । श्रीषु । हे श्रीः । हे श्रियौ । हे श्रियः । एवं स्रू, प्रू, कटप्रू, जू इत्यादयः बोधनीयाः ।

सि०—करोतीति कारुः शिल्पी वा । कारुः । डुकृञ् । कृ उण् । कृ उ । कार् उ । कारु सु । कारुः । वायुः । वाति गच्छति जानातीति वायुः पवनः परमेश्वरो वा । वा उण् । वा उ । वा युक् उ । वाय् उ । वायु सु । वायुः । वायू । वायवः ।

वाक् । वक्ति शब्दानुच्चारयति यया सा वाक् । वच् क्विप् । वाच् । वाक् । वाग् । वाक् ॥

प्राट्, शब्दप्राट् । पृच्छतीति प्राट् । शब्दं पृच्छतीति शब्दप्राट् शिष्यो वा । श्रीः । श्रयति श्रीयते वा सा श्रीः, ईश्वररचना शोभा वा । द्रू । द्रूयते प्राप्यते दुःखमनया इति द्रूः हिरण्यं वा । कटप्रूः । कटेन कटिभागेन प्रवते गच्छतीति कटप्रूः, कामुको जनः कीटो वा । जूः । जवति शीघ्रं गच्छतीति जूः । शशोऽश्वो वृषभ आकाशं विद्या वा ।

साधुः । साधु सु । साधु औ । साधू[1] । साधु जस् । साधो[2] अस् । साधव्[3] अस् । साधवः । साधु अम् । साधुम्[4] । साधू । साधु शस् । साधु अस् । साधूस्[5] । साधून्[6] । साधु टा । साधु ना[7] । साधुना । साधु ङे । साधो[8] ए । साधव् ए । साधवे । साधु ङसि । साधु अस् । साधोस्[9] । साधोः । साधु ओस् । साध्वोस् । साध्वोः । साधु आम् ।

१—प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (६. १. ९८) २—जसि च (७. ३. १०९) ३—एचोऽयवायावः (६. १. ७८) ४—अमि पूर्वः (६. १. १०७) ५—प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (६. १. ९८) ६—तस्माच्छसो नः पुंसि (६. १. ९९) ७—आङो नाऽस्त्रियाम् (७. ३. १२०) ८—शेषो घ्यसखि (१. ४. ७) घेर्ङिति (७. ३. १११) ९—ङसिङसोश्च (६. १. ११०)

साधु नुट्[1] आम्। साधु नाम्। साधूनाम्[2]। साधु ङि। साध[3] औ। साधौ[4]। साधु सुप्। साधु सु। साधु षु। साधुषु। साधु सु। साधो[5] स्। साधो[6]॥

वच् क्विप्। वाच्। वाक्[7]। वाग्[8]। वाक्[9]। वाच् औ। वाचौ शब्द अम् प्रच्छ् क्विप्। शब्दप्राच्छ्। शब्दप्राश्[10] शब्दप्राष्[11]। शब्दप्राड्[8]। शब्दप्राड् सु। शब्दप्राड् स्। शब्दप्राड्। शब्दप्राट्[9]। शब्दप्राश् औ। शब्दप्राशौ। शब्दप्राश्[12] भ्याम्। शब्दप्राष्[11] भ्याम्। शब्दप्राड्भ्याम्।

श्रीः। श्री औ। श्र् इयङ्[13] औ। श्रिय् औ। श्रियौ। श्रिये, श्रियै। श्री ङे। श्रिय् ए। श्रिय् आट्[14] ए। श्रिया ए। श्रियै[15]। श्रियाम्। श्री आम्। श्री नुट्[16] आम्। श्रियि, श्री ङि। श्रियाम्। श्री ङि। श्री आम्। श्रिय् आम्। श्रियाम्॥

भूतेऽपि दृश्यन्ते ३।३।२

प० वि०—भूते ७।१ अपि अ०। दृश्यन्ते क्रिया०।

अर्थ–[उणादयः] उणादयो भूते कालेऽपि दृश्यन्ते। (उण् आदि प्रत्यय भूतकाल में भी देखे जाते हैं)

उदा०—वर्म। चर्म। भस्म। सर्वधातुभ्यो मनिन् (उणा० ४।१४५)

सि०–वृत्तम् इदं वर्त्म। वृतु मनिन्। वृत् मन्। वर्त् मन्। वर्त् मन्। वर्त्मन् सु। वर्त्म[17]। चर्म। चरितं तदिति चर्म। चर गतिभक्षणयोः। चर् मनिन्। चर्मन्। चर्म। भस्म। भसितं दीपितम् इति। भस भत्सणदीप्त्योः!। भस्मन्। भस्म।

१—ह्रस्वनद्यापो नुट् (७. १. ५४) आद्यन्तौ टकितौ (१. १. ४६) २—नामि (६. ४. ३) ३—अच्च घेः (७. ३. ११९) ४—वृद्धिरेचि (६. १. ८८) ५—ह्रस्वस्य गुणः (७. ३. १०८) ६–एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः (६. १. ६७) ७—चोः कुः (८. २.) ८—झलां जशोऽन्ते (८. २. ३९) ९—वावसाने (८. ४. ५६) १०–च्छ्वोः शूडनुनासिके च (६. ४. १९) ११—व्रश्चभ्रस्ज० (८. २. ३६) १२—स्वादिष्वसर्वनामस्थाने (१. ४. १७) १३—क्विबन्तं धातुत्वं न जहाति अत एव धातुत्वात् अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ (६. ४. ७७) १४—ङिति ह्रस्वश्च (१. ४. ६) आण्नद्याः (७.३.११२) १५–आटश्च (६.१.९०) १६—वामि (१. ४. ५) १७–नलोपः० (८. २. ७)

! अत्राहुराचार्याः–भसधातोः भर्त्सन इत्यर्थो नवीनः, भक्षण इति तु प्राची-

भविष्यति गम्यादयः ३।३।३

प० वि०—भविष्यति ७।१ गम्यादयः १।३ स०—गमी आदिर्येषान्ते गम्यादयः।

अर्थ—गम्यादयः शब्दाः भविष्यति काले साधवो भवन्ति।
(गमी इत्यादि शब्द भविष्यत काल में साधु होते हैं)

उदा०—गमी। आगामी। भावी।

सि०—गमेरिनिः (उणा ४।६) गमिष्यतीति गमी पथिको या। गम् इन्। गमिन्। गमिन् सु। गमीन् स्। गमी। आङि णित् (उणा० ४।७) आ गमिष्यतीति आगामी॥ भुवश्च (उणा० ४।८) भविष्यतीति भावी।

यावत्पुरानिपातयोर्लट् ३।३।४

प० वि०—यावत्पुरानिपातयोः ७।२ लट् १।१ स०—यावच्च पुरा च इति यावत्पुरौ। यावत्पुरौ च अमू निपातौ इति यावत्पुरानिपातौ। तयोः।

अर्थ—[भविष्यति] यावत्पुराशब्दयोर्निपातयोरुपपदयोः भविष्यति काले धातोर्लट् प्रत्ययो भवति। (यावत् और पुरा इन दोनों निपातों के उपपद रहने पर भविष्यत् काल में धातु से लट् प्रत्यय होता है)

उदा०—यावद् भुङ्क्ते। पुरा भुङ्क्ते।

सि०—भुङ्क्ते। भुज्। भुज् लट्। भुज् ल्। भुज् त। भुज् ते। भु श्नम् ज् ते। भुनज् ते। भुन्ज्[1] ते। भुन्ग्[2] ते। भुंग्[3] ते। भुङ्क्ते[4]॥

विभाषा कदाकर्ह्योः ३।३।५

प० वि०—विभाषा १।१ कदाकर्ह्योः ७।२ स०—कदाश्च कर्हिश्च इति कदाकर्ही तयोः।

अर्थ—[भविष्यति] कदा कर्हि इत्येतयोरुपपदयोर्विभाषा भविष्यति

नोऽर्थः (दया० ऋ० भाष्य १।२८।७) सायणोऽप्यत्रैवर्भाष्ये 'भस भक्षणदीप्त्योः' इत्येवाह। अत्र 'बप्सता-भुञ्जाने' इति निरुक्तम् (६।३६) अनुसन्धेयम्।

१—श्नसोरल्लोपः (६. ४. १११) २—चोः कुः (८. २. ३०) खरि च (८. ४. ५५) ३—नश्चापदान्तस्य झलि (८. ३. २४) ४—अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः (८. ४. ५८) खरि च (८. ४. ५४)

काले धातोर्लट् प्रत्ययो भवति। (कदा और कर्हि इन शब्दों के उपपद रहने पर भविष्यत् काल में धातु से विकल्प से लट् प्रत्यय होता है)

उदा०—कदा भुङ्क्ते भोक्ष्यते भोक्ता वा। कर्हि भुङ्क्ते भोक्ष्यते भोक्ता वा।

तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम् ३।३।१०

प० वि०—तुमुन्ण्वुलौ १।२ क्रियायां ७।१ क्रियार्थायाम् ७।१ स०—तुमुन् च ण्वुल् च इति तुमुन्ण्वुलौ। क्रियायै इदमिति क्रियार्था तस्याम्।

अर्थ—[भविष्यति] क्रियार्थायां क्रियायामुपपदे भविष्यति काले धातोस्तुमुन्ण्वुलौ प्रत्ययौ भवतः। (क्रिया के लिये क्रिया के उपपद रहने पर भविष्यत् काल में धातु से तुमन् और ण्वुल् प्रत्यय होता है)

उदा०—भोक्तुं व्रजति। भोजको व्रजति।

सि०—भोक्तुम्। भुज् तुमुन्। भोज् तुम्। भोक् तुम्। भोक्तुम् सु। भोक्तुम्[1] ॥ भोजकः। भुज् ण्वुल्। भुज् वु। भुज् अक। भोजकः ॥

भाववचनाश्च ३।३।११

प० वि०—भाववचनाः १।३ च अ०। स०—उच्यन्ते येन ते वचनाः, भावस्य वचनाः (प० तत्पु०)

अर्थ—[क्रियायां क्रियार्थायाम् भविष्यति] क्रियार्थायां क्रियायामुपपदे भविष्यति काले धातोर्भाववचनाः प्रत्यया भवन्ति। (क्रिया के लिये क्रिया के उपपद रहने पर भविष्यत् काल में धातु से भाव अर्थ में विहित प्रत्यय होते हैं)

उदा०—पाकाय व्रजति। भूतये व्रजति। पुष्टये व्रजति।

सि०—पाकाय। पक्ष्यतीति व्रजति इति पाकाय व्रजति। डुपचष् पाके। पच् घञ्। पच् अ। पाच् अ। पाक् अ। पाक। पाक ङे। पाक य। पाकाय॥ भूतये। भविष्यतीति व्रजतीति भूतये व्रजति। भू क्तिन्। भू ति। भूति ङे। भूते ए। भूतये॥ पुष्टये। पुष् क्तिन्। पुष् ति। पुष् टि। पुष्टि। पुष्टि ङे। पुष्टये॥

लृट् शेषे च ३।३।१२

प० वि०—लृट् १।१ शेषे ७।१ च अ०॥

अर्थ—[भविष्यति क्रियायां क्रियार्थायाम्] शुद्धे भविष्यति काले

१—कृन्मेजन्तः (१. १. ३९) अव्ययादाप्सुपः (२. ४. ८२)

क्रियार्थायां क्रियायाञ्चोपपदे धातोर्लृट् प्रत्ययो भवति। (शुद्ध भविष्यत् काल में और जहां क्रिया के लिये क्रिया उपपद हो, वहां धातु से लृट् प्रत्यय होता है)

उदा०—पठिष्यामि। करिष्यामि। पठिष्यामीति व्रजति। करिष्यामीति व्रजति।

सि०—पठिष्यामि। पठ् लृट्। पठ् ल्। पठ् तिप्। पठ् स्य ति। पठ् इट् स्य ति। पठि स्य ति। पठिष्यति। करिष्यति। डुकृञ्। कृ लृट्। कृ तिप्। कृ स्य तिप्। कृ इट्[1] स्य ति। कर् इ स्य ति। करिष्यति॥

लृटः सद्वा ३।३।१४

प० वि०—लृटः ६।१ सत् १।१ वा अ०।

अर्थ—[भविष्यति, क्रियायां क्रियार्थायाम्] शुद्धे भविष्यति काले क्रियार्थायां क्रियायाञ्चोपपदे धातोर्यो विहितः लृट्प्रत्ययः तस्यस्थाने सत् (शतृशानचौ) प्रत्ययौ भवतः॥ ×सद्विधिर्नित्यमप्रथमासमानाधिकरणे× ❀प्रथमासमानाधिकरणे तु अनित्यम् विकल्पेन वा❀

(शुद्ध भविष्यत् काल में और क्रिया के लिये क्रिया के उपपद रहने पर धातु से जो विहित लृट प्रत्यय उसके स्थान में विकल्प से सत् अर्थात् शतृ और शानच् प्रत्यय होते हैं। इस सत् प्रत्यय का विधान इस प्रकार समझना चाहिये—प्रथमान्त के साथ जब लृट् की समान अधिकरणता न हो तब तो नित्य करके लृट् के स्थान में सत् प्रत्यय होते हैं और जब प्रथमान्त के साथ समान अधिकरणता हो तब अनित्य या विकल्प से सत् प्रत्यय हो जाते हैं)

उदा०—अप्रथमासमानाधिकरणे—ब्राह्मणस्य करिष्यन्। ब्राह्मणस्य करिष्यमाणः। ब्राह्मणस्य पक्ष्यन्। ब्राह्मणस्य पक्ष्यमाणः। प्रथमासमानाधिकरणे—ब्राह्मणः पक्ष्यति पक्ष्यते वा। ब्राह्मणः पक्ष्यन् पक्ष्यमाणो वा।

अनद्यतने लुट् ३।३।१५

प० वि०—अनद्यतने ७।१ लुट् १।१ स०—न विद्यते अद्यतनम् तत् अनद्यतनम् तस्मिन्।

अर्थ—[भविष्यति] अनद्यतने भविष्यत्काले धातोर्लुट् प्रत्ययो भवति। (जिसमें आज का संबन्ध न हो उस भविष्यत् काल में धातु से लुट प्रत्यय होते हैं)

उदा०—श्वो भविता। श्वः गन्ता। श्व एधिता।

१—ऋद्धनोः स्ये (७. २. ७०)

पदरुजविशस्पृशो घञ् ३।३।१६

प० वि०—पदरुजविशस्पृशः ५।१ घञ् १।१ स०—पदश्च रुजश्च विशश्च स्पृट् चेति पदरुजविशस्पृट् तस्मात्।

अर्थ—पद-रुज-विश-स्पृश् इत्येतेभ्यो धातुभ्यो घञ् प्रत्ययो भवति। (पद् रुज् विश् और स्पृश् धातु से घञ् प्रत्यय होता है)

उदा०—पादः। रोगः। वेशः ×स्पृश उपताप इति वक्तव्यम× स्पर्शः।

सि०—पादः। पद्यतेऽसौ पादः। पद गतौ। पद् घञ्। पद् अ। पाद् अ। पाद सु। पादः॥ रोगः। रुजति असौ रोगः। रुज् घञ्। रुज् अ। रोज् अ। रोग[1] अ। रोग। रोग सु। रोगः॥ वेशः। विशत्यसौ विशः। विश् घञ्। विश् अ। वेश् अ। वेश। वेश सु। वेशः। स्पृश् घञ्। स्पर्शः॥

भावे ३।३।१८

प० वि०—भावे ७।१

अर्थ—[घञ्] भावे धात्वर्थे वाच्ये धातोर्घञ् प्रत्ययो भवति। भावे इत्यधिक्रियते। (केवल धात्वर्थ अर्थात् धातु का अर्थ कहा जाय वहां धातु से घञ् प्रत्यय होता है) यहां से आगे भाव का अधिकार है।

उदा०—पाकः। पाकौ। पाकाः। रागः। त्यागः। पक्तिः। पचनम्॥

सि०—पच् घञ्। पाकः[1]॥ रञ्ज् घञ्। रज्[2] अ। राज् अ। राज् अ। रागः॥ पक्तिः। पच् क्तिन्। पक्[3] ति। पक्ति सु। पक्तिः॥ पचनम्। पच् ल्युट्। पच् अन। पचन सु। पचन अम्। पचनम्॥

अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम् ३।३।१९

प० वि०—अकर्त्तरि ७।१ च अ०। कारके ७।१ संज्ञायाम् ७।१ स०—न कर्ता इति अकर्त्ता तस्मिन् अकर्त्तरि।

अर्थ—[घञ्] कर्तृभिन्नकारके संज्ञायां गम्यमानायां धातोर्घञ् प्रत्ययो भवति। अधिकारोऽयम् (कर्ता भिन्न कारक में संज्ञा जाना जाय तो धातु से घञ् प्रत्यय होता है) आगे भाव के साथ इस सूत्र का भी अधिकार जानना चाहिये।

उदा०—प्रासः। प्रसेवः। आहारः।

सि०—प्रासः। प्रास्यन्ति तमिति। प्र अस् घञ्। प्र आस। प्रास

१—चजोः कु घिण्ण्यतोः (७. ३. ५२) २—घञि च भावकरणयोः (६. ४. २७) ३—चो कुः (८. २. ३०)

सु । प्रासः ॥ प्रसीव्यन्ति तं प्रसेवः । प्रसिव् घञ् । प्रसिव अ । प्रसेव अ । प्रसेव सु । प्रसेवः ॥

एरच् ३।३।५६

प० वि०—एः ५।१ अच् १।१

अर्थ—[भावे, अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्] भावे कर्तृभिन्नकारके संज्ञायां च इवर्णान्ताद्धातोरच् प्रत्ययो भवति।

(भाव में और कर्ताभिन्नकारक संज्ञा में इवर्णान्त धातु से अच् प्रत्यय होता है) ।

उदा०—चयः । जयः । अयः क्षयः । ❀ निवासवाची क्षयशब्द आद्युदात्तः (द्र० ६ । १ । १९५) नाशार्थकस्त्वन्तोदात्तः ❀ ।

सि०—चयः । चिञ् अच् । चि अ । चे अ । चय । चय सु । चयः । जि अच् । जयः । इ अच् । अयः । क्षि अच् । क्षयः ।

ॠदोरप् ३।३।५७

प० वि०—ॠदोः ५।१ अप् १।१ स०—ॠच्च उश्च इति ॠदु तस्माद् ॠदोः ।

अर्थ—[भावे अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्] भावे कर्तृभिन्नकारके संज्ञायाञ्च ॠकारान्तस्य उवर्णान्तस्य च धातोः परः अप् प्रत्ययो भवति ।

(भाव और कर्ताभिन्नकारक और संज्ञा में ॠकारान्त और उवर्णान्त धातु से अप् प्रत्यय होता है)

उदा०—करः । गरः । शरः । उवर्णान्तेभ्यः—यवः । लवः । पवः । दकारो मुखसुखार्थः ।

सि०—कॄ अप् । कॄ अ । कर् अ । कर सु । करः । गॄ अप् । गरः । शॄ अप् । शरः । यु अप् । यो अ । यवः । लूञ् अप् । लो अ । लवः । पू अप् । पो अ । पवः ।

ड्वितः क्त्रिः ३।३।८८

प० वि०—ड्वितः ५।१ क्त्रिः १।१ स०—डु इद् यस्येति ड्वित् तस्मात् । ड्वितः

अर्थ—[भावे अकर्त्तरि च कारके] भावे कर्तृभिन्नकारके च ड्वितः क्त्रिः प्रत्ययो भवति ।(भाव में और कर्ताभिन्नकारक में डु इत् वाले धातु से क्त्रि प्रत्यय होता है) ।

उदा०—पक्त्रिमम् । उप्त्रिमम् ।

सि०—पक्त्रिमम् । डुपचष् । पच् क्त्रि । पच् त्रि । पक् त्रि । पक्त्रि मप्[1] । पक्त्रिम सु । पक्त्रिम अम् । पक्त्रिमम् । उप्त्रिमम् । डुवप् । वप् क्त्रि । वप् त्रि । वप् त्रि । उ अ[2] प् त्रि । उप् त्रि । उप्त्रि मप् । उप्त्रिम । उप्त्रिम सु । उप्त्रिम सु । उप्त्रिम अम् । उप्त्रिमम् ।

ट्वितोऽथुच् ३।३।८९

प० वि०—ट्वितः ५।१ अथुच् १।१

स०—टु इद् यस्येति ट्वित् तस्मात् ।

अर्थ—[भावे अकर्त्तरि च कारके] भावे कर्त्तृभिन्ने कारके ट्वितो धातोरथुच् प्रत्ययो भवति । (भाव और कर्त्ताभिन्न कारक में टु इत् वाले धातु से अथुच् प्रत्यय होता है)

उदा०—वेपथुः । श्वयथुः ।

सि०—वेपथुः । टुवेपृ । वेप् अथुच् । वेपथु सु । वेपथुः । टुओश्वि । श्वि अथुच् । श्वे अथु । श्वयथु सु । श्वयथुः ॥

यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ् ३।३।९०

प० वि०—यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षः ५।१ नङ् । स०—यजश्च याचश्च यतश्च विच्छश्च प्रच्छश्च रक्ष् च इति यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्ष् तस्मात् ।

अर्थ—[भावे अकर्त्तरि च कारके] भावे कर्तृभिन्ने कारके एभ्यो धातुभ्यो नङ् प्रत्ययो भवति । (भाव और कर्त्ताभिन्न कारक में यज याच यत विच्छ प्रच्छ और रक्ष धातु से नङ् प्रत्यय होता है ।

उदा०—यज्ञः । याच्ञा । यत्नः । विश्नः । प्रश्नः । रक्ष्णः ।

सि०—यज्ञः । यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु । यज् नङ् । यज् न यज् ञ[3] । यज्ञ सु । यज्ञः । याच्ञा । टुयाचृ याच्ञायाम् । याच् नङ् । याच् न । याच् ञ[3] । याच्ञ । याच्ञ टाप्[4] । याच्ञ आ । याच्ञा सु । याच्ञा ।

यत्नः । यती प्रयत्ने । यत् नङ् । यत् न । यत्नः । विश्नः । विच्छ गतौ । विच्छ नङ् । विच्छ् न । विश्[5] न । विश्न सु । विश्नः । प्रश्नः ।

१—त्रेर्मप्नित्यम् (४. ४. २०) २—वचिस्वपियजादीनां किति (६. १. १५) । ३—स्तोः श्चुना श्चुः (८. ४. ४१) ४—अजाद्यतष्टाप् (४. १. ४) ५— च्छ्वोः शूडनुनासिके च (६. ४. १९)

प्रच्छ ज्ञीप्सायाम् । प्रच्छ् नङ् । प्रच्छ् न । प्रश् न । प्रश्न सु । प्रश्नः । ॐ प्रच्छेरसम्प्रसारणं ज्ञापकात् प्रश्ने चासन्नकाल इति ॐ। रक्ष्णः । रक्ष रक्षणे । रक्ष् नङ् । रक्ष् न । रक्ष् ण[1] । रक्ष्ण सु । रक्ष्णः ।

स्वपो नन् ३।३।९१

प० वि०—स्वपः ५।१ नन् १।१

अर्थ—[भावे अकर्त्तरि च कारके] स्वपेर्धातोर्नन् प्रत्ययो भवति ।

(स्वप् धातु से नन् प्रत्यय होता है)

उदा०—स्वप्नः ।

उपसर्गे घोः किः ३।३।९२

प० वि०—उपसर्गे ७।१ घोः ५।१ किः १।१

अर्थ—[भावे अकर्त्तरि च कारके] उपसर्गे उपपदे घुसंज्ञकेभ्यो धातुभ्यः किः प्रत्ययो भवति ।

(उपसर्ग के उपपद रहने पर घु संज्ञा वाले धातु से कि प्रत्यय होता है)

उदा०—प्रदिः । प्रधिः । अन्तर्द्धिः ॥

सि०—प्रदिः । प्र दा । प्र दा कि । प्र दा इ । प्र द्[2] इ । प्रदि । प्रदि सु । प्रदिः । प्रधि । अन्तर्द्धिः । अन्तर् धिः । अन्तर् ध् ध्[3] इः । अन्तर्द्धिः[4] ।

कर्मण्यधिकरणे च ३।३।९३

प० वि०—कर्मणि ७।१ अधिकरणे ७।१ च अ० ।

अर्थ—[घोः] कर्मण्युपपदे अधिकरणे कारके घुसंज्ञकेभ्यो धातुभ्यः किः प्रत्ययो भवति । (कर्म के उपपद रहने पर अधिकरण कारक में घु संज्ञक धातु से कि प्रत्यय होता है)

उदा०—जलधिः । उदधिः । वारिधिः । तोयधिः । पयोधिः । यशोधिः ।

सि०—जलधिः । जलं धीयतेऽस्मिन् इति । जल अम् धा कि । जल अम् धा इ । जल अम् ध् इ । जल अम् धि । जलधि सु । जलधिः ॥ उदधिः । उदकानि धीयन्तेऽस्मिन्निति । उदक शस् धा कि । उदक धा इ । उदक ध् इ । उदक धि । उद[5] धि । उदधि सु । उदधिः ।

१—रषाभ्यां नो णः समानपदे (८. ४. १) । २—आतो लोप इटि च (६. ४. ६४) ३—अचो रहाभ्यां द्वे (८. ४. ४७) ४—झलां जश् झशि (८. ४. ५३) ५—उदकस्योदः संज्ञायाम् (६. ३.)

स्त्रियां क्तिन् ३।३।९४

प० वि०—स्त्रियाम् ७।१ क्तिन् १।१

अर्थ—[भावे अकर्त्तरि च कारके] स्त्रीलिङ्गे भावादौ धातोः क्तिन् प्रत्ययो भवति। (स्त्रीलिङ्ग में भाव और कर्ताभिन्नकारक में धातु से क्तिन् प्रत्यय होता है)।

उदा०—चितिः। कृतिः। मतिः। ×संपदादिभ्यः क्विप्× संपत्। विपत्। प्रतिपत्। क्तिन्नपि इष्यते। संपत्तिः। विपत्तिः॥ ×क्तिन्नाबादिभ्यश्च वक्तव्यः× आप्तिः। स्वस्तिः।

उदा०—मतिः। मती। मतयः। मतिम्। मती। मतीः। मत्या। मतिभ्याम्। मतिभिः। मत्यै, मतये। मतिभ्याम्। मतिभ्यः। मत्याः मतेः। मतिभ्याम्। मतिभ्यः। मत्याः मतेः। मत्योः। मतीनाम्। मत्याम् मतौ। मत्योः। मतिषु। हे मते। हे मती। हे मतयः।

संपद्। संपत्। संपदौ। संपदः। संपदम्। संपदौ। संपदः। संपदा। संपद्भ्याम्। संपद्भिः। संपदे। संपद्भ्याम्। संपद्भ्यः। संपदः। संपद्भ्याम्। संपद्भ्यः। संपदः। संपदोः। संपदाम्। संपदि। संपदोः। संपत्सु।

सि०—चितिः। चिञ्। चि क्तिन्। चि ति। चितिः। मतिः। मन् क्तिन्। मन् ति। मति[1] सु। मतिः।

मति सु। मतिः। मति औ। मती[2]। मति जस्। मते[3] जस्। मतय् अस्। मतयः। मति अम्। मतिम्। मति औ। मती[2]। मत्या। मतिभ्याम्। मतिभिः। मति ङे। मति आट्[4] ए। मति आ ए। मति ऐ। मत्यै। मति ङे। मते[5] ए। मतये। मति ङसि। मति आट ङसि। मति आ अस्। मति आः। मत्याः। मति ङसि। मति अस्। मतेः। मति ओस्। मत्योः। मति नुट्[6] आम्। मति नाम्। मतीनाम्।

१—अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनाम्० (६. ४. ३७) २—प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (६. १. ९८) ३—जसि च (७. ३. १०९) ४—ङिति ह्रस्वश्च (१. ४. ६) आण्नद्याः (७. ३. ११२) ५—शेषो घ्यसखि (१. ४. ७) घेर्ङिति (७. ३. १११) ६—ह्रस्वनद्यापो नुट् (७. १. ५४)

मति ङि । मति आट् आम् । मत्याम् । मति ङि । मत[1] औ । मतौ । मति सुप् । मतिषु । हे मति सु । मते स् । मते । मती । मतयः ।

अ प्रत्ययात् ३।३।१०२

प० वि०—अ अविभक्तिको निर्देशः । प्रत्ययात् ५।१

अर्थ—[भावे अकर्त्तरि च कारके स्त्रियाम्] प्रत्ययान्ताद् धातोः अ प्रत्ययो भवति स्त्रीलिङ्गे ।

(प्रत्यय है अन्त में जिसके ऐसे धातु से अ प्रत्यय होता है स्त्रीलिङ्ग में)

उदा०—चिकीर्षा । पुत्रीया । पुत्रकाम्या । लोलूया । कण्डूया ।

सि०—सर्वं सनादिप्रकरणे द्रष्टव्यम्

गुरोश्च हलः ३।३।१०३

प० वि०—गुरोः ५।१ च अ० । हलः ५।१

अर्थ—[अकर्त्तरि च कारके] हलन्तो यो धातुर्गुरुमान् तस्मादकारः प्रत्ययो भवति स्त्रियाम् । (हलन्त जो धातु गुरु अक्षर वाला उससे अप्रत्यय होता है स्त्रीलिंग में)

उदा०—कुण्डा । हुण्डा । ईहा । ऊहा ॥

सि०—कुण्डा । कुडि । कुड् । कु नुम्[2] ड् । कुन्ड् । कुंड् । कुण्ड् अ । कुण्ड टाप्[3] । कुण्डा सु । कुण्डा ।

षिद्भिदादिभ्योऽङ् ३।३।१०४

प० वि०—षिद्भिदादिभ्यः ५।३ अङ् १।१ स०—भिद आदिर्येषान्ते भिदादयः । ष् इत् यस्य इति षित् । षिच्च भिदादयश्च इति षिद्भिदादयः तेभ्यः ।

अर्थ—[स्त्रियाम्, भावे अकर्त्तरि च कारके] षकारेद्भ्यो भिदादिभ्यश्च धातुभ्यः स्त्रियामङ् प्रत्ययो भवति । (षकार इत् वाले तथा भिद् आदि धातुओं से स्त्रीलिङ्ग में अङ् प्रत्यय होता है)

उदा०—जरा । त्रपा । भिदादिभ्यः—भिदा । छिदा । विदा ।

सि०—जॄष् वयोहानौ । जॄ अङ् । जर् अ । जर टाप् । जरा । त्रपूष् लज्जायाम् । त्रप् अङ् । त्रप टाप् । त्रपा ।

१–अच्च घेः (७. ३. ११९) २–इदितो नुम्धातोः (७. १. ५८) मिदचोऽन्त्यात्परः (१. १. ४७) ३–अजाद्यतष्टाप् (४. १. ४)

भिदा। भिद् अङ्। भिद् अ। भिद् टाप्। भिदा सु। भिदा स्। भिदा। छिदा॥

चितिपूजिकथिकुम्बिचर्चश्च ३।३।१०५

प० वि०—चितिपूजिकथिकुम्बिचर्चः ५।१ च अ०॥ स०—चितिश्च पूजिश्च कथिश्च कुम्बिश्च चर्क् च इति चितिपूजिकथिकुम्बिचर्क् तस्मात्।

अर्थ—[अङ्] चिति स्मृत्यां, पूज पूजायां, कथ वाक्यप्रबन्धे, कुबि आच्छादने, चर्च अध्ययने इत्येतेभ्यो धातुभ्यो स्त्रियामङ् प्रत्ययो भवति। (चिति, पूज्, कथ्, कुम्ब् चर्च् इन धातुओं से स्त्रीलिङ्ग में अङ् प्रत्यय होते हैं)

उदा०—चिन्ता। पूजा। कथा। कुम्बा। चर्चा।

आतश्चोपसर्गे ३।३।१०६

प० वि०—आतः ५।१ च अ०। उपसर्गे ७।१

अर्थ—[अङ्] उपसर्गे उपपदे आकारान्तेभ्यो धातुभ्यो स्त्रियामङ् प्रत्ययो भवति। (उपसर्ग के उपपद रहने पर आकारान्त धातुओं से स्त्रीलिङ्ग में अङ् प्रत्यय होता है)

उदा०—प्रदा। उपदा। प्रधा। उपधा। ×श्रदन्तरोपसर्गवद्वृत्तिः× श्रद्धा। अन्तर्द्धा।

सि०—प्र दा। प्र दा अङ्। प्रद्[1] अ। प्रद टाप्। प्रदा सु। प्रदा॥

ण्यासश्रन्थो युच् ३।३।१०७

प० वि०—ण्यासश्रन्थः ५।१ युच् १।१ स०—णिश्च आसश्च श्रन् च इति ण्यासश्रन् तस्मात्

अर्थ—[स्त्रियाम्] ण्यन्तेभ्यो धातुभ्य आस श्रन्थ् इत्येताभ्याञ्च स्त्रियामङ् प्रत्ययो भवति। (णिच् है अन्त में जिनके ऐसे धातुओं से तथा आस् और श्रन्थ् धातुओं से स्त्रीलिङ्ग में युच् प्रत्यय होता है)

उदा०—णि—कारणा। हारणा। आसना। श्रन्थना।

सि०—कारणा। कृ णिच्। कारि युच। कारि यु। कारि अन[2]। कार्[3] अन। कारण टाप्। कारणा सु। कारणा॥

१—आतो लोप इटि च (६. ४. ६४) २—युवोरनाकौ (७. १. १) ३—णेरनिटि (६. ४. ५१)

रोगाख्यायां ण्वुल्बहुलम् ३।३।१०८

प० वि०—रोगाख्यायाम् ७।१ ण्वुल् १।१ बहुलम् १।१ स०—रोगस्य आख्या रोगाख्या तस्याम्।

अर्थ—[भावे अकर्त्तरि च कारके इति सर्वत्र अनुवर्त्तते, स्त्रियाम्] रोगस्य आख्यायां गम्यमानायां धातोर्बहुलं ण्वुल् प्रत्ययो भवति। (रोग विशेष की संज्ञा प्रतीत हो तो धातु से स्त्रीलिङ्ग, भाव तथा कर्तृ भिन्न कारक में बहुल करने ण्वुल् प्रत्यय होता है)

उदा०—प्रच्छर्द्दिका। प्रवाहिका। विचर्चिका। ×इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे इति वक्तव्यम्× भिदिः। छिदिः। पचतिः। पठतिः। ×वर्णात्कारः× अकारः। इकारः। पकारः। ×रादिफः× रेफः।

सि०—प्रच्छर्दिका। छर्द वमने चुरादिः। प्रवाहिका। वह प्रापणे। प्रचर्चिका। चर्च अध्ययने चुरादिः॥ प्र छर्द ण्वुल्। छर्द् वु। छर्द् अक। छर्दक। प्र छर्दक। प्र तुक् छर्दक। प्रत्छर्दक। प्रच्छर्दक। प्रच्छर्दक। प्रच्छर्दक टाप्। प्रच्छर्दिका[1] सु। प्रच्छर्दिका।

कृत्यल्युटो बहुलम् ३।३।११३

प० वि०—कृत्यल्युटः १।३ बहुलम् १।१ स०—कृत्याश्च लुट् च इति कृत्यलुटः।

अर्थ—[भावेऽकर्त्तरि च कारक इति निवृतम्] कृत्यसंज्ञकाः प्रत्ययाः ल्युट् च बहुलमर्थेषु भवन्ति। ॐयत्र विहितास्ततोऽन्यत्रापि भवन्ति। भावकर्मणोः कृत्याः विहिताः कारकान्तरेऽपि भवन्ति। ॐ(कृत्यसंज्ञक प्रत्यय और ल्युट् बहुल करके होते हैं) जहां विधान है उससे अन्यत्र भी हो जाते हैं। कृत्य प्रत्यय भाव और कर्म में होते हैं लेकिन अन्य कारकों में भी हो जाते हैं)

उदा०—स्नानीयं चूर्णम्। दानीयो ब्राह्मणः। अपसेचनम्। अवस्रावणम्। राजभोजनाः शालयः। राजाच्छादनानि वासांसि। प्रस्कन्दनम्। प्रपतनम्॥

सि०—स्नाति अनेनेति स्नानीयं चूर्णम्। करणे कृत्यः॥ दानीयः। दीयते तस्म इति सम्प्रदाने। अपसेचनम्। अपसिच्यते तदिति कर्मणि ल्युट्। अवस्रावणम्। अवस्राव्यते तदिति स्रु गतावित्यस्मात् ण्यन्तात् कर्मणि ल्युट्। भुज्यन्ते इति भोजनाः, आच्छाद्यन्त इति आच्छादनानि।

१—प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुपः (७. ३. ४४)

कर्मण्येव ल्युट्। राज्ञो भोजनाः राज्ञ आच्छादनानि इति षष्ठीसमासः। प्रस्कन्दनम्। प्रपतनम्। प्रस्कन्दति प्रपतति अस्मादिति अपादाने ल्युट्॥

नपुंसके भावे क्तः ३।३।११४

प० वि०—नपुंसके ७।१ भावे ७।१ क्तः १।१

अर्थ—नपुंसकलिङ्गे भावे धातोः क्तः प्रत्ययो भवति। (नपुंसक लिङ्ग में भाव में धातु से क्त प्रत्यय होता है)

उदा०—हसितम्। सहितम्। जल्पितम्। सुप्तम्। शयितम्।

सि०—सुप्तम्। ञिष्वप्। स्वप् क्त। स्वप् त। स्[1] उ अ प् त। सुप् त। सुप्त सु। सुप्त अम्। सुप्तम्। शीङ्। शी क्त। शी त। शी इट् त। शे[2] इत। शय् इत। शयित सु। शयित अम्। शयितम्॥

ल्युट् च ३।३।११५

प० वि०—ल्युट् १।१ च अ०॥

अर्थ—[नपुंसके भावे] नपुंसके भावे धातोर्ल्युट् प्रत्ययो भवति। (नपुंसकलिङ्ग में भाव में धातु से ल्युट् प्रत्यय होता है)

उदा०—हसनं छात्रस्य। शोभनम्॥

करणाधिकरणयोश्च ३।३।११७

प० वि०—करणाधिकरणयोः ७।२। च अ०। स०—करणञ्च अधिकरणञ्च इति करणाधिकरणे तयोः।

अर्थ—[ल्युट्] धातोः करणे अधिकरणे च कारके ल्युट् प्रत्ययो भवति। (धातु से करण और अधिकरण कारक में ल्युट् प्रत्यय होता है)

उदा०—इध्मप्रव्रश्चनः। पलाशशातनः। अधिकरणे—गोदोहनी। सक्तुधानी॥

सि०—इध्मप्रव्रश्चनः। ओव्रश्चू छेदेन। इध्मानां प्रव्रश्चन इति षष्ठीसमासः। पलाशशातनः। शद्लृ शातने। शद्लृ णिच्। शद् इ। शाद् इ। शात्[3] इ। शात् इ ल्युट्। शात् इ अन। शातन सु। शातनः॥ पलाशस्य शातनः। पलाशशातनः॥

१—वचिस्वपियजादीनां किति (६. १. १५) २—निष्ठा शीङ्स्विदिमिदिक्ष्विदिधृषः (१. २. १९) इति सेण्निष्ठा किन्न अत एव; सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७. ३. ८४) इति गुणः। शदेरगतौ तः (७. ३. ४२)

गावो दुह्यन्त अस्यामिति गोदोहनी। गो जस् दुह् ल्युट्। गो जस् दुह् अन। गोदोहन ङीप। गोदोहन् ई। गोदोहनी सु। गोदोहनी॥

पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण ३।३।११८

प० वि०—पुंसि ७।१ संज्ञायाम् ७।१ घः १।१ प्रायेण ३।१

अर्थ—[करणाधिकरणयोः] करणे अधिकरणे च कारके धातोः प्रायेण घः प्रत्ययो भवति पुंसि संज्ञायां गम्यमानायाम्। (करण और अधिकरण कारक में धातु से प्रायः करके घ प्रत्यय होता है पुंल्लिङ्ग में संज्ञा गम्यमान होने पर)

उदा०—दन्तश्छदः। उरश्छदः। अधिकरणे—आकरः। आलयः।

सि०—दन्ताश्छाद्यन्त अनेनेति दन्तच्छदः। छद अपवारणे। छद् णिच्। छादि घ। छाद् अ। छद्[1] अ। छद। छदः।

एत्य तस्मिन् कुर्वन्ति इत्याकरः॥

अवे तॄस्त्रोर्घञ् ३।३।१२०

प० वि०—अवे ७।१ तॄस्त्रोः ६।२ घञ् १।१ स०—तॄश्च स्तॄश्च इति तॄस्त्रौ तयोः।

अर्थ—[करणाधिकरणयोः पुंसि संज्ञायां प्रायेण] अव उपपदे तरते-स्तृणातेश्च धातोः करणेऽधिकरणे च कारके संज्ञायां गम्यमानायां प्रायेण घञ् प्रत्ययो भवति। (अव के उपपद रहने पर तॄ और स्तॄ धातु से करण और अधिकरण कारक में संज्ञा के गम्यमान होने पर प्रायः घञ् प्रत्यय होता है)

उदा०—अवतारः। अवस्तारः। प्रायग्रहणादवतरः, अवस्तर इत्यपि भवति।

सि०—अवतॄ घञ्। अवतार् अ। अवतार सु। अवतारः॥ अवतॄ अप्। अवतरः॥

हलश्च ३।३।१२१

प० वि०—हलः ५।१ च अ०।

अर्थ—[करणाधिकरणयोः, पुंसि संज्ञायां प्रायेण] हलन्ताद् धातोः करणे अधिकरणे च कारके संज्ञायां गम्यमानायां प्रायेण घञ् प्रत्ययो

१—छादेर्घेऽद्व्युपसर्गस्य (६. ४. ९६)

भवति पुंसि। (हलन्त धातु से करण और अधिकरण कारक में संज्ञा गम्यमान होने पर प्रायः पुंल्लिङ्ग में घञ् प्रत्यय होता है)

उदा०—लेखः। वेदः। मार्गः। वेषः। बन्धः। अपामार्गः।

ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल् ३।३।१२६

प० वि०—ईषद्दुःसुषु ७।३ कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु ७।३ खल् १।१ स०—ईषच्च दुश्च सुश्च इति ईषद्दुःसवः तेषु। कृच्छ्रञ्च अकृच्छ्रञ्च इति कृच्छ्राकृच्छ्रे। कृच्छ्राकृच्छ्रे अर्थौ येषामिति कृच्छ्राकृच्छ्रार्थाः तेषु।

अर्थ—ईषत् दुस् सु इत्येतेषूपपदेषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु धातोः खल् प्रत्ययो भवति। (ईषत् दुस् सु इनके उपपद रहने पर कृच्छ् और अकृच्छ अर्थ में धातु से खल् प्रत्यय होता है)

उदा०—कृच्छ्रम् दुखम्। अकृच्छ्रम् सुखम् इति। दुःशब्दः कृच्छ्रार्थे वर्तते। ईषत्सुशब्दौ अकृच्छ्रार्थे वर्तेते। ईषत्करो भवता कटः। अकृच्छ्रेण यत्नेन क्रियते भवता कट इत्यर्थः। ईषद्गमो ग्रामो भवता। दुष्पठा विद्या भवता। दुष्करः पाको भवता। सुकरः पाको भवता। सुपठा विद्या भवता॥ सर्वं स्पष्टमेव॥

कर्तृकर्मणोश्च भूकृञोः ३।३।१२७

प० वि०—कर्तृकर्मणोः ७।२ च अ०। भूकृञोः ६।२ स०—कर्त्ता च कर्म चेति कर्तृकर्मणी तयोः॥ भूश्च कृञ्चेति भूकृञौ तयोः॥

अर्थ—[ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल्] भवतेः करोतेश्च धातोर्यथासंख्यं कर्त्तरि कर्मणि चोपपदे चकारादीषदादिषु च खल् प्रत्ययो भवति। (कर्त्ता और कर्म उपपद हों, कृच्छ और अकृच्छार्थ में वर्तमान ईषद् दुः सु पूर्व हों तो भू और कृ धातु से खल् प्रत्यय होता है)

उदा०—×खल् कर्तृकर्मणोश्च्व्यर्थयोः× अनाढ्येन भवता ईषदाढ्येन शक्यं भवितुं—ईषदाढ्यंभवं भवता। दुराढ्यंभवं भवता। स्वाढ्यंभवं भवता। अनाढ्य ईषदाढ्यः क्रियते इति ईषदाढ्यंकरो देवदत्तः। दुराढ्यंकरो देवदत्तः। स्वाढ्यंकरो देवदत्तः।

सि०—ईषद् सु भू खल्। ईषदाढ्य सु भव् अ। ईषद् आढ्य भव। ईषदाढ्य नुम् भव। ईषदाढ्यंभव। ईषदाढंभव सु। ईषदाढयंभवम्।

आतो युच् ३।३।१२८

प० वि०—आतः ५।१ युच् १।१

अर्थ—[ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु] ईषद् दुःसुषूपपदेषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु आकारान्तेभ्यो धातुभ्यो युच् प्रत्ययो भवति। (ईषद् दुः सु के उपपद रहने पर कृच्छ्र और अकृच्छ्र अर्थ में आकारान्त धातुओं से युच् प्रत्यय होता है)

उदा०—ईषत्पानः सोमो भवता। दुष्पानः सोमो भवता। सुपानः सोमो भवता। ईषद्दानो गौर्भवता। दुर्दानो गौर्भवता। सुदानो गौर्भवता॥

लकारार्थनिर्णयप्रकरणम्

वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवद् वा ३।३।१३१

प० वि०—वर्त्तमानसामीप्ये ७।१ वर्त्तमानवत् अ०। वा अ०। स०—समीपस्य भावः सामीप्यम्। वर्त्तमानस्य सामीप्यम्, वर्त्तमानसामीप्यम्। वर्त्तमाने इव वर्त्तमानवत् 'तत्र तस्येव' इति वतिप्रत्ययः।

अर्थ—वर्तमानसमीपे भूते भविष्यति च वर्त्तमानाद् धातोर्वर्त्तमानवत् प्रत्ययाः वा भवन्ति।

(वर्तमान के समीप में भूत और भविष्यत् में वर्तमान धातु से वर्तमान के समान प्रत्यय विकल्प से होते हैं)

ॐअत्रेदं बोध्यम्—वर्तमानाधिकारो 'वतमाने लट् इत्यारभ्य उणादयो बहुलम्' इति पर्यन्तं—तत्र याभ्यः प्रकृतिभ्यो येन विशेषणेन ये प्रत्ययाः विहितास्ताभ्यः प्रकृतिभ्यस्तेनैव विशेषणेन ते प्रत्ययाः वर्त्तमानसामीप्ये भूते भविष्यति च काले विकल्पेन भवन्ति इति अनेन सूत्रेण विधीयते, पक्षे यथाविहिताःॐ

('वर्तमाने लट्' से 'उणादयो बहुलम्' तक वर्तमान का अधिकार है। उसमें जिन धातुओं से जिस विशेषण के साथ जो प्रत्यय कहा है वह उन ही विशेषण-युक्त प्रकृतियों से वर्तमानकाल के समीप जो भूत और भविष्यत् काल हैं उसमें वर्तमान काल की भांति बिकल्पकरके प्रत्यय होते हैं। पक्ष में जैसा विधान किया गया है वे भी होते हैं)

उदा०—देवदत्तः कदाऽपाक्षीः ? एष पचामि। एष पचन्। एष पचमानः। देवदत्तः कदाऽलङ्कृतम्? एषोऽलङ्करोमि। एषोऽलङ्कुर्वन्। देवदत्त कदा पक्ष्यसि ? एष पचामि।

लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ ३।३।१३९

प० वि०—लिङ्निमित्ते ७।१ लृङ् १।१ क्रियातिपत्तौ ७।१ स०—

लिङ्गं निमित्तमिति लिङ्निमित्तं तस्मिन्। क्रियायाः अतिपत्तिरनिष्पन्नता इति क्रियातिपत्तिः तस्याम्।

अर्थ—[भविष्यति] लिङ्निमित्ते भविष्यति काले क्रियायाः अतिपत्तौ सत्यां धातोर्लृङ् प्रत्ययो भवति। किमिदं लिङ्निमित्तम् लिङ्गो निमित्तम् इति लिङ्निमित्तम् तच्च लिङर्थो हेतुहेतुमद्भावादयः॥

(लिङ् के निमित्त होने पर क्रिया की अतिपत्ति अर्थात् असिद्धि गम्यमान हो तो धातु से लृङ् प्रत्यय होता है भविष्यत् काल में) लिङ्निमित्त शब्द का अर्थ है लिङ् का कारण। कारण शब्द से यहां पर लिङ् का अर्थ लेना चाहिये। लिङ् का अर्थ हेतुहेतुमद् भाव है अर्थात् जिसमें कार्यकारण का सम्बन्ध हो।

उदा०—दक्षिणेन चेदायास्यन्न शकटं पर्याभविष्यत्। (यदि दक्षिण के मार्ग से आते तो गाड़ी नहीं उलटती अर्थात् टूटती) यदि कमलकम् आह्वास्यन्न शकटं पर्याभविष्यत्॥ (यदि कमलक को बुला लेते तो गाड़ी न उलटती) अभोक्ष्यत भवान् ओदनं दुग्धेन यदि मत्समीपे आसिष्यत। (आप दूध से भात खाते यदि मेरे समीप बैठते तो)

हेतुहेतुमतोर्लिङ् ३।३।१५६

प० वि०—हेतुहेतुमतोः ७।२ लिङ् १।१ स०—हेतुश्च हेतुमच्चेति हेतुहेतुमतौ तयोः।

अर्थ—[भविष्यति विभाषा] हेतुः कारणम्, हेतुमत् फलं कार्यं वा। हेतुहेतुमतोरर्थयोः धातोर्भविष्यत्काले विभाषा लिङ् प्रत्ययो भवति पक्षे लृट् च।(हेतु और हेतुमान् अर्थ में धातु से भविष्यत् काल में विकल्प से लिङ् प्रत्यय होता है और पक्ष में लृट्।

उदा०—दक्षिणेन चेद्यायान्न शकटं पर्याभवेत्। यदि कमलकमाह्वयेन्न शकटं पर्याभवेत्। भविष्यति–दक्षिणेन चेद्यास्यति न शकटं पर्याभविष्यति। ❀दक्षिणेन यानं हेतुः। अपर्याभवनम् हेतुमदिति❀॥

सि०—आयात्। या लिङ्। या ल्। या तिप्। या ति। या शप् ति। या ति। या यासुट्[1] ति। या यास् त्। या यास् सुट्[2] त्। या यात्[3]। पर्याभवेत्। भू लिङ्। भू ल्। भू तिप्। भू शप् तिप्। भू अ ति। भो अ ति। भव ति। भव यासुट् सुट् ति। भव या ति। भव इय् ति।

१—यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च (३. ४. १०३) २—सुट् तिथोः (३.४. १०७) ३—लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य (७. २. ७९)

भव इय्[1] त् । भवेत् । भवे तस् । भवेताम् । भवेयुः । भवेय् झ । भवेय जुस् । भवेयुः । भवेः । भवेतम् । भवेत । भवेयम् । भवेव । भवेम ।

इच्छार्थेषु लिङ्लोटौ ३।३।१५७

प० वि०—इच्छार्थेषु ७।३ लिङ्लोटौ १।२ स०—इच्छा अर्थो येषां धातूनामिति इच्छार्थाः तेषु । लिङ् च लोट् चेति लिङ्लोटौ ।

अर्थ—इच्छार्थेषु धातुषूपपदेषु धातोर्लिङ्लोटौ प्रत्ययौ भवतः ।

(इच्छार्थक धातुओं के उपपद रहने पर धातु से लिङ् और लोट् प्रत्यय होते हैं)

उदा०—इच्छामि भुञ्जीत भवान् । इच्छामि भुङ्क्ताम् भवान् ।

×कामप्रवेदनं चेत्×

ॐकामस्य स्वेच्छायाः प्रवेदनं प्रकाशनं यदि स्यात्तदास्य सूत्रस्य प्रवृत्तिः स्यात्, तथैवोदाहृतम्ॐ ॥ भुङ्क्ताम् । भुज् लोट् । भुज् त । भु श्नम् ज् त । भुनज् त । भुन्ग् त । भुन्क् त । भुन्क्त । भुंक्त । भुङ्क्त । भुङ्क्ते । भुङ्ताम् । भुञ्जीत । भुज् लिङ् । भुज् त । भु श्नम् ज् त । भुनज् सीयुट् त । भुन्ज ईय् सुट् त । भुंजीत । भुञ्जीत ॥

समानकर्तृकेषु तुमुन् ३।३।१५८

प० वि०—समानकर्तृकेषु ७।३ तुमुन् १।१ स०—समानः कर्त्ता येषां धातूनाम् इति समानकर्तृकाः तेषु ।

अर्थ—[इच्छार्थेषु] समानकर्तृकेषु इच्छार्थेषु धातुषूपपदेषु धातोस्तुमुन् प्रत्ययो भवति । (समानकर्त्ता वाले इच्छार्थक धातुओं के उपपद रहने पर धातु से तुमुन् प्रत्यय होता है)

उदा०—इच्छति भोक्तुम् । वष्टि भोक्तुम् । वाञ्छति भोक्तुम् ।

सि०—भुज् तुमुन् । भुज् तुम् । भोज् तुम् । भोग् तुम् । भोक्तुम् । भोक्तुम् सु । भोक्तुम् स् । भोक्तुम् ॥

विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसंप्रश्नप्रार्थनेषु लिङ् ३।३।१६१

प० वि०—विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसंप्रश्नप्रार्थनेषु ७।३ लिङ् १।१ स०–विधिश्च निमन्त्रणञ्च आमन्त्रणञ्च अधीष्टं च संप्रश्नश्च प्रार्थनं च इति विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसंप्रश्नप्रार्थनानि तेषु ।

अर्थ—विधिः प्रेरणम् । निमन्त्रणम् नियोगकरणम्, निकटस्थान्

१—अतो येयः (७. २. ८०)

जनानाहूय तेषां शास्त्रानुसारेण सत्कार इत्यर्थः तत्र ❀आहूतस्य आगमनमावश्यकमस्ति इति तत्त्वम्❀ आमन्त्रणम् कामचारकरणम् ❀आहूतस्यागमनं तदधीनमस्ति इति तत्त्वम्❀ अधीष्टः सत्कारपूर्वको व्यापारः। संप्रश्नः संदिग्धस्य निश्चयार्थं प्रच्छनम्। प्रार्थनं याच्ञा। [इच्छार्थेभ्यो विभाषा वर्तमाने इत्यतः वर्तमान इत्यनुवर्तते] विध्यादिषु अर्थेषु वर्तमानकाले धातोर्लिङ् प्रत्ययो भवति।

(विधि इत्यादि अर्थों में वर्तमान काल में धातु से लिङ् प्रत्यय होता है)

उदा०—विधौ—कटं कुर्यात्। निमन्त्रणे—इह भवान् भुञ्जीत। इह भवानासीत। आमन्त्रणे—इह भवानासीत। इह भवान् भुञ्जीत। अधीष्टे—अधीच्छामो भवन्तं माणवकं भवानुपनयेत्। संप्रश्ने—किं नु खलु भो व्याकरणमधीयीत। प्रार्थने—भवति मे प्रार्थना व्याकरणमधीयीय।

सि०--कुर्यात्। डुकृञ्। कृ लिङ्। कृ ल्। कृ तिप्। कृ उ ति। कर् उ यासुट् सुट् ति। कुर् उ या ति। कुर्' यात्। कुर्यात्। कुर्याताम्। कुर्युः। कुर्याः। कुर्यातम्। कुर्यात। कुर्याम्। कुर्याव। कुर्याम। आसीत। आस् सीयुट् सुट् त। आस् ईत। आसीत। उपनयेत्। उप णीञ् लिङ्। उप नी तिप्। उप नी शप् यासुट् सुट् ति। उपनयेत्। उपनयेताम्। उपनयेयुः। उपनयेः। उपनयेतम्। उपनयेत। उपनयेयम्। उपनयेव। उपनयेम।

अधि इङ् अध्ययने। इङ् लिङ्। इ ल्। इ त। इ सीयुट् सुट् त। इयङ्[2] ईय् त। इय् ईय् त। इयीत। अधि इयीत अधीयीत। अधीयीयाताम्। अधीयीरन्। अधीयीथाः। अधीयीयाथाम्। अधीयीध्वम्। अधीयीय। अधीयीवहि। अधीयीमहि। अधीयीय। अधि इ सीयुट् इट्। अधि इ ईय् इ। अधि इयङ् ईय् इ। अधीय् ईय् अ[3]। अधीयीय।

लोट् च ३।४।१६२

प० वि०—लोट् १।१ च अ०।

अर्थ—[विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसंप्रश्नप्रार्थनेषु] विध्यादिष्वर्थेषु धातोर्लोट् प्रत्ययो भवति वर्तमानकाले। लोडपि कालविशेषमोरेति

(विधि इत्यादि अर्थों में धातु से वर्तमान काल में लोट् प्रत्यय होता है) चिन्त्यम्

१—ये च (६. ४. १०९) २—अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ (६. ४. ७७) ३—इटोऽत् (३. ४. १०६)

उदा०—विधौ—कटं तावद् भवान् करोतु । ग्रामं भवान् आगच्छतु । निमन्त्रणे—अमुत्र भवानास्ताम् । अमुत्र भवान् भुङ्क्ताम् । आमन्त्रणे—इह भवान् भुङ्क्ताम् । अधीष्टे–अधीच्छामो भवन्तं माणवकं भवानध्यापयतु । माणवकं भवान् उपनयताम् । संप्रश्ने—किं नु खलु भो व्याकरणमध्ययै । प्रार्थने—भवति मे प्रार्थना व्याकरणमध्ययै ।

सि०—करोतु । डुकृञ् । कृ लोट् । कृ ल् । कृ तिप् । कृ ति । कृ उ ति । कर् उ ति । कर् ओ ति । कर् ओ तु । करोतु । कुरुताम् । कुर्वन्तु । कुरु । कृ उ सिप् । कुरु हि । कुरु[1] । कुरुतम् । कुरुत । करवाणि । करवाव । भवतु । भवताम् । भवन्तु । भव । भू शप् सिप् । भू अ हि । भो अ हि । भव हि । भव[2] । भवतम् । भवत । भवानि । भव आट्[3] मिप् । भव आ नि[4] । भवानि । भवाव । भव आवस् । भवाव[5] । भवाम । एधताम् । एध् शप् त । एधते । एधताम्[6] । एधेताम् । एधन्ताम्[6] । एधस्व[7] । एधेथाम् । एधध्वम् । एधै । एधावहै । एधामहै ।

अध्यापयतु । अधि इङ् णिच् शप् तिप् । अधि आ[8] इ शप् तिप् । अधि आ पुक्[9] इ अ ति । अध्यापि अ ति । अध्यापे अ ति । अध्यापयति । अध्यापयतु । अध्यापयताम् । अध्यापयन्तु । अध्यापय । अध्यापयतम् । अध्यापयत । अध्यापयानि । अध्यापयाव । अध्यापयाम ।

आशिषि लिङ्लोटौ ३।३।२७३

प० वि०—आशिषि ७।१ लिङ्लोटौ १।२ स०—लिङ् च लोट् च इति लिङ्लोटौ ।

अर्थ—आशंसनमाशीः । अप्राप्तस्येष्टस्यार्थस्य प्राप्तुमिच्छा । आशिषि लिङ्लोटौ प्रत्ययौ भवतः । (अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति की इच्छा को आशीः कहते हैं) (आशीः अर्थ में धातु से लिङ् और लोट् प्रत्यय होते हैं)

उदा०—चिरं जीव्यात् भवान् । चिरं जीवतु भवान् । भूयात् । भूयास्ताम् । भूयासुः । भूयाः । भूयास्तम् । भूयास्त । भूयासम् । भूयास्व ।

१—उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात् (६. ४. १०६) २—अतो हेः (६. ४. १०५) ३—आडुत्तमस्य पिच्च (३. ४. ९२) ४—मेर्निः (३. ४. ८९) ५—लोटो लङ्वत् (३. ४. ८५) नित्यं ङितः (३. ४. ९९) ६—आमेतः (३. ४. ९०) ७—थासः से (३. ४. ८०) सवाभ्यां वामौ (३. ४. ९१) ८—क्रीङ्जीनां णौ (६. १. ४८) ९—अर्त्तिह्रीव्ली० (७. ३. ३६)

भूयास्म । एधिषीष्ट । एधिषीयास्ताम् । एधिषीरन् । एधिषीष्ठाः । एधिषीयास्थाम् । एधिषीध्वम् । एधिषीय । एधिषीवहि । एधिषीमहि ।

सि०—जीव्यात् । जीव् लिङ् । जीव् ल् । जीव् तिप् । जीव् ति । जीव् यासुट् सुट् ति । जीव् या स् ति । जीव् यास् स् त् । जीव् या स्[1] त् । जीव् या त् । जीव्यात् । जीव्यास्ताम् । जीव्यासुः । जीव्याः । जीव्यास्तम् । जीव्यास्त । जीव्यासम् । जीव्यास्व । जीव्यास्म ।

एधिषीष्ट । एध् सीयुट् सुट् त । एध् इट् सीय् स् त । एधिषीय् स्त । एधिषी ष्ट । एधिषीष्ट ।

माङि लुङ् ३।३।१७५

प० वि०—माङि ७।१ लुङ् १।१

अर्थ—माङ्युपपदे धातोर्लुङ् प्रत्ययो भवति ।

(माङ् के उपपद रहने पर धातु से लुङ् प्रत्यय होता है)

उदा०—मा कार्षीत् । मा हार्षीत् ।

❀मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि (गीता २।४७) इत्यादिशिष्टप्रयोगसिद्ध्यर्थमत्र लिङ्लोटौ मण्डुकप्लुत्यानुवर्तनीयौ इत्याचार्यदयानन्दा आहुः । विशेषस्त्वत्र तदीयाष्टाध्यायीभाष्ये टिप्पण्यां द्रष्टव्यः ।❀

स्मोत्तरे लङ् च ३।३।१७६

प० वि०—स्मोत्तरे ७।१ लङ् १।१ च अ०।। स०—स्मशब्द उत्तरो यस्मात् तस्मिन्, स्मोत्तरे ।

अर्थ—[माङि] स्मोत्तरे माङ्युपपदे धातोर्लङ् प्रत्ययो भवति चाल्लुङ् च । (स्म शब्द परे हो ऐसे माङ् के उपपद रहने पर धातु से लङ् प्रत्यय होता है और चकार से लुङ् भी)

उदा०—मा स्म करोत् । मा स्म कार्षीत् । मा स्म पचत् । मा स्म पाक्षीत् ।

इत्याष्टाध्यायी-प्रकाशिकायां तृतीयाध्याये तृतीयः पादः

———

१—स्कोः संयोगाद्योरन्ते च (८. २. २९) २—स्कोः संयोगाद्योरन्ते च (८. २. २९) ❀ कथमस्य सूत्रस्य पुनः प्रवृत्तिः इति सुट् तिथोरित्यत्र द्रष्टव्यम❀

धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः ३।४।१

प० वि०—धातुसम्बन्धे ७।१ प्रत्ययाः १।३ स०–धातोरर्थो धात्वर्थः। धात्वर्थस्य सम्बन्ध इति धातुसम्बन्धः (उत्तरपदलोपी) तस्मिन्।

अर्थ–धात्वर्थसम्बन्धे अयथाकालोक्ता अपि प्रत्ययाः साधवो भवन्ति।

(धातु के अर्थ का सम्बन्ध होने पर भिन्नकाल में विधान किये गये प्रत्यय भी साधु अर्थात् ठीक माने जाते हैं)

उदा०—अग्निष्टोमयाजी पुत्रोऽस्य जनिता। * अत्रेदं ज्ञातव्यम्—अग्निष्टोमयाजीति भूतकालः जनितेति भविष्यत्कालः। तत्र भूतकालो भविष्यत्कालेन अभिसम्बध्यमानः साधुर्भवति।

(अग्निष्टोमेन इष्टवान् इति अग्निष्टोमयाजी यहां पर भूतकाल में णिनि प्रत्यय हुआ। अब अग्निष्टोम यज्ञ जिस ने किया है ऐसा पुत्र उत्पन्न होगा। इस वाक्य में भूतकाल का भविष्यत् काल के साथ सम्बन्ध होना असंभव है अतः यह सूत्र बनाया गया जिससे यह प्रयोग साधु हो जाये)

छन्दसि लुङ्लङ्लिटः ३।४।५

प० वि०—छन्दसि ७।१ लुङ्लङ्लिटः १।३ स०—लुङ् च लङ् च लिट् च इति लुङ्लङ्लिटः ॥

अर्थ—[धातुसम्बन्धे अन्यतरस्याम्] छन्दसि वैदिकप्रयोगविषये धात्वर्थसम्बन्धे धातोः सामान्ये काले अन्यतरस्याम् लुङ्-लङ्-लिटः प्रत्ययाः भवन्ति। (धातु के अर्थ के सम्बन्ध में धातु से सामान्य काल में विकल्प से लुङ् लङ् और लिट् प्रत्यय होते है)

उदा०—लुङ्—शकलङ्गुष्ठकोऽकरत्। अहं तेभ्योऽकरं नमः। लङ्—अग्निमद्य होतारमवृणीतायं यजमानः। लिट् अद्या ममार।

*एषूदाहरणेष्वन्यस्य धातोः सम्बन्धो मृग्य इति काशिकाकारादय आहुः वस्तुतस्तु "धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः" इत्यस्यायमर्थः– केचन प्रत्ययाः क्वचित् केवलं धात्वर्थसम्बन्ध एव भवन्ति न तु भूतादिकालार्थविशेषेषु। तेनाग्निष्टोमयाजी इत्यस्य अग्निष्टोमयाजक इत्येवार्थोऽभिप्रेतः न तु अग्निष्टोममिष्टवानितिभूतकालविशिष्टः। तेन 'जनिता' इति भविष्यत्-कालार्थेन सह संबन्धो भवति। एवं च सति एतत्सूत्रोदाहरणेष्वपि धात्व-न्तरसम्बन्धो न मृग्यो भवति। धात्वर्थमात्र एव वेदे लुङ्लङ्लिटः प्रत्ययाः भवन्ति। इत्येवास्यसूत्रस्यार्थः, न तु तत्तत्कालविशेषेषु। सत्येवं

"स दाधार पृथिवीम्" इत्यस्य स हिरण्यगर्भो नामा परमेश्वरः पृथिवीं दाधार, धरति, धरिष्यति च इति सामान्येन कालत्रयेऽपि अर्थो लभ्यते इति युधिष्ठिरमीमांसकाः।

लिङर्थे लेट् ३।४।७

प० वि०—लिङर्थे ७।१ लेट् १।१ स०—लिङोऽर्थ लिङर्थः तस्मिन्।

अर्थ—[छन्दसि अन्यतरस्याम्] लिङर्थ छन्दसि विषये अन्यतरस्याम् धातोर्लेट् प्रत्ययो भवति। (लिङ् के अर्थ में छन्द के विषय में विकल्प से धातु से लेट् प्रत्यय होता है)

उदा०—जोषिषत्। तारिषत्। भाविषति। भाविषाति। भाविषत्। भाविषात्। भाविषद्। भाविषाद्।

सि०—जुष् लेट्। जुष् तिप्। जुष् सिप् ति। जुष् इट् स् ति। जोषि ष् अट् ति। जोषिषत्॥

अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा ३।४।१८

प० वि०—अलंखल्वोः ७।२ प्रतिषेधयोः ७।२ प्राचाम् ६।३ क्त्वा १।१ स०—अलञ्च खलुश्च इति अलंखलू तयोः।

अर्थ—प्रतिषेधयोरलंखल्वोरुपपदयोर्धातोः क्त्वा प्रत्ययो भवति प्राचामाचार्याणां मतेन। (प्रतिषेधवाची अलं और खलु शब्द के उपपद रहने पर पूर्व देश में रहने वाले आचार्य के मत में क्त्वा प्रत्यय होता है)

उदा०—अलं कृत्वा। खलु कृत्वा। अलं भक्त्वा। खलु भुक्त्वा। न कर्त्तव्यम्, न भोक्तव्यम् इत्यर्थः।

समानकर्तृकयोः पूर्वकाले ३।४।२१

प० वि०—समानकर्तृकयोः ७।२ पूर्वकाले ७।१ स०—समानः एकः कर्त्ता ययोर्धात्वोरिति समानकर्तृकौ तयोः। पूर्वश्चासौ काल इति पूर्वकालः तस्मिन्।

अर्थ—[क्त्वा] समानकर्तृकयोः धात्वोर्मध्ये पूर्वकाले धात्वर्थे वर्तमानाद् धातोः क्त्वा प्रत्ययो भवति। (समान कर्त्ता वाले धातुओं में पूर्वकाल के धात्वर्थ में वर्तमान धातु से क्त्वा प्रत्यय होता है)

उदा०—भुक्त्वा व्रजति। पीत्वा व्रजति। प्रकृत्य गच्छति। ममार हत्वा। अहत्वा ममार॥ स्नात्वा भुक्त्वा पीत्वा दत्वा व्रजति इत्यत्रापि सूत्रेषु लिङ्गवचनमतन्त्रम् इति परिभाषया द्विवचनस्यातन्त्रत्वात् क्त्वा भवति।

सि०—भुज् क्त्वा। भुग् त्वा। भुक्त्वा सु। भुक्त्वा सु। भुक्त्वा॥ हन् त्वा। ह त्वा। हत्वा सु। हत्वा॥ अहत्वा। न हत्वा। अ हत्वा। अहत्वा। प्रकृत्य। कृ त्वा। कृत्वा। प्र कृ ल्यप्। प्रकृ य। प्रकृ तुक् य। प्रकृत्य सु। प्रकृत्य॥

शकधृषज्ञाग्लाघटरभलभक्रमसहार्हास्त्यर्थेषु तुमुन् ३।४।६५

प० वि०—शकधृषज्ञाग्लाघटरभलभक्रमसहार्हास्त्यर्थेषु ७।३ तुमुन् १।१ स०—अस्ति अर्थो येषां ते अस्त्यर्थाः। शकश्च धृषश्च ज्ञाश्च ग्लाश्च घटश्च रभश्च लभश्च क्रमश्च अर्हश्च अस्त्यर्थाश्च इति शकधृषग्लाघटरभलभक्रमसहार्हास्त्यर्थाः तेषु।

अर्थ—शक-धृष-ज्ञा-ग्ला-घट-रभ-लभ-क्रम-सह-अर्ह--अस्त्यर्थेषूपपदेषु धातोस्तुमुन् प्रत्ययो भवति। (शक्, धृष्, ज्ञा, ग्लै, घट, रभ्, लभ्, क्रम्, सह्, अर्ह् और अस्ति अर्थ वाले धातुओं के उपपद रहने पर धातु से तुमुन् प्रत्यय होता है)

उदा०—शक्नोति भोक्तुम्। धृष्णोति भोक्तुम्। जानाति भोक्तुम्। ग्लायति भोक्तुम्। घटते भोक्तुम। आरभते भोक्तुम्। लभते भोक्तुम्। प्रक्रमते भोक्तुम्। सहते भोक्तुम्। अर्हति भोक्तुम्। अस्त्यर्थेषु—अस्ति भोक्तुम्। भवति भोक्तुम्। विद्यते भोक्तुम्॥

पर्याप्तिवचनेष्वलमर्थेषु ३।४।६६

प० वि०—पर्याप्तिवचनेषु ७।३ अलमर्थेषु ७।३ स०—पर्याप्तिरुच्यते यैस्ते पर्याप्तिवचना अलम् आदयः शब्दाः। अलम् अर्थो येषान्ते अलमर्थाः तेषु।

अर्थ—पर्याप्तिरन्यूनता परिपूर्णतेत्यनर्थान्तरम्। [तुमुन्] पर्याप्तिवचनेष्वलमर्थेषूपपदेषु धातोस्तुमुन् प्रत्ययो भवति। (पर्याप्ति अथवा परिपूर्णता अर्थ कहने वाले अलम् अर्थ वाले शब्दों के उपपद रहने पर धातु से तुमुन् प्रत्यय होते हैं)

उदा०—पर्याप्तो भोक्तुम्। अलं भोक्तुम्॥

कर्त्तरि कृत् ३।४।६७

प० वि०—कर्त्तरि ७।१ कृत् १।१

अर्थ—कृत्संज्ञकाः प्रत्ययाः कर्त्तरि कारके भवन्ति। (कृत संज्ञा वाले प्रत्यय कर्त्ता कारक में होते हैं)

उदा०—कर्त्ता। कर्त्तारौ। कर्त्तारः। कर्त्तारम्। कर्त्तारौ। कर्त्तॄन्। कर्त्रा। कर्तृभ्याम्। कर्तृभिः। कर्त्रे। कर्तृभ्याम्। कर्तृभ्यः। कर्त्तुः। कर्तृभ्याम्। कर्तृभ्यः। कर्त्तुः। कर्त्रोः। कर्तॄणाम्। कर्त्तरि। कर्त्रोः। कर्तृषु। हे कर्त्तः। हे कर्त्तारौ। हे कर्त्तारः।

सि०—कर्त्ता। कर्तृ सु। कर्त्त् अनङ्[1] सु। कर्त्तन् स्। कर्त्तान्[2] स्। कर्त्तान्। कर्त्ता। कर्त्तारौ। कर्तृ औ। कर्तर्[3] औ। कर्त्तार्[4] औ। कर्त्तारौ। कर्तृ जस्। कर्त्तर् जस्। कर्त्तार् अस्। कर्त्तारः। कर्त्तारम्। कर्त्तारौ। कर्तृ शस्। कर्त्तॄस्[5]। कर्त्तॄन्। कर्त्तृ टा। कर्त्तृ आ। कर्त्रा। कर्त्तृ ङस्। कर्त्तृ अस्। कर्त्तुर्[6] स्। कर्त्तुर्[7]। कर्त्तुः। कर्त्तृ आम्। कर्त्तृ नुट् आम्। कर्त्तृ नाम्। कर्त्तॄ नाम्। कर्त्तॄणाम्[8]। कर्त्तृ ङि। कर्त्तर् ङि। कर्त्तरि। कर्तृ सुप्। कर्त्तृ षु। कर्त्तृ सु। कर्त्तर् स। कर्त्तर्। कर्त्तः।

लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः ३।४।६९

प० वि०—लः १।३ कर्मणि ७।१ च अ०। भावे ७।१ च अ०। अकर्मकेभ्यः ५।३

अर्थ—[कर्त्तरि] लकाराः कर्मणि कारके भवन्ति चकारात् कर्त्तरि च; अकर्मकेभ्यो धातुभ्यो भावे भवन्ति चकारात् कर्त्तरि च।

(लकार आदेश सकर्मक धातुओं से कर्म और कर्त्ता में तथा अकर्मक धातुओं से भाव और कर्त्ता में होता है)

उदा०—देवदत्तेन वेदः पठ्यते। देवदत्तः वेदं पठति। देवदत्तेन आस्यते। देवदत्तः आस्ते॥

तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः ३।४।७०

प० वि०—तयोः ७।२ एव अ०। कृत्यक्तखलर्थाः १।३ स०—कृत्याश्च क्तश्च खलर्थाश्च इति कृत्यक्तखलर्थाः।

१—ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च (७. १. ९४) ङिच्च (१. १. ५२) २—सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ (६. ४. ८) ३—ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः (७. ३. ११०) ४—अप्तृन्तृच्० (६. ४. ११) ५—प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (६. १. ९८) ६—ऋत उत् (६. १. १०७) उरण् रपरः (१. १. ५०) ७—रात्सस्य (८. २. २४) ८—नामि (६. ४. ३)

अर्थ—तयोरेव भावकर्मणोः कृत्यसंज्ञकाः क्तखलर्थाश्च प्रत्ययाः भवन्ति।

(उन्हीं दोनों भाव और कर्म में कृत्य क्त और खल् अर्थवाले प्रत्यय होते हैं)

उदा०—कृत्याः कर्मणि-कर्त्तव्यः कटो भवता। पठितव्यो वेदो भवता। भावे—आसितव्यं भवता। शयितव्यं भवता॥ क्तः कर्मणि—कृतः कटो भवता। पठितो वेदो भवता। भावे—आसितं भवता। शयितं भवता। खलर्थाः कर्मणि—ईषत्करः कटो भवता। भावे-ईषद्दाढ्यंभवं भवता। स्वाढ्यभवं भवता॥

भावे चाकर्मकेभ्य इत्यनुवृत्तेस्सकर्मकेभ्यो भावे न भवन्ति

(यहाँ भावे चाकर्मकेभ्यः इसकी अनुवृत्ति आती है इसलिए सकर्मक धातुओं से भाव में ये प्रत्यय नहीं होते हैं)

लादेशप्रकरणम् —

लस्य ३।४।७७

प० वि०—लस्य ६।१

अर्थ—*अकार उच्चारणार्थः* इतोऽग्रे आ तृतीयाध्यायपरिसमाप्तेः वक्ष्यमाणानि कार्याणि लकारस्यैव स्थाने भवन्ति इत्यधिकारो वेदितव्यः। (ल यहां पर अकार उच्चारणके लिये है। यहां से तृतीय अध्याय पर्यन्त तक जो भी कार्य कहे जायेंगे वे सभी लकार के स्थान में होंगे, इस बात का अधिकार समझना चाहिए)

तिप्तस्झिसिप्थस्थमिब्वस्मस्तातांझथासाथां-ध्वमिड्वहिमहिङ् ३।४।७८

प० वि०—तिप्–तस्–झि–सिप्–थस्–थ–मिप्–वस्–मस्–त–आताम्–झ–थास–आथाम्–ध्वम्–इट्–वहि–महिङ्। ६।१

अर्थ—[लस्य] लस्य स्थाने तिबादय आदेशाः भवन्ति।

(ल के स्थान में तिप् तस् झि सिप् थस् थ मिप् वस् मस् त आताम् झ थास् आथाम् ध्वम् इट् वहि महिङ् ये अठारह आदेश होते हैं)

उदा०—पचति, पचतः, पचन्ति। पचसि, पचथः, पचथ। पचामि, पचावः, पचामः। पचते, पचेते, पचन्ते। पचसे, पचेथे, पचध्वे। पचे, पचावहे, पचामहे

टित आत्मनेपदानां टेरे ३।४।७९

प० वि०—टितः ६।१ आत्मनेपदानाम् ६।३ टेः ६।१ ए अविभ० ।

अर्थ—[लस्य] टितो लकारस्य स्थाने आत्मनेपदानां टेरेकारादेशो भवति । (टित् लकार के स्थान में जो आत्मनेपद आदेश उसकी टि का एकार आदेश हो जाता है)

उदा०—पचते । पचेते । पचन्ते ।

सि०—पच् शप् त । पच् अ त् अ । पच् अ त् ए । पचते । पच् शप् आताम् । पच आत् आम् । पच आत् ए । पचेते । पचन्ते ।

थासस्से ३।४।८०

प०० वि०—थासः ६।१ से अविभ० ।

अर्थ—[टितः] टितो लकारस्य सम्बन्धिनः थासस्थाने से इत्ययमादेशो भवति । (टित् लकार सम्बन्धी थास् के स्थानमें 'से' यह आदेश होता है)

उदा०—पचसे । एधितासे । एधिष्यसे । जगाधिषे । पच् शप् थास् । पचसे । एधितास् थास् । एधितास् से । एधितासे । एधिष्य थास् । एधिष्यसे । गाधृ । गाध् लिट् । गा गाधृ लिट् । गगाधृ लिट् । जगाध् ल् । जगाध् थास् । जगाध् इट् थास् । जगाधि से । जगाधिषे ।

लिटस्तझयोरेशिरेच् ३।४।८१

प० वि०—लिटः ६।१ तझयोः ६।२ एशिरेच् १।१ स०—तश्च झश्चेति तझौ तयोः । एश्च इरेच्चेति एशिरेच् ।

अर्थ—लिडादेशयोस्तझयोस्स्थाने यथासंख्यमेश् इरेच् इत्येतावादेशौ भवतः । (लिट् के स्थान में जो आदेश त और झ उसके स्थान में क्रमशः एश् और इरेच् ये दो आदेश होते हैं)

उदा०—पेचे । पेचाते । पेचिरे । लेभे । लेभाते लेभिरे ।

सि०—पच् लिट् । पच् ल् । पच् त । पच् पच् त । प पच् त । पेच्[1] त । पेच् एश् । पंच् ए । पेचे । लेभे । पेचिरे । पच् लिट् । पच् ल् । पच् झ । पच् पच् झ । पपच् झ । पेच् झ । पेच् इरेच् । पेच् इरे । पेचिरे । लेभिरे ।

परस्मैपदानां णलतुसुस्थलथुसणल्वमाः ३।४।८२

प० वि०—परस्मैपदानाम् ६।३ णलतुसुस्थलथुसणल्वमाः १।३

१—अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि (६. ४. १२०)

स०—णल् च अतुश्च उश्च थल् च अथुश्च अश्च णल् च वश्च मश्चेति णलतुसुस्थलथुसणल्वमाः ।

अर्थ—[लिटः] लिडादेशानां परस्मैपदानां तिबादीनां स्थाने यथासंख्यं णलादयः आदेशा भवन्ति ।

(लिट् के स्थान में जो परस्मैपद तिवादि आदेश उनके स्थान में क्रमशः णल् इत्यादि आदेश होते हैं)

उदा०—पपाच । पेचतु । पेचुः । पेचिथः । पपक्थ । पेचथुः । पेच । पपाच, पपच । पेचिव । पेचिम ।

सि०—पच् लिट् । पच् तिप् । पच् णल् । पाच्[1] अ । पाच् पाच् अ[2] । पा[3] पाच् अ । प[4] पाच् अ । पपाच । पच् अतुस् । पच् पच् अतुस् । पेच्[5] अतुस् । पेचतुः । पेचुः । पच् पच् थल् । पच् पच् इट् थल् । पेच्[6] इट् थ । पेचिथ । पपच् थ । पपक्थ[7] । पच् अ । पेच अ । पेच । पच् णल् । पाच् णल् । पपाच । पपच[8] । पेचिव । पेचिम ।

विदो लटो वा ३।४।८३

प० वि०—विदः ५।१ लटः ६।१ वा अ० ।

अर्थ—[परस्मैपदानाम्] विद ज्ञाने इत्यस्माद्धातोः परेषां लडादेशानां परस्मैपदानां णलादयो नव आदेशाः विकल्पेन भवन्ति ।

(विद् ज्ञाने इस धातु के पश्चात् लट् के स्थान में जो तिवादि परस्मैपद आदेश उसके स्थान में णल् इत्यादि आदेश विकल्प से होते हैं)

उदा०—वेद । विदतुः । विदुः । वेत्थ । विदथुः । विद । वेद । विद्व । विद्म । न च भवति । वेत्ति । वित्तः । विदन्ति । वेत्सि । वित्थः । वित्थ । वेद्मि । विद्वः । विद्मः ।

सि०—विद् लट् । विद् तिप् । विद् णल् । वेद् अ । वेद । विद् अतुस् । विद्[9] अतुस् । विदतुः । वेत्ति । विद् तिप् । वेद् ति । वेद्

१—अत उपधायाः (७. २. ११६) २—लिटि धातोरनभ्यासस्य (६.१.८) ३—पूर्वोऽभ्यासः (६. १. ४) अत्र लोपोऽभ्यासस्य (७. ४. ५८) हलादिः शेषः (७. ४. ६०) ४—ह्रस्वः (७. ४. ५९) ५—अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि (६. ४. १२०) ६—थलि च सेटि (६. ४. १२१) ७—क्र्यादिनियमाद् इडागमो भवति परन्तु तस्यापि ऋतो भारद्वाजस्येति नियमादिड् विकल्पः ८—णलुत्तमो वा (७. १. ९१) ९—असंयोगाल्लिट् कित् (१. २. ५) क्ङिति च (१. १. ५)

ति। वेत्ति[1]।

ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः ३।४।८४

प० वि०—ब्रुवः ५।१ पञ्चानाम् ६।३ आदितः। अ०। आहः १।१ ब्रुवः ६।१

अर्थ—[परस्मैपदानां लटो वा] ब्रुवः परस्य लटः परस्मैपदानां पञ्चानामादिभूतानां पञ्चैव णलादय आदेशा भवन्ति, तत्सन्नियोगेन च ब्रुवः आह इत्यादेशो भवति।

(ब्रू धातु के पश्चात् जो लट् उसके स्थान में होने वाले परस्मैपद संज्ञक आदि के पांच तिबादि आदेशों के स्थान में णलादि पांच आदेश क्रमशः विकल्प से होते हैं और उस आदेश के संयोग से ब्रू धातु के स्थान में आह आदेश हो जाता है)

उदा०—आह। आहथुः। आहुः। आत्थ। आहथुः। ब्रूथ। ब्रवीमि ब्रूवः। ब्रूमः॥ न च भवति। ब्रवीति। ब्रूतः। ब्रुवन्ति। ब्रवीषि। ब्रूथः। ब्रूथ। ब्रवीमि। ब्रूवः। ब्रूमः।

सि०—ब्रू तिप्। आह णल्। आह। आह् थल्। आथ् थ। आत्थ[1]। ब्रवीमि। ब्रू मिप्। ब्रू मि। ब्रू ईट्[2] मि। ब्रू ई मि। ब्रो ई मि। ब्रव् ई मि। ब्रवीमि। ब्रुवन्ति। ब्रू झि। ब्रू अन्ति। ब्र् उवङ् अन्ति। ब्रुव् अन्ति। ब्रुवन्ति। ब्रूथः। ब्रू थस्। ब्रूथः।

लोटो लङ्वत् ३।४।८५

प० वि०—लोटः ६।१ लङ्वत् १।१

अर्थ—लोट् लकारस्य लङ्वत् कार्यं भवति, अर्थात् ङित्कार्यं लोटोऽपि भवति। (लोट् लकार का लङ् के समान कार्य होता है अर्थात् ङित् कार्य लोट् का भी होता है)।

उदा०—पचताम्। पचत। पचाव। पचाम।

सि०—डुपचष्। पच् लोट्। पच् ल्। पच् तस्। पच् शप् तस्। पच तस्। पचताम्[3]। पच थस्। पचतम्। पच् शप् वस्। पच् अ वस्। पच आट्[4] वस्। पच आ वस्। पचावस्। पचाव[5]। पचाम।

१—खरि च (८. ४. ५४) २—ब्रुव ईट् (७. ३. ९३) आद्यन्तौ टकितौ (१. १. ४५) ३—तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः (३. ४. १०१) ४—आडुत्तमस्य पिच्च (३. ४. ९२) ५—नित्यं ङितः (३. ४. ९९)

एरुः ३।४।८६

प० वि०—एः ६।१ उः १।१

अर्थ—[लोटः] लोडादेशानामिकारस्य उकारादेशो भवति। (लोट् के स्थान में जो होने वाले आदेश उसके इकार के स्थान में उकार आदेश होता है)

उदा०—पचतु। पचन्तु।

सि०—पच् शप् तिप्। पचति। पचतु। पच् अ झि। पच अन्ति। पचन्ति। पचन्तु।

सेर्ह्यपिच्च ३।४।८७

प० वि०—सेः ६।१ हि १।१ अपित् १।१ च अ०। स०—न पिद् इति अपित्।

अर्थ—[लोटः] लोडादेशस्य सेर्हि इत्ययमादेशो भवति अपिच्च भवति। (लोट् लकार के सिप् के स्थान में हि यह आदेश होता है और वह अपित् होता है)

उदा०—पच। लुनीहि। पुनीहि।

सि०—पच् शप् सिप्। पचहि। पच[1]। लूञ्। लू। लू लोट्। लू ल्। लू सिप्। लू श्ना सिप्। लू ना सि। लु ना हि। लुनीहि[2]।

वा छन्दसि ३।४।८८

प० वि०—वा अ०। छन्दसि ७।१

अर्थ—आदेशश्छन्दसि विषये हिशब्दो वाऽपिद्भवति।
(लोट् के स्थान में जो आदेश हिशब्द वह छन्द में विकल्प से अपित् होता है)

उदा०—युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनः। जुहुधि। जुहोधि।

सि०—यु। यु लोट्। यु ल्। यु सिप्[3]। यु यु[4] सि। यु यु हि। यु यो हि। यु यो धि[5]।

जुहुधि। हु लोट्। हु ल्। हु सिप्। हु हु सिप्। झु हु सि। जु हु सि। जुहु हि। जु हु धि। जुहोधि[6]।

मेर्निः ३।४।८९

प० वि०—मेः ६।१ निः १।१

१—अतो हेः (६. ४. १०५) २—ई हल्यघोः (६. ४. ११३) ३—बहुलं छन्दसि (२. ४. ७६) ४—श्लौ (६. १. १०) ५—अङितश्च (६. ४. १०३) ६—हुझल्भ्यो हेर्धिः (६. ४. १०१).

अर्थ—[लोटः] लोडादेशस्य मेर्निरादेशो भवति ।
(लोट् सम्बन्धी मिप् के स्थान में नि आदेश होता है)
उदा०—पचानि । पठानि । भवानि । अतानि ।
सि०—पच् शप् मिप् । पच मि । पच आट् मि । पचामि । पचानि ।

आमेतः ३।४।९०

प० वि०—आम् १।१ एतः ६।१

अर्थ—[लोटः] लोट् लकारसम्बन्धिन एकारस्य स्थाने आम् इत्ययमादेशो भवति । (लोट् लकार सम्बन्धी एकार के स्थान में आम् यह आदेश होता है)

उदा०—पचताम् । पचेताम् । पचन्ताम् । पचेथाम् ।

सि०—पच् लोट् । पच् ल् । पच् त । पच् शप् त । पचत । पचते । पचत् ए । पचत् आम् । पचताम् । पचेताम् । पच् शप् आताम् ।

पच् अ आताम् । पच आताम् । पच इय्ताम् । पच इताम् । पचेताम् । पचेते । पचेताम् ॥ पचन्ताम् । पचन्ते । पचन्ताम् ॥

सवाभ्यां वामौ ३।४।९१

प० वि०—सवाभ्याम् ५।२ वामौ १।२ स०—सश्च वश्चेति सवौ ताभ्याम् । वश्च अश्चेति वामौ ।

अर्थ—[लोटः एतः] सकारवकाराभ्यामुत्तरस्य लोट् सम्बन्धिन एकारस्य यथासंख्यं व अम् इत्येतावादेशौ भवतः । (सकार और वकार के पश्चात् लोट् लकार सम्बन्धी एकार के स्थान में क्रमशः व और अम् ये दोनों आदेश होते हैं)

उदा०—पचस्व । पचध्वम् ।

सि०—पच् लोट् । पच् ल् । पच् थास् । पच् से । पच् शप् से । पचसे । पचस् ए । पचस् व । पचस्व । पच् शप् ध्वम् । पचध्वे । पचध्वम् ॥

आडुत्तमस्य पिच्च ३।४।९२

प० वि०—आट् १ १ उत्तमस्य ६।१ पित् १।१ च अ० ॥

अर्थ—[लोटः] लोट्सम्बन्धिन उत्तमपुरुषस्य आट् आगमो भवति स च पित् ॥ (लोट् लकार सम्बन्धी उत्तम पुरुष को आट् का आगम होता है और वह पित् होता है)

उदा०—पचानि । पचाव । पचाम । पचै । पचावहै । पचामहै ।

सि०—पच् लोट् । पच् ल् । पच् मिप् । पच् शप् मिप् । पच मि । पच आट् मि । पच आमि । पच आनि[1] । पचानि । पचावस् । पचाव[2] । पचाम । पचै । पच् शप् आट् इट् । पच आ इ । पच आ ए[3] । पच आ ऐ[4] । पचै । पचावहि । पचावहे । पचावहै । पचामहै ।

एत ऐ ३।४।९३

प० वि०—एतः ६।१ ऐ अविभ० ॥

अर्थ—[लोटः उत्तमस्य] लोट्सम्बन्धिन उत्तमपुरुषस्य एकारस्य स्थाने ऐ इत्ययमादेशो भवति । (लोट् लकार सम्बन्धी उत्तम पुरुष के एकार के स्थान में ऐकार आदेश होता है)

उदा०—पचै । पचावहै । पचामहै । करवै । करवावहै । करवामहै ॥

लेटोऽडाटौ ३।४।९४

प० वि०—लेटः ६।१ अडाटौ १।२ स०—अट् च आट् च इति अडाटौ

अर्थ—लेटोऽडाटावागमौ भवतः पर्यायेण । (लेट् लकार को अट् और आट् का आगम पर्याय से होता है)

सि०—प्र ण आयूंषि तारिषत् (यजु० २३।३२) । विषुरूपा भवाति (अथर्व० १८ । १ । २)

सि०—तॄ लेट् । तॄ ल् । तॄ सिप् ल् । तॄ इट् स् ति । तार् इ स ति । तारिष् ति । तारिष् अट् ति । तारिषति । तारिषत्[5] । भवाति । भू लेट् । भू ल् । भू ति । भू शप् ति । भो अ ति । भव ति । भव आट् ति । भव आ ति । भवाति ॥

आत ऐ ३।४।९५

प० वि०—आतः ६।१ ऐ अविभ० ॥

अर्थ—[लेटः] लेट्सम्बन्धिन आकारस्य स्थाने ऐ इत्यादेशो भवति । लेट् लकार सम्बन्धी आकार के स्थान में ऐ यह आदेश होता है)

१—मेर्निः (३. ४. ८९) २—लोटो लङ्वत (३. ४. ८५) नित्यं ङितः (३. ४. ९९) ३—टित आत्मनेपदानां टेरे (३.४.७९) ४—एत ऐ (३.४.९३) ५—इतश्च लोपः परस्मैपदेषु (३. ४. ९७)

उदा०—एधिषैते । एधिषैते । एधैते । एधैते । एधिषैथे । एधिषैथे । एधैथे । एधैथे ।

सि:—एधिषैते । एध । एध् लेट् । एध् ल् । एध् आताम् । एध् सिप् आताम् । एध् इट् स् आताम् । एधिस् आताम् । एधिष् आताम् । एधिष् अट् आताम् । एधिष ऐ ताम् । एधिष ऐते । एधिषैते । एधिष् आट् ऐते । एधिषा ऐते । एधिषैते ॥

एधैते । एध् शप् अट् आताम् । एध अ · आताम् । एध आताम् । एध ऐताम् । एध ऐते । एधैते । एध् शप् आट् आताम् । एध आ ऐते । एध ऐते । एधैते ॥

वैतोऽन्यत्र ३।४।९६

प० वि०—वा अ० । एतः ६।१ अन्यत्र अ० ॥

अर्थ—[लेटः] लेट्सम्बन्धिन एकारस्य स्थाने वा ऐकारादेशो भवति अन्यत्र (आत ऐ इत्येतद् विषयं वर्जयित्वा) ।

(लेट् लकार सम्बन्धी एकार के स्थान में विकल्प से ऐकार आदेश होता है और स्थानों पर अर्थात् जिस प्रयोग में आत ऐ इस सूत्र की प्रवृत्ति हो जाए, उस प्रयोग को छोड़कर)

उदा०—एधते । एधाते । एधतै । एधातै । एधिषते । एधिषाते । एधिषतै । एधिषातै । एधिषन्ते । एधिषान्ते । एधिषन्तै । एधिषान्तै एधिषसे । एधिषासे । एधिषसै । एधिषासै । एधसे । एधासे । एधसै । एधासै ।

एधिषध्वे । एधिषाध्वे । एधिषध्वै । एधिषाध्वै । एधध्वे । एधाध्वे । एधध्वै । एधाध्वै । एधिषे । एधिषै । एधिषै । एधिषै ॥ एधिषवहे । एधिषावहे । एधिषवहै । एधिषावहै । एधवहे । एधावहे । एधवहै । एधावहै ॥ एधिषमहे । एधिषामहे । एधिषमहै । एधिषामहै । एधमहे । एधामहे । एधमहै । एधामहै ॥

सि०—एध् इट् सिप् त । एधिष् अट् त । एधिषत । एधिषते । एधिष् आट् त । एधिषाते । एधिषतै । एधिषातै ॥ एवं सर्वत्र ॥

इतश्च लोपः परस्मैपदेषु ३।४।९७

प० वि०—इतः ६।१ च अ० । लोपः १।१ परस्मैपदेषु ७ । ३

अर्थ–[लेटः वा] परस्मैपदेषु लेट्लकारसम्बन्धिन इकारस्य विकल्पेन

लोपो भवति ॥ (परस्मैपद प्रत्ययों में लेट् लकार सम्बन्धी इकार का विकल्प से लोप होता है)

उदा०—भाविषति । भाविषाति । भाविषत् । भाविषात् । भविषति । भविषाति । भविषत् । भविषात् (अन्यत्सर्वं सिब्बहुलं लेटि इत्यत्र द्रष्टव्यम्)

स उत्तमस्य ३।४।९८

प० वि०—सः ६।१ उत्तमस्य ६।१

अर्थ—[लेटः वा] लेट्सम्बन्धिन उत्तमपुरुषस्य सकारस्य वा लोपो भवति । (लेट् लकार सम्बन्धी उत्तम पुरुष के सकार का विकल्प से लोप होता है)

उदा०—भाविषवः । भाविषावः । भाविषव । भाविषाव । भविषवः । भविषावः । भविषव । भविषाव । भववः । भवावः । भवव । भवाव ॥

भाविषमः । भाविषामः । भाविषम । भाविषाम । भविषमः । भविषामः । भविषम । भविषाम । भवमः । भवामः । भवम । भवाम ॥

सि०—सर्वं स्पष्टम् ॥

नित्यं ङितः ३।४।९९

प० वि०—नित्यम् १।१ ङितः ६।१ स०—ङ् इद् यस्येति ङित् तस्य ।

अर्थ—[स उत्तमस्य परस्मैपदेषु] ङिल्लकारसम्बन्धिन उत्तमपुरुषस्य सकारस्य लोपो भवति। (ङित लकार सम्बन्धी उत्तम पुरुष के सकार का परस्मैपद में नित्य करके लोप होता है)

उदा०—अपचाव । अपचाम ।

सि०—पच् लङ् । पच् ल् । पच् वस् । पच् शप् वस् । पचवस् पचाव । सुअट् पचावस् । अपचावस् । अपचाव । अपचाम ॥

इतश्च ३।४।१००

प० वि०—इतः ६।१ च अ० ।

अर्थ—[ङितो लोपः परस्मैपदेषु] ङिल्लकारसम्बन्धिनः परस्मैपदेषु इकारस्य नित्यं लोपो भवति । (ङित् लकार सम्बन्धी परस्मैपद में इकार का नित्य करके लोप होता है)

उदा०—अपचत् । अपचन् । अपचः ।

सि०—पच् लङ् । पच् ल् । पच् तिप् । पच् शप् तिप् । पचति । पचत् । अट् पचत् । अपचत् । अपचन् । अपच अन्ति । अपचन्ति । अपचन्त् । अपचन् ।

तस्थस्थमिपां तान्तंतामः ३।४।१०१

प० वि०—तस्थस्थमिपाम् ६।३ तान्तंतामः १।३ स०—तश्च थश्च थश्च मिप् च इति तस्थस्थमिपः तेषाम् । ताम् च तम् च तश्च अम् च इति तान्तन्तामः ॥

अर्थ—[ङितः] ङिल्लकारसम्बन्धिनां तस्थस्थमिपां तान्तन्तामो यथासंख्यमादेशा भवन्ति ।

(ङित् लकार सम्बन्धी तस् थस् थ और मिप् के स्थान में क्रमशः ताम्, तम्, त और अम् आदेश होते हैं)

अपचताम् । अपचतम् । अपचत । अपचम् ।

सि०—अपच् मिप् । अपच अम् । अपचम् ।

लिङः सीयुट् ३।४।१०२

प० वि०—लिङः ६।१ सीयुट् १।१

अर्थ—लिङादेशानां सीयुडागमो भवति ।

(लिङ् के स्थान में जो होने वाले आत्मनेपद आदेश उनको सीयुट् का आगम होता है)

उदा०—पचेत । पचेयाताम् । पचेरन् । पचेथाः । पचेयाथाम् । पचेध्वम् । पचेय । पचेवहि । पचेमहि ।

सि०—पच् लिङ् । पच् ल् । पच् त । पच् शप् त । पच त । पच सीयुट् त । पच सीयुट् सुट् त । पच सीय् स् त । पच ईय्[1] त । पचेय्त[2] । पचेत[3] । पचेयाताम् । पच् शप् सीयुट् आताम् । पच ईय् आताम् । पचेय् आताम् । पचेयाताम् । पचेरन् । पच् शप् सीयुट् झ । पचेय् रन्[4] । पचेरन् । पचेय । पच् शप् सीयुट् इट् । पच् अ ईय् इ । पचेय् अ[5] । पचेय ।

१—लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य (७. २. ७९) २—आद्गुणः (६. १. ८४) ३—लोपो व्योर्वलि (६. १. ६४) ४—झस्य रन् (३. ४. १०५) ५—इटोऽत् (३. ४. १०६)

यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च ३।४।१०३

प० वि०—यासुट् १।१ परस्मैपदेषु ७।३ उदात्तः १।१ ङित् १।१ च अ० ।

अर्थ—[लिङ] परस्मैपदेषु लिङो यासुडागमो भवति स चोदात्तो भवति ङिच्च ।

(परस्मैपद में लिङ् को यासुट् का आगम होता है और वह उदात्त होता है, और वह ङित् होता है)

उदा०—पचेत् । पचेताम् । पचेयुः । पचेः । पचेतम् । पचेत । पचेयम् । पचेव । पचेम ।

सि०—पच् लिङ् । पच् ल् । पच् तिप् । पच् ति । पच् शप् ति । पच् अ यासुट् ति । पच यास् त् । पच आस् सुट् त् । पच या त् । पच इय् त् । पचेय् त् । पचेत् ।। पचेताम् । पचेयुः । पचेय् झि । पचेय् जुस् । पचेय उस् । पचेयुस् । पचेयुः । पचेय् मिप् । पचेय् अम् । पचेयम् १ ।

किदाशिषि ३।४।१०४

प० वि०—कित् १।१ आशिषि ७।१

अर्थ—[लिङः यासुट् परस्मैपदेषूदात्तः] परस्मैपदेषु आशिषि लिङो यासुडागमो भवति, स चोदात्तो भवति किच्च ।

(परस्मैपद में आशीर्वाद में वर्तमान जो लिङ् उसको यासुट् का आगम होता है और वह उदात्त होता है और वह कित् होता है)

उदा०—उच्यात् । उच्चास्ताम् । उच्यासुः । उच्याः । उच्यास्तम् । उच्यास्त । उच्यासम् । उच्यास्व । उच्यास्म । इज्यात् । इज्यास्ताम् । इज्यासुः । इज्याः । इज्यास्तम् । इज्यास्त । इज्यासम् । इज्यास्व । इज्यास्म । जागर्यात् । जागर्यास्ताम् । जगर्यासुः । जागर्याः । जागर्यास्तम् जागर्यास्त । जागर्यासम् । जागर्यास्व । जागर्यास्म ।।

सि०—※गुणवृद्धिप्रतिषेधस्तुल्यः ङिति किति वा उभयत्रापि भवितुमर्हति परञ्च सम्प्रसारणं जागर्तेर्गुणे च विशेषः तच्च कित्येव संभवति न ङिति※ । उच्यात् । वच् लिङ् । वच् तिप् । वच् यासुट् सुट् ति । वच् यास् स् त् । उ अ च् यास् स् त् । उच् या[1] स् त् ।

१—स्कोः संयोगाद्योरन्ते च (८. २. २९)

उच्यात्[1]। इज्यात्। यज् लिङ्। यज् तिप्। यज् यासुट् तिप्। यज् यासुट् सुट् तिप्। इ[2] अ ज् यास् स् ति। इज् यास् स् त्। इज् यास् त्। इज्यात्। जागृ लिङ्। जागृ तिप्। जागृ ति। जागृ यासुट् ति। जागर् यास् स् ति। जागर् यास् त्। जागर् यात्। जागर्यात्।

झस्य रन् ३।४।१०५

प० वि०—झस्य ६।१ रन् १।१

अर्थ—[लिङः] लिङादेशस्य झस्य स्थाने रन् इत्ययमादेशो भवति। (लिङ् के स्थान में जो आदेश झ उसके स्थान में रन् यह आदेश होता है)

उदा०—पचेरन्। एधरेन्॥

इटोऽत् ३।४।१०६

प० वि०—इटः ६।१ अत् १।१

अर्थ—[लिङः] लिङादेशस्य इटः स्थाने अत् इत्ययमादेशो भवति। (लिङ् के स्थान में जो आदेश इट् उसके स्थान में अत् यह आदेश होता है)

उदा०—पचेय। एधेय। पक्षीय। एधिषीय।

सुट् तिथोः ३।४।१०७

प० वि०—सुट् १।१ तिथोः ६।२ स०—तिश्च थश्चेति तिथौ तयोः।

अर्थ—[लिङः] लिङ् लकार सम्बन्धिनस्तकारथकारयोः सुडागमो भवति। (लिङ् लकार सम्बन्धी तकार और थकार को सुट् का आगम होता है)

उदा०—एधिषीष्ट। एधिषीयास्ताम्। एधिषीष्ठाः। एधिषीयास्थाम्।

भूयात्। भूयास्ताम्। भूयास्तम्। भूयास्त। विध्यादिषु लिङि सकारद्वयस्यापि निवृत्तिः। सुटः श्रवणं त्वाशीर्लिङि, स्फुटतरन्तु तत्रात्मनेपदे।

ॐअत्रेदं बोध्यम्। भू यास् स् त् इत्यत्र झलि तकारे परतो यासुटः सकारस्य स्को संयोगाद्योरन्ते चेति लोपः, पुनश्च पदान्ते सुटः सकारतकारयोः संयोगादेः सकारस्यापि स्कोः संयोगाद्योरित्यनेनैव लोपः। निमित्तभेदात् अस्य सूत्रस्य पुनः प्रवृत्तिर्बोध्याॐ

झेर्जुस् ३।४।१०८

प० वि०—झेः ६।१ जुस् १।१

अर्थ—[लिङः] लिङादेशस्य झेः स्थाने जुस् इत्ययमादेशो भवति।

१—स्कोः संयोगाद्योरन्ते च २—वचिस्वपियजादीनां किति (६. १. १५)

(लिङ् के स्थान में जो आदेश झि उसके स्थान में जुस् यह आदेश हो जाता है)

उदा०—पचेयुः। पच्यासुः। भवेयुः। भूयासुः।

सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च ३।४।१०९

प० वि०—सिजभ्यस्तविदिभ्यः ५।३ च अ०। स०—सिच्च अभ्यस्तश्च विदिश्च इति सिचभ्यस्तविदयः तेभ्यः।

अर्थ-[ङितः झेर्जुस्] सिचः परस्य अभ्यस्तसंज्ञकेभ्यो वेत्तेश्चोत्तरस्य ङिल्लकारसम्बन्धिनो झेर्जुस् आदेशो भवति। (सिच् के पश्चात् अभ्यस्तसंज्ञा के पश्चात् तथा विद् धातु के पश्चात् ङित् लकार सम्बन्धी झि के स्थान जुस् आदेश होता है)

उदा०—सिचः—अकार्षुः। अभ्यस्तात्—अबिभयुः। अजिह्रयुः। अजागरुः। विदेः—अविदुः।

सि०—अकार्षुः। डुकृञ्। कृ लुङ्। कृ लु। कृ झि। कृ सिच् झि। कार् स् झि। कार् स् जुस्। कार्षुस्। अट् कार्षुः। अकार्षुः। अबिभयुः। ञिभी। भी लङ्। भी ल्। भी ल्। भी झि। भी भी झि। बिभी झि। बि भी उस्। बिभे उस्। बिभय् उस्। बिभयुः। अट् बिभयुः। अबिभयुः। अजिह्रयुः। ह्री लज्जायाम्। ह्री लङ्। ह्री ल्। ह्री झि। ह्री ह्री झि। ही ह्री झि। हि ह्री झि। झि ह्री झि। जि ह्री झि। जि ह्री जुस्। जि ह्रे उस्। जिह्रयुः। अट् जिह्रयुः। अजिह्रयुः।

आतः ३।४।११०

प० वि०—आतः ५।१

अर्थ—[सिचः ङितः] ङिल्लकारसम्बन्धिनः सिचः आकारान्ताच्च परस्य झेर्जुस् आदेशो भवति।

पूर्वेणैव सिद्धे नियमार्थं वचनमिदम्। आत एव सिज्लुगन्तात् नान्यस्मादिति।

(ङित् लकार सम्बन्धी जो सिच् और अकारान्त उसके पश्चात् झि के स्थान में जुस् आदेश होता है)

उदा०—अदुः। अपुः।

सि०—दा लुङ्। दा ल्। दा झि। दा सिच् झि। दा[1] जुस्।

१—गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु (२. ४. ७७)

दुः । अट् दुः । अदुः ।

लङः शाकटायनस्यैव ३।४।१११

प० वि०— लङः ६।१ शाकटायनस्य ६।१ एव अ० ।

अर्थ—[आतः झेर्जुस्] आकारान्तादुत्तरस्य लङादेशस्य झेर्जुस् आदेशो भवति शाकटायनाचार्यस्य मतेन ।(आकारान्त धातु के पश्चात लङ् के स्थान में जो आदेश झि उसके स्थानमें जुस् आदेश होता है शाकटायनाचार्य के मत से ।)

उदा०—अयुः । अवुः । अन्येषां मते अयात् । अवात् ।

ङित इत्यनुवर्त्तते तेन लङेवाकारान्तादनन्तरो ङित् संभवति नान्यस्मात् । तत्किं लङ्ग्रहणेन । एवं तर्हि लङेव यो विहितस्तस्य यथा स्यात् । लङ्वद्भावेन यस्तस्य मा भूत् । लोटो लङ्वद् इति यान्तु, वान्तु

द्विषश्च ३।४।११२

प० वि०—द्विषः ५।१ च अ० ।

अर्थ—[लङः शाकटायनाचार्यस्यैव] द्विषः परस्य लङादेशस्य झेर्जुसादेशो भवति शाकटायनाचार्यस्यैव मतेन ।

(द्विष् धातु के पश्चात् लङ् के स्थान में जो आदेश झि उसके स्थान में जुस् आदेश होता है शाकटायनाचार्य के ही मत में)

उदा०—अद्विषुः । अद्विषन् ।

तिङ्शित्सार्वधातुकम् ३।४।११३

प० वि०—तिङ्शित् १।१ सार्वधातुकम् १।१ स०—तिङ् च शिच्च इति तिङ्शित् ।

अर्थ—तिङः शितश्च प्रत्ययाः सार्वधातुकसञ्ज्ञा भवन्ति ।

(तिङ् और शकार इत् वाले प्रत्यय की सार्वधातुक संज्ञा होती है)

उदा०—पचति । पचतः । पचन्ति ।

आर्धधातुकं शेषः ३।४।११४

प० वि०—आर्धधातुकम् १ । १ शेषः १ । १ ॥

अर्थ—शेषः प्रत्यय आर्धधातुकसंज्ञा भवति । (तिङ् और शकार इत् वाले प्रत्यय को छोड़कर शेष प्रत्यय की आर्धधातुक संज्ञा होती है)

उदा०—भविता । भवितुम् । भवितव्यम् ।

लिट् च ३।४।११५

प० वि०—लिट् १।१ च अ०।

अर्थ—[आर्धधातुकम्] लिटः स्थाने तिबादयः आर्धधातुकसंज्ञा भवन्ति। (लिट् भी आर्धधातुक संज्ञक होता है)

उदा०—ददे। दधे।

सि०—ददे। दा लिट्। दा ल्। दा त। दा दा त। द दा त। ददा एश्। ददा ए। दद्[1] ए। ददे। दधे॥

लिङाशिषि ३।४।११६

प० वि०—लिङ् १।१ आशिषि ७।१

अर्थ—आशिषि यो लिङ् स आर्धधातुकसंज्ञो भवति।

(आशीर्वाद अर्थ में जो लिङ् उसकी आर्धधातुक संज्ञा होती है)

उदा०—लविषीष्ट। लविषीयास्ताम्। लविषीरन्।

छन्दस्युभयथा ३।४।११७

प० वि०—छन्दसि ७।१ उभयथा अ०॥

अर्थ—छन्दसि विषये उभयथा भवति, सार्वधातुकम् आर्धधातुकं च॥ (छन्द के विषय में दोनों प्रकार से होता है है अर्थात् सारे प्रत्ययों की सार्वधातुक और आर्धधातुक संज्ञा भी होती है)

उदा०—वर्धन्तु त्वा सुष्टुतयः।

सि०—वृधु। वृध् णिच्। वृध् इ। वर्धि लोट्। वर्धि ल्। वर्धि झि। वर्धि अन्ति। वर्धि अन्तु। आर्धधातुकत्वाण्णेरनिटि इति णेर्लोपो भवति॥ वर्धन्तु। वर्धयन्तु इति प्राप्ते॥

इतिश्रीमत्पदवाक्यप्रमाणज्ञमहावैयाकरणपण्डितब्रह्मदत्ता-
चार्याणामन्तेवासिना देवप्रकाशपातञ्जलेन विर-
चितायामष्टाध्यायी-प्रकाशिकायां
तृतीयाध्याये चतुर्थः पादः
इति तृतीयोऽध्यायः

———

१—आर्धधातुकं शेषः (३. ४. ११४) आर्धधातुके (६. ४. ४६) आतो लोप इटि च (६. ३. ६४)

ङ्याप्प्रातिपदिकात् ४।१।१

प० वि०—ङ्याप्प्रातिपदिकात् ५।१

❀ङी-शब्देन उत्सृष्टान्त्यानुबन्धा ङीप्-ङीष्-ङीन्-प्रत्ययाः सामान्येन गृह्यन्ते एवम् आप् शब्देन टाप्-डाप्-चाप्-प्रत्यया उत्सृष्टाद्यानुबन्धाः❀ ङी च आप् च प्रातिपदिकञ्चेति ङ्याप्प्रातिपदिकम् तस्मात्।

(यहां ङी शब्द से ङीप् ङीष् ङीन् इन तीन प्रत्ययों के अन्त्य प् ष् न् अनुबन्धो=इत्संज्ञकों का लोप करके सामान्य 'ङी' रूप से ग्रहण होता है। इसी प्रकार आप्-शब्द से टाप् डाप् चाप् इन प्रत्ययों के आदि के ट् ड् च् का लोप करके सामान्य 'आप्' रूप से ग्रहण होता है)

अर्थ—[प्रत्ययः, परश्च] ङ्यन्ताद् आबन्तात् प्रातिपदिकाच्च इतोऽग्रे आ पञ्चमाध्यायपरिसमाप्तेः वक्ष्यमाणाः प्रत्यया भवन्ति इत्यधिकारो वेदितव्यः। (यहां से आगे पञ्चम अध्याय पर्यन्त जो भी प्रत्यय कहे जायेंगे वे सभी ङी और आप् प्रत्यय जिस के अन्त में है उन से तथा प्रातिपदिक से होंगे इस बात का अधिकार समझना चाहिये)

स्वौजसमौट्छष्टाभ्यांभिस्ङेभ्याम्भ्यस्ङसिभ्याम्भ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप् ४।१।२

प० वि०—सु-औ-जस्-अम्-औट्-शस्-टा-भ्याम्-भिस्-ङे-भ्याम्-भ्यस्-ङसि-भ्याम्-भ्यस्-ङस्-ओस्-आम्-ङि-ओस्-सुप् १।१ स०—सुश्च औश्च जश्च अं च औट् च शश्च टाश्च भ्यांच भिश्च ङेश्च भ्यांच भ्यश्च ङसिश्च भ्यांच भ्यश्च ङश्च ओश्च आञ्च ङिश्च ओश्च सुप् च इति सु-औ-जस्-अम्-औट्-शस्-टा-भ्याम्-भिस्-ङे-भ्याम्-भ्यस-ङसि-भ्याम्-भ्यस्-ङस्-ओस्-आम्-ङि-ओस-सुप् (समाहारो द्वन्द्वः)

अर्थ—[ङ्याप्प्रातिपदिकात् प्रत्ययः परश्च] ङ्याप्प्रातिपदिकात् स्वादयः प्रत्यया भवन्ति। (ङ्यन्त आबन्त और प्रातिपदिक के पश्चात स्वादि प्रत्यय होते हैं)

उदा०—ङीप्—कुमारी। कुमार्यौ। कुमार्यः। कुमारीम्। कुमार्यौ। कुमारीः। कुमार्या। कुमारीभ्याम। कुमारीभिः। कुमार्यै। कुमारीभ्याम्। कुमारीभ्यः। कुमार्याः। कुमारीभ्याम्। कुमारीभ्यः। कुमार्याः। कुमार्योः। कुमारीणाम्। कुमार्याम्। कुमार्योः। कुमारीष। हे कुमारि। हे कुमार्यौ। हे कुमार्यः॥

ङीष्—गौरी । ङीन्–शार्ङ्गरवी ॥

टाप् – खट्वा । खट् वे । खट्वाः । खट्वाम् । खट्वे । खट्वाः । खट्वया । खट्वाभ्याम् । खट्वाभिः । खट्वायै । खट्वाभ्याम् खट्वाभ्यः । खट्वायाः। खट्वाभ्याम् । खट्वाभ्यः । खट्वायाः । खट्वयोः खट्वानाम् । खट्वायाम् । खट्वयोः । खट्वासु । हे खट्वे । खट्वे । हे खट्वाः ॥ डाप्–बहुराजा । चाप्–कारीषगन्ध्या ॥ प्रातिपदिक— दृषद् । दृषत् । दृषदौ । दृषदः । दृषदम् । दृषदौ । दृषदः । दृषदा । दृषद्भ्याम् । दृषद्भिः । दृषदे । दृषद्भ्याम् । दृषद्भ्यः । दृषदः । दृषद्भ्याम् । दृषद्भ्यः । दृषदः । दृषदोः । दृषदाम् । दृषदि । दृषदोः । दृषत्सु । हे दृषद् । हे दृषदौ । हे दृषदः ॥

सि०—कुमारी सु । कुमारी स् । कुमारी[1] ॥ कुमारी औ[2] । कुमार्यौ[2] । कुमारी जस् । कुमारी अस् । कुमार्यः[3] । कुमारी अम् । कुमारीम्[4] । कुमारी औट् । कुमारी औ । कुमार्यौ । कुमारी शस् । कुमारी अस् । कुमारीस्[5] । कुमारीः । कुमारी टा । कुमार्या[3] । कुमारीभ्याम् । कुमारीभिः । कुमारी ङे । कुमारी आट्[6] ङे । कुमारी आ ए । कुमारी ऐ[7] । कुमार्यै । कुमार्याः । कुमारी ङसि । कुमारी अस् । कुमारी आट्[6] अस् । कुमारी आः । कुमार्याः । कुमार्योः । कुमारी ओस् । कुमार्योः । कुमारी आम् । कुमारी नुट्[8] आम् । कुमारी नाम् । कुमारीणाम् । कुमारी ङि । कुमारी आट् इ । कुमारी आ आम्[9] । कुमारी आम् । कुमार्याम् । कुमारी सुप् । कुमारी सु । कुमारीषु । हे कुमारि । कुमारी सु । कुमारि[10] स् । कुमारि ॥

एवं गौरी शार्ङ्गरवी इति ।

खट्वा । खट्वा सु । खट्वा स् । खट्वा । खट्वा औ । खट्वा शी[11] । खट्वा ई । खट्वे । खट्वा जस् । खट्वाः । खट्वा टा । खट्वे

१—हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल् (६. १. ६६) अपृक्त एकाल्प्रत्ययः (१. २. ४१) २—प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (६. १. ९८) दीर्घाज्जसि च (६. १. १०१) ३—इको यणचि (६.१.७४) ४—अमि पूर्वः (६.१.१०३) ५—प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (६. १. ९८) ६—यू स्त्र्याख्यौ नदी (१. ४. ३) आण्नद्याः (७. ३. ११२) आद्यन्तौ टकितौ (१. १. ४५) ७—आटश्च (६. १. ८७) ८—ह्रस्वनद्यापो नुट् (७. १. ५४) ९—ङेराम्नद्याम्नीभ्यः (७.१.११६) १०—अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः (७. ३. १०७) ११—औङ आपः (७. १. १८)

आ[1]। खट्वया। खट्वायै। खट्वा ङे। खट्वा याट्[2] ए। खट्वा यै[3]। खट्वायै। खट्वा ङसि। खट्वा अस्। खट्वायाः। खट्वायाम्। खट्वा ङि। खट्वा आम्। खट्वा याट् आम्। खट्वायाम्। हे खट्वे। खट्वा सु। खट्वे[4] स्। खट्वे[5]॥

एवं वहुराजा कारीषगन्ध्या इति।

दृषद्। दृषत्[6]। अन्यत्सर्वं स्पष्टम्॥

स्त्रियाम् ४।१।३

प० वि०—स्त्रियाम् ७।१

अर्थ—[प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च] इतोऽग्रे वक्ष्यमाणाः प्रत्ययाः समर्थानां प्रथमाद्वेति यावत् प्रातिपदिकात् स्त्रियां भवन्ति इत्यधिकारो वेदितव्यः (स्त्रीलिङ्ग में वर्तमान जो प्रातिपदिक उसके पश्चात् आगे कहे जाने वाले प्रत्यय होते हैं, इस बात का अधिकार समझना चाहिये)

अजाद्यतष्टाप् ४।१।४

प० वि०—अजाद्यतः ५।१ टाप् १।१ स०—अज आदिर्येषान्ते अजादयः। अजादयश्च अच्चेति अजाद्यत् तस्मात्।

अर्थ—अजादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽकारान्ताच्च प्रातिपदिकात् स्त्रियां टाप् प्रत्ययो भवति। (अज इत्यादि तथा अकारान्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में टाप् प्रत्यय होते हैं)

उदा०—अजा। एडका। कोकिला। चटका। अश्वा। खट्वा। देवदत्ता॥

सि०—अज टाप्। अज आ। अजा[7]। अजा सु। अजा स्। अजा।

ऋन्नेभ्यो ङीप् ४।१।५

प० वि०—ऋन्नेभ्यः ५।३ ङीप् १।१ स०—ऋच्च नश्च इति ऋन्नाः तेभ्यः। नकारेऽकार उच्चारणार्थः।

अर्थ—[स्त्रियाम्] ऋकारान्तेभ्यो नकारान्तेभ्यश्च प्रातितदिकेभ्य

१—आङि चापः (७. ३. १०५) २—याडापः (७. ३. ११३) ३—वृद्धिरेचि (६. १. ८५) ४—सम्बुद्धौ च (७. ३. १०६) ५—एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः (६. १. ६७) ६—वावसाने (८. ४. ५५) ७—अकः सवर्णे दीर्घः (६. १. ९७)

स्त्रियां ङीप् प्रत्ययो भवति। (ऋकारान्त और नकारान्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय होता है)

उदा०—कर्त्री। हर्त्री। नकारान्तेभ्यः—दण्डिनी। छत्रिणी।

सि०—कर्तृ ङीप्। कर्तृ ई। कर्त् र्[१] ई। कर्त्री सु। कर्त्री स्। कर्त्री॥ दण्डिन्। दण्डिन् ङीप्। दण्डिनी सु। दण्डिनी।

उगितश्च ४।१।६

प० वि०—उगितः ५।१ च अ०॥ स०—उक इत् यस्य सोऽयम् उगित् तस्मात्।

अर्थ—[ङीप्] उगिदन्तात् प्रातिपदिकात् स्त्रियां ङीप् प्रत्ययो भवति। (उक् है इत जिसका ऐसे तदन्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय होता है)

उदा०—भवती। अतिभवती। भवन्ती। पचन्ती। ×धातोरुगितः प्रतिषेधो वक्तव्यः× उखास्रत्। पर्णध्वत् ब्राह्मणी।× अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्× प्राची। प्रतीची। उदीची।

सि०—भवती। भा डवतुप्[२]। भा अवत्। भ्[३] अवत्। भवत्। भवत् ङीप्। भवती सु। भवती। भवत्यौ[४]। भवत्यः। भवत्यम्। भवत्यौ। भवतीः[५]। उखास्रात्। उखात् स्रंसते,पर्णानि ध्वंसत इति। प्राची। प्र अञ्चु। प्र अञ्च्। प्र अञ्च् क्विन्[६]। प्र अच्। प्र च्[७]। प्रा[८] च्। प्राच् ङीप्। प्राची।

न षट्स्वस्रादिभ्यः ४।१।१०

प० वि०—न अ०। षट्स्वस्रादिभ्यः ५।३ स०—षट् च स्वस्रादयश्चेति षट्स्वस्रादयः तेभ्यः। स्वसा आदिर्येषान्ते स्वस्रादयः।

अर्थ—षट्संज्ञकेभ्यः स्वस्रादिभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्यः स्त्रीप्रत्ययो न भवति। (षट् संज्ञक और स्वसृ इत्यादि शब्दों से स्त्री प्रत्यय नहीं होते हैं)

उदा०-पञ्च ब्राह्मण्यः। सप्त। नव। दश। स्वस्रादिभ्यः—स्वसा। दुहिता। ननान्दा। याता। माता। तिस्रः। चतस्रः॥

१—इको यणचि (६. १. ७४) २—भातेर्डवतुप् (उणा० १. ६३) ३—डित्वकरणसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपो भवति (भाष्येष्टिः) ४—इको यणचि (६. १. ७४) ५—प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (६. १. ९८) ६—ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां च (३. २. ५९) ७—अचः (६. ४. १३८) ८—चौ (६. ३. १३८)

मनः ४।१।११

प० वि०—मनः ५।१

अर्थ—[ङीप् न] मन्नन्तात् प्रातिपदिकात् ङीप् प्रत्ययो न भवति। (मन्नन्त प्रातिपदिक से ङीप् प्रत्यय नहीं होता है)

उदा०—दामा। दामानौ। दामानः।

दा मनिन्[1]। दा मन्। दामन्[2]। दामन् सु। दामान् सु। दामा।

अनो बहुव्रीहेः ४।१।१२

प० वि०—अनः ५।१ बहुव्रीहेः ५।१

अर्थ—[ङीप् न] अन्नन्ताद् बहुव्रीहेः स्त्रियां ङीप् प्रत्ययो न भवति। (अन् है अन्त में जिसके ऐसे बहुव्रीहि से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय नहीं होता है)

उदा०—सुपर्वा सुपर्वाणौ सुपर्वाणः। सुशर्मा। सुशर्माणौ। सुशर्माणः।

सि०—सुपर्वा। शोभनं पर्व अस्याः इति। सुशर्मा। शोभनं शर्म अस्याः इति। उभयत्र बहुव्रीहिसमासः। सुपर्वन् सु। सुपर्वान् स्। सुपर्वान्। सुपर्वा। सुपर्वन् औ। सुपर्वान् औ। सुपर्वाणौ।

डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम् ४।१।१३

प० वि०—डाप् १।१ उभाभ्याम् ५।२ अन्यतरस्याम् अ०।

अर्थ—[अनो बहुव्रीहेः ङीप्] उभाभ्यां मन्नन्तात् प्रातिपदिकाद् अनन्ताच्च बहुव्रीहेरन्यतरस्याम् डाप् प्रत्ययो भवति स्त्रियाम्।

(मनन्त और अनन्त बहुव्रीहि इन दोनों प्रादिपादिकों से विकल्प करके स्त्रीलिङ्ग में डाप् प्रत्यय होता है)

उदा०—पामा। पामे। पामाः। सीमा। सीमे। सीमाः। न च भवति। पामा। पामानौ। पामानः। सीमा। सीमानौ। सीमानः। अनन्तात् बहुव्रीहेः—बहुराजा। बहुराजे। बहुराजाः। बहुतक्षा। बहुतक्षे। बहुतक्षाः। न च भवति। बहुराजा। बहुराजानौ। बहुराजानः बहुतक्षा। बहुतक्षाणौ। बहुतक्षाणः।

सि०—पामा। पामन् डाप्। पामन् आ। पाम् अन् आ।

१—आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च (३. २. ७४) २—ऋन्नेभ्यो ङीप् (४. १. ५) मनः (४. १. ११)

पाम्[1] आ। पामा सु। पामा। पामा। पामन् सु। पामान् स्। पामा। वहुराजा। बहवो राजानो अस्यां नगर्याम् इति वहुराजा नगरी। वहवः तक्षानोऽस्यां नगर्यामिति बहुतक्षा नगरी।

वहु जस् राजन् जस। वहुराजन् डाप्। वहुराज्[1] आ। बहुराजा सु। बहुराजा। वहुराजा औ। वहुराजा ई। वहुराजे।

अनुपसर्जनात् ४।१।१४

प० वि०—न उपर्सजनमिति अनुपसर्जनम् तस्मात्।

अर्थ—इतोऽग्रे समर्थानां प्रथमाद्वेति यावत् वक्ष्यमाणा प्रत्ययाः अनुपसर्जनाद् भवन्ति इत्यधिकारो वेदितव्यः।

(समर्थानां प्रथमाद् वा इस सूत्र तक आगे कहे जाने वाले प्रत्यय अनुपसर्जन से होते हैं, इस बात का अधिकार समझना चाहिए)

अत्र 'अप्रधानमुपसर्जनम्' इति पूर्वाचार्यवचनानुसारम् उपसर्जन-शब्देन अप्रधानम् अर्थात् गौणम् इत्यर्थो गृह्यते, न तु प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्। तेन कुरुचर-आदिषु टित्प्रत्ययान्तस्यार्थस्य प्राधान्यात् 'टिड्ढाणञ्' इति ङीब् भवति 'बहुकुरुचरा' इत्यादिषु बहवः कुरुचरा अस्यां नगर्याम् इति बहुव्रीहिसमासे अन्यपदार्थस्य प्राधान्यात् टिदन्तस्य कुरुचरपदस्यार्थोऽप्रधानो भवति अतो ङीप् न भवति, अजाद्यतष्टाप् इति टाप् भवति।

इस सूत्र में उपसर्जन शब्द से 'अप्रधान' अर्थात् 'गौण' यह अर्थ समझना चाहिए। 'प्रथमानिर्दिष्टं' (१. २. ४३) सूत्र विहित उपसर्जन संज्ञा नहीं लेनी चाहिए। 'कुरुषु चरतीति कुरुचरः' (कुरु देश में विचरने वाला) में टित् प्रत्ययान्त शब्द के अर्थ की प्रधानता है इसलिए 'टिड्ढाणञ्' (४. १. १५) सूत्र से ङीप् हो जाता है। परन्तु 'बहवः कुरुचराः सन्ति अस्यां नगर्याम् सा बहुकुरुचरा' (बहुत से कुरु देश में विचरने वाले मनुष्य हैं जिस नगरी में) इस बहुव्रीहि समास में अन्य पदार्थ 'नगरी' की प्रधानता है 'कुरुचर' की नहीं। अतः यहां टिदन्त कुरुचर के गौण होने से ङीप् प्रत्यय नहीं होता।

टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः ४।१।१५

प० वि०—टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः ५।१ स०—टिच्च ठश्च अण् च अञ्च द्वयसच्च दघ्नच्च मात्रच्च

१—यचि भम् (१. ४. १८) टेः (६. ४. १४३)

तयप्च ठक् च ठञ्च कञ्च क्वरप् च इति टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरप् तस्मात्।

अर्थ—[अनुपसर्जनात् स्त्रियां ङीप् प्रातिपदिकात्] टिदादिभ्योऽनुपसर्जनेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः स्त्रियां ङीप् प्रत्ययो भवति। (टिदन्तादि अनुपसर्जन जो प्रातिपदिक उससे स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय होता है)

उदा०—टित्—कुरुचरी। मद्रचरी। ढ—सौपर्णेयी। वैनतेयी। अण्—कुम्भकारी। अञ्—औत्सी। औदपानी। द्वयसच्—ऊरुद्वयसी। जानुद्वयसी। दघ्नच्—ऊरुदघ्नी। जानुदघ्नी। मात्रच्—ऊरुमात्री। जानुमात्री। तयप्—पञ्चतयी। दशतयी। ठक्—आक्षिकी। शालाकिकी। ठञ्—लावणिकी। कञ्—यादृशी। तादृशी। क्वरप्—इत्वरी। नश्वरी। ×नञ्स्नञीकक्ख्युंस्तरुणतलुनानामुपसंख्यानम्× नञ्—स्त्रैणी। स्नञ्—पौंस्नी। ईकक्—शाक्तीकी। याष्टीकी। ख्युन्—आढ्यङ्करणी। सुभगङ्करणी। तरुण। तरुणी। तलुन। तलुनी॥

सि०—कुरुचरी। कुरुषु चरतीति। कुरु सुप् चर ट। कुरुचर। कुरुचर ङीप्। कुरुचर् ई। कुरुचरी सु। कुरुचरी स्। कुरुचरी॥ सौपर्णेयी। सुपर्ण्याः अपत्यं स्त्री चेत् सौपर्णेयी। सुपर्णी ङस् ढक्[1]। सुपर्णी ढ। सुपर्णी एय। सुपर्णी एय् अ। सुपर्ण् एय। सौपर्ण् एय। सौपर्णेय ङीप्। सौपर्णेय् ई। सौपर्णेयी। सौपर्णेयी सु। सौपर्णेयी॥ वनितायाः अपत्यं स्त्री चेदिति वैनतेयी। कुम्भकारी। कुम्भं करोतीति। कुम्भ अम् कृ अण्। कुम्भकार। कुम्भकार ङीप्। कुम्भकार् ई। कुम्भकारी सु। कुम्भकारी॥ नगरकारी॥ औत्सी। उत्सस्य उदपानस्य वा अपत्यं स्त्री चेत्॥ उत्स् ङस् अञ्[2]। उत्स् अ। औत्स। औत्स ङीप्। औत्स् ई। औत्सी सु। औत्सी। ऊरुद्वयसी। ऊरुः प्रमाणमस्याः, जानुः प्रमाणमस्या इति। ऊरु सु द्वयसच्[3]। ऊरुद्वयस् ङीप्। ऊरुद्वयसी — ऊरुद्वयसी सु। ऊरुद्वयसी॥ पञ्चतयी। पञ्च अवयवा अस्या इति। पञ्चन् जस् तयप्[4]। पञ्चन् तय। पञ्चतय ङीप्। पञ्चतयी।

आक्षिकी। अक्षैर्दीव्यति शलाकाभिर्दीव्यतीति॥ अक्ष भिस् ठक्[5]। अक्ष ठ। अक्ष इक। अक्ष् इक। आक्ष् इक। आक्षिक ङीप्। आक्षिकी

१—स्त्रीभ्यो ढक् (४. १. १२०) २—उत्सादिभ्योऽञ् (४. १. ८६) ३—प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः (५. २. ३७) ४—सङ्ख्याया अवयवे तयप् (५. २. ४२) ५—तेन दीव्यति खनति जयति जितम् (४. ४. २)

सु। आह्निकी ॥ लावणिकी। लवणं पण्यमस्या इति। लवण सु। ठञ्[1]। लवण इक। लवण् इक। लावणिक ङीप्। लावणिकी॥ यादृशी। यद् दृश् कञ्[2]। यादृश। यादृश ङीप्। यादृश् ई। यादृशी॥ इत्वरी। इण् गतौ। इ क्वरप्[3]। इ वर। इ तुक् वर। इत्वर ङीप्। इत्वरी॥ नश्वरी॥ स्त्रैणी। स्त्रिया इयम्। पुंस इयम् इति विग्रहः॥ स्त्री ङस् नञ्। स्त्रै न। स्त्रैण ङीप्। स्त्रैणी सु। स्त्रैणी। पुंस् ङस् न[4]। पौंस्न ङीप्। पौंस्नी॥ शाक्तीकी। शक्तिः प्रहरणमस्या इति विग्रहः। शक्ति सु ईकक्[5]। शक्ति ईक। शक्त् ईक। शाक्त् ईक। शाक्तीक ङीप्। शाक्तीकी सु। शाक्तीकी। यष्टिः प्रहरणमस्या इति विग्रहः ॐतरुणी तलुनी अत्र सुरादौ विषये अभिनवमात्रेऽर्थे तरुणतलुन-शब्दाभ्यां ङीब् वेदितव्यः यदा तु वयो विवक्ष्यते तदा गौरादिपाठान् ङीपा भवितव्यम्॥ॐ

यञश्च ४।१।१६

प० वि०—यञः ५।१ च अ०॥

अर्थ—[ङीप्] यञन्ताच्च प्रातिपदिकात् स्त्रियां ङीप् प्रत्ययो भवति। (यञ् प्रत्यय है अन्त में जिसके ऐसे प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग मे ङीप् प्रत्यय होता है)

उदा०—गार्गी। वात्सी।

सि०—गर्गस्य गोत्रापत्यं स्त्री चेदिति विग्रहः। गर्ग ङस् यञ्[6]। गर्ग य। गर्[7] य। गार्ग् य। गार्ग्य। गार्ग्य ङीप्। गार्ग्य ई। गार्ग्य् ई। गार्[8] ई। गार्गी सु। गार्गी॥ वात्सी॥

प्राचां ष्फः तद्धितः ४।१।१७

प० वि०—प्राचाम् ६।३ ष्फः १।१ तद्धितः १।१

अर्थ—[यञः] प्राचामाचार्याणां मतेन यञन्तात् स्त्रियां ष्फः प्रत्ययो भवति, स च तद्धितसंज्ञः॥ ॐतद्धितसंज्ञकत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञा भवति ततश्च षित्त्वात् ङीष् भवति।ॐ

१—लवणाट्ठञ् (४. ४. ५२) २—त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च (३. २. ६०) ३—इणनश्जिसर्त्तिभ्यः क्वरप् (३. २. १६३) ४—स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात् (४. १. ८७) ५—शक्तियष्ट्योरीकक् (४. ४. ५९) ६—गर्गादिभ्यो यञ् (४. १. १०५) ७—यस्येति च (६. ४. १४८) ८—हलस्तद्धितस्य च (६. ४. १४०)

(पूर्व देश में रहने वाले आचार्यों के मत में यञन्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में ष्फ प्रत्यय होता है और उसकी तद्धित संज्ञा होती है) तद्धित संज्ञा होने से प्रातिपदिक संज्ञा होती है और उससे पुनः षिद्गौरादिभ्यश्च से ङीष् होता है

उदा०—गार्ग्यायणी। वात्स्यायनी। अन्येषां मते, गार्गी। वात्सी।

सि०—गर्गस्य गोत्रापत्यं स्त्री चेदिति विग्रहः। गार्ग्य ङस् ष्फ। गार्ग्य फ। गार्ग्य आयन। गार्ग्य् आयन। गार्ग्यायण ङीष्[1]। गार्ग्यायणी। वात्स्यायनी॥

वयसि प्रथमे ४।१।२०

प० वि०—वयसि ७।१ प्रथमे ७।१

अर्थ—[ङीप् अतः] *कालकृतशरीरावस्थायौवनादिर्वयः* प्रथमे वयसि यत्प्रातिपदिकं वर्तते तस्मात् स्त्रियां ङीप् प्रत्ययो भवति। (प्रथम वय में वर्तमान जो प्रातिपदिक उससे स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय होता है)

उदा०—कुमारी। किशोरी। बर्करी।

द्विगोः ४।१।२१

प० वि०—द्विगोः ५।१

अर्थ—[ङीप् अतः] द्विगुसंज्ञकात् अदन्तप्रातिपदिकात् स्त्रियां ङीप् प्रत्ययो भवति। (द्विगुसंज्ञवाले अदन्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय होता है)

उदा०—पञ्चपूली। दशपूली। त्रिलोकी।

सि०—त्रयाणां लोकानां समाहारः त्रिलोकी। त्रिलोक[2] ङीप्। त्रिलोकी॥

पत्युर्नो यज्ञसंयोगे ४।१।३३

प० वि०—पत्युः ६।१ नः १।१ यज्ञसंयोगे ७।१ स०—यज्ञेन संयोगः यज्ञसंयोगः तस्मिन्।

अर्थ—पतिशब्दस्य नकारादेशो भवति यज्ञसंयोगे॥ अलोऽन्त्यस्येति नियमाद् इकारस्य स्थाने 'पत् न्', ततः ङीप् प्रत्ययस्तु नकारान्तत्वादेव सिद्धः॥ (पति शब्द का नकार आदेश हो जाता है यज्ञसंयोग अर्थ गम्यमान होने पर) अलोऽन्त्यस्य के नियम से पति के इ को न् होकर 'पतन्' रूप होता है इसलिये ङीप् प्रत्यय तो उसके नकारान्त होने से हो ही जायेगा।

१—षिद्गौरादिभ्यश्च (४. १. ४१) २—तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च (२. १. ५१) अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियां भाष्यते इति (२. ४. ३० वा०) स्त्रीलिङ्गता।

उदा०—वशिष्ठस्य पत्नी । ॐयजमानस्य भार्या यज्ञस्य करणे साधनत्वाद् विना तया तदनिष्पत्तेः यज्ञस्य स्वर्गाख्यप्रधानफलग्रहीतृत्वाद् वा यजमानस्य पत्नी ॥ॐ

सि०—पति । पत्न् ङीप् । पत्नी सु । पत्नी ।

अन्यतो [ङीष्] ४।१।४०

षिद्गौरादिभ्यश्च ४।१।४१

प० वि०—षिद्गौरादिभ्यः ५।३ च अ० । स०—षिच्च गौरादयश्चेति षिद्गौरादयः तेभ्यः । गौर आदिर्येषान्ते गौरादयः (बहु०)

अर्थ—[ङीष्] षिद्भ्यः प्रातिपदिकेभ्यो गौरादिभ्यश्च स्त्रियां ङीष प्रत्ययो भवति । (षकार इत् वाले तथा गौर इत्यादि प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में ङीष् प्रत्यय होता है)

उदा०—नर्त्तकी । खनकी । गार्ग्यायणी । वात्स्यायनी । गौरादिभ्यः—गौरी । मत्सी ।

सि०—मत्स्य । मत्स्य ङीष् । मत्स्य् ई । मत्सी सु । मत्सी स् । मत्सी ।

वोतो गुणवचनात् ४।१।४४

प० वि०—वा अ० । उतः ५।१ गुणवचनात् ५।१ स०—गुणम् उक्तवान् गुणवचनः (भूते काले ल्युट्)

अर्थ—[ङीष्] गुणवचनादुकारान्तात् प्रातिपदिकात् स्त्रियां वा ङीष् प्रत्ययो भवति । (गुणवाची उकारान्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग मे विकल्प से ङीष् प्रत्यय होता है)

उदा०—पटुः । पट्वी । मृदुः । मृद्वी ।

सि०—पटु ङीष् । पट्वी सु । पट्वी ॥

बह्वादिभ्यश्च ४।१।४५

प० वि०—बह्वादिभ्यः ५।३ च अ० । स०—बहुः आदिर्येषान्ते बह्वादयः तेभ्यः ।

अर्थ—बह्वादिभ्य प्रातिपदिकेभ्यः स्त्रियां वा ङीष् प्रत्ययो भवति । (बहु इत्यादि प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में विकल्प से ङीष् प्रत्यय होता है)

उदा०—बहु । बह्वी ।

सि०—बहु ङीष् । बहु ई । बह्व ई । बह्वी ।

पुंयोगादाख्यायाम् ४।१।४८

प० वि०—पुंयोगात् ५।१ आख्यायाम् ७।१ स०—पुंसा योगः पुंयोगः तस्मात् ॥

अर्थ—[ङीष्] पुंयोगाद्धेतोर्यत्प्रातिपदिकं स्त्रियां आख्यायां वर्तते तस्मात् ङीष् प्रत्ययो भवति। (पुरुष से सम्बन्ध के कारण से जो प्रातिपदिक स्त्रीलिंग को कहने में समर्थ होता है उस प्रातिपदिक से ङीष् प्रत्यय होता है)

उदा०—गणकस्य स्त्री गणकी। महामात्री। गोपी।

×गोपालकादीनां प्रतिषेधः× गोपालकस्य स्त्री गोपालिका, अश्वपालिका।× सूर्याद्देवतायां चाब्वक्तव्यः× सूर्यस्य स्त्री देवता सूर्या।

सि०—गणकस्य (ज्योतिषी की) स्त्री गणकी, या तु स्वं गणयति सा गणका। महामात्रस्य (प्रधानस्य) स्त्री या तु स्वयं प्राधान्ये स्थिता सा महामात्रा (प्रधाना)। गोपस्य स्त्री इति।

इन्द्रवरुणभवशर्वरुद्रमृडहिमारण्ययवयवनमातुलाचार्याणामानुक् ४।१।४९

प० वि०—इन्द्रवरुणभवशर्वरुद्रमृडहिमारण्ययवयवनमातुलाचार्याणाम् ६।३ आनुक् १।१ स०—इन्द्रश्च वरुणश्च भवश्च शर्वश्च रुद्रश्च मृडश्च हिमञ्च अरण्यञ्च यवश्च यवनश्च मातुलश्च आचार्यश्च इति इन्द्रवरुणभवशर्वरुद्रमृडहिमारण्ययवयवनमातुलाचार्याः तेषाम्।

अर्थ—[ङीष्] इन्द्रादीनां प्रातिपदिकानां परः स्त्रियां ङीष् प्रत्ययो भवति आनुक्चागमः। (इन्द्र इत्यादि प्रतिपदिकों के परे स्त्रीलिङ्ग में ङीष प्रत्यय होता है और आनुक् का आगम होता है)

उदा०—इन्द्राणी। वरुणानी। भवानी। शर्वाणी। रुद्राणी। मृडानी। ×हिमारण्ययोर्महत्त्वे× महद्धिमम् हिमानी। महदरण्यमरण्यानी। × यवाद्दोषे × दुष्टो यवो यवानी। × यवनाल्लिप्याम्× यवनानां लिपिरिति यवनानी। × उपाध्यायमातुलाभ्यां वा × उपाध्यायस्य स्त्री उपाध्यायी उपाध्यायानी। या तु स्वयमध्यापयति उपाध्याया सा भवति। मातुली। मातुलानी। × आचार्यादणत्वञ्च × आचार्याणी। आचार्या। स्वयमध्यापिका तु आचार्या एव। × अर्यक्षत्रियाभ्यां वा × अर्याणी। अर्या। क्षत्रियाणी। क्षत्रिया।

सि०—सर्वं स्पष्टम्।

क्रीतात्करणपूर्वात् ४।१।५०

प० वि०--क्रीतात् ५।१ करणपूर्वात् ५।१

स०--करणं पूर्वमस्मिन्निति करणपूर्वम् तस्मात्।

अर्थ--[ङीष्] करणपूर्वात् क्रीतशब्दान्ताद् अदन्तात् प्रातिपदिकात् स्त्रियां ङीष् प्रत्ययो भवति। (करण है पूर्व में जिसके ऐसे क्रीतशब्दान्त अदन्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में ङीष् प्रत्यय होता है)

उदा०--वस्त्रक्रीती। वसनक्रीती। क्वचिन्न। धनक्रीता।

सि०--वस्त्रेण क्रियते सा वस्त्रक्रीती। वस्त्र टा क्रीत। वस्त्रक्रीत[1] ङीष्। वस्त्रक्रीती सु। वस्त्रक्रीती।

स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात् ४।१।५४

प० वि०--स्वाङ्गात् ५।१ च अ०। उपसर्जनात् ५।१ असंयोगोपधात् ५।१ स०—स्वमेवाङ्गम् इति स्वाङ्गम्। संयोग उपधायां यस्येति संयोगोपधः, न संयोगोपध इति असंयोगोपधः तस्मात्।

अर्थ—[अतः, वा इत्येतद् अस्वाङ्गपूर्वपदाद्वेत्यतः [स्वाङ्गं यदुपसर्जनमसंयोगोपधं तदन्तादन्तात् प्रातिपदिकात् स्त्रियां वा ङीष् प्रत्ययो भवति। (स्वाङ्गवाची जो उपसर्जन संयोग है उपधा में नहीं जिस के ऐसे अकारान्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में विकल्प से ङीष् प्रत्यय होता है)

उदा०—चन्द्रमुखी। चन्द्रमुखा। अतिकेशी। अतिकेशा।

सि०—चन्द्रमुखी। चन्द्र इव मुखमस्या इति। अतिकेशी। अतिक्रान्ता केशान्।

जातेरस्त्रीविषयादयोपधात् ४।१।६३

प० वि०—जातेः ५।१ अस्त्रीविषयात् ५।१ अयोपधात् ५।१

स०—स्त्रीविषयो यस्य स स्त्रीविषयः, न स्त्रीविषयोऽस्त्रीविषयः तस्मात्। यकार उपधायां यस्येति यकारोपधः। न यकारोपध इति अयकारोपधः तस्मात्।

अर्थ—[ङीष्] जातिवाचि यत्प्रातिपदिकं न च स्त्रियामेव नियतमयोपधञ्च तस्मात् स्त्रियां ङीष् प्रत्ययो भवति।

१—अत्र गतिकारकोपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेरिति वस्त्रवसनयोः करणयोः क्रीतशब्देन कर्तृकरणे कृता बहुलम् इति (२. १. ३२) प्रागेव सुबुत्पत्तेः समासः।

(जिस का केवल स्त्रीलिङ्ग ही विषय नहीं है, और जिस में यकार उपधा में नहीं है ऐसे जातिवाची प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में ङीष् प्रत्यय होता है)

उदा०—कुक्कुटी। सूकरी। ब्राह्मणी। वृषली। नाडायनी।

आकृतिग्रहणा जातिर्लिङ्गानां च न सर्वभाक्।
सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या गोत्रं च चरणैः सह॥

× योपधप्रतिषेधे हयगवयमुकयमत्स्यमनुष्याणामप्रतिषेधः × हयी। गवयी। मत्सी। मनुषी।

इतो मनुष्यजातेः ४।१।६५

प० वि०—इतः ५।१ मनुष्यजातेः ५।१ स०—मनुष्यस्य जातिरिति मनुष्यजातिः तस्याः।

अर्थ—[ङीष्] इकारान्तात् प्रातिपदिकात् मनुष्यजातिवाचिनः स्त्रियां ङीष् प्रत्ययो भवति। (इकारान्त जो मनुष्य की जाति को कहने वाला प्रातिपदिक उससे स्त्रीलिङ्ग में ङीष् प्रत्यय होता है)

उदा०—अवन्ती। कुन्ती। दाक्षी। प्लाक्षी।

सि०—अवन्ती। अवन्तेरपत्यं स्त्री चेत्। अवन्ति ञ्यङ्[1]। अवन्ति[2] ङीष्। अवन्त् ई। अवन्ती। कुन्ती। दक्षस्य अपत्यं स्त्री चेद् इति दाक्षी। दक्ष इञ्[3]। दाक्षि ङीष। दाक्षि सु। दाक्षी। प्लाक्षी।

ऊङुतः ४।१।६६

प० वि०—ऊङ् १।१ उतः ५।१

अर्थ—[मनुष्यजातेः] उकारान्तान्मनुष्यजातिवाचिनः प्रातिपदिकात् स्त्रियामूङ् प्रत्ययो भवति। (मनुष्य जाति को कहने वाले उकारान्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में ऊङ् प्रत्यय होता है)

उदा०—कुरूः। ब्रह्मबन्धूः। वीरबन्धूः।

सि०—कुरोरपत्यं स्त्री इति कुरूः। कुरु ण्य[4]। कुरु[5] ऊङ्। कुरु ऊ। कुरू सु। कुरूः।

ब्रह्म बन्धुरस्या वीरो बन्धुरस्या इति विग्रहः। ❀ब्रह्मबन्धूवीरबन्धूशब्दौ कस्याञ्चिद्देवजातौ वर्त्तेते❀

१—वृद्धेत्कोशलाजादाञ् ञ्यङ् (४. १. १७१) २—स्त्रियामवन्तिकुन्तिकुरुभ्यश्च (४. १. १७६) ३—अत इञ् (४. १. ९५) ४—कुरुनादिभ्यो ण्यः (४. १. ७२) ५—स्त्रियामवन्तिकुन्तिकुरुभ्यश्च (४. १. १७६)।

पङ्गोश्च ४।१।६८

प० वि०—पङ्गोः ५।१ च अ०।

अर्थ—[ऊङ्] पङ्गु शब्दात् स्त्रियामूङ् प्रत्ययो भवति। (पङ्गु शब्द से स्त्रीलिङ्ग में ऊङ् प्रत्यय होता है)

उदा०—पङ्गूः। × श्वसुरस्योकाराकारलोपश्च वक्तव्यः × श्वश्रूः।

ऊरूत्तरपदादौपम्ये ४।१।६९

प० वि०—ऊरूत्तरपदात् ५।१ औपम्ये ७।१ स०—ऊरुः उत्तरपदं यस्येति ऊरूत्तरपदं तस्मात्। उपमीयतेऽनेनेति उपमा, तस्य भाव औपम्यम् तस्मिन् औपम्ये।

अर्थ—[ऊङ्] ऊरूत्तरपदात्प्रातिपदिकादौपम्ये गम्यमाने स्त्रियामूङ् प्रत्ययो भवति। (ऊरु है उत्तरपद जिसका ऐसे प्रातिपदिक से उपमा का भाव गम्यमान होने पर स्त्रीलिङ्ग में ऊङ् प्रत्यय होता है)

उदा०—कदलीस्तम्भोरूः। नागनासोरूः। करभोरूः।

सि०—कदलीस्तम्भस्य इव ऊरूः यस्याः सा कदलीस्तम्भोरूः। नागनासस्येव करभस्येव उरूः यस्या इति विग्रहः।

शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन् ४।१।७३

प० वि०—शार्ङ्गरवाद्यञः ५।१ ङीन् १।१ स०—शार्ङ्गरव आदिर्येषान्ते शार्ङ्गरवादयः। शार्ङ्गरवादयश्च अञ्च इति शार्ङ्गरवाद्यञ् तस्मात्।

अर्थ—[जातेः] शार्ङ्गरवादिभ्योऽञन्तेभ्यश्च जातिवाचिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः स्त्रियां ङीन् प्रत्ययो भवति। (शार्ङ्गरव इत्यादि तथा अञन्त जातिवाची प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में ङीन् प्रत्यय होता है)

उदा०—शार्ङ्गरवी। कापटवी। अञन्तेभ्यः--वैदी। और्वी।

सि०—शृङ्गरु अण्[1]। शार्ङ्गरव ङीन्। शार्ङ्गरवी। कपटु अण्[1] कापटव ङीन्। कापटवी। वैदी। विद अञ्[2] वैद ङीन्। वैदी।

यङश्चाप् ४।१।७४

प० वि०—यङः ५।१ चाप् १।१

अर्थ—यङन्तात् प्रातिपदिकात् स्त्रियां चाप् प्रत्ययो भवति। (यङन्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में चाप् प्रत्यय होता है)

१—तस्यापत्यम् (४. १. ९२) २—अनृष्यानन्तर्ये वि० (४. १. १०४)

उदा०—अयङः ष्यङश्च सामान्यग्रहणमेतत्। आम्बष्ठ्या। सौवीर्या। कौसल्या। ष्यङ्—कारीषगन्ध्या। कामुदगन्ध्या। वाराह्या। वालाक्या।

सि०—आम्बष्ठस्य सौवीरस्य कोसलस्य वा अपत्यम् स्त्री इति आम्बष्ठ्या[1]। सौवीर्या[1]। कौसल्या[1]। आम्बष्ठ ङस् ञ्यङ्[1]। आम्बष्ठ्[2] य। आम्बष्ठ्य चाप् आम्बष्ठ्या[3]। कारीषगन्ध्या। करीषस्य गन्ध इव गन्धो यस्येति विग्रहः। करीषगन्ध ङस् इ। करीषगन्ध इ। करीषगन्धि ङस् अण्[4]। कारीषगन्ध अण्। कारीषगन्ध् अ। कारीषगन्ध। कारीषगन्ध् ष्यङ्[6]। कारीषगन्ध् य। कारीषगन्ध्य चाप्। कारीषगन्ध्या। कारीषगन्ध्या सु। कारीषगन्ध्या स्। कारीषगन्ध्या।

वराहस्य अपत्यं पुमान्। वराह ङस् इञ्। वाराहि। वाराह ष्यङ् वाराह्य चाप्। वाराह्या सु। वाराह्या। वालाक्या।

तद्धितप्रत्ययप्रकरणम्

तद्धिताः ४।१।७६

प० वि०—तद्धिताः १।३ स०—तस्मै हितम् इति तद्धितस्ते तद्धिताः।

अर्थ—इतोऽग्रे आ पञ्चमाध्यायपरिसमाप्तेः वक्ष्यमाणाः प्रत्ययाः तद्धितसंज्ञकाः भवन्ति इत्यधिकारो वेदितव्यः। (इसके आगे पञ्चम अध्याय पर्यन्त कहे जाने वाले प्रत्ययों की तद्धित संज्ञा होती है, इस बात का अधिकार समझना चाहिए)

यूनस्तिः ४।१।७७

प० वि०—यूनः ५।१ तिः १।१

अर्थ—युवन् शब्दात् प्रातिपदिकात् स्त्रियां तिप्रत्ययो भवति। (युवन् प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में ति प्रत्यय होता है)

उदा०—युवतिः।

सि०—युवन् ति। युवति सु। युवतिः।

१—वृद्धेत्कोशलाजादाञ् ञ्यङ् (४. १. १७१) २—यचि भम् (१. ४. १८) यस्येति च (६. ४. १४८) ३—अकः सवर्णे दीर्घः (६. १. ९७) ४—अनेकमन्यपदार्थे (२. २. २४) उपमानाच्च (५. ४. १३७) ५—तस्यापत्यम् (४. १. ९२) ६—अणिञोरनार्षयोर्गुरूपोत्तमयोः ष्यङ् गोत्रे (४. १. ७८)

अणिञोरनार्षयो गुरूपोत्तमयोः ष्यङ् गोत्रे ४।१।७८

प० वि०—अणिञोः ६।२ अनार्षयोः ६।२ गुरुपोत्तमयोः ६।२ ष्यङ् १।१ गोत्रे ७।१ स०—अण् च इञ्च इति अणिञौ तयोः अणिञोः। न आर्षौ तयोः। त्रिप्रभृतीनामन्त्यमक्षरमुत्तमम्। उत्तमस्य समीपम् उपोत्तमम्। गुरुः उपोत्तमं यस्य प्रादिपदिकस्येति गुरोपोत्तमम् तयोः।

अर्थ—गोत्रे यावणिञौ विहितावनार्षौ तदन्तयोः प्रातिपदिकयोर्गुरूपोत्तमयोः स्त्रियां ष्यङादेशो भवति।

(गोत्रापत्य में जो विधान किये गए अण् और इञ् प्रत्यय ऋषिवाची नहीं तदन्त उत्तम के समीप गुरु अक्षर वाले प्रातिपदिक के स्थान में स्त्रीलिङ्ग में ष्यङ् आदेश होता है)

उदा०—❀निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति इत्यण् इञ् इत्येतयोस्स्थाने ष्यङ् आदेशो भवति।❀

अणः—कारीषगन्ध्या। कौमुदगन्ध्या। इञः-वाराह्या। बालाक्या॥

समर्थानां प्रथमाद् वा ४।१।८२

प० वि०—समर्थानाम् ६।३ प्रथमात् ५।१ वा अ०।

अर्थ—इतोऽग्रे वक्ष्यमाणाः तद्धिताः प्राग्दिशो विभक्तिरितियावत् समर्थानां यः प्रथमः तस्मात् वा भवन्ति इत्यधिकारो वेदितव्यः।

(यहां से आगे कहे जाने वाले प्राग्दिशो विभक्ति इस सूत्र तक जो प्रथम प्रकृति उस प्रातिपदिक से होता है, इस बात का अधिकार समझना चाहिए)

प्राग्दीव्यतोऽण् ४।१।८३

प० वि०—प्राक् १।१ दीव्यतः ५।१ अण् १।१

अर्थ—तेन दीव्यति खनति जयति जितम् इति एतस्मात् प्राक् अण् प्रत्ययो भवति इत्यधिकारो वेदितव्यः।

(तेन दीव्यति खनति जयति जितम् इस सूत्र के पूर्व अण प्रत्यय होता है, इस बात का अधिकार समझना चाहिए।

❀अधिकारः परिभाषा विधिर्वेति त्रिष्वपि दर्शनेषु अपवादविषयं परिहृत्य अण् प्रवर्त्तते❀

प्राग्दिव्यतोऽण् इस सूत्र को अधिकार सूत्र, परिभाषा सूत्र या विधि सूत्र इन तीनों प्रकारों में से किसी भी प्रकार का सूत्र माना जाय फिर भी अपवाद विषय को छोड़कर इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है)

अश्वपत्यादिभ्यश्च ४।१।८४

प० वि०—अश्वपत्यादिभ्यः ५।३ च अ०। स०—अश्वपतिरादिर्येषां ते अश्वपत्यादयः तेभ्यः।

अर्थ—अश्वपत्यादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु अण् प्रत्ययो भवति। (अश्वपति इत्यादि प्रातिपदिकों से प्राग्दीव्यतीय अर्थों में अण् प्रत्यय होता है)

उदा०—आश्वपतम्। शातपतम्। अश्वपति। शतपति। धनपति। गणपति। राष्ट्रपति। कुलपति। गृहपति। धान्यपति। पशुपति। धर्मपति। सभापति। प्राणपति। क्षेत्रपति।

दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः ४।१।८५

प० वि०—दिति-अदिति-आदित्य-पत्युत्तरपदात् ५।१ ण्यः १।१॥ स०—दितिश्च अदितिश्च आदित्यश्च पत्युत्तरपदञ्चेति दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदं तस्मात्। पतिः उत्तरपदं यस्य तत् पत्युत्तरपदम्।

अर्थ—दिति अदिति आदित्य इत्येतेभ्यः पत्युत्तरपदाच्च प्रातिपदिकात् प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु ण्यः प्रत्ययो भवति।

(दिति, अदिति, आदित्य और पति शब्द है उत्तर पद जिसका ऐसे प्रातिपदिक से प्राग्दीव्यतीय अर्थों में ण्य प्रत्यय होता है)

उदा०—दैत्यः। आदित्यः। आदित्यम्। पत्युत्तरपदात्—प्राजापत्यम्। सैनापत्यम्।

उत्सादिभ्योऽञ् ४।१।८६

प० वि०—उत्सादिभ्यः ५।३ अञ् १।१ स०—उत्स आदिर्येषां ते उत्सादयः तेभ्यः।

अर्थ—उत्सादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेष्वञ् प्रत्ययो भवति। (उत्स इत्यादि प्रातिपदिक से प्राग्दीव्यतीय अर्थों में अञ् प्रत्यय होता है)

उदा०—औत्सः। औदपानः।

स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात् ४।१।८७

प० वि०—स्त्रीपुंसाभ्याम् ५।२ नञ्स्नञौ १।२ भवनात् ५।१ स०—स्त्री च पुमांश्च इति स्त्रीपुंसौ ताभ्याम्। नञ् च स्नञ् च इति नञ्स्नञौ।

अर्थ—[प्राक्] धान्यानां भवने इत्येतस्मात् प्राक् ये अर्था विहिताः तेष्वर्थेषु स्त्रीशब्दात् पुंस्शब्दाच्च यथासंख्यं नञ्स्नञौ प्रत्ययौ भवतः।

(धान्यानां भवने इस सूत्र के पहले जितने अर्थ विधान किये गये हैं उन अर्थों में स्त्री और पुंस् शब्द से क्रमशः नञ् और स्नञ् प्रत्यय होते हैं)

उदा०—स्त्रैणम्। पौंस्नम। स्त्रीषु भवमिति स्त्रैणम्। स्त्रीणां समूह इति स्त्रैणम। स्त्रीभ्य आगत इति स्त्रैणम्। स्त्रीभ्यो हितम् इति स्त्रैणम्।

द्विगोर्लुगनपत्ये ४।१।८८

प० वि०—द्विगोः ६।१ लुक् १।१ अनपत्ये ७।१ स०—न अपत्यम् अनपत्यम् तस्मिन् अनपत्ये।

अर्थ-[प्राग्दीव्यतोऽण्] प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु विहितो द्विगोः सम्बन्धी योऽनपत्येऽर्थे वर्तमानः तद्धितः प्रत्ययः तस्य लुग्भवति।

(प्राग्दीव्यतीय अर्थों में विधान किये गये द्विगु सम्बन्धी जो अपत्यभिन्न अर्थ में वर्तमान तद्धित प्रत्यय उसका लुक् होता है)

उदा०—पञ्चकपालः। दशकपालः। द्विवेदः। त्रिवेदः।

सि०—पञ्चसु कपालेषु संस्कृत इति विग्रहः। पञ्चकपाल[1] सुप् अण्[2]। पञ्चकपाल[3] सु। पञ्चकपालः। द्वौ वेदावधीते इति विग्रह। द्विवेद[1] औट् अण्[4]। द्विवेदः।

अपत्याधिकारप्रकरणम्—

तस्यापत्यम् ४।१।९२

प० वि०—तस्य ६।१ अपत्यम् १।१

अर्थ—[समर्थाना प्रथमाद्वा] तस्य इति षष्ठीसमर्थात् प्रातिपदिकात् अपत्यमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहित प्रत्यया वा भवन्ति।

(षष्ठी समर्थ प्रातिपदिक से अपत्य इस अर्थ में यथाविहित जिस जिस प्रकृति से इस सूत्र के पूर्व या पश्चात् प्रत्यय विधान किये गए हैं वे विकल्प स होते हैं)

उदा०—औपगवः। आश्वपतः। दैत्यः। औत्सः। स्त्रैणः। पौंस्नः।

१—तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च (२. १. ५१) २—संस्कृतम (४. ४. ३) ३—संख्यापूर्वो द्विगुः (२. १. ५२) द्विगोर्लुगनपत्ये (४. १. ८८) ४—तदधीते तद्वेद (४. ४. ५१)

सि०—उपगोरपत्यं पुमान् इति औपगवः। अश्वपतेरपत्यं पुमान् आश्वपतः। उपगु ङस् अण्। उपगु अ। उपगो[1] अ। औपगो अ। औपगव् अ। औपगव सु। औपगवः। अश्वपति ङस् अण्। अश्वपत अ। आश्वपत् अ। आश्वपत सु। आश्वपतः।

अत इञ् ४।१।९५

प० वि—अतः ५।१ इञ् १।१

अर्थ—[तस्यापत्यम्] अकारान्तात् प्रातिपदिकादिञ् प्रत्ययो भवति तस्यापत्यमित्येतस्मिन्नर्थे। (अकारान्त प्रातिपदिक से उसका अपत्य इस अर्थ में इञ् प्रत्यय होता है)

उदा०—दाक्षिः। प्लाक्षिः। दाशरथिः।

सि०—दक्षस्य अपत्यं पुमान् इति दाक्षिः। दक्षः ङस् इञ्। दक्ष् इ। दाक्षि सु। दाक्षिः।

एको गोत्रे ४।१।९३

प० वि०—एकः १।१ गोत्रे ७।१

अर्थ—गोत्रे एक एव प्रत्ययो भवति। सर्वे अपत्येन युज्यन्ते। (गोत्र में एक ही प्रत्यय होता है। और उसके बाद जितने अपत्य हैं उन सभी का बोध एक प्रत्यय से होता है)

गोत्राद्यून्यस्त्रियाम् ४।१।९४

प० वि०—गोत्रात् ५।१ यूनि ७।१ अस्त्रियाम् ७।१ स०—न स्त्री अस्त्री, तस्याम् अस्त्रियाम्।

यूनि अपत्ये विवक्षिते गोत्रादेव प्रत्ययो भवति, स्त्रियां तु न भवति। (युवा अपत्य अर्थ में गोत्रप्रत्ययान्त से ही प्रत्यय होता है, स्त्री अपत्य में नहीं होता।

उदा०—गार्ग्यायणः। वात्स्यायनः। दाक्षायणः।

सि०—गर्गस्य गोत्रापत्यम् इति गार्ग्यः। गार्ग्यस्य युवापत्यम् इति गार्ग्यायणः। गार्ग्य ङस् फक्। गार्ग्यायणः। वात्स्यायनः। दक्षस्यापत्यम दाक्षिः। दाक्षेर्युवापत्यम् दाक्षायणः।

गोत्रे कुञ्जादिभ्यश्च्फञ् ४।१।९८

प० वि०—गोत्रे ७।१ कुञ्जादिभ्यः ५।३ च्फञ् १।१ स०—कुञ्ज

१—यचि भम् (१. ४. १८) ओर्गुणः (६. ४. १४६)

आदिर्येषान्ते कुञ्जादयः तेभ्यः ।

अर्थ—[तस्यापत्यम्] कुञ्जादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो गोत्रापत्ये च्फञ् प्रत्ययो भवति (कुञ्ज इत्यादि प्रातिपदिक से गोत्रापत्य अर्थ में च्फञ् प्रत्यय होता है)

उदा०—कौञ्जायनः ।

सि०—कुञ्जस्य गोत्रापत्यम् इति कौञ्जायनः । कुञ्ज ङस् च्फञ् । कुञ्ज फ । कुञ्ज आयन । कुञ्ज् आयन । कौञ्ज् आयन । कौञ्जायन सु । कौञ्जायनः ।।

नडादिभ्यः फक् ४।१।९९

प० वि०—नडादिभ्यः ५।३ फक् १।१ स०—नड आदिर्येषान्ते नडादयः तेभ्यः नडादिभ्यः ।

अर्थ-[गोत्रे तस्यापत्यम्] नड इत्येवमादिभ्यः प्रादिपदिकेभ्यो गोत्रापत्ये फक् प्रत्ययो भवति । (नड आदि प्रातिपदिक से गोत्रापत्य अर्थ में फक् प्रत्यय होता है)

उदा०—नाडायनः । चारायणः । ऐतिकायनः ।

सि०—नडस्य गोत्रापत्यम् नाडायनः । नड ङस् फक् । नड फ । नड आयन । नड् आयन । नाडायन । नाडायनः । चर ङस् फक् ।

यञिञोश्च ४।१।१०१

प० वि०—यञिञोः ६।२ च अ० ।

स०—यञ् च इञ् च इति यञिञौ तयोः ।

अर्थ—[फक् तस्यापत्यम् गोत्रे] गोत्रे यौ यञिञौ तदन्तात् फक् प्रत्ययो भवति । (गोत्र अर्थ में यञ् और इञ् जिसके अन्त में है, ऐसे प्रातिपादिक से फक् प्रत्यय होता है ।

उदा०—गार्ग्यायणः । वात्स्यायनः । दाक्षायणः । प्लाक्षायणः ।

सि०--गर्गस्य गोत्रापत्यम् गार्ग्यः । गार्ग्यस्य युवात्पत्यम् गार्ग्यायणः । गार्ग्य ङस् फक । गार्ग्य आयन । गार्ग्य् आयन । गार्ग्यायण सु । गार्ग्यायणः ।

अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ् ४।१।१०४

प० वि०—अनृषि, सौत्रो निर्देशः ५।३ आनन्तर्ये ७।१ बिदादिभ्यः ५।३ अञ् १।१ स०—न ऋषिः अनृषिः, तेभ्यः अनृषि सौत्रो निर्देशः ।

बिद आदिर्येषां ते बिदादयः तेभ्यः ।

अर्थ—अनृषिभ्यो विदादिभ्य अनन्तरापत्येऽञ् प्रत्ययो भवति । ॐअत्रेदं बोध्यम् विदादिषु ऋषिवाचिनः अनृषिवाचिनश्च शब्दाःपठ्यन्ते। तत्र ये ऋषिवाचिनश्शब्दाः तेभ्यो गोत्रे एवऽञ् प्रत्ययः ये तु अनृषिवाचिनश्शब्दास्तेभ्यो गोत्रेऽनन्तरे च प्रत्यय इत्येव भाष्याल्लभ्यत इति नागेशः । सिद्धान्तकौमुदीकारस्तु अत्र एभ्यो गोत्रे ये त्वत्रानृषयस्तेभ्य अनन्तरे, काशिकाकारस्तु अत्र बिदादिभ्यो गोत्रापत्ये अनृषिभ्योऽनन्तरापत्ये प्रत्ययो भवति, कैयटस्तु तत्र ऋषिभ्यो गोत्रे एवऽञ् प्रत्यय अनृषिभ्यस्त्वनन्तरापत्य एवेत्येष विषयविभागः । अत्र यथा प्रयोगं तत्त्वं सुधियो विभावयन्तु ।

उदा०—बैदः । और्वः । पौत्रः । दौहित्र ।

सि०—बिदस्य गोत्रापत्यम् बैदः । बिद ङस् अञ् । बिद् अ । बैद सु । बैदः । पुत्रस्यापत्यं पौत्रः । दुहितुरपत्यं दौहित्रः । दुहितृ ङस् अञ् । दुहित्र् अ । दौहित्र सु । दौहित्रः ।

गर्गादिभ्यो यञ् ४।१।१०५

प० वि०—गर्गादिभ्यः ५।३ यञ् १।१ स०—गर्ग आदिर्येषान्ते गर्गादयः तेभ्यः ।

अर्थ—[गोत्रे] गर्गादिभ्यो गोत्रापत्ये यञ् प्रत्ययो भवति ।

(गर्ग इत्यादि प्रातिपदिक से गोत्रापत्य अर्थ में यञ् प्रत्यय होता है)

उदा०—गार्ग्यः । वात्स्यः ।

सि०—गर्गस्य गोत्रापत्यम् इति गार्ग्यः । गर्ग ङस् यञ् । गर्ग् य । गार्ग्य सु । गार्ग्यः । वात्स्यः ।

शिवादिभ्योऽण् ४।१।११२

प० वि०—शिवादिभ्यः ५।३ अण् । स०—शिव आदिर्येषान्ते शिवादयः तेभ्यः ।

अर्थ—शिवादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽपत्ये अर्थे अण् प्रत्ययो भवति। ॐ अतः प्रभृतिः सामान्येन प्रत्यया विज्ञायन्ते गोत्र इति निवृतम्ॐ

(शिव इत्यादि प्रातिपदिक से अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय होता है)

उदा०—शैवः । गाङ्गः ।

सि०—शिवस्य अपत्यं पुमान् शैवः । गङ्गाया अपत्यं पुमान् इति ।

मातुरुत्संख्यासंभद्रपूर्वायाः ४।१।११५

प० वि०—मातुः ६।१ उत् १।१ संख्यासंभद्रपूर्वायाः ६।१

स०—संख्या च सञ्च भद्रा चेति संख्यासंभद्राः। संख्यासंभद्राः पूर्वा यस्याः मातुरिति संख्यासंभद्रपूर्वा तस्याः।

अर्थ—संख्यापूर्वात् संपूर्वाद् भद्रपूर्वाच्च मातृशब्दात् अपत्येऽर्थेऽण् प्रत्ययो भवति उकारश्चान्तादेशः।

(संख्या, सं और भद्रा शब्द हैं पूर्व में जिस के ऐसे मातृ शब्दान्त प्रातिपदिक से अपत्य के अर्थ में अण् प्रत्यय होता है और मातृ शब्द को उकार अन्तादेश होता है)

उदा०—द्वैमातुरः। षाण्मातुरः। सांमातुरः। भाद्रमातुरः।

सि०—द्वयोर्मात्रोरपत्यम् इति द्वैमातुरः। द्वि ओस् मातृ ओस्। अण्। द्वि मातृ अण्। द्विमातृ अ। द्वैमातृ अ। द्वैमातु अ। द्वैमातुर् अ। द्वैमातुर सु। द्वैमातुरः। ॐउकारादेशार्थं वचनं प्रत्ययस्तु तस्यापत्यम् इत्येव सिद्धः।ॐ

कन्यायाः कनीन च ४।१।११६

प० वि०—कन्यायाः ६।१ कनीन अविभक्तिको निर्देशः। च अ०।

अर्थ—कन्याशब्दाद् अपत्येऽर्थेऽण् प्रत्ययो भवति, तत्सन्नियोगेन कनीनशब्द आदेशो भवति।

(कन्या शब्द से अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय होता है और उसके संयोग से कन्या शब्द के स्थान में कनीन यह आदेश हो जाता है)

उदा०—कानीनो व्यासः। कानीनः कर्णः।

स्त्रीभ्यो ढक् ४।१।१२०

प० वि०—स्त्रीभ्यः ५।३ ढक् १।१

अर्थ—स्त्रीप्रत्ययान्तेभ्यो ढक् प्रत्ययो भवति अपत्येऽर्थे।

(स्त्रीप्रत्ययान्त शब्द से अपत्य अर्थ में ढक् प्रत्यय होता है)

उदा०—सौपर्णेयः। वैनतेयः।

कुर्वादिभ्यो ण्यः ४।१।१५१

प० वि०—कुर्वादिभ्यः ५।३ ण्यः १।१ स०—कुरुरादिर्येषान्ते कुर्वादयः तेभ्यः।

अर्थ—कुरु इत्येवमादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽपत्ये ण्यः प्रत्ययो भवति।

(कुरु इत्यादि प्रातिपदिक से अपत्य अर्थ में ण्य प्रत्यय होता है)

उदा०—कौरव्यः । गार्ग्यः ।

सि०—कुरु ङस् ण्य । कुरु य । कुरो[1] य । कुरव्[2] य । कौरव्य सु । कौरव्यः ।

मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च ४।१।१६१

प० वि०—मनोः ६।१ जातौ ७।१ अञ्यतौ १।२ षुक् १।१ च अ० ।

अर्थ—मनुशब्दात् अञ् यतौ प्रत्ययौ भवतः षुक् चागमः जातौ गम्यमाने ।) मनु शब्द से अञ् और यत् प्रत्यय होते हैं और षुक् का आगम होता है, जाति गम्यमान होने पर)

उदा०—मानुषः । मनुष्यः ।

सि०—मनु षुक् अञ् । मनुष् अ । मानुष सु । मानुषः । मनुषुक् य । मनुष्यः ।

अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम् ४।१।१६२

प० वि०—अपत्यम् १।१ पौत्रप्रभृति १।१ गोत्रम १।१

स०—पौत्रात्प्रभृति पौत्रप्रभृति ।

अर्थ—पौत्रप्रभृति अपत्यं गोत्रसंज्ञं भवति ।

(पौत्र इत्यादि अपत्यों की गोत्र संज्ञा होती है)

जीवति तु वंश्ये युवा ४।१।१६३

प० वि०—जीवति ७।१ तु अ० । वंश्ये ७।१ युवा १।१

अर्थ—अभिजनप्रबन्धो वंशः । अभिजनाः पितामहादयः । प्रबन्धः सन्तानः । तत्र भवो वंश्यः तस्मिन् वंश्ये । वंश्ये पित्रादौ जीवति पौत्रादेर्यदपत्यं चतुर्थादि तद्युवसंज्ञमेव न गोत्रसंज्ञम् ।

(वंश्य अर्थात् पिता इत्यादि के जीवित रहने पर पौत्र का जो अपत्य अर्थात चतुर्थ अपत्य उसकी युवासंज्ञा होती है, गोत्र संज्ञा नहीं)

जनपदशब्दात्क्षत्रियादञ् ४।१।१६८

प० वि०—जनपदशब्दात् ५।१ क्षत्रियात् ५।१ अञ् १।१

अर्थ—जनपदशब्दो यः क्षत्रियवाची तस्माद् अपत्येऽर्थेऽञ् प्रत्ययो भवति । (जनपद शब्द जो क्षत्रिय को कहने वाला उससे अपत्य अर्थ में अञ् प्रत्यय होता है)

१—ओर्गुणः (६. ४. १४६) २—वान्तो यि प्रत्यये (६. १. ७६)

उदा०—ऐक्ष्वाकः। वैदेहः। पाञ्चालः।

सि०—इक्ष्वाकोरपत्यम् पुमान् ऐक्ष्वाकः। ऐक्ष्वाक्[1] अ। ऐक्ष्वाकः।

× क्षत्रियसमानशब्दाज्जनपदशब्दात्तस्य राजनि अपत्यवत् × पञ्चालानां राजा पाञ्चालः। विदेहानां राजा वैदेहः। मगधानां राजा मागधः।

द्व्यञ्मगधकलिङ्गसूरमसादण् ४।१।१७०

प० वि०—द्व्यञ्मगधकलिङ्गसूरमसात् ५।१ अण् १।१ स०—द्वौ अचौ यस्मिन् प्रातिपदिक इति द्व्यच्। द्व्यच्च मगधश्च कलिङ्गश्च सूरमसश्चेति द्व्यञ्मगधकलिङ्गसूरमसम् तस्मात्।

अर्थ—[जनपदशब्दात् क्षत्रियात्] जनपदशब्दात् क्षत्रियवाचिनो द्व्यच् मगध कलिङ्ग सूरमस इत्येतेभ्यश्चापत्येऽण् प्रत्ययो भवति।

(जनपद को कहने वाले क्षत्रियवाची जो दो अच् वाले तथा मगध कलिङ्ग सूरमस शब्द हैं उनसे अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय होता है)

उदा०—आङ्गः। वाङ्गः। मागधः। कालिङ्गः। सौरमसः। × तस्य राजनीत्येव × आङ्गो राजा।

वृद्धेत्कोसलाजादाञ्ञ्यङ् ४।१।१७१

प० वि०—वृद्धेत्कोसलाजादात् ५।१ ञ्यङ् १।१ स०—वृद्धश्च इच्च कोसलश्च अजादश्चेति वृद्धेत्कोसलाजादम् तस्मात्।

अर्थ—[जनपदशब्दात् क्षत्रियात्] जनपदशब्दात् क्षत्रियवाचिनो वृद्धादिकारान्तप्रातिपदिकात् कोसलाजादशब्दाभ्याञ्चापत्ये ञ्यङ् प्रत्ययो भवति।

(जनपद को कहने वाले जो क्षत्रियवाची वृद्ध संज्ञा वाले, इकारान्त प्रातिपदिक तथा कोसल और अजाद शब्द उनसे अपत्य अर्थ में ञ्यङ् प्रत्यय होता है)

उदा०—वृद्धात्—आम्बष्ठ्यः। सौवीर्यः। इकारान्तात्—आवन्त्यः। कौन्त्यः। कौसल्यः। आजाद्यः। × तस्य राजनीत्येव × आम्बष्ठ्यो राजा।

कुरुनादिभ्यो ण्यः ४।१।१७२

प० वि०—कुरुनादिभ्यः ५।३ ण्यः १।१ स०—नकार आदिर्येषान्ते नादयः। कुरुश्च नादयश्चेति कुरुनादयः तेभ्यः।

अर्थ—[जनपदशब्दात् क्षत्रियात्] कुरुशब्दान्नादिभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्यो ण्यप्रत्ययो भवति अपत्येऽर्थे।

१—दाण्डिनायन० (६. ४. १७४) इति सूत्रेण निपातनाट्टिलोपः

(कुरु और नकारादि प्रातिपदिक से अपत्य अर्थ में ण्य प्रत्यय होता है)

उदा०—कौरव्यः । नादिभ्यः—नैषध्यः । नैपथ्यः । ×तस्य राजनीत्येव× कौरव्यो राजा ।

ते तद्राजा. ४।१।१७२

प० वि०—ते १।३ तद्राजाः १।३

अर्थ—तेऽञादयस्तद्राजसंज्ञा भवन्ति ।

(उन अञादि प्रत्ययों की तद्राज संज्ञा होती है)

इत्यष्टाध्यायी-प्रकाशिकायां चतुर्थाध्याये प्रथमः पादः

रक्ताद्यर्थप्रकरणम्—

तेन रक्तं रागात् ४।२।१

प० वि०—तेन ३।१ रक्तम् १।१ रागात् ५।१

अर्थ—रज्यते अनेनेति रागः ॥ तेनेति तृतीयासमर्थाद् रागविशेषवाचिनः प्रातिपदिकाद् रक्तम् इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति ।

(तृतीय समर्थ रागविशेषवाची (रंग विशेषवाची) प्रातिपदिक से रंगा गया इस अर्थ में जैसा विधान किया गया है, वैसा प्रत्यय होगा)

उदा०—काषायम् । माञ्जिष्ठम् । कौसुम्भम् ।

सि०—कषायेण रक्तं वस्त्रम् इति काषायम् वस्त्रम् । कषाय टा अण् । कषाय अ । कषाय् अ । काषाय् अ । काषाय सु । काषाय अम् । काषायम् । मञ्जिष्ठेन कुसुम्भेन वा रक्तं वस्त्रम् इति विग्रहः ॥

लाक्षारोचनाट्ठक् ४।२।२

प० वि०—लाक्षारोचनात् ५।१ ठक् १।१ स०—लाक्षा च रोचनञ्चेति लाक्षारोचनम् तस्मात् ।

अर्थ—[तेन रक्तम् रागात्] लाक्षादिभ्यो रागवचनेभ्यस्तृतीयासमर्थप्रातिपदिकेभ्यो रक्तमित्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति ।

(लाक्षा रोचन इन रागविशेषवाची तृतीया समर्थ प्रातिपदिक से रंगा गया इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है)

उदा०—लाक्षिकम् । रौचनिकम् ।

नक्षत्रेण युक्तः कालः ४।२।३

प० वि०—नक्षत्रेण ३।१ युक्तः १।१ कालः १।१

अर्थ—[तेन] तृतीयासमर्थान्नक्षत्रविशेषवाचिनः प्रातिपदिकात् युक्तः काल इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति ।

(तृतीया समर्थ नक्षत्र विशेषवाची प्रातिपदिक से युक्त काल इस अर्थ में यथाविहित (अण्) प्रत्यय होता है)

उदा०—पौषी रात्रिः । पौषमहः ।

सि०—*कथं पुनर्नक्षत्रेण पुष्यादिना कालो युज्यते । पुष्यादिसमीपस्थे चन्द्रमसि वर्तमानाः पुष्यादिशब्दाः प्रत्ययमुत्पादयन्ति । पुष्येण नक्षत्रेण युक्तः कालः, पुष्यसमीपस्थेन चन्द्रमसा युक्त इत्यर्थः ।*

सि०—पुष्य टा अण् । पुष्य अ । पुष्य् अ । पौष्य् अ । पौष[1] अ । पौष ङीप्[2] । पौषी सु । पौषी ॥

लुबविशेषे ४।२।४

प० वि०—लुप् १।१ अविशेषे ७।१ स०—न विशेषः अविशेषः तस्मिन् ।

अर्थ—पूर्वेण विहितस्य प्रत्ययस्य लुब् भवति अविशेषे गम्यमाने ।

(पूर्व में विधान किये गये प्रत्यय का लुप् हो जाता है विशेष किसी रात्रि या दिन का बोध न हो तो)

उदा०—अद्य पुष्यः । अद्य कृतिका ।

दृष्टं साम ४।२।७

प० वि०—दृष्टम् १।१ साम १।१

अर्थ—[तेन] तृतीयासमर्थप्रातिपदिकात् दृष्टं साम इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति । (तृतीया समर्थ प्रातिपदिक से देखा गया साम इस अर्थ में यथाविहित (अण्) प्रत्यय होता है)

उदा०—क्रुञ्चेन दृष्टं साम इति क्रौञ्चम् । वाशिष्ठम् । वैश्वामित्रम् ।

वामदेवाड् ड्यड्ड्यौ ४।२।९

पं० वि०—वामदेवात् ५।१ ड्यड्ड्यौ १।२ स०—ड्यच्च ड्यश्च इति ड्यड्ड्यौ

अर्थ—[तेन दृष्टं साम] वामदेवात् तृतीयासमर्थात् प्रातिपदिकात्

१—सूर्यतिष्यागस्त्यमत्स्यानां य उपधायाः (४. १. १५९) २—टिड्ढाणञ्० (४. १. १५)

दृष्टं साम इत्येतस्मिन्नर्थे ड्यत् ड्य इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः ॥

(वामदेव तृतीया समर्थ प्रातिपदिक से देखा गया साम इस अर्थ में ड्यत् और ड्य प्रत्यय होते हैं)

उदा०—वामदेवेन दृष्टं साम इति वामदेव्यम् साम ॥

संस्कृतं भक्षा ४।२।१६

प० वि०—संस्कृतम् १।१ भक्षा १।१

अर्थ—[तत्र] सप्तमीसमर्थात् प्रातिपदिकात् संस्कृतमत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति यत्संस्कृतं भक्षाश्चेत् ते भवन्ति।

ॐखरविशदमभ्यवहारार्थं भक्षम् इत्युच्यते। सत उत्कर्षाधानं संस्कारःॐ

(सप्तमी समर्थ प्रातिपदिक से संस्कार किया गया इस अर्थ में यथाविहित (अण्) प्रत्यय होता है) दांतों से चबाकर खाने योग्य पदार्थ को भक्ष कहते हैं।

उदा०—भ्राष्ट्रे संस्कृता भक्षा भ्राष्ट्रा अपूपाः। भ्राष्ट्रा यवाः। भ्राष्ट्रा ओदनाः।

सि०—भ्राष्ट्रा ङि अण्। भ्राष्ट्र। भ्राष्ट्रा जस्। भ्राष्ट्राः ॥

सास्य देवता ४।२।२४

प० वि०—सा १।१ अस्य ६।१ देवता १।१

अर्थ—प्रथमासमर्थात् प्रातिपदिकात् अस्य देवता इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। (प्रथमा समर्थप्रातिपदिक से 'देवता है इसका' इस अर्थ में यथाविहित (अण्) प्रत्यय होता है)

उदा०—इन्द्रो देवताऽस्य मन्त्रस्येति ऐन्द्रो मन्त्रः। इन्द्रो देवताऽस्य हविष इति ऐन्द्रं हविः। ॐ देवताशब्दोऽयं बहुष्वर्थेषु प्रसिद्धः। इह तु मन्त्रप्रतिपाद्यो विषयः देवताशब्देन उच्यते। तथा चोक्तं कात्यायनेन—या तेनोच्यते सा देवता (ऋक्सर्वानुक्रमणी०)। तेन यस्मिन् मन्त्रे इन्द्रः प्रतिपाद्यते वर्ण्यते स्तूयते तस्य मन्त्रस्य इन्द्रो देवता एवमग्न्यादयस्तत्तन्मन्त्रविषया देवतापदवाच्या द्रष्टव्याःॐ

(देवता शब्द लोक में बहुत अर्थों में प्रसिद्ध है। इस सूत्र में देवता शब्द से मन्त्र प्रतिपाद्य विषय का ग्रहण होता है। यही बात कात्यायन ने अपनी ऋक्सर्वानुक्रमणी में कही है। इस लिए जिस मन्त्र में इन्द्र का प्रतिपादन हो या स्तुति की गई हो उस मन्त्र का इन्द्र देवता होगा वह मन्त्र ऐन्द्र कहावेगा। इसी प्रकार अग्न्यादि देवताओं के विषय में भी समझें)।

विषयभेदेन इमा इन्द्रादयो देवताः सचेतनाः अचेतनाश्च भवन्ति। यदि कस्मिंश्चिन्मन्त्र इन्द्रशब्देन विद्युदादयो भौतिकाः पदार्था उच्यन्ते तदा सा इन्द्रदेवता अचेतना उच्यते यदा तु इन्द्रशब्देन कस्मिंश्चिन्मन्त्रे आत्मा परमात्मा वा उच्यते तदा सा इन्द्रदेवता सचेतना इत्युच्यते। (विषय के भेद से ये देवता चेतन और अचेतन दोनों प्रकार के होते हैं। जब किसी मन्त्रमें इन्द्र शब्द से विद्युत् आदि भौतिकपदार्थों का वर्णन किया जाता है तब वह इन्द्र देवता अचेतन होता है और जब इन्द्र शब्द से किसी मन्त्र में आत्मा या परमात्मा का वर्णन होता है तब वह इन्द्र देवता सचेतन कहा जाता है)

अग्नेर्ढक् ४।२।३३

प० वि०—अग्नेः ५।१ ढक् १।१

अर्थ—[सास्य देवता] अग्नेः प्रातिपदिकात् सास्य देवता इत्येतस्मिन्नर्थे ढक् प्रत्ययो भवति। (अग्नि प्रातिपदिक से वह देवता है इसका इस अर्थमें ढक् प्रत्यय होता है)

उदा०—आग्नेयो मन्त्रः। आग्नेयोऽष्टकपालः।

सि०—अग्निर्देवतास्य मन्त्रस्येति विग्रहः। अग्नि सु ढक्। अग्नि ढ। अग्नि एय। अग्न् एय। आग्न् एय। आग्नेय सु। आग्नेयः॥

पितृव्यमातुलमातामहपितामहाः ४।२।३६

प० वि०—पितृव्यमातुलमातामहपितामहाः १।३ सं०—पितृव्यश्च मातुलश्च मातामहश्च पितामहश्चेति पितृव्यमातुलमातामहपितामहाः।

अर्थ—पितृव्य-मातुल--मातामह--पितामह इत्येते शब्दाः निपात्यन्ते (पितृव्य, मातुल, मातामह, पितामह ये शब्द निपातन से सिद्ध होते हैं)

उदा०—×पितृमातृभ्यां भ्रातरि व्यड्डुलचौ× पितुर्भ्राता पितृव्यः। मातुर्भ्राता मातुलः।×मातृपितृभ्यां पितरि डामहच्× मातुः पिता मातामहः। पितुः पिता पितामहः। ×मातरि षिच्च× [मातृपितृभ्यां मातरि डामहच् षिच्च वक्तव्यः] पितुर्माता पितामही। मातुर्माता मातामही।

सि०—पितृव्यः। पितृ ङस् व्यत्। पितृ व्य। पितृव्य सु। पितृव्यः। मातृ ङस् डुलच्। मातृ उल। मात्[1] उल। मातुलः। मातामहः। पितामहः। पितामहः। मातामही। पितामही। मातामह ङीष्। मातामह् ई। मातामही।

१—टेः (६. ४. १४३) अचोऽन्त्यादि टिः (१. १. ६३)

तस्य समूहः ४।२।३७

प० वि०—तस्य ६।१ समूहः १।१

अर्थ—षष्ठीसमर्थात् प्रातिपदिकात् समूहः इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति (षष्ठीसमर्थ प्रातिपदिक से समूह इस अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है)

उदा०—काकम् । बाकम् । वार्कम् ।

सि०—काकानां समूहः इति विग्रहः । बकानां वृकानां वा समूह इति विग्रहः । वृक आम् अण् । वृक अण् । वृक अ । वृक् अ । वार्क् अ । वार्क सु । वार्क अम् । वार्कम् ।

भिक्षादिभ्योऽण् ४।२।३८

प० वि—भिक्षादिभ्यः ५।३ अण् १।१ स०—भिक्षाशब्द आदिर्येषां ते भिक्षादयः तेभ्यः।

[तस्य समूहः] भिक्षादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽण् प्रत्ययो भवति तस्य समूह इत्येतस्मिन्नर्थे । (भिक्षा इत्यादि प्रातिपदिकों से उसका समूह इस अर्थ में अण् प्रत्यय होता है)

उदा०—भैक्षम् । गार्भिणम् । भिक्षा । गर्भिणी । क्षेत्र । करीष । अङ्गार । चर्मिन् । धर्मिन् । सहस्र । पदाति । पद्धति । अथर्वन् । दक्षिणा ।

सि०—भिक्षाणां समूहो भैक्षम् । गर्भिणीनां समूहो गार्भिणम् । ×भस्याढे तद्धिते पुंवद्भावो वक्तव्यः× भिक्षा आम् अण् । भिक्षा अ । भैक्ष सु । भैक्ष अम् । भैक्षम् । गर्भिणी आम् अण् । गर्भिन्[1] अ । गर्भिन्[2] अ । गार्भिन् अ । गार्भिणम् ।

ग्रामजनबन्धुभ्यस्तल् ४।२।४३

प० वि—ग्रामजनबन्धुभ्यः ५।३ तल् १।१ स०—ग्रामश्च जनश्च बन्धुश्चेति ग्रामजनबन्धवः तेभ्यः ।

अर्थ—[तस्य समूहः] ग्राम-जन-बन्धुभ्यः प्रातिपदिकेभ्यस्तल् प्रत्ययो भवति तस्य समूहः इत्येतस्मिन्नर्थे । (ग्राम, जन और बन्धु प्रातिपदिक से तस्य समूह अर्थात् इसका समूह इस अर्थ में तल् प्रत्यय होता है ।)

१—भस्याढे तद्धिते पुंवद्भावो वक्तव्यः (६. ३. ३५ वा०) २—यचि भम् (१. ४. १८) भस्य (६. ४. १२९) नस्तद्धिते (६. ४. १४४) इनण्यनपत्ये (६. ४. १६४)

उदा०—ग्रामता । जनता । बन्धुता । ×गजसहायाभ्याञ्चेति वक्तव्यः× गजता । सहायता ।

सि०-ग्रामाणां जनानां बन्धूनां वा समूहः इति विग्रह । ग्राम आम् तल् । ग्रामत टाप् । ग्रामता ।

तदधीते तद्वेद ४।२।५९

प० वि०-तत् २।१ अधीते क्रिया० । तत् २।१ वेद क्रिया० ।

अर्थ—द्वितीयासमर्थप्रातिपदिकात् अधीते वेद इत्येतयोरर्थयोर्यथाविहितं प्रत्ययो भवति (द्वितीया समर्थ प्रातिपदिक से पढ़ता है और जानता है इन दोनों अर्थों में यथाविहित (अण्) प्रत्यय होता है ।

उदा०---छान्दसः । वैयाकरणः । नैरुक्तः । नैमित्तः ।

सि०—छन्दः व्याकरणं निरुक्तं निमित्तानि वा अधीते वेद इति विग्रहः । छन्दस् अम् अण् । छान्दस सु । छान्दसः । व्याकरण अम अण । वैयाकरणः[१] ।

क्रमादिभ्यो वुन् ४।२।६१

प० वि०---क्रम आदिर्येषान्ते क्रमादयः तेभ्यः ।

अर्थ—[तदधीते तद्वेद] क्रमादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः तदधीते तद्वेद इत्येतयोरर्थयोर्वुन् प्रत्ययो भवति ।

(क्रम इत्यादि प्रातिपदिक से उसको पढ़ता है या उसको जानता है, इन अर्थों में वुन् प्रत्यय होता है)

उदा०----क्रमकः । पदकः । क्रम । पद । शिक्षा । मीमांसा । सामन् ।

चातुरर्थिकप्रकरणम्——

तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि ४।२।६७

प० वि०---तत् १।१ अस्मिन् ७।१ अस्ति क्रिया० । इति अ० । देशे ७।१ तन्नाम्नि ७।१ । स०---तत् प्रत्ययान्तं नाम यस्येति तन्नाम तस्मिन् ।

अथ—तदिति प्रथमासमर्थप्रातिपदिकाद् अस्मिन्निति सप्तम्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति यत्तत्प्रथमासमर्थम् अस्ति चेत् तद्भवति, यत्तद् अस्मिन्निति निर्दिष्टं प्रत्ययान्तनामा देशश्चेत् तद्भवति ।

१—न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच् (७. ३. ३)

(प्रथमा समर्थ प्रातिपदिक से सप्तमी के अर्थ में यथाविहित (अण्) प्रत्यय होता है, यदि वह प्रथमा समर्थ अस्ति अर्थात् 'है' अर्थ को बतलाने वाला हो और 'अस्मिन्' यह प्रत्ययान्त शब्द बनने पर, देश को कहने वाले हों)

उदा०—औदुम्बरः । बाल्वजः । पार्वतः ॥

सि०—उदुम्बराः सन्ति अस्मिन् देशे इति औदुम्बरो देशः । पर्वताः सन्त्यस्मिन् देश इति पार्वताः ॥

तेन निर्वृत्तम् ४।२।६८

प० वि०—तेन ३।१ निर्वृत्तम् १।१

अर्थ—[देशे तन्नाम्नि] तृतीयसमर्थप्रातिपदिकान् निर्वृत्तम् इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति देशनाम्नि अभिधेये ।

(तृतीया समर्थ प्रातिपदिक से बनाया गया अर्थात् बनवाया गया इस अर्थ में यथाविहित (अण्) प्रत्यय होता है देश का नाम गम्यमान होने पर)

उदा०—कौशाम्बी नगरी।

सि०—कुशाम्बेन निर्मिता नगरी इति विग्रहः । कुशाम्ब टा अण् । कौशाम्ब अ । कौशाम्ब ङीप् । कौशाम्बी सु । कौशाम्बी ॥

तस्य निवासः ४।२।६९

प० वि०—तस्य ६।१ निवासः १।१

अर्थ—[देशे तन्नाम्नि] षष्ठीसमर्थप्रातिपदिकान् निवास इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति देशनामधेये । (षष्ठी समर्थ प्रातिपदिक से निवास इस अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है देश का नाम अभिधेय होने पर)

उदा०—शैवः ।

सि०—शिबीनां निवासो देश इति शैबो देशः ॥

अदूरभवश्च ४।२।७०

प० वि०—अदूरभवः १।१ च अ० । स०—न दूरम् अदूरम् । अदूरे भवः अदूरभवः ।

अर्थ—[देशे तन्नाम्नि, तस्य] षष्ठीसमर्थात् प्रातिपदिकाद् अदूरभव इत्येतस्मिन्नर्थे देशनामधेये यथाविहितं प्रत्ययो भवति । (षष्ठी समर्थ प्रातिपदिक से पास होने अर्थ में यथाविहित (अण्) प्रत्यय होता है देशके नाम होने पर)

उदा०—विदिशाया नद्या अदूरभवं नगरं वैदिशम् ॥

शैषिकप्रकरणम्—

शेषे ४।२।९२

प० वि०—शेषे ७।१

अर्थ—इतोऽग्रे वक्ष्यमाणाः प्रत्ययाः शेषे अर्थे भवन्ति इत्यधिकारो वेदितव्यः। शेषशब्देनात्र इत आरम्भ 'तस्येदम्' इतिपर्यन्तं ये अर्थाः वक्ष्यन्ते तेषां ग्रहणम्। (यहां से कहे जाने वाले प्रत्यय शेष अर्थों में होते हैं, इस बात का अधिकार समझना चाहिये) शेष से अभिप्राय यहां 'तस्येदम्' प्रकरण पर्यन्त जितने वक्ष्यमाण अर्थ कहे हैं उनसे है।

राष्ट्रावारपाराद् घखौ ४।२।९३

प० वि०—राष्ट्रावारपारात् ५।१ घखौ १।२ स०—राष्ट्रञ्च अवारपारञ्चेति राष्ट्रावारपारम् तस्मात्। घश्च खश्चेति घखौ।

अर्थ—राष्ट्र अवारपार इत्येताभ्यां यथासंख्यं घखौ प्रत्ययौ भवतः शेषे। (राष्ट्र और अवारपार इन दो शब्दों से क्रमशः घ और ख प्रत्यय होते हैं शेष अर्थों में)

उदा०—राष्ट्रियः। अवारपारीणः। ×अवारपाराद् विगृहीतादपि× अवारीणः। पारीणः ×विपरीताच्च× पारावारीणः।

ग्रामाद् यखञौ ४।२।९४

प० वि—ग्रामात् ५।१ यखञौ १।२ स०—यश्च खञ्चेति यखञौ।

अर्थ—ग्रामशब्दात् यखञौ प्रत्ययौ भवतः शेषे (ग्राम शब्द से य और खञ् प्रत्यय होते हैं शेष अर्थ में)

उदा०—ग्राम्यः। ग्रामीणः।

दक्षिणापश्चात्पुरसस्त्यक् ४।२।९८

प० वि०—दक्षिणापश्चात्पुरसः ५।१ त्यक् १।१ स०—दक्षिणा च पश्चाच्च पुरश्चेति दक्षिणा-पश्चात्पुरस् तस्मात्

अर्थ—दक्षिणा-पश्चात्-पुरसः प्रातिपदिकात् त्यक् प्रत्ययो भवति शैषिकः। (दक्षिणा, पश्चात् और पुरस् प्रातिपदिक से त्यक् प्रत्यय होता है शेष अर्थों में)

उदा०—दक्षिणायां भवः दाक्षिणात्यः। पश्चाद् भवः पाश्चात्यः। पुरो भवः पौरस्त्यः।

द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत् ४।२।१०१

प० वि०—द्यु-प्राग-अपाग-उदक्-प्रतीचः ५।१ यत् १।१ स०—द्यौश्च प्राक्च अपाक् च उदक्च प्रत्यक्चेति द्युप्रागपागुदक्प्रत्यक् तस्मात्।

अर्थ—दिव्-प्राच्-अपाच्-उदच्-प्रत्यच् इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो यत् प्रत्ययो भवति शैषिकः। (दिव्, प्राच्, अपाच्, उदच्, प्रत्यच् इन प्रातिपदिकों से यत् प्रत्यय होता है शेष अर्थों में)

उदा०—दिवि भवः दिव्यम्। प्राच्यम्। अपाच्यम्। उदीच्यम् प्रतीच्यम्॥

अव्ययात् त्यप् ४।२।१०४

प० वि०—अव्ययात् ५।१ त्यप् १।१

अर्थ—अव्ययात् त्यप् प्रत्ययो भवति शैषिकः। (अव्यय से त्यप् प्रत्यय होता है शेष अर्थ में)

उदा०—❀अमेहक्वतसित्रेभ्यः एव❀ अमात्यः। इहत्यः। क्वत्यः। ततस्त्यः। तत्रत्यः॥ ×त्यब्नेर्ध्रुवे× नित्यः॥

ऐषमोह्यःश्वसोऽन्यतरस्याम् ४।२।१०५

प० वि०—ऐषमोह्यःश्वसः ५।१ अन्यतरस्याम् अ०। स०—ऐषमश्च ह्यश्च श्वश्चेति ऐषमोह्यश्वस् तस्मात्।

अर्थ—[त्यप्] ऐषमस्-ह्यस्-श्वसः प्रातिपदिकात् त्यप् प्रत्ययो भवति शैषिकोऽन्यतरस्याम्। (ऐषमस् ह्यस् श्वस् इन प्रातिपदिकों से विकल्प से त्यप् प्रत्यय होता है शेष अर्थ में)

उदा०—ऐषमस्त्यम्। ऐषमस्तनम्। ह्यस्त्यम। ह्यस्तनम्। श्वस्त्यम्। श्वस्तनम्। शौवस्तिकम्॥

दिक्पूर्वपदादसंज्ञायां ञः ४।२।१०७

प०वि०—दिक्पूर्वपदात् ५।१ असंज्ञायाम् ७।१ स०—पूर्वञ्च तत्पदञ्चेति पूर्वपदम्—दिक्वाची पूर्वपदं यस्य तत्। दिक्पूर्वपदम् तस्मात्। न संज्ञा असंज्ञा तस्याम्।

अर्थ—दिग्वाचिनः शब्दाः पूर्वपदानि यस्य तस्मात् असंज्ञायां वर्तमानात् प्रातिपदिकात् ञः प्रत्ययो भवति शैषिकः। (दिशावाची शब्द है पूर्वपद जिसका ऐसे असंज्ञा में वर्तमान प्रातिपदिक से शेष अर्थ में ञ प्रत्यय होता है)

उदा०—पौर्वशालः। आपरशालः।

सि०—समासप्रकरणे द्रष्टव्यम्

वृद्धाच्छः ४।२।११४

प० वि०—वृद्धात् ५।१ छः ।१।।

अर्थ—वृद्धसंज्ञकप्रातिपदिकात् छः प्रत्ययो भवति शैषिकः। (वृद्ध संज्ञक प्रातिपदिक से छ प्रत्यय होता है शेष अर्थ में)

उदा०—शालीयः। मालीयः।

भवतष्ठक्छसौ ४।२।११५

प० वि०—भवतः ५।१ ठक्छसौ १।२ स०—ठक् च छश्च इति ठकछसौ।

अर्थ—[वृद्धात्] भवच्छब्दाद् वृद्धात् ठक्छसौ प्रत्ययौ भवतः शैषिकौ। (वृद्ध संज्ञक भवत् शब्द से ठक् और छस प्रत्यय होते हैं शेष अर्थ में)

उदा०—भावत्कः। भवदीयः।

सि०—भवत् ङस् ठक् । भवत् ठ। भावत् ठ। भावत्क सु[1]। भावत्कः। भवदीयः। भवत् छस्। भवत् छ[2]। भवत् ईय। भवद्[3] ईय। भवदीय सु। भवदीयः।।

इत्याष्टाध्यायी-प्रकाशिकायां चतुर्थाध्याये द्वितीयः पादः

———

युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ्च ४।३।१

प० वि०—युष्मदस्मदोः ६।२ अन्यतरस्याम् अ० खञ् १।१ च अ०। स०—युष्मच्च अस्मच्चेति युष्मदस्मदौ तयोः।

अर्थ—(उत्तरादेशार्थं षष्ठी) युष्मद्-अस्मद् इत्येताभ्यां प्रातिपदिकाभ्याम् खञपि प्रत्ययो भवति शैषिकोऽन्यतरस्याम्।

(युष्मद् और अस्मद् प्रातिपादिक से खञ् प्रत्यय भी शेष अर्थों में विकल्प से होता है)

❀अत्रेदं ज्ञातव्यम्-वृद्धत्वाच्छः अन्यतरस्यां ग्रहणादण् खञ् तु साक्षादेव तस्मात् प्रकृतिद्वयं प्रत्ययत्रयमस्मात् कारणात् यथासंख्यं न❀

उदा०—युवयोर्युष्माकं वा अयं युष्मदीयः, अस्मदीयः।

सि०—युष्मद् ङस् छ। युष्मद् ईय। युष्मदीयः। अस्मदीयः।

१—इसुसुक्तान्तात् कः (७. १. ५१) २—सिति च (१. ४. १६) ३—पदत्वात, झलां जशोऽन्त (८. २. ३९)

तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ ४।३।२

प० वि०—तस्मिन् ७।१ अणि ७।१ च अ०। युष्माकास्माकौ १।२ स०—युष्माकश्च अस्माकश्चेति युष्माकास्माकौ।

अर्थ—[युष्मदस्मदोः] तस्मिन् खञि अणि च युष्मदस्मदोर्यथा-संख्यं युष्माक अस्माक इत्येतावादेशौ भवतः।

(उस खञ् और अण् के परे रहने पर युष्मद् और अस्मद् के स्थान में क्रमशः युष्माक और अस्माक आदेश होते हैं)

उदा०—खञि-यौष्माकीणः। अस्माकीनः। अणि–यौष्माकः। आस्माकः।

सि०–युष्मद् ङस् खञ्। युष्मद् ख। युष्माक ईन। युष्माक् ईन। यौष्माकीन। यौष्माकीण सु। यौष्माकीणः। अस्माकीनः। यौष्माकः। युष्मद् ङस् अण्। युष्माक अ। युष्माक् अ। यौष्माक सु। यौष्माकः। आस्माकः।

तवकममकावेकवचने ४।३।३

प० वि०—तवकममकौ १।२ एकवचने ७।१ स०—तवकश्च मम-कश्चेति तवकममकौ।

अर्थ—[युष्मदस्मदोः] युष्मदस्मदोरेकवचने तवकममकावादेशौ भवतः। (युष्मद् और अस्मद् शब्द के स्थान में एक वचन में तवक और ममक आदेश होते हैं)

ॐअत्रेदं ज्ञातव्यम्-एकवचने आदेशार्थम् इदं वचनम्, प्रत्ययास्तु पूर्वेणैव सिद्धाःॐ

उदा०—खञि–तावकीनः। मामकीनः। अणि-तावकः। मामकः। छे–त्वदीयः। मदीयः।

सि०–तव मम वा अयम् इति विग्रहः। युष्मद् ङस् अण्। तवक अ। तवक् अ। तावक् अ। तावक सु। तावकः। मामकः। तावकीनः। युष्मद् ङस् खञ्। तवक ख। तवक ईन। तवक् ईन। तावक् ईन। तावकीन सु। तावकीनः। मामकीनः। त्वदीयः। युष्मद् छ। युष्मद् ईय। त्व[1] अद् ईय। त्वद् ईय। त्वदीय सु। त्वदीयः। मदीयः।

१---प्रत्ययोत्तरपदयोश्च (७. २. ९८)

मध्यान्मः ४।३।८

प० वि०—मध्यात् ५।१ मः १।१

अर्थ—मध्यात् प्रातिपदिकात् शेषे मः प्रत्ययो भवति। (मध्य प्रातिपदिक से शेष अर्थ में म प्रत्यय होता है)

उदा०—मध्ये भवः मध्यमः। ×आदेश्चेति वक्तव्यम्× आदिमः।

कालाट्ठञ् ४।३।११

प० वि०—कालात् ५।१ ठञ् १।१

अर्थ—कालवाचिनः प्रातिपदिकात् ठञ् प्रत्ययो भवति शेषेऽर्थे। (कालवाची प्रातिपदिक से शेष अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है)

उदा०—मासे भवः मासिकः। सांवत्सरिकः। आर्द्धमासिकः।

श्राद्धे शरदः ४।३।१२

प० वि०—श्राद्धे ७।१ शरदः ५।१

अर्थ—[ठञ्] श्राद्धे गम्यमाने शरत्प्रातिपदिकात् ठञ् प्रत्ययो भवति शेषे। (श्राद्ध गम्यमान होने पर शेष अर्थमें शरत् प्रातिपदिक से ठञ् प्रत्यय होता है)

उदा०—शरदि भवं श्राद्धम् इति शारदिकं श्राद्धम्।

विभाषा रोगातपयोः ४।३।१३

प० वि०—विभाषा १।१। रोगातपयोः ७।२ स०—रोगश्च आतपश्चेति रोगातपयोः।

अर्थ—[शरदः] शरत्प्रातिपदिकाद् रोगे आतपे च अभिधेये ठञ् प्रत्ययो विभाषा भवति शेषे। (शरद् शब्द से रोग और आतप अभिधेय होने पर ठञ् प्रत्यय विकल्प से होता है शेष अर्थ में)

उदा०—शरदि भवो रोगः आतपो वा शारदिको रोगः। शारदिकः आतपः। अणि—शारदो रोगः आतपो वा।

निशाप्रदोषाभ्याञ्च ४।३।१४

प० वि०—निशाप्रदोषाभ्याम् ५।२ च अ०। स०—निशा च प्रदोषश्चेति निशाप्रदोषौ ताभ्याम्।

अर्थ—[विभाषा ठञ्] निशाप्रदोषाभ्यां प्रातिपदिकाभ्यां विभाषा ठञ् प्रत्ययो भवति।

(निशा और प्रदोष शब्द से विकल्प करके ठञ् प्रत्यय होता है)

उदा०—निशायां प्रदोषे वा भवः नैशिकं प्रादोषिकम्। नैशम्। प्रादोषम्।

श्वसस्तुट् च ४।३।१५

प० वि०—श्वसः ५।१ तुट् १।१ च अ०।

अर्थ—[विभाषा ठञ्] श्वःशब्दाद् विभाषा ठञ् प्रत्ययो भवति तुट् चागमः शेषे। (श्वः शब्द से विकल्प से ठञ् प्रत्यय होता है शेष में और प्रत्यय को तुट् आगम भी।

उदा०—श्वो भवः शौवस्तिकः।

सि०—श्वस् तुट् ठञ्। श्वस्त् ठ। श्वस्त इक। शौवस्त[1] इक। शौवस्त् इक। शौवस्तिक सु। शौवस्तिकम्।

प्रावृष एण्यः ४।३।१७

प० वि०—प्रावृषः ५।१ एण्यः १।१

अर्थ—प्रावृष् शब्दादेण्यः प्रत्ययो भवति शैषिकः। (प्रावृट् शब्द से एण्य प्रत्यय होता है शेष में)

उदा०—प्रावृषि भवः बलाहकः इति प्रावृषेण्यो बलाहकः।

सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च ४।३।२३

प० वि०—सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यः ५।३ ट्युटयुलौ १।२ तुट् १।१ च अ०।

स०—सायञ्च चिरञ्च प्राह्णे च प्रगे च अव्यानि च इति सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्यानि तेभ्यः। ट्युश्च ट्युल्च इति ट्युट्युलौ।

अर्थ-[कालात्] सायं चिरं प्राह्णे प्रगे इत्येतेभ्योऽव्ययेभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्यः कालवाचिभ्यः ट्युट्युलौ प्रत्ययौ भवतस्तयोस्तुट् चागमः शैषिकौ। (सायम्, चिरम् प्राह्णे प्रगे तथा अव्यय इन कालवाची प्रातिपदिकों से शेष अर्थ में ट्यु और ट्युल् प्रत्यय होते हैं और इन प्रत्ययो को तुट् का आगम होता है शेष अर्थ में)

उदा०—सायन्तनम्। चिरन्तनम्। प्राह्णेतनम्। प्रागेतनम्। दोषातनम्। दिवातनम्। प्राह्णप्रगयोरेदन्तत्वं निपात्यते।

× चिरपरुत्परादिभ्यस्त्नो वक्तव्यः × चिरत्नम्। परुत्नम्। परारित्नम्।

१—द्वारादीनां च (७. ३. ४) इत्यनेन न वृद्धिरैजागमश्च

तत्र जातः ४।३।२५

प० वि०—तत्र अ० । जातः १।१

अर्थ—तत्र इति सप्तमीसमर्थात् प्रातिपदिकात् जात इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति । (सप्तमीसमर्थ प्रातिपादिक से उत्पन्न हुआ इस अर्थ में यथाविहित (अण्) प्रत्यय होता है)। यहां से आगे ४।३।५१ तक इसका अधिकार है ।

उदा०—स्रुघ्ने जातः । स्रौघ्नः । माथुरः । राष्ट्रे जातः । राष्ट्रियः ।

प्रावृषष्ठप् ४।३।२६

प० वि०—प्रावृषः ५।१ ठप् १।१

अर्थ—प्रावृष्शब्दात् सप्तमीसमर्थात् जात इत्येतस्मिन्नर्थे ठप् प्रत्ययो भवति ।(सप्तमीसमर्थ प्रावृट् शब्द से उत्पन्न हुआ इस अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है)

उदा०—प्रावृषि जातः प्रावृषिकः ।

प्रायभवः ४।३।३९

प० वि०—प्रायभवः १।१ स०—प्रायेण भवः प्रायभवः ।

अर्थ—[तत्र] सप्तमीसमर्थात् प्रातिपदिकात् प्रायभव इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति । (सप्तमीसमर्थ प्रातिपदिकसे अधिकतर होने वाला इस अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है)

उदा०—स्रुघ्ने प्रायेण वाहुल्येन भवति स्रौघ्नः ।

संभूते ४।३।४१

प० वि०—संभूते (क्रिया०)

अर्थ—[तत्र] सप्तमीसमर्थप्रातिपदिकात् संभूते इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति । सप्तमीसमर्थ प्रातिपदिक से संभव होता है इस अर्थ में यथा विहित प्रत्यय होता है)

उदा०—स्रुघ्ने संभवति स्रौघ्नः । माथुरः ।

तत्र भवः ४।३।५३

प० वि०—तत्र अ० । भवः १।१

अर्थ—तत्रेति सप्तमीसमर्थप्रातिपदिकात् भव इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति । (सप्तमीसमर्थ प्रातिपदिक से होने वाला इस अर्थ

में यथाविहित प्रत्यय होता है)

उदा०—शालायां भवः शालीयः। मालीयः। स्रौघ्नः। माथुरः॥

दिगादिभ्यो यत् ४।३।५४

प० वि०—दिगादिभ्यः ५।३ यत् १।१ स०—दिक्छब्द आदिर्येषां ते दिगादयः तेभ्यः।

अर्थ—[तत्र भवः] दिशावाचिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यस्तत्र भव इत्येतस्मिन्नर्थे यत् प्रत्ययो भवति। (दिशावाची प्रातिपदिक से उसमें होने वाला इस अर्थ में यत् प्रत्यय होता है)

उदा०—दिश्यम्। वर्ग्यम्। पूग्यम्। गण्यम्।

शरीरावयवाच्च ४।३।५५

प० वि०—शरीरावयवात् ५।१ च अ०। स०—शरीरस्य अवयवः शरीरावयवः तस्मात्।

अर्थ—[तत्र भव] शरीरावयववाचिनः प्रातिपदिकात् तत्र भव इत्येतस्मिन्नर्थे यत् प्रत्ययो भवति।

(शरीर के अङ्ग को कहने वाले प्रातिपदिक से तत्र भवः इस अर्थ में यत् प्रत्यय होता है)

उदा०—दन्तेषु भवं, दन्त्यम्। कर्ण्यम्। ओष्ठ्यम्।

जिह्वामूलाङ्गुलेश्छः ४।३।६२

प० वि०- जिह्वामूलाङ्गलेः ५।१ छः १।१ स०—जिह्वामूलञ्च अङ्गुलिश्चेति जिह्वामूलाङ्गुलि तस्मात्।

अर्थ—[तत्र भवः] जिह्वामूल अङ्गुलि इत्येताभ्यां प्रातिपदिकाभ्यां छः प्रत्ययो भवति तत्र भव इत्येतस्मिन्नर्थे।

(जिह्वामूल और अङ्गुलि शब्द से तत्र भवः इस अर्थ में छ प्रत्यय होता है)

उदा०—जिह्वामूले भवः जिह्वामूलीयम्। अङ्गुलीयम्।

वर्गान्ताच्च ४।३।६३

प० वि०—वर्गान्तात् ५।१ च अ०। स०—वर्गशब्दोऽन्तो यस्येति वर्गान्तः तस्मात्।

अर्थ—वर्गान्तात् प्रातिपदिकात् तत्र भवः इत्येतस्मिन्नर्थे छः प्रत्ययो भवति। (वर्ग शब्दान्त प्रातिपदिक से उसमें होने वाला इस अर्थ में छ प्रत्यय होता है)

उदा०—कवर्गे भवं कवर्गीयम्। तवर्गीयम्।

सोऽस्य निवासः ४।३।८९

प० वि०—सः १।१ अस्य ६।१ निवासः १।१

अर्थ—प्रथमासमर्थात् प्रातिपदिकात् अस्य निवास इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति । (प्रथमासमर्थ प्रातिपदिक से 'उसका निवास है' इस अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है)

उदा०—स्रुघ्नो निवासोऽस्येति स्रौघ्नः। माथुरः। राष्ट्रियः।

तेन प्रोक्तम् ४।३।१०२

प० वि०—तेन ३।१ प्रोक्तम् १।१

अर्थ—तृतीयासमर्थप्रातिपदिकात् प्रोक्तम् इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति।

(तृतीयासमर्थ प्रातिपदिक से प्रोक्त अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है)

उदा०—पाणिनीयम्। व्याकरणम्। पातञ्जलम्। पातञ्जलः।

सि०—पाणिना प्रोक्तम् इति विग्रहः। पाणिनि छ[1]। पाणिन् ईय। पाणिनीय सु। पाणिनीय अम्। पाणिनीयम्। पतञ्जलिना प्रोक्तम् पातञ्जलं महाभाष्यम्। पातञ्जलमधीते वेद वेति पातञ्जलः। पातञ्जल अम् अण्। पातञ्जलः[2]।

तस्येदम् ४।३।१२०

प० वि०—तस्य ६।१ इदम् १।१

अर्थ—षष्ठीसमर्थात् प्रातिपदिकात् इदमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। (षष्ठी समर्थ प्रातिपदिक से 'यह है उसका' इस अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है)

विकारार्थप्रकरणम्

तस्य विकारः ४।३।१३२

प० वि०—तस्य ६।१ विकारः १।१॥

अर्थ—षष्ठीसमर्थात् प्रातिपदिकात् विकार इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। (षष्ठी समर्थ प्रातिपदिक से विकार अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है)

१–वृद्धाच्छः (४. २. ११४) २–प्रोक्ताल्लुक (४. २. ६४)

उदा०—अश्मनो विकारः आश्मनः। आश्मः। अश्मनो विकार इति टिलोपः पाक्षिकः। भास्मनः। मार्तिकः।

तस्यप्रकरणे तस्येति पुनर्वचनं शेषाधिकारनिवृत्यर्थम्।

इत्यष्टाध्यायी-प्रकाशिकायां चतुर्थाध्याये तृतीयः पादः

ठगाधिकारप्रकरणम्

प्राग्वहतेष्ठक् ४।४।१

प० वि०—प्राक् १।१ वहतेः ५।१ ठक् १।१।

अर्थ—तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम् इत्येतस्मात् प्राग् वक्ष्यमाणेष्वर्थेषु ठक् प्रत्ययो भवति इत्यधिकारो वेदितव्यः।

(तद् वहति रथयुगप्रासङ्गम् इसके पहले-पहले कहे जाने वाले अर्थों में ठक् प्रत्यय होता है, इस बात का अधिकार समझना चाहिये)

तेन दीव्यति खनति जयति जितम् ४।४।२

प० वि०—तेन ३।१ दीव्यति क्रिया०। खनति क्रिया०। जयति क्रिया०। जितम् १।१

अर्थ—तेनेति तृतीयासमर्थात् प्रातिपदिकात् दीव्यति खनति जयति जितम् इत्येतेषु अर्थेषु ठक् प्रत्ययो भवति। (तृतीया समर्थ प्रातिपदिक से दीव्यति, खनति, जयति और जितम् इन अर्थों में ठक् प्रत्यय होता है)

उदा०—अक्षैर्दीव्यति, आक्षिकः। शालाकिकः। कौद्दालिकः। अक्षैर्जयति जितम् वा आक्षिकम्। शालाकिकम्।

संस्कृतम् ४।४।३

प० वि०—संस्कृतम् १।१

अर्थ—[तेन] तृतीयासमर्थप्रातिपदिकात् संस्कृतम् इत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। (तृतीयासमर्थ प्रातिपदिक से संस्कार किया गया इस अर्थ में यथाविहित (ठक्) प्रत्यय होता है)

उदा०—दध्ना संस्कृतम् दाधिकम्।

तरति ४।४।५

प० वि०—तरति क्रिया०।

अर्थ—[तेन] तृतीयासमर्थप्रातिपदिकात तरति इत्येतस्मिन्नर्थे

यथाविहितं प्रत्ययो भवति। (तृतीया समर्थ प्रातिपदिक से तैरता है इस अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है)

उदा०—काण्डप्लवेन तरति काण्डप्लविकः। औडुपिकः।

गोपुच्छाट् ठक् ४।४।६

प० वि०—गोपुच्छात् ५।१ ठक् १।१

अर्थ—[तेन] तृतीयासमर्थाद् गोपुच्छशब्दात् तरति इत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति।

(तृतीयासमर्थ गोपुच्छ शब्द से तरता है, इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है)

उदा०—गोपुच्छेन तरतीति गौपुच्छिकः।

नौद्व्यचष्ठन् ४।४।७

प० वि०—नौद्व्यचः ५।१ ठन् १।१ नौश्च द्व्यच्चेति नौद्व्यच् तस्मात्।

अर्थ—[तेन तरति] नौशब्दात् द्व्यचश्च प्रातिपदिकात् तरति इत्येतस्मिन्नर्थे ठन् प्रत्ययो भवति। (नौ और दो अच् हैं जिसमें ऐसे प्रातिपदिक से तैरता है, इस अर्थ में ठन् प्रत्यय होता है)

उदा०—नावा तरति नाविकः। द्व्यचः—घटेन तरति घटिकः। बाहुकः।

चरति ४।४।८

प० वि०—चरति क्रिया०।

अर्थ—[तेन] तृतीयासमर्थात् प्रातिपदिकात् चरति इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। (तृतीया समर्थ प्रातिपदिक से जाता है और खाता है इस अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है)

उदा०—दध्ना चरति दाधिकः। हास्तिकः। शाकटिकः।

निर्वृत्तेऽक्षद्यूतादिभ्यः ४।४।१९

प० वि—निर्वृत्ते ७।१ अक्षद्यूतादिभ्यः ५।३ स०—अक्षद्यूतमादि येषान्ते अक्षद्यूतादयः तेभ्यः।

अर्थ—[तेन] अक्षद्यूतादिभ्यः तृतीयासमर्थप्रातिपदिकेभ्यो निर्वृत्ते इत्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। (अक्षद्यूत इत्यादि तृतीया समर्थ प्रातिपदिकों से बनाया गया इस अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है)

क्त्रेर्मम्नित्यम् ४।४।२०

प० वि०—क्त्रेः ५।१ मप् १।१ नित्यम् १।१

अर्थ—[निर्वृत्ते] क्त्रिप्रत्ययान्तात् प्रातिपदिकात् निर्वृत्तम इत्येतस्मिन्नर्थे नित्यं मप् प्रत्ययो भवति।

(क्त्रि प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से बनाया गया इस अर्थ में नित्य ही मप् प्रत्यय होता है) नित्य ग्रहण से क्त्रि प्रत्ययान्त 'कृत्रि' आदि शब्दों के प्रयोग का अभाव दर्शाया है इसीलिए 'तेन' की अनुवृत्ति होते हुए भी उसका सम्बन्ध इस सूत्र में नहीं लगता।

पाकेन निर्वृत्तम्।

उदा०—कर्मणा निर्वृत्तम् इति कृत्रिमम्। पक्त्रिमम्।

व्यञ्जनैरुपसिक्ते ४।४।२६

प० वि०—व्यञ्जनैः ३।३ उपसिक्ते ७।१

अर्थ—[तेन] व्यञ्जनवाचिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यस्तृतीयासमर्थेभ्यः उपसिक्ते इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। (व्यञ्जनवाची तृतीया समर्थ प्रातिपदिक से उपसिक्त इस अर्थ में यथाविहित (ठक्) प्रत्यय होता है)

उदा०—दध्ना उपसिक्तम् ओदनम् इति दाधिकम्। सौपिकम्। खारिकम्।

यदधिकारप्रकरणम्

प्राग्घिताद्यत् ४।४।७५

प० वि०—प्राक् १।१ हितात् ५।१ यत् १।१

अर्थ—इतोऽग्रे तस्मै हितम् इत्येतस्मात् प्राक् वक्ष्यमाणेषु अर्थेषु यत् प्रत्ययो भवति इत्यधिकारो वेदितव्यः। (तस्मै हितम् इस सूत्र के पहले पहले कहे जाने वाले अर्थों में यत् प्रत्यय होता है, इस बात का अधिकार समझना चाहिये

तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम् ४।४।७६

प० वि०—तत् २।१ वहति क्रिया०। रथयुगप्रासङ्गम् २।१ स०—रथश्च युगश्च प्रासङ्गश्चेति रथयुगप्रासङ्गम्।

अर्थ—तद् इति द्वितीयासमर्थात् रथयुगप्रासङ्गप्रातिपदिकात् वहति इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं (यत्) प्रत्ययो भवति।

(द्वितीयासमर्थ रथ युग और प्रासङ्ग प्रातिपादिक से ढोता है इस अर्थ में

यथाविहित (यत्) प्रत्यय होता है)

उदा०—रथं युगं प्रासङ्गम् वा वहति इति रथ्यः युग्यः प्रासङ्ग्यः गौः।

शकटादण् ४।४।८०

प० वि०—शकटात् ५।१ अण् १।१

अर्थ—[तद्वहति] शकटात् प्रातिपदिकात् द्वितीयासमर्थात् वहतीत्येस्मिन्नर्थे अण् प्रत्ययो भवति। (शकट प्रातिपदिक से ढोने अर्थ में अण् प्रत्यय होता है)

उदा०—शकटं वहति इति शाकटो गौः॥

हलसीराट्ठक् ४।४।८१

प० वि०—हलसीरात् ५।१ ठक् १।१ स०—हलं च सीरं च इति हलसीरम् तस्मात्

अर्थ—[तद् वहति] हलसीरशब्दाभ्यां द्वितीयसमर्थप्रातिपदिकाभ्यां वहतीत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति। (हल और सीर द्वितीया समर्थ प्रातिपदिक से 'ढोता है' इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है)

उदा०—हलं सीरं वा वहति इति हालिकः सैरिको गौः

तत्र साधुः ४।४।९८

प० वि०—तत्र अ०। साधुः १।१

अर्थ—सप्तमीसमर्थात् प्रातिपदिकात् साधु इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं (यत्) प्रत्ययो भवति। (सप्तमी समर्थ प्रातिपदिक से 'चतुर है' इस अर्थ में यथाविहित् (यत्) प्रत्यय होता है)

उदा०—सामसु साधुः सामन्यः। कर्मणि साधुः कर्मण्यः।

सि०—सामन् यत्। सामन्[1] य। सामन्य।

भक्तादण् ४।४।१००

प० वि०—भक्तात् ५।१ अण् १।१॥

अर्थ—[तत्र साधुः] भक्तशब्दात् सप्तमीसमर्थप्रातिपदिकात् साधु इत्येतस्मिन्नर्थे अण् प्रत्ययो भवति। (भक्त शब्द से अच्छा अर्थ में अण् प्रत्यय होता है)

उदा०—भक्ते साधुः, भाक्तः शालिः। भाक्तास्तण्डुलाः॥

१—ये चाभावकर्मणोः (६. ४. १६८)

परिषदो ण्यः ४।४।१०१

प० वि०—परिषदः ५।१ ण्यः १।१

अर्थ—[तत्र साधुः] परिषच्छब्दात् सप्तमीसमर्थात् प्रातिपदिकात् साधु इत्येतस्मिन्नर्थे ण्यः प्रत्ययो भवति। (परिषद् शब्द सप्तमी समर्थ प्रातिपदिक से चतुर इस अर्थ में ण्य प्रत्यय होता है)

सि०—परिषदि साधुः पारिषद्यः ॥

सभाया यः ४।४।१०५

प० वि०—सभायाः ५।१ यः १।१

अर्थ—[तत्र साधुः] सभाशब्दात् प्रातिपदिकात् तत्र साधु इत्येतस्मिन्नर्थे यः प्रत्ययो भवति। (सभा शब्द से तत्र साधु इस अर्थ में य प्रत्यय होता है)

उदा०—सभायां साधुः सभ्यः ॥

समानतीर्थे वासी ४।४।१०७

प० वि०—समानतीर्थे ७।१ समानश्चासौ तीर्थश्चेति समानतीर्थः तस्मिन्। वसतीति वासी ग्रहादित्वाण्णिनिः ॥

अर्थ—[तत्र] समानतीर्थशब्दात् सप्तमीसमर्थात् प्रातिपदिकात् वासी इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं यत् प्रत्ययो भवति। (समानतीर्थ सप्तमी समर्थ प्रातिपदिक से वासी इस अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है)

उदा०—सतीर्थ्यः।

सि०—समाने तीर्थे गुरौ वसतीति विग्रहः। समानतीर्थ ङि यत्। समानतीर्थ् य। सतीर्थ्[1] य। सतीर्थ्य सु। सतीर्थ्यः ॥

इतिश्रीमत्पदवाक्यप्रमाणज्ञमहावैयाकरणपण्डितब्रह्मदत्ता-
चार्याणामन्तेवासिना देवप्रकाशपातञ्जलेन विर-
चितायामष्टाध्यायी-प्रकाशिकायां
चतुर्थाध्याये चतुर्थः पादः
इति चतुर्थोऽध्यायः

———

१—तीर्थे ये (६. ३. ८७)

प्राक् क्रीताच्छः ५।१।१

प० वि०—प्राक् १।१ क्रीतात् ५।१ छः १।१

अर्थ—इतोऽग्रे तेन क्रीतम् इत्येतस्मात् प्राक् वक्ष्यमाणेषु अर्थेषु छः प्रत्ययो भवति इत्यधिकारो वेदितव्यः। (यहां से तेन क्रीतम् इस सूत्र के पहले पहले कहे जाने वाले अर्थों में छ प्रत्यय होता है, इस बात का अधिकार समझना चाहिये)

उगवादिभ्यो यत् ५।१।२

प० वि०—उगवादिभ्यः ५।३ यत् १।१ स०—उश्च गवादयश्चेति तेभ्यः। गौरादिर्येषान्ते गवादयः।

अर्थ—उवर्णान्तात् प्रातिपदिकाद् गवादिभ्यश्च प्राक्क्रीतीयेष्वर्थेषु यत् प्रत्ययो भवति। (उवर्णान्त और गो इत्यादि प्रातिपदिक से क्रीत के पहले पहले अर्थों में यत् प्रत्यय होता है)

उदा०—उवर्णान्तात्—शङ्कवे हितम् शङ्कव्यं दारु। पिचव्यः कार्पासः। कमण्डलव्यं दारु।

सि०—शङ्कु ङे यत्। शङ्को[1] य। शङ्कव्[2] य। शङ्कव्य सु। शङ्कव्य अम्। शङ्कव्यम्॥

तस्मै हितम् ५।१।५

प० वि०—तस्मै ४।१ हितम् १।१

अर्थ—चतुर्थीसमर्थात् प्रातिपदिकात् हितम् इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। (चतुर्थी समर्थ प्रातिपदिक से हित इस अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है)

उदा०—वत्सेभ्यो हितम् गोधुक् इति वत्सीयः गोधुक्

शरीरावयवाद् यत् ५।१।६

प० वि०—शरीरावयवात् ५।१ यत १।१ स० शरीरस्य अवयवः शरीरावयवः तस्मात्।

अर्थ—[तस्मै हितम्] शरीरस्य अवयववाचिनः प्रातिपदिकात् तस्मै हितम् इत्येतस्मिन्नर्थे यत् प्रत्ययो भवति। (शरीर के अवयववाची प्रातिपदिक से तस्मै हितम् इस अर्थ में यत् प्रत्यय होता है)

१—यचि भम् (१. ४. १८) भस्य (६. ४. १२९) ओर्गुणः (६. ४. १४६) २—वान्तो यि प्रत्यये (६. १. ७९)

उदा०—दन्तेभ्यो हितम् दन्त्यं चूर्णम् । कण्ठ्यम् । ओष्ठ्यम् । नाभ्यम् । नस्यम् ।

प्राग्वतेष्ठञ् ५।१।१८

प० वि०—प्राक् १।१ वतेः ५।१ ठञ् १।१

अर्थ—इतोऽग्रे तेन तुल्यं क्रिया चेद्वति इत्येतस्मात् प्राक् वक्ष्यमाणेषु अर्थेषु ठञ् प्रत्ययो भवति इत्यधिकारो वेदितव्यः। (यहां से तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः इस सूत्र के पहले पहले कहे जाने वाले अर्थों में ठञ् प्रत्यय होता है इस बात का अधिकार समझना चाहिए)

आर्हादगोपुच्छसंख्यापरिमाणाट्ठक् ५।१।१९

प० वि०—आ अ०। अर्हात् ५।१ अगोपुच्छसंख्यापरिमाणात् ५।१ ठक् १।१ स०—गोपुच्छं च संख्या च परिमाणं चेति गोपुच्छसंख्यापरिमाणम्। न गोपुच्छसंख्यापरिमाणम् इति अगोपुच्छसंख्यापरिमाणम् तस्मात्।

अर्थ—तदर्हति इत्येतस्मात् प्राक् वक्ष्यमाणेषु अर्थेषु ठक् प्रत्ययो भवति गोपुच्छादीन् वर्जयित्वा। तदर्हति इस सूत्र तक कहे जाने वाले अर्थों में ठक् प्रत्यय होता है गोपुच्छादि शब्दों को छोड़कर इस बात का अधिकार समझना चाहिये)

शताच्च ठन्यतावशते ५।१।२१

प० वि०–शतात् ५।१ च अ०। ठन्यतौ १।२ अशते ७।१ स०—ठन् च यच्च इति ठन्यतौ। न शतम् अशतं तस्मिन्।

अर्थ—[आर्हात्] शतशब्दात् आर्हीष्वर्थेषु ठन्यतौ प्रत्ययौ भवतः अशतेऽभिधेये।(शत शब्द से आर्हीय अर्थों में ठन् और यत प्रत्यय होते हैं शत अभिधेय होने पर नहीं।

उदा०—शतेन क्रीतं शत्यम्। शतिकम्।

संख्याया अतिशदन्तायाः कन् ५।१।२२

प० वि०—संख्यायाः ५।१ अतिशदन्तायाः ५।१ कन् १।१ स०—तिश्च शच्च इति तिशतौ। अन्तश्च अन्तश्च इति अन्तौ। तिशतौ अन्तौ यस्याः संख्याया इति तिशदन्ता। न तिशदन्ता इति अतिशन्ता तस्याः अतिशदन्तायाः।

अर्थ–[आर्हात्] संख्यावाचिनः प्रातिपदिकात् आर्हीष्वर्थेषु कन् प्रत्ययो भवति त्यन्तां शदन्तां च संख्यां वर्जयित्वा। (संख्यावाची प्रातिपदिक से आर्हीय अर्थों में कन् प्रत्यय होता है त्यन्त और शदन्त संख्या को छोड़कर)

उदा०–पञ्चभिः क्रीतः पञ्चकः। बहुकः। गणकः।

तेन क्रीतम् ५।१।३७

प० वि०–तेन ३।१ क्रीतम् १।१

अर्थ—तेनेति तृतीयासमर्थप्रातिपदिकात् क्रीतम् इत्येस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति (तृतीया समर्थ प्रातिपदिक से खरीदा गया इस अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है)

उदा०–सप्तत्या क्रीतम् साप्ततिकम्। आशीतिकम्।

सि०–सप्तति टा ठञ्। सप्तति इक। साप्तत् इक। साप्ततिक सु। साप्ततिक अम्। साप्ततिकम्।

तदस्य परिमाणम् ५।१।५७

प० वि०—तत् १।१ अस्य ६।१ परिमाणम् १।१॥

अर्थ—तदिति प्रथमासमर्थप्रातिपदिकाद् अस्य परिमाणमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। (प्रथमा समर्थ प्रातिपदिक से इसका परिमाण है इस अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है)

उदा०—प्रस्थः परिमाणमस्य, प्रास्थिको राशिः।

तदर्हति ५।१।६३

प० वि०–तद् २।१ अर्हति क्रिया०।

अर्थ—द्वितीयासमर्थात् प्रातिपदिकात् अर्हति इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। (द्वितीया समर्थ प्रातिपदिक से योग्य होता है इस अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है)

उदा०—श्वेतच्छत्रमर्हति, श्वैतच्छत्रिकः। वास्त्रयुग्मिकः।

दण्डादिभ्यो यः ५।१।६६

प० वि०—दण्डादिभ्यः ५।३ यः १।१॥

अर्थ—[तदर्हति] दण्डादिभ्यो द्वितीयासमर्थप्रातिपदिकेभ्यो अर्हति

इत्येतस्मिन्नर्थे यः प्रत्ययो भवति । (दण्ड इत्यादि द्वितीया समर्थ प्रातिपदिक से योग्य होता है इस अर्थ में य प्रत्यय होता है)

उदा०—दण्डमर्हतीति दण्ड्यः ॥

तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः ५।१।११५

प० वि०—तेन ३।१ तुल्यम् १।१ क्रिया १।१ चेत् अ० । वतिः १।१

अर्थ—तृतीयासमर्थात् प्रातिपदिकात् तुल्यं क्रिया चेद् इत्येतस्मिन्नर्थे वतिः प्रत्ययो भवति । (तृतीया समर्थ प्रातिपदिक से 'समान क्रिया यदि हो' इस अर्थ में वति प्रत्यय होता है)

उदा०—ब्राह्मणेन तुल्यं क्रिया चेत् ब्राह्मणवत् । स्थानिना तुल्यं क्रिया चेत् स्थानिवत् ॥

तत्र तस्येव ५।१।११६

प० वि०—तत्र अ० । तस्य ६।१ इव अ० ।

अर्थ—सप्तमीसमर्थात् प्रातिपदिकात् षष्ठीसमर्थात् प्रातिपदिकाद् वा इवार्थे वतिः प्रत्ययो भवति । (सप्तमी वा षष्ठी समर्थ प्रातिपदिक से समान अर्थ में वति प्रत्यय होता है)

उदा०—मथुरायामिव मथुरावत् स्रुघ्ने प्राकारः । देवदत्तस्य इव देवदत्तवत् ॥

तस्य भावस्त्वतलौ ५।१।११९

प० वि०—तस्य ६।१ भावः १।१ त्वतलौ १।२ स०—त्वश्च तल् चेति त्वतलौ ।

अर्थ—षष्ठीसमर्थप्रातिपदिकाद् भाव इत्येतस्मिन्नर्थे त्वतलौ प्रत्ययौ भवतः । (षष्ठी समर्थ प्रातिपदिक से भाव अर्थ में त्व और तल् प्रत्यय होते हैं)

उदा०—*प्रकृतिजन्यबोधे प्रकारो भावः* गोर्भावो गोत्वम् गोता ॥ मनुष्यस्य भावः मनुष्यत्वम् । मनुष्यता ॥

इत्यष्टाध्यायी-प्रकाशिकायां पञ्चमाध्याये प्रथमः पादः

तदस्य संजातः तारकादिभ्यः इतच् ५।२।३६

प० वि०—तत् १।१ अस्य ६।१ संजातः १।१ तारकादिभ्यः ५।३ इतच् १।१ स०—तारकः आदिर्येषान्ते तारकादयः तेभ्यः ।

अर्थ--प्रथमासमर्थेभ्यः तारकादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः अस्येति षष्ठ्यर्थे इतच् प्रत्ययो भवति, यत्तत् प्रथमासमर्थं सञ्जातश्चेत् तद्भवति। (प्रथमा समर्थ तारकादि प्रातिपदिकों से 'इस का' इस अर्थ में इतच् प्रत्यय होता है यदि प्रथमा समर्थ संजात (हुआ) अर्थ को कहता हो)

उदा०—तारकाः सञ्जाता अस्य नभस्तारकितं नभः। पुष्पितो वृक्षः। पण्डितः पुरुषः ॥

प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः ५।१।३१

प० वि०—प्रमाणे ७।१ द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः १।३ स०—द्वयसच्च दघ्नच्च मात्रच्चेति द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः

अर्थ--[तस्य] प्रथमासमर्थात् प्रातिपदिकाद् अस्य प्रमाणम् इत्येतस्मिन्नर्थे द्वयसच्-दघ्नच् मात्रच् इत्येते प्रत्यया भवति।

(प्रथमा समर्थ प्रातिपदिक से 'इसका प्रमाण है' इस अर्थ में द्वयसच् दघ्नच् और मात्रच् प्रत्यय होते हैं)

उदा०—ऊरुः प्रमाणम् अस्येति ऊरुद्वयसम्। ऊरुदघ्नम्। ऊरुमात्रम्। जानुद्वयसम्। जानुदघ्नम्। जानुमात्रम्।

पुरुषहस्तिभ्याम् अण् च ५।२।३८

प० वि०—पुरुषहस्तिभ्याम् ५।२ अण् १।१ च अ०। स०--पुरुषश्च हस्ती च पुरुषहस्तिनौ ताभ्याम्।

अर्थ—[प्रमाणे तदस्य] प्रथमासमर्थाभ्याम् पुरुषहस्तिशब्दाभ्यां प्रातिपदिकाभ्याम् अस्य प्रमाणम् इत्येतस्मिन्नर्थे अण् प्रत्ययो भवति चकाराद् द्वयसच् दघ्नच् मात्रच् इत्येते प्रत्यया भवन्ति।

(प्रथमा समर्थ पुरुष और हस्तिन् प्रातिपदिक से 'इसका प्रमाण है' इस अर्थ में अण् और चकार से द्वयसच् दघ्नच् और मात्रच् प्रत्यय होते हैं)

उदा०—पुरुषो हस्ती वा प्रमाणम् अस्य उदकस्य इति पौरुषं उदकम्। पुरुषद्वयसम्। पुरुषदघ्नम्। पुरुषमात्रम्। हास्तिनम्। हस्तिद्वयसम्। हस्तिदघ्नम्। हस्तिमात्रम् ॥

यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप् ५।२।३९

प० वि०—यत्तदेतेभ्यः ५।३ परिमाणे ७।१ वतुप् १।१ स०—यच्च तच्च एतच्चेति यत्तदेते तेभ्यः

अर्थ—[तदस्य] यत्तदेतेभ्यः प्रथमासमर्थेभ्यः अस्य परिमाणम्

इत्येतस्मिन्नर्थे वतुप् प्रत्ययो भवति। (यद् तद् और एतद् प्रथमा समर्थ प्रातिपदिक से इसका परिमाण है इस अर्थ में वतुप् प्रत्यय होता है)

उदा०--यत् परिमाणमस्येति यावान्। तावान्। एतावान्।

सि०—यत् सु वतुप्। यत् वत्। य आ[1] वत्। यावत्[2]। यावत् सु। यावात् सु। यावानुमत्[3] सु। यावान्त् सु। यावान्त् स्। यावान्त्। यावान्। यावन्तौ। यावन्तः। यावन्तम्। यावन्तौ। यावतः। यावता। यावद्भ्याम्[4]। यावद्भिः॥

किमिदंभ्यां वो घः ५।२।४०

प० वि०—किमिदंभ्याम् ५।२ वः ६।१ घः १।१ स०—किम् च इदम् च इति किमिदमौ ताभ्याम्।

अर्थ—[तदस्य परिमाणे वतुप्] किम्-इदंभ्यां प्रातिपदिकाभ्याम् अस्य परिमाणम् इत्येतस्मिन्नर्थे वतुप् प्रत्ययो भवति तस्य वतुपो वकारस्य च स्थाने घ इत्ययमादेशो भवति।

(किम् और इदम् प्रातिपदिक से इसका परिमाण है इस अर्थ में वतुप् प्रत्यय होता है और वतुप् के वकार के स्थान में घ यह आदेश हो जाता है)

उदा०—कियान्। कियन्तौ। कियन्तः। कियन्तम्। कियन्तौ। कियतः। कियता। कियद्भ्याम् कियद्भिः। इदम्–इयान्। इयन्तौ। इयन्तः। इयन्तम्। इयन्तौ। इयतः। इयता। इयद्भ्याम्। इयद्भिः।

सि०—किम् सु वतुप्। किम् घतुप्। किम् घत्। किम् इय् अत्। किम् इयत्। की इयत्। क् इयत्। कियत्। कियत् सु। कियात् स्। कियान्त् स्। कियान्त्। कियान्।

इदम्। इदम् वतुप्। इदम् वत्। इदम् घत्। इश्[5] घत्। इ इय् अत्। इ इयत्। इयत् सु। इयात् स्। इया नुम त् स्। इयान्त् स्। इयान्त्। इयान्। इयन्तौ। इयन्तः॥

१—आ सर्वनाम्नः (६. ३. ९१) अलोऽन्त्यस्य (१. १. ५१) २—अकः सवर्णे दीर्घः (६. १. ९७) ३—उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः (७. १. ७०) मिदचोऽन्त्यात्परः (१. १. ४६) ४—स्वादिष्वसर्वनामस्थाने (१. ४. १७) झलां जशोऽन्ते (८. २. ३९) ५—इदङ्किमोरीश्की (६. ३. ९०) अनेकाल्शित्सर्वस्य (१. १. ५४)

किमः संख्यापरिमाणे डति च ५।२।४१

प० वि०—किमः ५।१ संख्यापरिमाणे ७।१ डति १।१ च अ० ।
स०—संख्यायाः परिमाणम् संख्यापरिमाणम् तस्मिन् ।

अर्थ—[तदस्य वतुप् वो घः] किंशब्दात् प्रातिपदिकात् प्रथमासमर्थात् अस्य संख्यापरिमाणम् इत्येतस्मिन्नर्थे डति प्रत्ययो भवति चकारात् वतुप् प्रत्ययोऽपि भवति, तस्य च वकारस्य स्थाने घकारादेशो भवति । (किम् प्रथमा समर्थ प्रातिपदिक से "इसका संख्यापरिमाण" इस अर्थ में डति प्रत्यय होता है और चकार से वतुप् प्रत्यय भी और उस वतुप् के वकार के स्थान में घकार आदेश हो जाता है)

उदा०—का संख्या परिमाणम् एषां ब्राह्मणानाम् इति कति कियन्तो वा ब्राह्मणाः ॥

सि०—कति । किम् डति । किम् अति । क्[1] अति । कति । कति जस् । कति[2] ॥

संख्याया अवयवे तयप् ५।२।४२

प० वि०—संख्यायाः ५।१ अवयवे ७।१ तयप् १ । १ ॥

अर्थ—[तदस्य] तद् इति प्रथमासमर्थात् संख्यावाचिप्रातिपदिकाद् अस्य अवयव इत्येतस्मिन्नर्थे तयप् प्रत्ययो भवति । (प्रथमा समर्थ संख्यावाची प्रातिपदिक से इसका अवयव (भाग) है, इस अर्थ में तयप् प्रत्यय होता है)

उदा०—पञ्च अवयवाः अस्य इति पञ्चतयम् । पञ्चतयी । दशतयम् । दशतयी । चतुष्टयम् । चतुष्टयी ।

सि०—पञ्चन् तयप् । पञ्चतय सु । पञ्चतय अम् । पञ्चतयम् । पञ्चतयी । पञ्चतय ङीप् । पञ्चतय् ई । पञ्चतयी सु । पञ्चतयी ॥

द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा ५।२।४३

प० वि०—द्वित्रिभ्याम् ५।२ तयस्य ६।१ अयच् १।१ वा अ० ।

स०—द्वौ च त्रयश्चेति द्वित्री ताभ्याम् । ॐ शब्दप्रधानोऽयं निर्देशः, नत्वर्थप्रधानम् अतएव सूत्रे द्विवचनं क्रियते ।

अर्थ–द्वित्रिभ्यां परस्य तयस्य स्थाने अयच् इत्ययमादेशो भवति वा । (द्वि और त्रि शब्द के पश्चात् तयप् के स्थान में विकल्प से अयच् आदेश

१—टेः (६. ४. १४३) २—बहुगणवतुडति संख्या (१. १ २२) षड्भ्यो लुक् (७. १. २२)

होता है)

उदा०—द्वौ अवयवौ अस्येति द्वयम् द्वितयम्। त्रयोऽवयवा अस्येति त्रयम। त्रितयम्।

संख्याया गुणस्य निमाने मयट् ५।२।४७

प० वि०—संख्यायाः ५।१ गुणस्य ६।१ निमाने ७।१ मयट् १।१

अर्थ—[तदस्य] गुणो भागः इत्यनर्थान्तरम्। निमानं मूल्यम् इत्यनर्थान्तरम्। तद् इति प्रथमासमर्थात् संख्यावाचिनः प्रातिपदिकात् अस्य गुणस्य भागस्य वा निमानम् मूल्यम् वा इत्येतस्मिन्नर्थे मयट् प्रत्ययो भवति। (प्रथमासमर्थ संख्यावाची प्रातिपदिक से "इस भाग का यह मूल्य है" इस अर्थ में मयट् प्रत्यय होता है)

उदा०—यवानां द्वौ भागौ निमानमस्य उदश्विद्भागस्य द्विमयम् उदश्विद् यवानाम्। त्रिमयम्। चतुर्मयम्।

तस्य पूरणे डट् ५।२।४८

प० वि०—तस्य ६।१ पूरणे ७।१ डट् १।१

अर्थ—[संख्यायाः] पूर्यतेऽनेन इति पूरणम्। तस्येति षष्ठीसमर्थात् संख्यावाचिप्रातिपदिकात् पूरण इत्येतस्मिन्नर्थे डट् प्रत्ययो भवति।

(षष्ठीसमर्थ संख्यावाची प्रातिपदिक से पूरण अर्थ में डट् प्रत्यय होता है)

उदा०—एकादशानां पूरणे, एकादशः। द्वादशः। त्रयोदशः।

सि०—एकादश डट्। एकादश्[1] अ। एकादश सु। एकादशः।

नान्तादसंख्यादेर्मट् ५।२।४९

प० वि०—नान्तात् ५।१ असंख्यादेः ५।१ मयट् १।१ स०—नः अन्तो यस्य इति नान्तः तस्मात्। संख्या आदिर्यस्य इति संख्यादिः न संख्यादिः असंख्यादिः तस्मात्।

र्थ—[संख्यायाः पूरणे] असंख्यादेर्नान्तात् प्रातिपदिकात् संख्यावाचिनः डटो मडागमो भवति पूरणेऽर्थे।

(संख्यावाची शब्द आदि में नहीं है जिस के ऐसे नकारान्त संख्यावाची प्रातिपदिक से पूरण अर्थ में डट् को मट् का आगम होता है)

उदा०—पञ्चानां पूरणं पञ्चमः। सप्तमः।

1—टेः (६. ४. १४३)

सि०—पञ्चन् आम् मट् डट् । पञ्च म अ । पञ्चम सु । पञ्चमः

षट्कतिकतिपयचतुरां थुक् ५।२।५१

प० वि०—षट्कतिकतिपयचतुराम् ६।३ थुक् १।१

अर्थ—[तस्य पूरणे डट्] षट्-कति-कपिपय-चतुर् इत्येतेषां डटि परतस्थुगागमो भवति तस्य पूरणे इत्येतस्मिन्नर्थे ।

❀ अत्रेदं ज्ञातव्यम् षष्ठीनिर्देशबलात् षडादीनामागमित्वं स्पष्टम् इति तदानुकूल्येनानुवृत्तो डट् सप्तम्या विपरिणम्यते ❀

(षट् कति, कतिपय और चतुर् शब्द को डट् के परे रहने पर थुक् का आगम होता है)

उदा०—षण्णां पूरणो षष्ठः । कतिथः । कतिपयथः । चतुर्थः । ×चतुरश्छयतावाद्यक्षरलोपश्च× चतुर्णां पूरणः तुरीयः । तुर्यः ।

सि०—षष्ठः । षष् आम् डट । षष् थुक् अ । षष् थ् अ । षष् ठ्[1] अ । षष्ठ सु । षष्ठः ।

तुरीयः । चतुर् आम् छ । तुर् छ । तुर् ईय । तुरीय सु । तुरीयः । चतुर् यत् । तुर्यः[2] ।

द्वेस्तीयः ५।२।५४

प० वि०—द्वेः ५।१ तीयः १।१

अर्थ—[तस्य पूरणे] द्विशब्दात् तीयः प्रत्ययो भवति तस्य पूरणे इत्येतस्मिन्नर्थे (द्वि शब्द से "उसकी पूर्त्ति" इस अर्थ में तीय प्रत्यय होता है)

उदा०—द्वयोः पूरणो द्वितीयः ।

त्रेः सम्प्रसारणञ्च ५।२।५५

प० वि०—त्रेः ५।१ सम्प्रसारणम् १।१ च अ० ।

अर्थ—[तीयः] त्रिशब्दात् तस्य पूरणे इत्येतमिन्नर्थे तीयः प्रत्ययो भवति तत्सन्नियोगेन त्रेः संप्रसारणं च भवति ।

(त्रि शब्द से उसकी पूर्ति इस अर्थ में तीय प्रत्यय होता है और उसके संयोग से त्रि को सम्प्रसारण भी हो जाता है)

उदा०—त्रयाणां पूरणः तृतीयः ।

१—ष्टुना ष्टुः (८. ४. ४०) २—चतुरश्छयतावाद्यक्षरलोपश्च (५. २. ५१ वा०)

तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् ५।२।९४

प० वि०—तत् १।१ अस्य ६।१ अस्ति क्रिया०। अस्मिन् ७।१ इति अ०। मतुप् १।१

अर्थ—तदिति प्रथमासमर्थात् प्रातिपदिकात् अस्य अस्मिन् वा अस्ति इत्येतस्मिन्नर्थे मतुप् प्रत्ययो भवति। (प्रथमासमर्थ प्रातिपदिक से "इसका है" या "इसमें है" इन अर्थों में मतुप् प्रत्यय होता है)

उदा०—गावोऽस्य सन्ति इति गोमान् देवदत्तः। वृक्षाः अस्मिन् पर्वते सन्ति इति वृक्षवान् पर्वतः।

सि०—वृक्ष जस् मतुप्। वृक्ष वत्[1] स्। वृक्षवत् सु। वृक्षवात् स्। वृक्षवान्त्[2] स्। वृक्षवान्त्। वृक्षवान्। वृक्षवन्तौ। वृक्षवन्तः। वृक्षवन्तम्। वृक्षवन्तौ। वृक्षवतः।

अत इनिठनौ ५।२।११५

प० वि०—अतः ५।१ इनिठनौ १।२ स०—इनिश्च ठन् च इति इनिठनौ।

अर्थ—[अन्यतरस्याम् तदस्यास्त्यस्मिन्निति] प्रथमासमर्थात् अकारान्तात् प्रातिपदिकात् अस्य अस्ति अस्मिन् वा इत्यर्थे इनिठनौ प्रत्ययौ भवतः अन्यतरस्याम् पक्षे मतुप् च।

(प्रथमासमर्थ अकारान्त प्रातिपदिक से 'इसका या इसमें है' इस अर्थ में विकल्प से इनि और ठन् प्रत्यय होते हैं)

उदा०—गुणा सन्ति अस्य अस्मिन् वा इति गुणी। गुणिकः। गुणवान्। छत्री। छत्रिकः। छत्रवान्। दण्डी। दण्डिकः। दण्डवान्।

सि०—गुण इनि। गुण इन्। गुण् इन्। गुणिन्। गुणिन् सु। गुणीन्[3] स्। गुणीन्। गुणी[4]। गुणिनौ। गुणिनः। गुणिनम्। गुणिनौ। गणिनः। गुणिना। गुणिभ्याम्। गुणिभिः।

अस्मायामेधास्रजो विनिः ५।२।१२१

प० वि—अस्मायामेधास्रजः ५।१ विनिः १।१ स०—अस् च माया च मेधा च स्रक् च इति अस्मायामेधास्रक् तस्मात्।

१—मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः (८. २. ९) २—सुडनपुंसकस्य (१. १. ४२) उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः (७. १. ७०) ३—सौ च (६. ४. १४) ४—नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य (८. २. ७)

अर्थ—[अन्यतरस्याम् तदस्यास्त्यस्मिन्निति] प्रथमासमर्थात् असन्तात् माया मेधा स्रक् इति एतेभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्य अस्य अस्ति अस्मिन् वा इत्यर्थे विनिः प्रत्ययो भवति अन्यतरस्याम्। (असन्त, माया, मेधा और स्रक् शब्द से मत्वर्थ में विनि प्रत्यय होता है)

उदा०—यशः अस्ति अस्य अस्मिन्निति वेति यशस्वी। यशस्वान्। मायावी। मायावान्। मेधावी। मेधावान्। स्रग्वी।

सि०—यशस्वी। यशस् सु विन्। यशस्वी। यशस्विनौ। यशस्विनः। यशस् मतुप्। यशस् मत्। यशस्वत्। यशस्वत् सु। यशस्वात् स्। यशस्वान्त्। यशस्वान्। यशस्वन्तौ। यशस्वन्तः।

अर्श आदिभ्योऽच् ५।२।१२७

प० वि०—अर्शआदिभ्यः ५।३ अच् १।१ स०—अर्शः आदि येषान्ते अर्शआदयः तेभ्यः।

अर्थ—[तदस्यास्त्यस्मिन्निति] प्रथमान्तेभ्यः अर्शस् इत्येवमादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽस्यास्त्यस्मिन् वा इत्यर्थे अच् प्रत्ययो भवति। (प्रथमासमर्थ अर्शस् इत्यादि शब्दों से 'इसका वा इसमें है' इस अर्थ में अच् प्रत्यय होता है)

उदा०—अर्शांसि अस्य विद्यन्ते इति अर्शसः। आकृतिगणोऽयम्। तेन। पापमस्य अस्मिन् वा विद्यते इति पापः पुरुषः। आम्राणि सन्ति अस्य वृक्षस्येति आम्रो वृक्षः।

इत्यष्टाध्यायी-प्रकाशिकायां पञ्चमाध्याय द्वितीयः पादः

———

प्राग्दिशीयप्रत्ययप्रकरणम्

प्राग्दिशो विभक्तिः ५।३।१

प० वि०—प्राक् १।१ दिशः ५।१ विभक्तिः १।१

अर्थ—इतोऽग्रे दिक्शब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्ताति इत्येतस्मात प्राक् वक्ष्यमाणाः प्रत्ययाः विभक्तिसंज्ञाः भवन्ति इत्यधिकारो वेदितव्यः। (यहाँ से दिक्शब्देभ्यः इसके पहले पहल कहे जाने वाले प्रत्ययों की विभक्ति संज्ञा होती है, इस बात का अधिकार समझना चाहिए)

❀अत्रेदं ज्ञातव्यम् समर्थानामिति प्रथमादिति च निवृत्तम् वेति त्वनुवर्त्तत एव ।।❀

किंसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः ५।३।२

किंसर्वनामबहुभ्यः ५।३ अद्व्यादिभ्यः ५।३ किञ्च सर्वनाम च बहुश्चेति किंसर्वनामबहवः तेभ्यः। द्विः आदिर्येषान्ते द्व्यादयः। न द्व्यादयः अद्व्यादयः तेभ्यः।

अर्थ—[प्राग्दिशः] दिक्शब्देभ्य इति यावत् वक्ष्यमाणाः प्रत्ययाः किमः सर्वनाम्नः बहुशब्दाच्च द्व्यादिभ्यो वर्जितेभ्यः भवन्ति इत्यधिकारो वेदितव्यः। (दिक्शब्देभ्यः इस सूत्र के पहले पहले कहे जाने वाले प्रत्यय किम् सर्वनाम और बहु शब्द के पश्चात् द्वि इत्यादि को छोड़कर होते हैं इस बात का अधिकार समझना चाहिए)

इदम इश् ५।३।३

प० वि०— इदमः ६।१ इश् १।१ ॥

अर्थ—[प्राग्दिशः] इदमः स्थाने इश् इत्ययमादेशो भवति प्राग्दिशीयेषु प्रत्ययेषु परतः। (प्राग्दिशीय प्रत्ययों के परे रहने पर इदं के स्थान में इश् आदेश हो जाता है)

एतेतौ रथोः ५।३।४

प० वि०—एतेतौ १।२ रथोः ७।२ स०—एतश्च इच्चेति एतेतौ। रश्च थश्चेति रथौ तयोः।

अर्थ—[इदमः] इदंशब्दस्य रेफादौ थकारादौ च प्राग्दिशीये प्रत्यये परतः एत इत् इत्येतौ यथासंख्यम् आदेशौ भवतः।

(इदं शब्द का एत और इत् आदेश क्रमशः हो जाता है प्राग्दिशीय रेफादि और थकारादि प्रत्यय के परे रहने पर)

एतदोऽन् ५।३।५

प० वि०—एतदः ६।१ अन् १।१

अर्थ—[प्राग्दिशः] एतदः प्राग्दिशीये प्रत्यये परतः अन् इत्ययमादेशो भवति। (एतद् के स्थान में अन् आदेश होता है प्राग्दिशीय प्रत्यय के परे रहने पर)

※अत्रेदं ज्ञातव्यम्—एतद इति योगविभागः कर्त्तव्यः। एतद 'एत' 'इत्' इत्येतावादेशौ भवतः रथोः। ततः अन्। अश्च भवत्येतदः इति।※

सर्वस्य सोऽन्यतरस्यां दि ५।३।६

प० वि०—सर्वस्य ६।१-सः-१।१ अन्यतरस्याम् अ० । दि ७।१

अर्थ-[प्राग्दिशः] सर्वस्य स्थाने स इत्ययमादेशो भवति अन्यतरस्यां प्राग्दिशीये दकारादौ प्रत्यये परतः। (सर्व के स्थान में स आदेश होता है प्राग्दिशीय दकारादि प्रत्यय के परे रहने पर विकल्प से)

पञ्चम्यास्तसिल् ५।३।७

प० वि—पञ्चम्याः ५।१ तसिल् १।१

अर्थ—पञ्चम्यन्तात् किं सर्वनाम बहुभ्यस्तसिल् प्रत्ययो भवति।
(पञ्चम्यन्त किम् सर्वनाम और बहु शब्द से तसिल् प्रत्यय होता है)

उदा०—कुतः। कस्मात्। यतः। यस्मात्। ततः तस्मात्। अतः एतस्मात्। इतः। अस्मात्। अमुतः। अमुष्मात्। बहुतः। बहोः।

सि०—कुतः। कस्मात् तसिल्। किम् ङसि तस्। किम्[1] तस्। कु[2] तस्। कुतस् सु। कुतस्। कुतः। यतः। यस्मात् तसिल्। यद् ङसि तस्। य अ[3] तस्। य[4] तस्। यतः। ततः। तद् ङसि तसिल्। तद् तस्। त अ तस्। ततस्। ततः। अतः। एतस्मात् तसिल्। एतद् तस्। अन्[5] तस्। अतस्। अतः। इतः। अस्मात् तसिल्। इदम् ङसि तस्। इदम् तस्। इश्[6] तस्। इ तस्। इतः। अमुतः। अमुष्मात् तसिल्। अदस् तस्। अद अ तस्। अद तस्। अमु[7] तस्। अमुतस् सु। अमुतस[8]। अमुतः। ※एते प्रत्ययाः स्वार्थे भवन्ति वेति ज्ञातव्यम्※

पर्यभिभ्यां च ५।३।९

प० वि०—पर्यभिभ्याम् ५।२ च अ०। स०—परिश्च अभिश्च इति परिअभी ताभ्याम्।

अर्थ—परि-अभि इत्येताभ्याम् च तसिल् प्रत्ययो भवति।

१—कृत्तद्धितसमासाश्च (१. २. ४६) सुपो धातुप्रातिपदिकयोः (२. ४. ७२) २—कु तिहोः (७. २. १०४) अनेकाल्शित्सर्वस्य (१. १. ५४) ३—प्राग्दिशो विभक्तिः (५. ३. १) अष्टन आ विभक्तौ (७. २. ८४) त्यदादीनामः (७. २. १०२) ४—उस्यपदान्तात् (६. १. ९३) अतो गुणे (६. १. ९४) ५—एतदोऽन् (५. ३. ५) ६—इदम इश् (५. ३. ३) ७—अदसोऽसेर्दादु दो मः (८. २. ८०) ८—तद्धितश्चासर्वविभक्तिः (१. १. ३७) अव्ययदाप्सुपः (२. ४. ८२)

(परि और अभिशब्द से तसिल् प्रत्यय होता है)

उदा०—परितः। अभितः।

सप्तम्यास्त्रल् ५।३।१०

प० वि०—सप्तम्याः ५।१ त्रल् १।१॥

अर्थ—किंसर्वनामबहुभ्यः सप्तम्यन्तेभ्यस्त्रल् प्रत्ययो भवति।

(किम् सर्वनाम और बहु सप्तम्यन्त शब्दों से त्रल् प्रत्यय होता है)

उदा०—कुत्र। कस्मिन्। यत्र। यस्मिन्। तत्र। तस्मिन्। अत्र। एतस्मिन्। इत्र। अस्मिन्। अमुत्र। अमुष्मिन्। बहुत्र।

इदमो हः ५।३।११

प० वि०—इदमः ५।१ हः १।१॥

अर्थ—[सप्तम्याः] इदमः सप्तम्यन्ताद् हः प्रत्ययो भवति।

(इदम् सप्तम्यन्त से ह प्रत्यय होता है)

उदा०—अस्मिन् अस्यां वा इह।

सि०—अस्मिन् ह। इदम् ङि ह। इदम् ह। इश् ह। इ ह। इह सु। इह।

किमोऽत् ५।३।१२

प० वि०—किमः ५।१ अत् १।१

अर्थ—[सप्तम्याः] किमः सप्तम्यन्तात् अत् प्रत्ययो भवति स्वार्थे।

(किम् सप्तम्यन्त से स्वार्थ में अत् प्रत्यय होता है)

उदा०—क्व। कस्मिन्।

सि०—किम् ङि अत्। किम् अ। क्व[1] अ। क्व् अ। क्व सु। क्व।

इतराभ्योऽपि दृश्यते ५।३।१४

प० वि०—इतराभ्यः ५।३ अपि अ०। दृश्यते क्रिया०।

अर्थ—पञ्चम्यन्तसप्तम्यन्तेभ्य इतराभ्योऽपि विभक्तिभ्यः तसिलादयो दृश्यन्ते। (पञ्चम्यन्त और सप्तम्यन्त से भिन्न से भी तसिल् आदि प्रत्यय देखे जाते हैं)

उदा०—स भवान्। ततो भवान्। तत्र भवान्। तं भवन्तम्। तत्र

१—क्वाति (७. २. १०५)

भवन्तम् । ततो भवन्तम् । तेन भवता । ततो भवता । तत्र भवता । तस्मै भवते । तत्र भवते । ततो भवते । तस्मात् भवतः । ततो भवतः । तत्र भवतः । तस्य भवतः । ततो भवतः । तत्र भवतः । तस्मिन् भवति । ततो भवति । तत्र भवति ।

सर्वैकान्यकिंयत्तदः काले दा ५।३।१५

प० वि०—सर्वैकान्यकिंयत्तदः ५।१ काले ७।१ दा १।१

स०—सर्वश्च एकश्च अन्यश्च कश्च यश्च स चेति सर्व-एक-अन्य-किम्-यद्-तद् तस्मात् ।

अर्थ—[सप्तम्याः सप्तम्यन्तेभ्यः सर्वादिभ्यः कालार्थे वर्तमानेभ्यः स्वार्थे दा प्रत्ययो भवति । (कालविषय में वर्तमान सर्वादि सप्तम्यन्त प्रातिपदिक से स्वार्थ में दा प्रत्यय होता है)

उदा०—सर्वस्मिन् काले, सर्वदा । एकस्मिन् काले एकदा । अन्यस्मिन् काले अन्यदा । कस्मिन् काले, कदा । यस्मिन् तस्मिन् वा काले यदा, तदा ।

सि०—कदा । कस्मिन् दा । किम् दा । क[1] दा । कदा सु । कदा[2] । तदा । तद् ङि दा । तद् दा । त अ दा । तदा । तदा सु । तदा ।

इदमो र्हिल् ५।३।१६

प० वि०—इदमः ५।१ र्हिल् १।१

अर्थ—[सप्तम्याः काले] सप्तम्यन्तात् इदमः काले वर्तमानात् र्हिल् प्रत्ययो भवति स्वार्थे । (काल अर्थ में वर्तमान सप्तम्यन्त इदम् शब्द से र्हिल प्रत्यय होता है स्वार्थ में)

उदा०—अस्मिम काले एतर्हि ।

सि०—अस्मिन् र्हिल् । एत[3] र्हिल् । एतर्हि सु । एतर्हि ।

अधुना ५।३।१७

प० वि०—अधुना १।१ यद्वा अव्ययपदम् ।

अर्थ—अधुना इति निपात्यते । (अधुना निपातन से सिद्ध होता है)

॥ किं निपात्यते इदमोऽशभावो धुना च प्रत्यय । इदमो वा लोपोऽधुना च प्रत्ययः । अस्मिन् काले अधुना ।॥

१—किमः कः (७. २. १०३) २—तद्धितश्चासर्वविभक्तिः (१. १. ३०) अव्ययादाप्सुपः (२. ४. ८७) ३—एतेतौ रथोः (५. ३. ४)

(इदम को अश् भाव और धुना प्रत्यय निपातन किया है अथवा इदम् का लोप और अधुना प्रत्यय)

दानीं च ५।३।१८

प० वि०--दानीम् १।१ च अ०।

अर्थ—[सप्तम्याः इदमः काले] सप्तम्यन्ताद् इदमः कालवाचिनः दानीं प्रत्ययो भवति। (सप्यम्यन्त इदम् शब्द से दानीम् प्रत्यय होता है स्वार्थ में)

उदा०—अस्मिन् काले इदानीम्।

सि०—इदम् ङि दानीम्। इदम् दानीं। इश्[1] दानीं। इदानीम्।

तदो दा च ५।३।१८

प० वि०—तदः ५।१ दा १।१ च अ०।

अर्थ—[सप्तम्याः काले] सप्तम्यन्तात् काले वर्तमानात् तत् शब्दात् दा प्रत्ययो भवति चात् दानीं च। (काल में वर्तमान सप्तम्यन्त तद् शब्द से दा प्रत्यय होता है और चकार से दानीं प्रत्यय भी)

उदा०—तस्मिन् काले तदा, तदानीम्।

सि०—तद् ङि दा। तद् दा। त अ[1] दा। तदा[2] सु। तदा। तद् ङि दानीम्। तद् दानीम्। त अ दानीम्। तदानीम्। तदानीम् सु। तदानीम्।

अनद्यतने र्हिलन्यतरस्याम् ५।३।२१

प० वि०—अनद्यतने ७।१ र्हिल् १।१ अन्यतरस्याम् अ०। स०—न अद्यतनम्, अनद्यतनम् तस्मिन्।

अर्थ—[सप्तम्याः काले] किंसर्वनामबहुभ्यः सप्तम्यन्तेभ्यो अनद्यतने कालविशेषे वर्तमानेभ्यो र्हिल् प्रत्ययो भवत्यन्यतरस्याम्।

(किम् सर्वनाम और बहु इन सप्तम्यन्त कालवाची प्रातिपदिक से आज न होने वाले कालविशेष में विकल्प से र्हिल् प्रत्यय होता है)

उदा०—कर्हि। कदा। यर्हि। यदा। तर्हि। तदा। एतर्हि। बहुर्हि।

प्रकारवचने थाल्

प० वि०—प्रकारवचने ७।१ थाल् १।१ स०—उच्यते इति वचनम् प्रकारस्य वचनम् प्रकारवचनम् तस्मिन्।

१—इदम इश् (५. ३. ३) अनेकाल्शित्सर्वस्य (१. १. ५४)

अर्थ--[किंसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः] किमादिभ्यः प्रकारवचने वर्तमानेभ्यः स्वार्थे थाल् प्रत्ययो भवति। (किम्, सर्वनाम और बहु इन प्रकारवाची शब्दों से थाल् प्रत्यय होता है स्वार्थ में)

❀ अत्रेदं ज्ञातव्यम्--सप्तम्याः काल इति निवृत्तम्। सामान्यस्य विशेषो भेदकः प्रकारः। प्रकृत्यर्थविशेषणं चैतत् ❀

उदा०—तेन प्रकारेण तथा। येन प्रकारेण यथा। बहुभिः प्रकारैः बहुथा।

सि०--तेन थाल्। तद् टा थाल्। तद् थाल्। त अ था। तथा सु। तथा। यथा। बहुथा।

इदमस्थमुः ५।३।२४

प० वि०—इदमः ५।१ थमुः १।१

अर्थ—[प्रकारवचने] प्रकारवचने वर्तमानाद् इदंशब्दात् थमुः प्रत्ययो भवति। (प्रकारवचन में वर्तमान इदम् शब्द से स्वार्थ में थमु प्रत्यय होता है)

उदा०—अनेन प्रकारेण इत्थम्।

सि०—इदम् टा थमु। इदम् थमु। इदम् थम्। इत्[1] थम्। इत्थम्।

किमश्च ५।३।२५

प० वि०—किमः ५।१ च अ०।

अर्थ—[प्रकारवचने थमुः] प्रकारवचने वर्तमानात् किम्शब्दात् थमुः प्रत्ययो भवति। (प्रकारवचन में वर्तमान किम् शब्द से थमु प्रत्यय होता है)

उदा०—केन प्रकारेण कथम्।

सि०—किम् टा थमु। किम् थम्। क थम्[2]। कथम् सु। कथम्।

स्वार्थिकप्रत्ययप्रकरणम्—

दिक्शब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः ५।३।२७

प० वि०—दिक्शब्देभ्यः ५।३ सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यः ५।३ दिक्देशकालेषु ७।३ अस्तातिः १।१ स०—दिशां शब्दः दिक्शब्दः तेभ्यः। सप्तमी च पञ्चमी च प्रथमा चेति सप्तमीपञ्चमीप्रथमाः ताभ्यः। दिक् च देशश्च

१—एतेतौ रथोः (५. ३. ४) २—किमः कः (७. २. १०३)

कालश्चेति दिग्देशकालाः तेषु ।

अर्थ—दिक्शब्देभ्यो दिग्देशकालेषु वर्तमानेभ्यः सप्तमीपञ्चमी-प्रथमान्तभ्योऽस्तातिः प्रत्ययो भवति स्वार्थे ।

(दिशा, काल और देश अर्थ में वर्तमान दिशावाची सप्तम्यन्त पञ्चम्यन्त और प्रथमान्त शब्द से स्वार्थ में अस्ताति प्रत्यय होता है)

उदा०—दिक्शब्देभ्यः--पूर्वस्यां दिशि वसति पुरस्ताद् वसति । पूर्वस्याः आगतः पुरस्तादागतः । पूर्वा दिशा रमणीयम् पुरस्ताद् रमणीयम् । देश-पूर्वास्मिन् देशे वसति पुरस्ताद् वसति, पुरस्तादागतः पुरस्ताद् रमणीयम् । काले-पूर्वस्मिन् काले वसति पुरस्ताद् वसति । पुरस्तादागतः । पुरस्ताद् रमणीयम् । एवम् अधस्ताद् वसति । अधस्तादागतः । अधस्ताद् रमणीयम ।

सि०—पूर्वस्यां दिशि वसति पुरस्ताद् वसति । पूर्वा ङि अस्ताति । पूर्वा अस्तात् । पुर्[1] अस्तात् । पुरस्तात् । अधरा अस्ताति । अधरा अस्तात् । अध्[1] अस्तात् । अधस्तात् । अधस्तात् सु । अधस्तात् । अवस्तात् । अवरा ङि अस्ताति । अवरा अस्तात् । अवर अस्तात् । अव्[1] अस्तात् । अवस्तात् ॥ एवं पञ्चम्यन्तेभ्यः प्रथमान्तेभ्योऽपि साधनीयम् ॥

पूर्वाधरावराणामसि पुरधवश्चैषाम् ५।३।३९

प० वि०—पूर्वाधरावराणाम् ६।३ असि ॥ अविभक्तिको निर्देशः ॥ पुरधवः १।३ च अ० । एषाम् ६।३ स०—पूर्वश्च अधरश्च अवरश्चेति पूर्वाधरावराः तेषाम् । पुर् च अध् च अव् च इति पुरधवः । प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणं भवति इति दिग्वाचिनः स्त्रीलिङ्गो अपि गृह्यन्ते ।

अर्थ—[अस्तातेरर्थे] पूर्वाधरावराणाम् असिः प्रत्ययो भवति अस्तातेरर्थे, तत्सन्नियोगने च एषां यथासंख्यं पुर् अध् अव् इत्येते आदेशा भवन्ति । (पूर्व अधर और अवर शब्द से असि प्रत्यय होता है और उसके सन्नियोग से पुर् अव् और अध् क्रमशः आदेश हो जाते हैं)

उदा०—पूर्वायां दिशि, पूर्वस्याः दिशः, पूर्वा वा दिक् इति पुरो वसति । पुरः आगतः । पुरो रमणीयम् । अधो वसति । अधः आगतः । अधो रमणीयम् । अवो वसति । अवः आगतः । अवो रमणीयम् ।

१—पूर्वाधरावराणामसि पुरधवश्चैषाम् (५. ३. ३९)

अस्ताति च ५।३।४०

प० वि०—अस्ताति ७।१ च अ०। लुप्तानुबन्धात् सप्तम्यैकवचने रूपम्

अर्थ--[पूर्वाधरावराणाम् पुरधवः] अस्ताति प्रत्यये परतः पूर्वादीनां यथासंख्यं पुरादयः आदेशा भवन्ति। ❀अत्रेदं बोध्यम्—आदेशार्थम् इदं सूत्रम। प्रत्ययस्तु पूर्वेणैव सिद्धः दिक्शब्देभ्य इति❀ (अस्ताति प्रत्यय के परे रहने पर पूर्व अधर और अवर शब्द के स्थान में क्रमशः पुर, अध् और अव् आदेश होते हैं)

उदा०—पूर्वत्र सूत्रे उदाहृतानि।

संख्याया विधार्थे धा ५।३।४२

प० वि०—संख्यायाः ५।१ विधार्थे ७।१ धा १।१ स०--विधस्य अर्थः विधार्थः तस्मिन्।

अर्थ--संख्यावाचिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो विधार्थे वर्त्तमानेभ्यो धा प्रत्ययो भवति। (संख्यावाची प्रातिपदिक से विधार्थ अर्थात् क्रिया के प्रकार के अर्थ में धा प्रत्यय होता है)

उदा०--एकधा खादति। द्विधा गच्छति। त्रिधा। चतुर्द्धा। पञ्चधा।

❀अत्रेदं बोध्यम्–विधायामिति वक्तव्ये अर्थग्रहणस्य प्रयोजनं विधाशब्दो यत्र अर्थे प्रसिद्धस्तत्रैव यथा स्यात्। तादृशश्चार्थः प्रकार एव, स च क्रियाविषयक एव गृह्यते। अत एव तत्र "विधार्थे वर्तमानेभ्यः" इत्यनेन क्रियाप्रकारे वर्तमानेभ्य इति ज्ञातव्यम। कथं तर्हि 'नवधा द्रव्यं, बहुधा गुणः' इत्यादि। अत्रापि हि अश्रुता क्रिया प्रतीयते इति ज्ञानेन्द्र। उपदिश्यते इति वा, भवति इति वा इति हरदत्तः। प्रकारसामान्य इति वयम्।❀

अतिशायने तमबिष्ठनौ ५।३।५५

प० वि०—अतिशायने ७।१ तमबिष्ठनौ १।२ स०—अतिपूर्वाच्छेतेल्युट्। अतिशयनमेवातिशायनम् अस्मादेव निपातनाद्दीर्घः। तमप् च इष्ठन् च इति तमबिष्ठनौ॥

अर्थ—अतिशयनविशिष्टेऽर्थे वर्त्तमानात् प्रातिपदिकात् स्वार्थे तमबिष्ठनौ प्रत्ययौ भवतः। (अत्यन्त प्रकर्षता अर्थ में वर्त्तमान प्रातिपदिक

से तमप् और इष्ठन् प्रत्यय होते है)

उदा०—❀प्रकृत्यर्थविशेषणं च स्वार्थिकानां द्योत्यं भवति❀ सर्वे इमे आढ्याः, अयमेषामतिशयेन आढ्यः आढ्यतमः। सुकुमारतमः। दर्शनीयतमः। सर्वे इमे पटवः, अयमेषामतिशयेन पटुः, पटिष्ठः लघिष्ठः। गरिष्ठः। ❀यदा च प्रकर्षवतां पुनः प्रकर्षो विवक्ष्यते तदा अतिशायिकान्ताद् अपरः प्रत्ययो भवत्येव। श्रेष्ठतमाय कर्मणे (यजु० १।१) युधिष्ठिरः श्रेष्ठतमः कुरूणाम्❀

सि०—पटिष्ठः। पटु सु इष्ठन्। पटु इष्ठ। पट इष्ठ[1]। पटिष्ठ सु। पटिष्ठः॥

तिङश्च ५।३।५६

प० वि०—तिङः ५।१ च अ०।

अर्थ—तिङन्ताच्चातिशायने द्योत्ये तमप् प्रत्ययो भवति।

(तिङन्त से अतिशय द्योतित होने पर तमप् प्रत्यय होता है)

उदा०—सर्वे इमे पचन्ति इति अयमेषामतिशयेन पचति इति पचतितमाम्। खादतितमाम्। अस्तितमाम्।

सि०—पचतितमाम्। पचति तमप्। पचतितम आम्[1]। पचतितम् आम्। पचतितमाम् सु। पचतितमाम्॥

द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ ५।३।५७

प० वि०—द्विवचनविभज्योपपदे ७।१ तरबीयसुनौ। १।२ स०—द्वयोरर्थयोर्वचनम् इति द्विवचनम्। करणे ल्युट्। कर्मणि षष्ठ्या समासः॥ विभक्तव्यम् विभज्यम्। निपातनाद् यत् ❀ विभज्यं च तदुपपदं च विभज्योपपदम्। द्विवचनं च विभज्योपपदं च द्विवचनविभज्योपपदम् (समा० द्वन्द्वः) तस्मिन्× द्विवचनं च विभज्यं च द्विवचनविभज्यं, तच्च तदुपपदं चेति हरदत्तः। तच्चिन्त्यम्, तथासति उपपदग्रहणं द्विवचनेनापि संबद्ध्यते। न च तदिष्यते। तस्मात् पूर्वं विभज्यशब्देन कर्मधारयः ततो द्वन्द्वः। अपि च 'अन्वर्थं चोपपदमुपोच्चारितंपदमुपपदमिति तच्च विभज्य वाक्य एव प्रयुज्यते वृत्तौ तु गतार्थत्वान्न प्रयुज्यते इत्यपि हरदत्तेन यदुक्तं तदपि चिन्त्यम्, स्पष्टं हि 'माथुराः

१—टेः (६. ४. १५५) १—किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे (५. ४. ११)

❀काशकृत्स्नव्याकरणानुसारं सर्वेभ्यो धातुभ्यो यत् ण्यत् क्यप् प्रत्यया भवन्ति इति युधिष्ठिरमीमांसकः। द० क्षीरतरङ्गिणी पृष्ठ ३१ टि० ३।

पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतराः' इत्यत्र वृत्तावपि (प्रत्यये सत्यपि) 'पाटलिपत्रेभ्यः' इत्यस्य प्रत्यक्षं श्रवणात्।

अर्थ--[अतिशायने, तिङश्च) द्वयोरेकस्यातिशये विभक्तव्ये चोपपदे प्रातिपदिकात् तिङन्ताच्च तरबीयसुनौ प्रत्ययौ भवतः।

(दो में से एक के अतिशय और विभाग किये जाने वाले के उपपद रहने पर तरप् और ईयसुन् प्रत्यय होते हैं)

उदा०—द्वौ इमौ आढ्यौ, अयम् अनयोः अतिशयेन आढ्यः इति आढ्यतरः। सुकुमारतरः। पचतितराम्। जल्पतितराम्। ईयसुन्—द्वौ इमौ पटू। अयमनयोरतिशयेन पटुः, पटीयान्। लघीयान्। विभज्ये चोपपदे—माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतराः। दर्शनीयतराः। पटीयांसः। लघीयांसः।

सि०—पटीयान्। पटु ईयसुन्। पट्[1] ईयस्। पटीयस्। पटीयस् सु। पटीयास्[2] सु। पटीया नुम्[3] स् स्। पठीयान्स् स्। पठीयान्स्। पटीयान्। पटीयांसौ। पटीयांसः।

अजादी गुणवचनादेव ५।३।५८

प० वि०—अजादी १।२ गुणवचनात् ५।१ एव अ०। स०—अच आदिर्ययोस्तौ अजादी (बहु०)

अर्थ—अजादी इष्ठन्नीयसुनौ प्रत्ययौ गुणवचनादेव भवतः।

(अजादि इष्ठन् और ईयसुन् ये दोनों प्रत्यय गुणवाची प्रातिपदिक से ही होते हैं)

उदा०--लघीयान्। पटीयान्। पटिष्ठः। लघिष्ठः।

सि०—लघु ईयसुन्। लघ् ईयस्। लघीयस् सु। लघीयास् स्। लघीया नुम् स् स्। लघीयान्स् स्। लघीयान्स्। लघीयान्। लघीयांसौ। लघीयांसः। लघीयांसम्। लघीयांसौ। लघीयसः।

तुश्छन्दसि ५।३।५९

प० वि०--तुः ५।१ छन्दसि ७।१

अर्थ—[अजादी] तुरिति तृन्तृचौ सामान्येन गृह्येते। (त्रन्त प्रातिपदिक से छन्द में आजादि प्रत्यय होते हैं)

१—टेः (६. ४. १५५) २—अत्वसन्तस्य चाधातोः (६. ४. १४) ३—उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः (७. १. ७०)

उदा०—आसुतिं करिष्ठः । दोहीयसी धेनुः ।

सि०—कृ तृच् । कर्तृ इष्ठन् । कर् इष्ठ । करिठ सु । करिष्ठः । दोहीयसी । दुह् तृन् ङीप् । द्रोग्ध्री । दोग्धृ ईयसुन् । दोह् ईयस् । दोहीयस् । दोहीयस् ङीप् । दोहीयसी सु । दोहीयसी ।

❀अत्रेदं बोध्यम्–इमे उभे दोग्ध्र्यौ इयमनयोरतिशयेन दोग्ध्री भस्याढे तद्धिते सिद्धश्च प्रत्ययविधौ इति वचनात् तद्धिते कर्त्तव्ये प्रागेव पुंवद्भाव इति ङीपि निवृत्ते दोग्धृशब्दात् प्रत्ययः, ततस्तृचि निवृत्ते निमित्ताभावात् घत्वजश्त्वयोरपि निवृत्तिः❀

प्रशस्यस्य श्रः ५।३।६०

प० वि०—प्रशस्यस्य ६।१ श्रः १।१

अर्थ—[अजादी इति प्रकृतस्य सप्तम्या विपरिणम्यते] प्रशस्यशब्दस्य श्र इत्ययमादेशो भवति अजाद्योः प्रत्यययोः परतः । (प्रशस्य शब्द के स्थान में श्र आदेश हो जाता है आजादि प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०—उभौ इमौ प्रशस्यौ अयमनयोरतिशयेन प्रशस्यः इति श्रेयान् । सर्वे इमे प्रशस्याः, अयमेषामतिशयेन प्रशस्यः इति श्रेष्ठः ॥

सि०—प्रशस्य इष्ठन् । श्र इष्ठ । श्र[1] इष्ठ । श्रेष्ठ[2] सु । श्रेष्ठः ॥ श्रेयान् । प्रशस्य ईयसुन् । श्र ईयस् । श्रेयस् । श्रेयस् । श्रेयास् सु । श्रेयानुम स् स् । श्रेयान्स् स् । श्रेयान्स् । श्रेयान् ।

ज्य च ५।३।६१

प० वि०—ज्य अविभक्तिको निर्देशः । च अ० ।

अर्थ—[प्रशस्यस्य अजाद्योः] प्रशस्यशब्दस्य ज्य इत्यादेशो भवति अजाद्योः प्रत्यययोः परतः । (प्रशस्य शब्द के स्थान में ज्य आदेश होता है अजादि प्रत्ययों के परे रहने पर)

उदा०—सर्वे इमे प्रशस्याः, अयमतिशयेन प्रशस्यः ज्येष्ठः । उभाविमौ प्रशस्यौ, अयमनयोरतिशयेन प्रशस्यः इति ज्यायान् । अयमस्मात् ज्यायान् ।

१—यचि भम् (१. ४. १८) भस्य (६. ४. १२९) यस्येति च (६. ४. १४८) टेः (६. ४. १५५) प्रकृत्यैकाच् (६. ४. १६३) इति प्रकृतिभावः २—आद्गुणः (६. १. ४८)

सि०—ज्यायान् । ज्य इयसुन् । ज्य आयस्[1] । ज्य आयस् । ज्यायस् सु । ज्यायास् स् । ज्याया नुम स् स् ज्यायान्स् स् । ज्यायान्स् । ज्यायान् ज्यायांसौ । ज्यायांसः ।

विन्मतोर्लुक् ५।३।६५

प० वि०—विन्मतोः ६।२ लुक् १।१ स०—विन् च मतुश्चेति विन्मतः तस्य ।

अर्थ—[अजाद्योः] विनो मतुपश्च लुग् भवति अजाद्योः प्रत्यययोः परतः । (विन् और मतुप् प्रत्यय का लुक् होता है अजादि प्रत्ययके परे रहने पर)

उदा०—सर्वे इमे स्रग्विनः अयमेषामतिशयेन स्रजिष्ठः । उभाविमौ स्रग्विनौ अयमेषामतिशयेन स्रजीयान् । अयमस्मात् स्रजीयान् ।

मतोः—सर्वे इमे त्वग्वन्तः, अयमेषामतिशयेन त्वचिष्ठः । उभौ इमौ त्वग्वन्तौ, अयमनयोरतिशयेन, त्वचीयान् । अयमस्मात् त्वचीयान् ।

प्रशंसायां रूपप् ५।३।६६

प० वि०—प्रशंसायाम् ७।१ रूपप् १।१

अर्थ-[तिङश्च] प्रशंसा स्तुतिः प्रशंसाविशिष्टेऽर्थे वर्तमानात् प्रातिपदिकात् स्वार्थे रूपप् प्रत्ययो भवति । (प्रंशसाविशिष्ट अर्थ में वर्तमान जो प्रातिपदिक उससे स्वार्थ में रूपप् प्रत्यय होता है)

॥स्वार्थिकाः प्रत्ययाः प्रकृत्यर्थविशेषस्य द्योतकाः भवन्ति॥

उदा०—प्रशस्तो वैयाकरणः वैयाकरणरूपः । याज्ञिकरूपः । पचतिरूपम् पचतोरूपम्, पचन्तिरूपम् । ॥क्रियाप्रधानमाख्यातम् । एका च क्रियेति रूपप्प्रत्ययान्तात् द्विवचनबहुवचने न भवतः । नपुंसकलिङ्गन्तु भवति लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य॥

ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः ५।३।६७

ईषदसमाप्तौ ७।१ कल्पब्देश्यदेशीयरः १।३ स०—संपूर्णता पदार्थानां समाप्तिः स्तोकेनासंपूर्णता, ईषदसमाप्तिः तस्याम् ।

अर्थ—[तिङश्च] ईषदसमाप्तिविशिष्टेऽर्थे वर्तमानात् प्रातिपदिकात् तिङन्ताच्च कल्पब्–देश्य–देशीयरः प्रत्ययाः भवन्ति ।

(थोड़े अपूर्णता अर्थ विशिष्ट में वर्तमान प्रातिपदिक और तिङन्त से कल्पब् देश्य और देशीयर् प्रत्यय होते हैं)

१—ज्यादादीयसः (६. ४. १६०)

उदा०—ईषदसमाप्तः पटुः, पटुकल्पः। पटुदेश्यः। पटुदेशीयः। पचतिकल्पम्। पचतिदेश्यम्। पचतिदेशीयम्।

विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात्तु ५।३।६८

प० वि०—विभाषा १।१ सुपः ५।१ बहुच् १।१ पुरस्तात् १।१ तु १।१

अर्थ—[ईषदसमाप्तौ] ईषदसमाप्तिविशिष्टेऽर्थे वर्तमानात् सुबन्ताद् विभाषा बहुच् प्रत्ययो भवति, स तु पुरस्तादेव न तु परतः।

(थोड़े से अपूर्णता विशिष्ट अर्थ में वर्तमान सुबन्त से विकल्प करके बहुच् प्रत्यय होता है और वह पहले ही होता है पश्चात् नहीं)

उदा०—ईषदसाप्तः पटुः बहुपटुः। बहुमृदुः।

प्रकारवचने जातीयर् ५।३।६९

प० वि०—प्रकारवचने ७।१ जातीयर् १।१

स०—प्रकारो अस्ति अस्मिन्निति प्रकारः। प्रकारस्य वचनं प्रकारवचनम् तस्मिन्।

अर्थ—[सुपः] सुबन्तात् प्रकारविशिष्टेऽर्थे वर्त्तमानात् प्रातिपदिकात् स्वार्थे जातीयर् प्रत्ययो भवति। (सुबन्त जो प्रकार विशिष्ट अर्थ में वर्तमान है उससे स्वार्थ में जातीयर् प्रत्यय होता है)

उदा०—× प्रकारवति चायं प्रत्ययः। थाल्पुनः प्रकारमात्रे एव भवति ×। पटुप्रकारः पटुजातीयः। मृदुजातीयः। दर्शनजातीयः।

प्रागिवात्कः ५।३।७०

प० वि —प्राक् १।१ इवात् ५।१ कः १।१

अर्थ—इवे प्रतिकृतौ इत्येतस्मात्प्राक् वक्ष्यमाणेषु स्वार्थेष्वर्थेषु कः प्रत्ययो भवति इत्यधिकारो वेदितव्यः।

(इवे प्रतिकृतौ इस सूत्र के पहले-पहले कहे जाने वाले स्वार्थार्थ में क प्रत्यय होता है इस बात का अधिकार समझना चाहिये)

अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः ५।३।७१

प० वि०—अव्ययसर्वनाम्नाम् ६।३ अकच् १।१ प्राक् १।१ टेः ५।१

स०—अव्ययानि सर्वनामानि चेति अव्ययसर्वनामानि तेषाम्।

अर्थ—[प्रागिवात् तिङश्च] वक्ष्यमाणेषु स्वार्थेष्वर्थेषु अव्ययनां सर्वनाम्नां तिङन्तानां च टेः प्राक् अकच् प्रत्ययो भवति प्रागिवात् इत्यधिकारो वेदितव्यः।

(इवे प्रतिकृतौ इस सूत्र के पहले-पहले यहां से आगे कहे जाने वाले स्वार्थिक अर्थों में अव्यय तिङन्त और सर्वनाम के टि के पहले अकच् प्रत्यय होता है, इस बात का अधिकार समझना चाहिये)

अज्ञाते ५।३।७३

प० वि०—अज्ञाते ७।१ स०—न ज्ञातम् इति अज्ञातम् तस्मिन् ।

अर्थ—[सुपः तिङश्च] अज्ञातेऽर्थे वर्तमानात् सुबन्तात् तिङन्ताच्च यथाविहितं प्रत्ययो भवति । (अज्ञात अर्थ में वर्तमान सुबन्त और तिङन्त से यथाविहित अकच् या क प्रत्यय होता है !

उदा०—सर्वनाम्नोऽकच्—सर्वके । विश्वके । उभयके । त्वयका । मयका । त्वयकि । मयकि । × ओकारसकारभकारादौ सुपि सर्वनाम्नष्टेः प्रागकच् ×

युवकयोः । आवकयोः । युष्मकासु । अस्मकासु । युष्मकाभिः । अस्मकाभिः । अव्ययादकच्—उच्चकैः । नीचकैः । शनकैः । सुबन्तात् कः—अश्वकः । उष्ट्रकः । गर्दभकः । तिङन्तादकच्—पचतकि जल्पतकि ।

सि०—सर्वके । सर्वे । सर्व ए । सर्व् अकच्[1] ए । सर्व् अक् ए । सर्व् अक् ए । सर्वके । एवं सर्वत्र । युवकयोः । युवयोः । युवय् ओः । युवय् अकच् ओः । युवय् अक् ओः । युवकयोः । अश्वकः । अज्ञातः अश्वः इति विग्रहः । अश्व क । अश्वक सु । अश्वकः ।

कुत्सिते ५।३।७४

प० वि०—कुत्सिते ७।१

अर्थ—[सुपः तिङः] कुत्सिते अर्थे वर्तमानात् सुबन्तात् तिङन्ताच्च यथाविहितं प्रत्ययो भवति । (कुत्सित अर्थ में वर्तमान सुबन्त और तिङन्त से यथाविहित प्रत्यय होता है)

उदा०—कुत्सितोऽश्वः अश्वकः । गर्दभकः । उष्ट्रकः । उच्चकैः । नीचकैः । सर्वके । विश्वके । युवकयोः । आवकयोः । युष्मकाभिः । अस्मकाभिः । युष्मकासु । अस्मकासु । पचतकि । जल्पतकि ।

१—किमः कः (७. २. १०३) टेः (६. ४. १५३)

कियत्तदो निर्द्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच् ५।३।९२

प० वि०—किंयत्तदः ५।१ निर्द्धारणे ६।१ द्वयोः ७।२ एकस्य ६।१ डतरच् १।१ स०—किं च यच्च तच्चेति किंयत्तद् तस्मात्।

अर्थ—[किम् यद् तद् इत्येतेभ्यः सुबन्तेभ्यः द्वियोरेकस्य निर्द्धारणे डतरच् प्रत्ययो भवति। (किम् यत् तत् इन सुबन्तों में दो में से किसी एक के निर्द्धारण के विषय में डतरच् प्रत्यय होता है)

उदा०—❀ जातिगुणक्रियासंज्ञाभिः समुदायादेकदेशस्य पृथक्करणम् निर्द्धारणम् ❀को भवतोः कठः। कतरो भवतोः कठः। यतरः, ततरः ॥ कः कतरो वा भवतोः कारकः। यतरः, ततरः। कः कतरो वा भवतोः पटुः। यतरः, ततरः। कतरो भवतोः देवदत्तः। यतरः, ततरः ॥

सि०—कतरः। किम् डतरच्। किम् अतर। क्' अतर। कतर सु। कतरः ॥

वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच् ५।३।९३

प० वि०—वा अ०। बहूनाम् ६।३ जातिपरिप्रश्ने ७।१ डतमच् १।१ स०—जात्याः परिप्रश्नः इति जातिपरिप्रश्नः तस्मिन्।

अर्थ—[किंयत्तदः निर्द्धारणे एकस्य] बहूनां मध्ये एकस्य निर्द्धारणे गम्यमाने जातिपरिप्रश्नविषयेभ्यः किमादिभ्यः सुबन्तेभ्यो वा डतमच् प्रत्ययो भवति (बहुत में से किसी एक के निर्द्धारण गम्यमान होने पर जाति परिप्रश्नविषयक किमादि सुबन्त से विकल्प से डतमच् प्रत्यय होता है)

उदा०—❀वाग्रहणमकजर्थम्। महाविभाषया अप्रत्ययोऽपि भवति अत एव त्रैरूप्यम्❀ को भवतां कठः। कतमो भवतां कठः। को भवतां कठः। ❀ क इति अकच्सहितस्य रूपमेतद्। महाभाष्ये साकच्कार्थो वक्तव्योऽयं कादेशः इति किमः कः इति सूत्रे निर्णीतः अत एव अकच्-सहितस्य किम इत्येतस्य कक इति रूपं न जायते❀ यो यतमो यको वा भवतां कठः। सः ततमो सको वा आगच्छतु॥ ❀परिप्रश्नग्रहणं च किम एव विशेषणं, न यत्तदोरसम्भवात्। जातिग्रहणं तु सर्वैरेव सम्बध्यते❀

इवे प्रतिकृतौ ५।३।९६

प० वि०—इवे ७।१ प्रतिकृतौ ७।१

अर्थ—[कन्] प्रतिकृतौ इवार्थे सुबन्तात् कन् प्रत्ययो भवति।

(प्रतिकृति, प्रतिरूपक, प्रतिच्छन्दक या इसके सदृश इसकी आकृति है, इस अर्थ में वर्तमान सुबन्त से कन् प्रत्यय होता है)

उदा०—अश्व इव प्रतिकृतिः इति अश्वकः। उष्ट्रकः। गर्दभकः॥

इत्यष्टाध्यायी-प्रकाशिकायां पञ्चमाध्याये तृतीयः पादः

———

किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे ५।४।११

प० वि०—किमेतिङव्ययघाद् ५।१ आमु १।१ अद्रव्यप्रकर्षे ७।१

स०—किम् च एच्च तिङ् च अव्ययं चेति किमेत्तिङ- व्ययानि तेभ्यो घ इति किमेत्तिङव्ययघः तस्मात्। द्रव्यस्य प्रकर्ष द्रव्यप्रकर्षः। न द्रव्यप्रकर्षः अद्रव्यप्रकर्षः तस्मिन्।

अर्थ—किमः एदन्तात् तिङोऽव्ययाच्च यो घस्तदन्तादामुः प्रत्ययो भवति न तु द्रव्यप्रकर्षे॥ (किम् एकारान्त तिङ् अव्यय के पश्चात् विधान किया गया जो घ (तरप् तमप्) तदन्त से आम् प्रत्यय होता है द्रव्य प्रकर्ष में नहीं।

उदा०—किंतराम्। किंतमाम् पूर्वाह्णेतराम्। पूर्वाह्णेतमाम्। पचतितराम्। पचतितमाम्। उच्चैस्तराम्। उच्चैस्तमाम्॥

संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच् ५।४।१७

प० वि०—संख्यायाः ५।१ क्रियाभ्यावृत्तिगणने ७।१ कृत्वसुच् १।१

स०—वर्त्तनं वृत्तिः। अभितः आसमन्ताद् वृत्तिरिति अभ्यावृत्तिः पौनः पुन्यमित्यर्थः॥ तस्याः अभ्यावृत्तिः क्रियाभ्यावृत्तिः तस्याः गणनम्। क्रियाभ्यावृत्तिगणनम् तस्मिन्।

अर्थ—संख्याशब्देभ्यः क्रियाभ्यावृत्तिगणने वर्तमानेभ्यः स्वार्थे कृत्वसुच् प्रत्ययो भवति। (संख्यावाची सुवन्त से क्रिया के बारम्बार होने को गिनने में स्वार्थ में कृत्वसुच् प्रत्यय होता है)

उदा०—पञ्चवारान्भुङ्क्ते पञ्चकृत्वो भुङ्क्ते। सप्तकृत्वः।

द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच् ५।४।१८

प० वि०—द्वित्रिचतुर्भ्यः ५।३ सुच् १।१ स०—द्वौ च त्रयश्च चत्वारश्चेति द्वित्रिचत्वारः तेभ्यः

अर्थ—[संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने] द्वि त्रि चतुर् इत्येतेभ्यः संख्याशब्देभ्यः क्रियाभ्यावृत्तिगणने वर्त्तमानेभ्यः सुच् प्रत्ययो भवति।

(क्रियाभ्यावृतिगणन अर्थ में वर्तमान द्वि त्रि चतुर् संख्यावाची सुबन्त से स्वार्थ में सुच् प्रत्यय होता है)

उदा०—द्विः खादति। त्रिः खादति। चतुः खादति॥

एकस्य सकृच्च ५।४।२६

प० वि०—एकस्य ६।१ सकृत् १।१ च अ०।

अर्थ–[सुच्] एकस्य सकृदित्ययमादेशो भवति सुच्च प्रत्ययः क्रियागणनेऽर्थे वर्तमानात्॥ (एक शब्द के स्थान में सकृत् यह आदेश हो जाता है और सुच् प्रत्यय होता है क्रिया गणन अर्थ में वर्तमान।

उदा०—सकृत् खादति॥

बह्वल्पार्थाच्छस्कारकादन्यतरस्याम् ५।४।३२

प० वि०—बह्वल्पार्थात् ५।१ शस् १।१ कारकात् ५।१ अन्यतरस्याम् अ०। स०—बहुश्च अल्पश्च बह्वल्पौ। अर्थश्च अर्थश्चेति अर्थौ। बह्वल्पौ अर्थौ यस्य तत् बह्वल्पार्थम् तस्मात्।

अर्थ—बह्वर्थाद् अल्पर्थाच्च कारकाभिधायिनः शब्दात् शस् प्रत्ययो भवति अन्यतरस्याम्। (बहु अर्थ वाले तथा अल्प अर्थ वाले कारक को कहने वाले शब्दों से विकल्प करके शस् प्रत्यय होता है)

उदा०—बहूनि ददाति बहुशो ददाति। अल्पं ददाति अल्पशः ददाति। भूरिशो ददाति॥ बहुभिः अल्पेन वा ददाति बहुशः अल्पशः वा ददाति एवं कारकान्तरेषु अपि उदाहार्यम्।

संख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम् ५।४।४३

प० वि०–संख्यैकवचनात् ५।१ च अ०। वीप्सायाम् ७।१ स०—संख्या च एकवचनं चेति संख्यैकवचनम् तस्मात्।

अर्थ—[शस् अन्यतरस्याम्] संख्यावाचिभ्यः सुबन्तेभ्यः एकवचनाच्च वीप्सायां वर्त्तमानेभ्यः शस् प्रत्ययो भवति अन्यतरस्याम्।

(संख्यावाची सुबन्त और एकवचन सुबन्त से वीप्सा अर्थ में विकल्प से शस् प्रत्यय होता है)

उदा०—संख्यायाः—द्वौ द्वौ मोदकौ ददाति, द्विशः ददाति त्रिशः। कार्षापणं कार्षापणं ददाति कार्षापणशो ददाति। माषशः। पादशः।

कृभ्वस्तियोगे संपद्यकर्त्तरि च्विः ५।४।५०

प० वि०—कृभ्वस्तियोगे ७।१ संपद्यकर्त्तरि ७।१ च्विः १।१ स०—का च भूश्च अस्तिश्चेति कृभूअस्तयः तैर्योगः इति कृ-भू-अस्ति-योगः तस्मिन्। संपद्यश्चासौ कर्त्ता चेति संपद्यकर्त्ता तस्मिन्। न भूतः अभूतः ॥ तस्य आत्मनो भावः इति तद्भावः। अभूतस्य तद्भावः इति अभूततद्भावः तस्मिन्।

अर्थ—संपद्यकर्त्तरि वर्त्तमानात् सुबन्ताद् अभूततद्भावे गम्यमाने कृ-भू-अस्तिभिर्धातुभिर्योगे च्विः प्रत्ययो भवति। (संपद्य कर्ता में वर्तमान सुबन्त से अभूततद्भाव गम्यमान होने पर कृ भू और अस्ति धातु के योग में च्वि प्रत्यय होता है)

उदा०—अशुक्लः शुक्लः क्रियत इति शुक्लीकरोति। शुक्लीभवति। शुक्लीस्यात्।

सि०—शुक्ल सु च्वि करोति। शुक्ली[1] करोति ॥

समासान्तप्रत्ययप्रकरणम्

समासान्ताः ५।४।६८

प० वि०—समासान्ताः १।३ स०—समासस्य अन्तः समासान्तः ते समासान्ताः। समासस्य अन्तः चरमावयव इत्यर्थः

अर्थ—आपादपरिसमाप्तेऽर्थे प्रत्यया विहितास्ते समासस्य अन्तावयवा चरमावयवाः एकदेशाः वा भवन्ति इत्यधिकारो वेदितव्यः।

(पाद की परिसमाप्ति तक जिन प्रत्ययों का विधान किया गया है वे समास के अन्त अवयव होते हैं इस बात का अधिकार समझना चाहिये)

न पूजनात् ५।४।६९

प० वि०—न अ०। पूजनात् ५।१

अर्थ–पूजनवचानात् सुबन्तात् समासान्तो न भवति। (पूजनवाची सुबन्त के पश्चात् समासान्त नहीं होता है, इस बात का अधिकार समझना चाहिये)

उदा०—सुराजा। अतिराजा ×पूजायां स्वतिग्रहणं कर्त्तव्यम्× इह मा भूत्। परमराजः। परमगवः ॥

नञस्तत्पुरुषात् ५।४।७१

प० वि०—नञः ५।१ तत्पुरुषात् ५।१

१—अस्य च्वौ (७. ४. ३२)

अर्थ—नञः परे वक्ष्यमाणा ये राजादयस्तदन्तात् तत्पुरुषात् समासान्तो न भवति इत्यधिकारो वेदितव्यः।

(नञ् के पश्चात् कहे जाने वाले जो राजन् इत्यादि शब्द तदन्त तत्पुरुष से समासान्त प्रत्यय नहीं होता है, इस बात का अधिकार समझना चाहिये)

उदा०—न राजा इति अराजा। न सखा इति असखा।

ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे ५।४।७४

प० वि०—ऋक्पूरब्धूःपथाम् ६।३ अ। लुप्तप्रथमैकवचनान्तम्। अनक्षे ७।१ (सम्बन्धिनोऽधिकरणत्वविवक्षायां सप्तमी)

स०—ऋक् च पूर् च अप् च धूर् च पन्थाश्चेति ऋक्पूरब्धूःपन्थानः तेषाम्। न अक्षः इति अनक्षः तस्मिन्।

अर्थ—ऋक्-पूर्-अप्-धूर्-पथिन् इत्येवमन्तानां समासानाम् अकारः प्रत्ययो भवति, अक्षसम्बन्धिनी या धूस्तदन्तस्य न भवति।

(ऋक्, पूर्, अप्, धूर्, पथिन् ये शब्द हैं अन्त में जिसके ऐसे समास में समासान्त अकार प्रत्यय होता है, अक्ष सम्बन्धी जो धूर् शब्द है उसको छोड़कर)

उदा०—अनृचः। बह्वृचः। ललाटपुरम्। नान्दीपुरम्। द्वीपम्। अन्तरीपम्। समीपम्। राजधुरा। महाधुरः। जलपथः।

सि०—अनृचबह्वृचावध्येतर्येव। न ऋचोऽस्य सन्ति इति अनृचो माणवकः।

नञ् ऋच् अ। अ ऋच। अनुट्[1] ऋच। अनृच सु। अनृचः।

बहव ऋचोऽस्य सन्तीति बह्वृचः।

ललाटस्य पुरम्। ललाटपुरम्। नान्द्याः पुरम्। नान्दीपुरम्। द्वीपम्, अन्तरीपम्, समीपम्। द्विर्गता आपो अस्मिन्नन्तर्गता आपोऽस्मिन् सङ्गता आपोऽस्मिन्निति विग्रहः।

द्वि अप् अ। द्वि ईप्[2] अ। द्वीप सु। द्वीपम्। अन्तरीपम्। अन्तर् अप् अ। अन्तर् ईप् अ। अन्तरीप सु। अन्तरीप अम्। अन्तरीपम्। समीपम्। राजधुरा। राज्ञः धूरिति विग्रहः। राजन् ङस् धूर् अच्। राजन धुर् अ। राजधुर। राजधुर टाप्। राजधुरा सु। राजधुरा। महाधुरः। महती धूर्यस्येति विग्रह। महती धुर् अ। महत् धुर् अ। मह आ[3] धुर। महाधुर सु। महाधुरः। जलस्य जले वा पन्था इति

1—तस्मान्नुडचि (६. ३. ७२) 2—द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत् (६. ३. ९६ आदेः परस्य (१. १. ४३) 3—आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः (६. ३. ४४)

विग्रहः। जल ङस् पथिन् ङ। जल पथिन् अ। जलपथ्[1] अ। जलपथ सु। जलपथः।

तत्पुरुषस्याङ्गुलेः संख्याव्ययादेः ५।४।८६

प० वि०—तत्पुरुषस्य ६।१ अङ्गुलेः ६।१ संख्याव्ययादेः ६।१

स०—संख्या च अव्ययं च संख्याव्ययम् संख्याव्ययम् आदि यस्य इति संख्याव्ययादिः तस्य।

अर्थ—[अच् इति प्रत्यन्ववपूर्वात्सामलोम्नः इत्यतः अनुवर्त्तते] अङ्गुलिशब्दान्तस्य तत्पुरुषस्य संख्यादेरव्ययादेश्च अच् प्रत्ययो भवति।

(अङ्गुलि शब्दान्त संख्यादि और अव्ययादि तत्पुरुष से समासान्त अच् प्रत्यय होता है)

उदा०—द्व्यङ्गुलम्। त्र्यङ्गुलम्। निरङ्गुलम्।

सि०—द्वे अङ्गुली प्रमाणमस्य, तिस्रः अङ्गुल्यः प्रमाणमस्य इति विग्रह। निर्गतमङ्गुलिभ्यो, निरङ्गुलम्। द्वि औ अङ्गुलि औ मात्रच्। द्वि औ अङ्गुलि[2] औ अच्। द्वि अङ्गुलि अच्। द्वि अङ्गुल् अ। द्व्यङ्गुल सु। द्व्यङ्गुलः।

राजाहस्सखिभ्यष्टच् ५।४।९१

प० वि०—राजाहस्सखिभ्यः ५।३ टच् १।१ स०—राजा च अहश्च सखा चेति राजाहस्सखायः तेभ्यः।

अर्थ—[तत्पुरुषस्य] राजन् अहन् सखि इत्येवमन्तात् तत्पुरुषात् समासान्तः टच् प्रत्ययो भवति।

(राजन अहन् और सखि शब्दान्त तत्पुरुष से समासान्त टच् प्रत्यय होता है)

उदा०—मद्रराजः। द्व्यहः। त्र्यहः। राजसखः।

सि०—द्वे अहनी समाहृते। त्रीणि अहानि समाहृतानि इति विग्रहः।

द्वि औ अहन् औ टच्। द्वि अहन् टच्। द्वि अह्[3] अ। द्वि अह। द्व्यहः। त्र्यहः। मद्रराजः। मद्राणां राजन् टच्। मद्र आम् राजन् सु टच्। मद्रराजन् अ। मद्रराज्[2] अ। मद्रराज सु।

१—नस्तद्धिते (६. ४. १४४) अचोऽन्त्यादि टि (१. १. ६३)

२—प्रमाणे लो द्विगोर्नित्यम् (५. २. ३७ वा०)

३—नस्तद्धिते (६. ४. १४४)

मद्रराजः+। राजसखः। राज्ञः सखा इति विग्रहः। राजन् ङस् सखि सु टच्। राजन् सखि अ। राजसखि अ। राजसख्[1] अ। राजसख सु। राजसखः।

गोरतद्धितलुकि ५।४।९२

प० वि०—गोः ५।१ अतद्धितलुकि ७।१ स०—तद्धितस्य लुक् इति तद्धितलुक् तस्मिन्।

अर्थ—[तत्पुरुषस्य] गोशब्दान्तात् तत्पुरुषात् टच् प्रत्ययो भवति तद्धितलुकि सति तु प्रत्ययो न भवति। (गोशब्दान्त तत्पुरुष से समासान्त टच् प्रत्यय होता है, तद्धित लुक् होने पर प्रत्यय नहीं होता है)

उदा०—दशगवः। पञ्चगवः।

सि०—तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च इत्यत्र द्रष्टव्या।

नावो द्विगोः ५।४।९९

प० वि०—नावः ५।१ द्विगोः ५।१ स०—

अर्थ—[तत्पुरुषस्य टच्] नौशब्दान्तात् तत्पुरुषात् द्विगोष्टच् प्रत्ययो भवति समासान्तः। (नौशब्दान्त तत्पुरुष द्विगु से समासान्त टच् प्रत्यय होता है)

उदा०—पञ्च नावः प्रिया यस्येति पञ्चनावप्रियः। दशनावप्रियः।

द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात्समाहारे ५।४।१०६

प० वि०—द्वन्द्वात् ५।१ चुदषहान्तात् ५।१ समाहारे ७।१ स०—चुश्च दश्च षश्च हश्च इति चुदषहम्। चुदषहम् अन्ते यस्य तत् चुदषहान्तम् तस्मात्।

अर्थ—[टच्] द्वन्द्वाच्चवर्गान्ताद् दकारान्तात् षकारान्तात् हकारान्ताच्च टच् प्रत्ययो भवति, स चेद् द्वन्द्वः समाहारे वर्तते।

(द्वन्द्व समास जो चवर्गान्त दकारान्त षकारान्त और हकारान्त उससे

१—यस्येति च (६. ४. १४८)

+विभाषा समासान्तो भवति (६. २. ११७ भा०) इति परिभाषया समासान्ताभावे 'सर्वराज्ञाम्' (आदि पर्व १.१०२) इत्येवमादयः महाभारते भासनाटकेषु च प्रयुक्ताः प्रयोगा साधवो भवन्ति एवं च कृत्वा 'श्रीयुतमहाराजधिराजभ्यः' इति (ऋ० द० पत्रव्यवहार पृष्ठ ३४० वि० सं०) स्वामिदयानन्दप्रयोगोऽप्युपपद्यते।

समाहार में प्रत्यय समासान्त टच् होते हैं)

उदा०—वाक्त्वचम् । स्रक्त्वचम् । श्रीस्रजम् । इडूर्जम् । वागूर्जम् । समिद्दृषदम् । संपद्विपदम् । वाग्विप्रुषम् । छात्रोपानहम् । धेनुगोदुहम् ॥

सि०—स्रक्च त्वक् च इति स्रक्त्वचम् । श्रीश्च स्रक् चा इति श्रीस्रजम् । वाक् च ऊर्क् च इति वागूर्जम् । समिच्च दृषच्चेति समिद्दृषदम् । सम्पच्च विपच्चेति सम्पद्विपदम् । वाक्च त्विट् चेति वाक्त्विषम् । वाक्च विप्रुट् चेति वाग्विप्रुषम् । छत्रञ्च उपानच्चेति छत्रोपानहम् । धेनुश्च गोधुक् चेति धेनुगोदुहम् ।

अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः ५।४।१०७

प० वि०—अव्ययीभावे ७।१ शरत्प्रभृतिभ्यः ५।३

अर्थ—[टच्] शरदादिभ्यः सुबन्तेभ्यष्टच् प्रत्ययो भवति अव्ययीभावे । (शरदादि से अव्ययीभाव समास में में समासान्त टच् प्रत्यय होता है)

उदा०—शरदः समीपम् । उपशरदम् ॥

अनश्च ५।४।१०८

प० वि०—अनः ५।१ च अ० ।

अर्थ—[अव्ययीभावे टच्] अनन्तादव्ययीभावाट्टच् प्रत्ययो भवति समासान्तः । (अनन्त अव्ययीभाव से समासान्त टच् प्रत्यय होता है)

उदा०—राज्ञः समीपम् उपराजम् ।

सि०—उपराजन् टच् । उपराज् अ । उपराज सु । उपराज अम् उपराजम् ॥

बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात्षच् ५।४।११३

प्रसम्भ्यां जानुनोर्ज्ञुः ५।४।१२९

प० वि०—प्रसम्भ्याम् ५।२ जानुनः ६।१ ज्ञुः १।१ स०—प्रश्च सं चेति प्रसमौ ताभ्याम् ।

अर्थ—[बहुव्रीहौ] प्र सम् इत्येताभ्यामुत्तरस्य जानुशब्दस्य ज्ञुरादेशो भवति समासान्ते बहुव्रीहौ । (प्र सम् के उत्तर जानु शब्द का ज्ञु आदेश हो जाता है समासान्त बहुव्रीहि में)

उदा०—प्रकृष्टे जानुनी अस्य प्रज्ञः । संज्ञः ।

ऊर्ध्वाद् विभाषा ५।४।१३०

प० वि०—ऊर्ध्वात् ५।१ विभाषा १।१

अर्थ—[बहुव्रीहौ जानुनः] ऊर्ध्वशब्दादुत्तरस्य जानुशब्दस्य विभाषा ज्ञरित्यादेशो भवति विभाषा बहुव्रीहौ समासान्तः। (ऊर्ध्व शब्द के पश्चात् जानु शब्द का विकल्प से ज्ञु आदेश होता है बहुव्रीहि समासान्त में)

उदा०—ऊर्ध्वे जानुनी अस्य, ऊर्ध्वजानुः। ऊर्ध्वज्ञुः।

ऊधसोऽनङ् ५।४।१३१

प० वि०—ऊधसः ६।१ अनङ् १।१

अर्थ—[बहुव्रीहौ] ऊधः शब्दान्तस्य बहुव्रीहेरनङादेशो भवति समासान्तः। (ऊधः शब्दान्त बहुव्रीहि को समासान्त अनङ् आदेश होता है)

उदा०—कुण्डमिव ऊधोऽस्याः, सा कुण्डोध्नी। घटोध्नी।

सि०—घटोधन् ङीप्। घटोध्नी[1] सु। घटोध्नी॥

जायाया निङ् ५।४।१३४

प० वि०—जायायाः ६।१ निङ् १।१

अर्थ—[बहुव्रीहौ] जायाशब्दान्तस्य बहुव्रीहेर्निङ् आदेशो भवति बहुव्रीहौ समासान्तः। जाया शब्दान्त बहुव्रीहि को निङ् आदेश होता है समासान्त)

युवतिर्जाया यस्य स युवजानिः। युवति जाया निङ्। युवजाया नि। युवजाय् नि। युवजानि सु। युवजानिः॥

गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः ५।४।१३५

प० वि०—गन्धस्य ६।१ इत् १।१ उत्पूतिसुसुरभिभ्यः ५।३ स०—उच्च पूतिश्च सुश्च सुरभिश्च इति उत्पूतिसुसुरभयः तेभ्यः।

अर्थ—[बहुव्रीहौ] उत पूति सु सुरभि इत्येतेभ्यः परस्य गन्धस्य शब्दस्य इकारादेशो भवति समासान्तो बहुव्रीहौ समासे। (उत पूति सु सुरभि इन शब्दों के पश्चात् गन्ध शब्द का इकार होता है बहुव्रीहिमें समासान्त).

उदा०—उद्गतो गन्धोऽस्येति उद्गन्धिः। पूतिगन्धिः। सुगन्धि॥

उपमानाच्च ५।४।१३७

प० वि०—उपमानात् ५।१ च अ०।

अर्थ—[गन्धस्य बहुव्रीहौ] उपमानाद् यो गन्धशब्दः तस्येकारादेशो

१—अल्लोपोऽनः (६. ४. १३४)

भवति समासान्तो बहुव्रीहौ। (उपमान के पश्चात् जो गन्ध शब्द उसको इकार आदेश हो जाता है समासान्त बहुव्रीहि में)

उदा०—पद्मस्य इव गन्धो यस्येति पद्मगन्धिः।

उरः प्रभृतिभ्यः कप् ५।४।१५१

प० वि०—उरःप्रभृतिभ्यः ५।३ कप् १।१ स०—उरसः प्रभृतयः उरःप्रभृतयः तेभ्य उरःप्रभृतिभ्यः

अर्थ—[बहुव्रीहौ] उरः प्रभृत्यन्ताद् बहुव्रीहेः कप् प्रत्ययो भवति। (उरः इत्यादि है अन्त में जिसके ऐसे बहुव्रीहि से समासान्त कप् प्रत्यय होता है)

उदा०—व्यूढमुरोऽस्य व्यूढोरस्कः। प्रियसर्पिष्कः।

इनः स्त्रियाम् ५।४।१५१

प० वि०—इनः ५।१ स्त्रियाम् ७।१

अर्थ—[बहुव्रीहौ] इन्नन्ताद् बहुव्रीहौ कप् प्रत्ययो भवति स्त्रियां विषये। (इनन्त बहुव्रीहि से कप् प्रत्यय होता है स्त्रीलिङ्ग के विषय में)

उदा०—बहवो दण्डिनोऽस्यां शालायां बहुदण्डिका शाला।

नद्यृतश्च ५।४।१५३

प० वि०—नद्यृतः ५।१ च अ०। सं०—नदी च ऋच्चेति नद्यृत् तस्मात्।

अर्थ—[बहुव्रीहौ] नद्यन्ताद् बहुव्रीहेः ऋकारान्ताच्च कप् प्रत्ययो भवति। (नद्यन्त बहुव्रीहि और ऋकारान्त से कप् प्रत्यय होता है समासान्त)

उदा०—बह्व्यः कुमार्यः अस्मिन्देशे इति बहुकुमारीको देशः। बहुकर्तृकः।

सि०—बह्वी जस् कुमारी जस् कप्। बहुकुमारीक[1] क। बहु कुमारीक[2] सु। बहुकुमारीकः।

शेषाद्विभाषा ५।४।१५४

प० वि०—शेषात् ५।१ विभाषा १।१

अर्थ—[बहुव्रीहौ] यस्माद् बहुव्रीहेः समासान्तो न विहितः स शेष-

१—स्त्रियाः पुंवद्-(६ ३. ३४) २—केऽणः (७. ४. १३) न कपि (७. ४. १४)

स्तस्माद् विभाषा कप् प्रत्ययो भवति। (जिस् बहुव्रीहि से समासान्त विधान नहीं किया गया है ऐसे शेष से विकल्प करके समासान्त कप् प्रत्यय होता है)

उदा०—बह्व्यः खट्वाः अस्मिन् देशे स बहुखट्वको देशः। बहुखट्वाको देशः। बहुमालकः। बहुमालाकः।

सि०—बह्वी जस् खट्वा जस् कप्। बह्वी खट्वा कप्। बहु[1] खट्व क। बहुखट्वाक[2]॥ बहुखट्वकः। बहुखट्वाकः।

इतिश्रीमत्पदवाक्यप्रमाणज्ञमहावैयाकरणपण्डितब्रह्मदत्ताचार्याणामन्तेवासिना देवप्रकाशपातञ्जलेन विरचितायामष्टाध्यायी-प्रकाशिकायां
पञ्चमाध्याये चतुर्थः पादः
इति पञ्चमोऽध्यायः

द्विर्वचनप्रकरणम्

एकाचो द्वे प्रथमस्य ६।१।१

प० वि०—एकाचः ६।१ द्वे १।२ प्रथमस्य ६।१ स०—एकोऽच् अस्मिन् इति एकाच् (बहु०) तस्य।

अर्थ—प्रथमस्य एकाचो द्वे भवतः इत्यधिकारो वेदितव्यः आ सम्प्रसारणात्। (प्रथम एकाच् को द्वित्व हो जाता है इस बात का अधिकार समझना चाहिए सम्प्रसारण प्रकरण से पूर्व तक)

अजादेर्द्वितीयस्य ६।१।२

प० वि०—अजादेः ६।१ द्वितीयस्य ६।१ स०—अच् आदिर्यस्य इति अजादिः तस्य।

अर्थ—[द्वे प्रथमस्य] अजादेर्द्वितीयस्यैकाचो द्वे भवतः इत्यधिकारो वेदितव्यः। (अच् है आदि में जिस के ऐसे के द्वितीय एकाच् को द्वित्व होता है, इस बात का अधिकार समझना चाहिए)

१—स्त्रियाः पुंवद्-(६. ३. ३४) २—केऽणः (७. ४. १३) न कपि (७. ४. १४) आपोऽन्यतरस्याम् (७. ४. १५)

न न्द्राः संयोगादयः ६।१।३

प० वि०—न अ० । न्द्राः १।३ संयोगादयः १।३ स०—नश्च दश्च रश्चेति न्द्राः (समासविग्रहे नकारदकारे अकार उच्चारणार्थं । संयोगस्य आदिः संयोगादिः ते संयोगादयः ।

अर्थ—[द्वितीयस्य एकाचो द्वे] द्वितीयस्य एकाचः संयोगस्य आदयः नकारदकाररेफाः न द्विरुच्यन्ते ।

(द्वितीय एक अच् वाले समुदाय के संयोग के नकार, दकार और रेफ को द्वित्व नहीं होता है, इस बात का अधिकार समझना चाहिये)

पूर्वोऽभ्यासः ६।१।४

प० वि०—पूर्वः १।१ अभ्यासः १।१

अर्थ—[द्वे इति प्रथमान्तं षष्ठ्या विपरिणम्यते] ये द्वे विहिते तयोर्यः पूर्वः स अभ्यास संज्ञो भवति ।

(जिस द्वित्व को विधान किया गया है उन दोनों में जो पूर्व उसकी अभ्यास संज्ञा होती है)

उभे अभ्यस्तम् ६।१।५

प० वि०—उभे १।२ अभ्यस्तम् १।१

अर्थ—[द्वे] ये द्वे विहिते ते उभे समुदिते अभ्यस्तसंज्ञे भवतः ।

(जिस द्वित्व का विधान किया गया है उन दोनों इकट्ठे की अभ्यस्त संज्ञा होती है)

लिटि धातोरनभ्यासस्य ६।१।८

प० वि०— लिटि ७।१ धातोः ६।१ अनभ्यासस्य ६।१ स०—न अभ्यासः अनभ्यासः तस्य ।

अर्थ—[प्रथमस्य एकाचो द्वे द्वितीयस्य] लिटि परतो धातोः प्रथमस्यैकाचो द्वितीयस्य वा अनभ्यासस्य यथायोगं द्वे भवतः ।

(लिट् के परे रहने पर धातु के प्रथम या द्वितीय एकाच् को यथायोग द्वित्व होता है यदि वह अभ्यास संज्ञक न हो । अर्थात पहले किसी और निमित्त को मानकर द्वित्व होकर अभ्यास संज्ञक न बना हो)

उदा०—पपाच । पपाठ

सन्यङोः ६।१।९

प० वि०—सन्यङोः ६।२ स०—संश्च यङ च इति सन्यङौ तयोः ।

अर्थ--[धातोरनभ्यासस्य] सनन्तस्य यङन्तस्य च धातोरवयवस्य प्रथमस्य एकाचो द्वितीयस्यवा अनभ्यासस्य यथायोगं द्वे भवतः।

(सन्नन्त और यङन्त धातु के अनभ्यास अवयव के प्रथम या द्वितीय एक अच् वाले का यथायोग द्वित्व होता है।

उदा०—सनः—पिपक्षति। पिपतिषति। अरिरिषति। अटिटिषति। अशिशिषति। उन्दिदिषति। अडिडिषति। अर्चिचिषति। यङः—पापच्यते। यायज्यते। अटाट्यते। अरार्यते।

सि०—अरिरिषति। ऋ सन्। ऋ स। ऋ इट् स। अर् इ स। अरिष। अरिष् रिष। अरि रिष लट्। अरिरिष ल्। अरिरिष तिप्। अरिरिष शप् ति। अरिरिष अ ति। अरिरिषति। अटिटिषति। अट् सन्। अट् स। अट् इट् स। अटिस। अटिष। अटिष् टिष। अटि टिष लट्। अटिटिष तिप्। अटिटिष शप् ति। अटि टिष अ ति। अटिटिषति। अशिशिषति। अश् स। अशिस। अशिष। अशिष् शिष। अशिशिष शप् तिप्। अशिशिषति। उन्दिदिषति। उन्दी क्लेदने। उन्द्। उन्द् स। उन्दिष। उन्दिष् दिष। उन्दिदिष शप् ति। उन्दिदिषति। अडिडिषति। अड्ड अभियोगे। अड्ड् सन्। अड्डि ष। अद् डिष। अद् डि डिष। अडिड डिष शप् तिप्। अडिडिषति।

× अर्तेरश्यर्तिशूर्णोतीनामुपसंख्यानम् इति यङ् × अरार्यते। ऋ यङ्। अर् [1] य। अर् य र् य[2]। अर् अ र्य। अर र्य। अरा र्य लट्। अरार्य त। अरार्य शप् त। अरार्य त। अरार्यते।

श्लौ ६।१।१०

अर्थ—[धातोरनभ्यासस्य] श्लौ परतोऽनभ्यासस्य धातोरवयवस्य प्रथमस्यैकाचो द्वितीयस्य वा यथायोगं द्वे भवतः। (श्लु के परे रहने पर अनभ्यास धातु के अवयव के प्रथम या द्वितीय एकाच् को यथायोग द्वित्व होता है

उदा०—जुहोति। बिभेति।

चङि ६।१।११

अर्थ--[धातोरनभ्यासस्य] चङि परतोऽनभ्यासस्य धातोरवयवस्य प्रथमस्यैकाचो द्वितीयस्य वा यथायोगं द्वे भवतः। (चङ् के परे रहने पर अनभ्यास धातु के अवयव प्रथम या द्वितीय एकाच् को यथायोग द्वित्व होता है)

१–यङि च (७. ४. ३०) २–यकारपरस्य रेफस्य प्रतिषेधो न भवतीति वक्तव्यम् (६. १. ३ वा०)

उदा०—अपीपचत् । अपीपठत् ।

ॐ पचादीनां ण्यन्तानां चङि कृते णिलोप उपधाह्रस्वत्वं द्विर्वचनमित्येषां प्रवृत्तिक्रमः । तथा च सन्वल्लघुनि चङ्परे इति सन्वद्भावो विधीयमानो ह्रस्वस्य स्थानिवद्भावान्न प्रतिषिध्यते । यो हि अनादिष्टाद् अचः पूर्वस्तस्य विधिं प्रति स्थानिवद्भावो भवति । न चास्मिन् कार्याणां क्रमेणानादिष्टादचः पूर्वोऽभ्यासो भवति इति । आटिटत् इति द्विर्वचनेऽचि इति स्थानिवद्भावाद् द्वितीयस्यैकाचो द्विर्वचनं भवति ॐ

सम्प्रसारणप्रकरणम्

ष्यङः सम्प्रसारणं पुत्रपत्योस्तत्पुरुषे ६।१।१३

प० वि०—ष्यङः ६।१ सम्प्रसारणम् १।१ पुत्रपत्योः ६।२ तत्पुरुषे ७।१

स०—पुत्रश्च पतिश्च इति पुत्रपती तयोः पुत्रपत्योः ।

अर्थ—पुत्रपत्योरुत्तरपदयोस्तत्पुरुषे समासे ष्यङः सम्प्रसारणं भवति । (तत्पुरुष में पुत्र और पति शब्द के उत्तर पद में परे रहने पर ष्यङ् का सम्प्रसारण हो जाता है)

उदा०—कारीषगन्धीपुत्रः । कारीषगन्धीपतिः । कौमुदगन्धीपुत्रः । कौमुदगन्धीपतिः ।

सि०—अन्यत्सर्वं यङश्चाप् इति सूत्रे द्रष्टव्यम् विशेषस्तु कारीषगन्ध्यायाः पुत्रः इति विग्रहः । कारीषगन्ध्या पुत्र । कारीषगन्ध् इ आ पुत्र । कारीषगन्ध् ई[1] पुत्र । कारीषगन्धीपुत्र । कारीषगन्धीपुत्रः । कारीषगन्धीपतिः ।

बन्धुनि बहुव्रीहौ ६।१।१४

प० वि०—बन्धुनि ७।१ बहुव्रीहौ ७।१

अर्थ—[ष्यङः सम्प्रसारणम्] बन्धुशब्द उत्तरपदे बहुव्रीहौ समासे ष्यङः सम्प्रसारणं भवति । (बन्धु शब्द के उत्तरपद में परे रहने पर बहुव्रीहि समास में ष्यङ् को सम्प्रसारण होता है)

उदा०—कारीषगन्धीबन्धुः । कौमुदगन्धीबन्धुः । कारीषगन्ध्या बन्धुरस्येति विग्रहः ।

वचिस्वपियजादीनां किति ६।१।१५

प० वि०—वचिस्वपियजादीनाम् ६।३ किति ७।१ स०—यजः आदि-

१—हलः (६. ४. २)

येषान्ते यजादयः। वचिश्च स्वपिश्च यजादयश्चेति वचिस्वपियजादयः तेषाम्। क् इद् यस्य स कित् तस्मिन् किति।

अर्थ—[सम्प्रसारणम्] वच परिभाषणे। ब्रुवो वचिरिति च। ञिष्वप् शये। यजादयो, यज देवपूजासंगतिकरणदानेष्वित्यतः प्रभृति आ गणान्तात्। तेषां वचिस्वपियजादीनां सम्प्रसारणं भवति किति प्रत्यये परतः। (वच्, स्वप् और यजादि धातुओं का सम्प्रसारण होता है कित् प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०—वचि–उक्तः। उक्तवान्। स्वपि–सुप्तः। सुप्तवान्। यज–इष्टः। इष्टवान्।

सि०—वच् क्त। वच् त। उ अ च् त। उच्[1] त। उक्तः[2]।

ग्रहिज्यावयिव्यधिवष्टिविचतिवृश्चतिपृच्छति-भृज्जतीनां ङिति च ६।१।१६

प० वि०—ग्रहि–ज्या–वयि–व्यधि–वष्टि–विचति–वृश्चति–पृच्छति–भृज्जतीनाम् ६।३ ङिति ७।१ च अ०। स०—ग्रहिश्च ज्याश्च वयिश्च व्यधिश्च वष्टिश्च विचतिश्च वृश्चतिश्च पृच्छतिश्च भृज्जतिश्चेति ग्रहि—ज्या–वयि–व्यधि—वष्टि–विचति–वृश्चति–पृच्छति–भृज्जतयः तेषाम्। ङ् इत् यस्येति ङित् तस्मिन् ङिति।

अर्थ—[सम्प्रसारणम् किति] ग्रह उपादाने, ज्या वयोहानौ, वेञो वयि, व्यध ताडने, वश कान्तौ, व्यच व्याजीकरणे, ओव्रश्चू छेदने, प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्, भ्रस्ज पाके इत्येतेषां धातूनां ङिति प्रत्यये परतश्चकारात्किति च सम्प्रसारणं भवति। (इन धातुओं को ङित् और कित् प्रत्यय के परे रहने पर सम्प्रसारण होता है)

उदा०—ग्रह ङिति—गृह्णाति। जरीगृह्यते। किति—गृहीतः। गृहीतवान्। ज्या ङिति—जिनाति। जेजीयते। किति—जीनः। जीनवान्। वयि—लिटि परतो वेञो वयिरादेशस्तस्य ङिदभावात् किदेवोदाह्रियते। ऊयतुः। ऊयुः। व्यध ङिति—विध्यति। वेविध्यते। किति–विद्धः। विद्धवान्। वश ङिति–उष्टः। उशन्ति। किति—उशितः। उशितवान्। व्यच ङिति–विचति। वेविच्यते। किति-विचितः। विचितवान्। व्रश्च ङिति—वृश्चति। वरीवृश्च्यते। किति–वृक्णः। वृक्णवान्। प्रच्छ

१—सम्प्रसारणाच्च (६. १. १०४) २—चोः कुः (८. २. ३०)

ङिति—पृच्छति । परिपृच्छ्यते । प्रश्नः, नङि तु प्रश्ने चासन्नकाले इति निपातनाद् असम्प्रसारणम् । किति—पृष्टः । पृष्टवान् । भ्रस्ज ङिति—भृज्जति । वरीभृज्ज्यते । भ्रस्ज किति—भृष्टः । भृष्टवान् ।

सि०—गृह्णाति । ग्रह् लट् । ग्रह् ल् । ग्रह् तिप् । ग्रह् श्ना ति । ग्रह् ना ति । ग् ऋ अ ह् ना ति । गृह् ना ति । गृह्णाति । ग्रह यङ् । ग्रह य । गृह् य । गृह् गृह् य । गृ गृह् य । गर्[1] गृह् य । ग[2] गृह् य । ज[3] गृह् य । ज रीक्[4] गृह् य । जरीगृह्य लट् । जरीगृह्य शप् त । जरीगृह्य अ ते । जरीगृह्यते । ग्रह् क्त । गृह् त । गृह् इट् त । गृहीतः । जी[5] ना ति । जि[6] नाति । ज्या क्त । ज्या त । जि त । जी त । जी न[7] । जीनः । ऊयतुः । वेञ् । वेञ् लिट् । वय् लिट् । वय् अतुस् । उ अ य् अतुस् । उय् अतुस् । उय् उय् अतुस् । उ उय् अतुस् । ऊयतुस् । ऊयतुः । विद्धः । व्यध् क्त । व्यध् त । व् इ अ ध् त । वि अ ध् त । वि ध् त । विध् ध[8] । विद् ध । विद्धः । उष्टः । वश् क्त । वश् त । उ अ श् त । उश् त । उष्[9] त । उष् ट[10] । उष्ट सु । उष्टः । वृक्णः । व्रश्च् क्त । व्रश्च् त । वृश्च त । वृस्क् त । वृक्[11] न । वृक् ण । वृक्णः । ❀कथमत्र कुत्वं, न व्रश्चभ्रस्जेति सूत्रेण षत्वेन भवितव्यम्—उच्यते ×निष्ठादेशः षत्वस्वरप्रत्ययविधीड विधिषु सिद्धो वक्तव्यः× तत्र षत्वं प्रति नत्वस्य सिद्धत्वाद् झलादिर्निष्ठा न भवति । कुत्वे तु कर्त्तव्ये तदसिद्धमेवेति प्रवर्त्तते कुत्वम्❀

लिट्यभ्यासस्योभयेषाम् ६।१।१७

प० वि०—लिटि ७।१ अभ्यासस्य ६।१ उभयेषाम् ६।३

अर्थ [सम्प्रसारणम्] उभयेषां वच्यादीनां ग्रहादीनां च लिटि परतः

१—उरत (७. ४. ६६) उरण् रपरः (१. १. ५०) २—पूर्वोऽभ्यासः (६. १. ४) अत्र लोपोऽभ्यासस्य (७. ४. ५०) हलादिः शेषः (७. ४. ६०) ३—कुहोश्चुः (७. ४. ७२) ४—रीगृदुपधस्य च (७. ४. ९०) आद्यन्तौ टकितौ (१. १. ४५) ५—हलः (६. ४. २) ६—प्वादीनां ह्रस्वः (७. ३. ८०) ७—ल्वादिभ्यश्च (८. २. ४४) ८—झषस्तथोर्धोऽधः (८. २. ४०) ९—व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः (८. २. ३६) १०—ष्टुना ष्टुः (८. ४. ४०) ११—स्कोः संयोगाद्योरन्ते च (८. २. २९)

अभ्यासस्य सम्प्रसारणं भवति। (वच इत्यादि और ग्रह इत्यादि इन दोनों के अभ्यास का सम्प्रसारण होता है लिट् के परे रहने पर)

उदा०—वचि—उवाच। उवचिथ। स्वप्—सुष्वाप। सुष्वपिथ। यज्—इयाज। इयजिथ। ग्रह्—जग्राह। जग्रहिथ। ॐग्रहेरविशेषःॐ

(धातु के अभ्यास को सम्प्रसारण होकर 'जृग्रह्, अ' 'उरत्' से अरादेश करके रेफ की निवृत्ति करने से भी 'जग्राह' रूप बनता है और सम्प्रसारण बिना किए भी 'हलादि शेषः' से रेफ की निवृत्ति होने पर वही रूप बनता है।

ज्या—जिज्यौ। जिज्यिथ। वयि—उवाय। उवयिथ। व्यध—विव्याध। विव्यधिथ। वश—उवाश। अवशिथ। व्यच—विव्याच। विव्यचिथ। वश्च—वव्रश्च। वव्रश्चिथ। पृच्छतिभृज्जत्योरविशेषः पूर्ववत्।

सि०—वच। वच् लिट्। वच् ल्। वच् णल्। वाच् अ। वाच वाच् अ। वा वाच् अ। व वाच् अ। उ अ वाच् अ। उवाच। वच् लिट्। वच् थल्। वच् थ। ॐअत्र प्रकरणे इदं बोध्यम्—क्रादिनियमादिट् प्राप्त उपदेशेऽत्वत इति प्रतिषिद्धः, ऋतो भारद्वाजस्य इति नियमात् पुनरिड् आगमो भवतिॐ वच् इट् थ। वचिथ। वच् वच् इथ। व वच् इथ। उ अ वचिथ। उवचिथ। उवक्थ॥ ग्रह् लिट्। ग्रह् णल्। ग्राह् अ। ग्राह् ग्राह् अ। ग्रा ग्राह् अ। ग्र ग्राह् अ। गृ ग्राह् अ। गर् ग्राह् अ। ग ग्राह् अ। जग्राह्॥ ॐयद्यपि ग्रहिप्रच्छतिभृज्जतीनामभ्यासस्य संप्रसारणे कृतेऽकृते च विशेषो नास्ति, तथापि पर्जन्यवल्लक्षणं प्रवर्त्तते। जग्राह, पप्रच्छ, बभ्रज्ज, इत्यादिषु सम्प्रसारणे कृते प्रयोगो निष्पादनीयः वृश्चतेस्तु विशेषः। सम्प्रसारणस्य अकरणे वव्रश्च इत्यत्र वकारस्य सम्प्रसारणं स्यात्। कृते तु न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम् इति निषेधप्रवृत्तिरितिॐ

विभाषा श्वेः ६।१।३०

प० वि०—विभाषा १।१ श्वेः ६।१

अर्थ—[सम्प्रसारणम्, लिड्यङोश्च] टुओश्वि इत्येतस्य धातोः विभाषा सम्प्रसारणं भवति लिटि यङि च परतः। (टुओश्वि धातु का विकल्प से सम्प्रसारण होता है लिट् और यङ् के परे होने पर)

उदा०—शुशाव। शिश्वाय। शुशुवतुः। शिश्वयतुः। यङि—शोशूयते। शेश्वीयते।

सि०—टुओशिव । शिव । शिव लिट् । शिव ल् । शिव णल् । श् व् इ णल् । श् उ इ अ । श् उ अ । शु अ । शौ अ । शाव् अ । शु[1] शाव । शुशाव । शिव णल् । श्वै अ । श्याय् अ । शि[1] श्वाय् अ । शिश्वाय ॥

न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम् ६।१।३६

प० वि०—न अ० । सम्प्रसारणे ७।१ सम्प्रसारणम् १।१

अर्थ—सम्प्रसारणे परतः सम्प्रसारणं न भवति (सम्प्रसारण के परे रहने पर सम्प्रसारण नहीं होता है)

उदा०—विद्धः ।

सि०—व्यध् क्त । व्यध् त । व् इ अ ध् त । विध् त । विद्धः । ❀अन्यत्सर्वं साधनं सम्प्रसारणविधायके सूत्रे द्रष्टव्यम् । अत्र यकारस्य सम्प्रसारणे कृते पुनः वकारस्य सम्प्रसारणमनेन सूत्रेण प्रतिषिध्यते❀

आत्वप्रकरणम्

आदेच उपदेशेऽशिति ६।१।४४

प० वि०—आत् १।१ एचः ६।१ उपदेशे ७।१ अशिति ७।१ स०—न शित् अशित् तस्मिन् अशिति ।

अर्थ—[धातोः] उपदेशे यो धातुरेजन्तस्तस्य आकारादेशो भवति, शिति तु न भवति । (उपदेश में जो धातु एजन्त उसको आकार आदेश हो जाता है, शकार इत् वाला प्रत्यय परे हो तो नहीं)

उदा०—❀अशीतीति प्रसज्यप्रतिषेधोऽयं तेनैतदात्वमनैमित्तिकं प्रागेव प्रत्ययोत्पत्तेर्भवति❀ ग्लाता । ग्लातुम् । ग्लातव्यम् । म्लाता । म्लातुम् । म्लातव्यम् ।

सि०—ग्लै म्लै हर्षक्षये । ग्लै । ग्ला तृच् । ग्ला तृच् । ग्लातृ सु । ग्लात् अनङ् सु । ग्लातन् स् । ग्लातान् स् । ग्लातान् । ग्लाता । ग्लातारौ । ग्लातारः । ग्लातारम् । ग्लातारौ । ग्लातन् । ग्लात्रा । ग्लातृभ्याम् । ग्लातृभिः ।

क्रीङ्जीनां णौ ६।१।४७

प० वि०—क्रीङ्जीनाम् ६।३ णौ ७।१ स०—क्रीश्च इङ् च जिश्चेति क्रीङ्जयः तेषां क्रीङ्जीनाम् ।

१—द्विर्वचनेऽचि (१. १. ५८)

अर्थ—[आदेच्] डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये, इङ् अध्ययने, जि जये इत्येतेषां धातूनाम् एचः स्थाने णौ परतः आकारादेशो भवति ।

(डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये, इङ् अध्ययने, जि जये इन धातुओं का आकार आदेश हो जाता है णिच् के परे रहने पर)

उदा०—क्रापयति । अध्यापयति । जापयति ।

सि०—डुक्रीञ् । क्री णिच् । क्री इ । क्रा इ । क्रा पुक्[1] इ । क्रापि लट् । क्रापि ल् । क्रापि तिप् । क्रापि शप् ति । क्रापि अ ति । क्रापे अ ति । क्रापय् अ ति । क्रापयति । क्रापयतः । क्रापयन्ति ॥ इङ् । इ णिच् । इ इ । आ इ । आ पुक् इ । आपि लट् । आपि तिप् । आपि शप् ति । आपे अ ति । आपय् अ ति । आपयति । अधि आपयति । अध्यापयति । जि णिच् । जा इ । जा पुक् इ । जापि । जापि लट् । जापि तिप् । जापि शप् ति । जापे अ ति । जापय् अ ति । जापयति ।

सृजिदृशोर्झल्यमकिति ६।१।५७

प० वि०—सृजिदृशोः ६।२ झलि ७।१ अम् १।१ अकिति ७।१ स०—सृजिश्च दृशश्चेति सृजिदृशौ तयोः । न किदिति अकित् तस्मिन् ।

अर्थ—सृज विसर्गे, दृशिर् प्रेक्षणे इत्येतयोर्धात्वोर्झलादावकिति प्रत्यये परतोऽमागमो भवति । (सृज् दृशिर् इन धातुओं को अम् का आगम होता है झलादि अकित् प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०—स्रष्टा । स्रष्टुम् । स्रष्टव्यम् । द्रष्टा । द्रष्टुम् । द्रष्टव्यम् ।

❀लघूपधगुणस्यापवादोऽयममागमः❀

सि०—सृज । सृज् तृच् । सृ अम् ज् तृ । स्रज्[2] तृ । स्रष्[3] तृ । स्रष्टृ सु । स्रष्टा । द्रष्टा ॥

धात्वादेः षः सः ६।१।६२

प० वि०—धात्वादेः ६।१ षः ६।१ सः १।१ स०—धातोरादिः धात्वादिः तस्य धात्वादेः ।

अर्थ—धातोरादेः षकारस्य सकारादेशो भवति । (धातु के आदि षकार का सकारादेश होता है)

उदा०—सहते । सहेते । सहन्ते । सहसे । सहेथे । सहध्वे । सहे ।

१—अर्त्तिह्रीब्ली० (७. ३. ३६) २—इको यणचि (६. १. ७४)
३—व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः (८. २. ३६)

सहावहे । सहामहे ।

सि०—षह । षह । सह् लट् । सह् त । सह् शप् त । सह् अ त । सह् अ ते । सहते ।।

णो नः ६।१।६३

प० वि०—णः ६।१ नः १।१

अर्थ—[धात्वादेः] धातोरादेः णकारस्य नकारादेशो भवति । (धातु के आदि णकार का नकार आदेश होता है)

उदा०—नयति । नयतः । नयन्ति । नयसि । नयथः । नयथ । नयामि । नयावः । नयामः ।। नमति । नमतः । नमन्ति ।

सि०—णीञ् । णी । नी लट् । नी ल् । नी तिप । नी शप् ति । नी अ ति । ने अ ति । नय् अ ति । नयति ।

लोपो व्योर्वलि ६।१।६४

प० वि०—लोपः १।१ व्योः ६।२ वलि ७।१ स०—वश्च यश्चेति व्यौ तयोः व्योः

अर्थ—वकारयकारयोर्लोपो भवति वलि परतः । (वल् प्रत्याहार के परे रहने पर वकार और यकार का लोप होता है)

उदा०—यकारस्य—पचेत् । पचेताम् । पचेयुः । पचेरन् । यजेरन् । वकारस्य—जीरदानुः ।

सि०—डुपचष् पाके । पच् लिङ् । पच् ल् । पच् तिप् । पच् शप् ति । पच ति । पच यासुट् ति । पच यास् सुट् ति । पच या[1] ति । पच या त् । पच इय् त् । पचेय् त् । पचेत् । पचेय् ताम् । पचेताम् । पचेरन् । पच् शप् झ । पच रन् । पच सीयुट् रन् । पच् ईय् रन् । पचेय रन् । पचेरन् ।। जीव् । जीव् रदानुक्[2] । जीव् रदानु । जीरदानु सु । जीरदानुः ।

वेरपृक्तस्य ६।१।६५

प० वि०—वेः ६।१ अपृक्तस्य ६।१

अर्थ—[लोपः] अपृक्तस्य वेर्लोपो भवति । (अपृक्त वकार का लोप होता है)

१—साधनं तु सुट् तिथोरित्यत्र द्रष्टव्यम् २—महाभाष्यकारसम्मत्या जीव-

उदा०—चित् । चितौ । चितः । छित् । छिदौ । छिदः ।

सि०—चिञ् । चि क्विप्[1] । चि विप् । चि वि । चि व् । चि । चि तुक् । चित् सु । चित् स् । चित् । छिदिर् । छिद् क्विप् । छिद् व् । छिद् सु । छित्[2] । छिदौ ॥

हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल् ६।१।६६

प० वि०—हल्ङ्याब्भ्यः ५।३ दीर्घात् ५।१ सुतिसि १।१ अपृक्तं १।१ हल् १।१ स० – हल् च ङी च आप् चेति हल्ङ्यापः तेभ्यः । हल्ङ्याब्भ्यः । सुश्च तिश्च सिश्च इति सुतिसि (समा० द्वन्द्वः)

अर्थ—[लोपः] हलन्ताद् ङ्यन्ताद् आबन्ताच्च दीर्घात् परं सु ति सि इत्येतद् अपृक्तं हल् लुप्यते । (हलन्त ङ्यन्त और आबन्त जो दीर्घ उसके पश्चात् सु ति सि जो अपृक्त हल् उसका लोप होता है)

उदा०—हलन्तात् सुलोपः–राजा । तक्षा । कर्ता । हर्ता । ङ्यन्तात् सुलोपः–कुमारी । गौरी । शार्ङ्गरवी । आबन्तात् सुलोपः–खट्वा । लता । सीता । गीता । हलन्तादेव तिलोपः सिलोपश्च । तिलोपः–अबिभर्भवान् । अजागर्भवान् । सिलोपः–अभिनोऽत्र ।

सि०—राजन् स् । राजान्[3] स् । राजान् । राजा । तक्षन् सु । तक्षान् स् । तक्षान् । तक्षा । अबिभर् । भृञ् लङ् । भृ ल् । भृ तिप् । भृ श्लु ति । भृ ति । भर्[4] ति । भर् भर्[5] ति । भ भर् ति । बभर् ति । बिभर्[6] त् । बिभर् । अट् बिभर् । अबिभर्भवान ॥ जागृ निद्राक्षये । जागृ लङ् । जागृ तिप् । जागृ शप् ति । जागृ ति । जागर् त् । जागर् । अट् जागर् । अजागर् भवान् । अजागर्भवान् । अभिनोऽत्र । भिदिर् । भिद् । भिद् लङ् । भिद् ल् । भिद् सिप् । भिश्नमुद् सि । भिनद् स् । भिनद् । भिनर्[7] । अट् भिनर्[8] अभिनर् अत्र । अभिन उ[8] अत्र । अभिनो[9] अत्र । अभिनोऽत्र[10] ॥

धातोरदानुक् । जीवति प्राणान् धारयति इति जीरदानुः । वैदिकं रूपमेतत (उणा० २. २३) १—क्विप् च (३. २. ७६) २—वावसाने (८. ४. ५५) ३—सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ (६. ४. ८) ४—सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७. ३.८४) उरण् रपरः (१.१. ५०) ५—श्लौ (६. १. १०) ६—भृञामित् (७. ४. ७६) ७—दश्च (८.२.७५) ८—अतो रोरप्लुतादप्लुते (६.१.१०६) ९—आद्गुणः (६. १. ८४) १०—एङः पदान्तादति (६. १. १०५)

एङ् ह्रस्वात् संबुद्धेः ६।१।६७

प० वि०—एङ्ह्रस्वात् ५।१ संबुद्धेः ६।१ स०—एङ् च ह्रस्वश्चेति एङ्ह्रस्वं तस्मात्।

अर्थ—[लोपः हल्] एङन्तात् प्रातिपदिकात् ह्रस्वान्ताच्च परो हल् लुप्यते स चेत् संबुद्धेर्भवति। (एङन्त और ह्रस्वान्त प्रातिपदिक के पश्चात् हल् का लोप होता है यदि वह हल् सम्बुद्धि का हो)

उदा०—एङन्तात्—हे अग्ने। हे वायो। ह्रस्वान्तात्—हे देवदत्त। हे नदि। हे वधु। हे कुण्ड।

सि०—अग्नि सु। अग्ने[1] स्। अग्ने[2]। हे कुण्ड सु इत्यत्र अतोऽम् इत्यम् आदेशे कृते अमि पूर्व इति पूर्वरूपे कृते हल्मात्रस्य मकारस्य लोपो भवति!

तुगागमप्रकरणम्

ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् ६।१।६९

प० वि०—ह्रस्वस्य ६।१ पिति ७।१ कृति ७।१ तुक १।१ स०—पकार इत् यस्य सोऽयं पित् तस्मिन् पिति।

अर्थ—पिति कृति परतो ह्रस्वस्य तुगागमो भवति।

(पकार इत वाले कृतसंज्ञक प्रत्यय के परे रहने पर ह्रस्व को तुक् का आगम होता है)

उदा०—अग्निचित्। सोमसुत्। प्रकृत्य। प्रहृत्य।

संहिताप्रकरणम्

संहितायाम् ६।१।७०

प० वि०—संहितायाम् ७।१

अर्थ—इतोऽग्रे अनुदात्तं पदमेकवर्जम् इति यावत् वक्ष्यमाणानि कार्याणि सहितायां भवन्ति इत्यधिकारो वेदितव्यः। (यहाँ से आगे कहे जाने वाले कार्य संहिता के विषय में होते हैं, इस बात का अधिकार समझना चाहिये)

! वस्तुतः 'सर्वविधिभ्यो लोपविधिर्बलीयान्' इतिपरिभाषया अमादेशात् प्रागेव लोपः प्रवर्तते।

१—ह्रस्वस्य गुणः (७. ३. १०८) २—एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः (६. १. ६९)

छे च ६।१।७१

प० वि०—छे ७।१ च अ०।

अर्थ—[ह्रस्वस्य तुक] छकारे परतः संहितायां विषये ह्रस्वस्य तुगागमो भवति। (छकार के परे रहने पर संहिता के विषय में ह्रस्व को तुक् का आगम होता है)

उदा०—इच्छति। गच्छति। यच्छति।

सि०—इषुगमियमां छ इत्यत्र द्रष्टव्यम्।

इको यणचि ६।१।७४

प० वि०—इकः ६।१ यण् १।१ अचि ७।१

अर्थ—[संहितायाम्] अचि परतः इकः स्थाने यण् भवति संहितायां विषये। (अच् के परे रहने पर इक् के स्थान में यण होता है, संहिता के विषय में)

उदा०—दध्यत्र। मध्वत्र। कर्त्रर्थम्। लाकृतिः।

सि०—दधि अत्र। दध् य् अत्र। दध्यत्र। मधु अत्र। मध् व् अत्र। मध्वत्र। कर्तृ अर्थम्। कर्तर् अर्थम्। कर्त्रर्थम्। ऌ आकृतिः ल् आकृति। लाकृतिः। ×इको यणभिर्व्यवधानं व्याडिगालवयोरिति वक्तव्यम्× भू आदयः। भूव् आदयः। भूवादयः।

एचोऽयवायावः ६।१।७५

प० वि०—एचः ६।१ अयवायावः १।३ स०—अय् च अव् च आय् च आव् चेति अयवायावः।

अर्थ—[संहितायाम् अचि] अचि परतः एचः स्थाने अय् अव् आय् आव् इत्येते आदेशा भवन्ति संहितायां विषये यथासंख्यम्।

(अच् के परे रहने पर एच् के स्थान में अय् अव् आय् आव् क्रमशः ये आदेश संहिता के विषय में होते है)

उदा०—चयनम्। लवनम्। चायकः। लावकः।

सि०—चे अनम्। च् अय् अनम्। चयनम्। लो अनम्। लवनम्। चै अकः। च् आय् अकः। चायकः। लौ अकः। ल आव अकः लावकः।

संहितायामेकादेशप्रकरणम्

एकः पूर्वपरयोः ६।१।८१

प० वि०—एकः १।१ पूर्वपरयोः ६।२ स०–ख्यत्यात्परस्येति एतस्मात् प्राक् पूर्वस्य परस्य च द्वयोरपि स्थाने एकादेशो भवति इत्यधिकारो वेदितव्यः। (ख्यत्यात्परस्य इस सूत्र तक पूर्व और पर दोनोंके स्थान में एकादेश होता है, इस बात का अधिकार समझना चाहिए)

आद्गुणः ६।१।८४

प० वि—आत् ५।१ गुणः १।१

अर्थ—[अचि संहितायां पूर्वपरयोः एक] अवर्णादचि पूर्वपूरयोः स्थाने गुणः एकादशो भवति संहितायां विषये।

(अवर्ण के पश्चात् अच् के परे रहने पर पूर्व और पर के स्थान में गुण एकादेश होता है संहिता के विषय में)

उदा०-खट्वेन्द्रः। मालेन्द्रः। तवोदकम्। खट्वोदकम्। तवर्श्यः। खट्वर्श्यः।

सि०—खट्वा इन्द्रः। तव उदकम्। खट्वा उदकम्। तव ऋश्यः। खट्वा ऋश्य ॥

वृद्धिरेचि ६।१।८५

प० वि०—वृद्धिः १।१ एचि ७।१

अर्थ—[आत्] अवर्णादेचि पूर्वपरयोः वृद्धिरेकादेशो भवति।

(अवर्ण के पश्चात् एच् के परे रहने पर पूर्व पर के स्थान में वृद्धि एकादेश होता है संहिता के विषय में)

उदा०—ब्रह्म एडका, ब्रह्मैडका। खट्वा एडका, खट्वैडका। ब्रह्म ऐतिकायनः, ब्रह्मैतिकायनः खट्वा ऐतिकायनः, खट्वैतिकायनः। ब्रह्म ओदनम्, ब्रह्मौदनम्। खट्वा ओदनम्, खट्वौदनम्। ब्रह्म औपगवः, ब्रह्मौपगवः। खट्वा औपगवः, खट्वौपगवः।

आटश्च ६।१।८७

प० वि०—आटः ५।१ च अ०।

अर्थ—[अचि] आटः अचि पूर्वपरयोः स्थाने वृद्धिरेकादेशो भवति संहितायां विषये। (आट् के पश्चात् अच् के परे रहने पर पूर्व और पर के स्थान में वृद्धि एकादेश होता है संहिता के विषय में)

उदा०—ऐधत। ऐधेताम्। ऐधन्त। ऐधथाः। ऐधेथाम्। ऐधध्वम्। ऐधे। ऐधावहि। ऐधामहि।

सि०—एध। एध् लङ्। एध् ल्। एध् त। एध् शप् त। एध् अ त। एधत। आट् एधत। आ एधत। ऐधत।

आट् ग्रहणेन याटोऽपि ग्रहणं भवति तेन 'कुमार या ए' इत्यवस्थायामनेन वृद्धिर्भवति कुमार्यै।

औतोऽम्शसोः ६।१।९०

प० वि०—आ १।१ ओतः ५।१ अम्शसोः ७।२ स०—अम् च शश्चेति अम्शसौ तयोः अम्शसोः।

अर्थ—ओकारादमि शसि च परतः पूर्वपरयोः स्थाने आकारादेशो भवति। (ओकार के पश्चात् अम् और शस् के परे रहने पर पूर्व पर के स्थान में आकारादेश होता है)

उदा०—गाँ पश्य। गाः पश्य। द्यां पश्य, द्याः पश्य।

सि०—गो अम्। गा अम्। गाम्। गो शस्, गो अस्। गा अस्। गास्। गारु। गार्। गाः।

एङि [पररूपम्] ६।१।९१

उस्यपदान्तात् ६।१।९३

प० वि०—उसि ७।१ अपदान्तात् ५।१ स०—पदस्य अन्तः पदान्तः तस्मात् पदान्तात्।

अर्थ—[आत् पररूपम्] अवर्णादपदान्तादुसि पूर्वपरयोः स्थाने पररूपमेकादेशो भवति। (अपदान्त अकार के पश्चात् उस् के परे रहने परप और पर के स्थान में पररूप एकादेश होता है)

उदा०—भिन्द्युः। छिन्द्युः। अगात्। अगाताम्। अगुः। अगाः। अगातम्। अगात्। अगाम्। अगाव। अगाम।

सि०—भिदिर्। भिद् लिङ्। भिद् ल्। भिद् झि। भिद् जुस्। भिद् उस्। भि श्नमुद् उस्। भिनद् उस्। भिनद् उस्। भिन्द् उस्। भिन्द् यासुट् उस्। भिन्द् यास् उस्। भिन्द्या उस्। भिन्द्युः। अगुः। इत्यस्य साधनं गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु इत्यत्र द्रष्टव्यम्।

अतो गुणे ६।१।९४

प० वि०—अतः ५।१ गुणे ७।१

अर्थ—[अपदान्तात् पररूपम] अपदान्तादकाराद् गुणे परतः पूर्व-परयोः स्थाने पररूपमेकादेशो भवति। (अपदान्त अकार के पश्चात् गुण के परे रहने पर पूर्व और पर के स्थान में पररूप एकादेश होता है)

उदा०—पचन्ति । यजन्ति ।

सि०— अदेङ्गुणः इत्यत्र द्रष्टव्यम् ।

अकः सवर्णे दीर्घः ६।१।९७

प० वि०—अकः ५।१ सवर्णे ७।१ दीर्घः १।१

अर्थ—[अचि] अकः उत्तरस्य सवर्णे अचि परतः पूर्वपरयोः स्थाने दीर्घ एकादेशो भवति। (अक् के पश्चात् सवर्ण अच् के परे रहने पर पूर्व और पर के स्थान में दीर्घ एकादेश होता है)

उदा०—दण्ड-अग्रम्, दण्डाग्रम् । दधि-इन्द्रः, दधीन्द्रः । मधु-उदके, मधूदके । होतृ-ऋश्यः, होतॄश्यः ।

प्रथमयोः पूर्वसवर्णः ६।१।९८

प० वि०—प्रथमयोः ७।२ पूर्वसवर्णः १।१ स०—प्रथमा च प्रथमा च इति प्रथमे तयोः । पूर्वस्य सवर्णः इति पूर्वसवर्णः (षष्ठी तत्पु०)

अर्थ—[अकः दीर्घः अचि] ❀ प्रथमाशब्दो विभक्तिविशेषे रूढस्तत्साहचर्यात् द्वितीयापि प्रथमेत्युक्ता ❀ प्रथमायां द्वितीयायां च विभक्तावचि अक उत्तरस्य पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेशो भवति । (अक् के पश्चात् प्रथमा और द्वितीया विभक्ति के अच् के परे रहने पर पूर्व पर के स्थान में पूर्व सवर्ण दीर्घ एकादेश होता है)

उदा०—अग्नी । वायू । वृक्षाः । प्लक्षाः । वृक्षान् । प्लक्षान् ।

सि०—अग्नि औ । अग्नी । वृक्ष जस् । वृक्ष अस् । वृक्षाः । वृक्ष शस् । वृक्ष अस् । वृक्षास् । वृक्षान् ।

तस्माच्छसो नः पुंसि ६।१।९९

प० वि०—तस्मात् ५।१ शसः ६।१ नः १।१ पुंसि ७।१

अर्थ—[पूर्वसवर्णः दीर्घः] तस्मात् पूर्वसवर्णदीर्घादुत्तरस्य शसो न इत्ययमादेशो भवति पुंसि । (उस पूर्वसवर्ण दीर्घ के पश्चात् शस् के स्थान में नकार आदेश होता है पुल्लिङ्ग में)

उदा०—वृक्षान्, पुरुषान्, यान्, तान् ।

सि०—अलोऽन्त्यस्य इत्यत्र द्रष्टव्यम् ।

नादिचि ६।१।१००

प० वि०—न अ० । आत् ५।१ इचि ७।१

अर्थ—अवर्णादिचि यदुक्तं तन्न भवति । पूर्वसवर्णदीर्घो न भवतीत्यर्थः । (अवर्ण के पश्चात् इच् प्रत्याहार के पर रहने पर पूर्व सवर्ण दीर्घ नहीं होता है)

उदा०—रामौ । तौ । यौ । खट्वे । कुण्डे ।

सि०—राम औ । रामौ । ❀अत्रप्रकरणे इदं बोध्यम्—राम औ इति स्थिते वृद्धिरेचि इति सूत्रेण वृद्धि-एकादेशे प्राप्ते प्रथमयोः पूर्वसवर्णः इत्यस्य सूत्रस्य तदपवादत्वात् प्रवृत्तिः, तस्यापि निषेधः नादिचि इति सूत्रेण । पुनः वृद्धिरेचि इत्यनेनैव सूत्रेण वृद्धिरेकादेशो भवति ।❀

दीर्घाज्जसि च ६।१।१०१

प० वि०—दीर्घात् ५।१ जसि ७।१ च अ० ।

अर्थ—[इचि] दीर्घाज्जसि इचि च परतः पूर्वसवर्णदीर्घो न भवति । (दीर्घ के पश्चात् जस् और इच् के परे रहने पर पूर्व पर के स्थान में पूर्व सवर्ण दीर्घ एकादेश नहीं होता है)

उदा०—कुमार्यः । कुमार्यौ । ब्रह्मबन्ध्वौ । ब्रह्मबन्ध्वः ।

सि०—कुमारी जस् । कुमारी अस् । कुमार्यः । कुमारी औ । कुमार्यौ । ब्रह्मबन्धू जस् । ब्रह्मबन्ध्वः । ब्रह्मबन्धू औ । ब्रह्मबन्ध्वौ ।

वा छन्दसि ६।१।१०२

प० वि०—वा अ० । छन्दसि ७।१

अर्थ—[दीर्घाज्जसि च] दीर्घाच्छन्दसि विषये जसि इचि च परतः वा पूर्वसवर्णदीर्घो न भवति । (दीर्घ के पश्चात् छन्द के विषय में जस् और इच् के परे रहने पर विकल्प से पूर्वसवर्ण दीर्घ नहीं होता है)

अमि पूर्वः ६।१।१०३

प० वि०—अमि ७।१ पूर्वः १।१

अर्थ—[अकः] अक उत्तरस्य अमि परतः पूर्वपरयोः स्थाने पूर्व एकादेशो भवति । (अक् के पश्चात् अम् के परे रहने पर पूर्व पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होता है)

उदा०—रामम् । अग्निम् । वायुम् ।

सि०—राम अम् । रामम् ।

सम्प्रसारणाच्च ६।१।१०४

प० वि०—सम्प्रसारणात् ५।१ च अ० ।

अर्थ—[पूर्वः अचि] सम्प्रसारणादचि परतः पूर्वपरयोः स्थाने पूर्व एकादेशो भवति । (सम्प्रसारण के पश्चात् अच् के परे रहने पर पूर्व और पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होता है)

उदा०—उक्तम् । साधनं सम्प्रसारणसंज्ञासूत्रे द्रष्टव्यम् ।

एङः पदान्तादति ६।१।१०५

प० वि०—एङः ५।१ पदान्तात् ५।१ अति ७।१

अर्थ—[पूर्वः] पदान्तादेङोऽति परतः पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वरूपमेकादेशो भवति । (पदान्त एङ् के पश्चात् अकार के परे रहने पर पूर्व और पर के स्थान में पूर्व रूप एकादेश होता है)

उदा०—वायोऽत्र । अग्नेऽत्र ।

सि०—वायु सु । वायो स् । वायो अत्र । वायोऽत्र ।

ङसिङसोश्च ६।१।१०६

प० वि०—ङसिङसोः ६।२ च अ० । स०—ङसिश्च ङश्चेति ङसिङसौ तयोः ।

अर्थ—[एङः अति] एङः उत्तरयोर्ङसिङसोरति परतः पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वरूपमेकादेशो भवति । (एङ् के पश्चात् ङसि और ङस् के अकार के परे रहने पर पूर्व पर के स्थान में पूर्व रूप एकादेश होता है)

उदा०—वायोः । अग्नेः ।

सि०—वायु ङसि । वायु अस् । वायो[1] अस् । वायोस् । वायोः ।

ऋत उत् ६।१।१०७

प० वि०—ऋतः ५।१ उत् १।१

अर्थ—[ङसिङसोरति] ऋकारान्तादुत्तरयोर्ङसिङसोरति परतः पूर्वपरयोरुकार एकादेशो भवति । (ऋकारान्त के पश्चात् ङसि और ङस् के अकार के परे रहने पर पूर्व पर के स्थान में उकार एकादेश होता है)

१—शेषो घ्यसखि (१. ४. ७) घेर्ङिति (७. ४. १११)

उदा०—पितुरागच्छति। पितुरयं वेदः।

सि०—पितृ ङसि। पितृ अस्। पित् उर्[1] स्। पितुर् स्। पितुर्[2] पितुः।

ख्यत्यात्परस्य ६।१।१०८

प० वि०—ख्यत्यात् ५।१ परस्य ६।१ स०—ख्यश्च त्यश्च इति ख्यत्यं तस्मात् ख्यत्यात्।

अर्थ—[ङसिङसोरति उत्] ख्य् त्य् इत्येताभ्यां परस्य ङसिङसो-रतः स्थाने उकारादेशो भवति। (ख्य् और त्य् के पश्चात् ङसि और ङस् के अकार के स्थान में उकार आदेश होता है)

उदा०—सख्युरागच्छति। सख्युरयं वेदः। पत्युरागच्छति। पत्यु-रयं वेदः।

सि०—सखि ङसि। सखि अस्। सख्य् अस्। सख्य् उर् स्। सख्युर् स्। सख्युः। पति ङसि। पति अस्। पत्य् अस्। पत्य् उर् स्। पत्युर् स्। पत्युर्। पत्युः।

अतो रोरप्लुतादप्लुते ६।१।१०९

प० वि०—अतः ५।१ रोः ६।१ अप्लुतात् ५।१ अप्लुते ७।१ स०—न प्लुतः तस्मात्।

अर्थ—[उत् अति] अप्लुतादकारादुत्तरस्य अप्लुतेऽति परतः रो रेफस्य उकारादेशो भवति।(अप्लुत अकार के पश्चात् अप्लुत अकार के परे रहने पर रु के रेफ के स्थान में उकार आदेश होता है)

उदा०—वृक्षोऽत्र। प्लक्षोऽत्र।

सि०—वृक्षर् अत्र। वृक्ष उ अत्र। वृक्षो अत्र। वृक्षोऽत्र।

रुत्वम् अस्य आश्रयत्वात् पूर्वत्रासिद्धम् इत्यसिद्धं न भवति।

हशि च ६।१।११०

प० वि०—हशि ७।१ च अ०।

अर्थ—[अतो रोः] हशि च परतः अत उत्तरस्य रोरुकारादेशो भवति। (हश् के परे रहने पर अकारके पश्चात् रु के रेफ के स्थान में उकार आदेश होता है)

उदा०—पुरुषो हसति। पुरुषो याति।

१—उरण् रपरः (१. १. ५०) २—रात्सस्य (८. २. २४)

सि०—पुरुषर् हसति । पुरुष उ हसति । पुरुषो हसति ।

प्रकृतिभावप्रकरणम्

प्रकृत्याऽन्तः पादमव्यपरे ६।१।१११

प० वि०—प्रकृत्या ३।१ अन्तःपादम् ७।१ अव्यपरे ७।१ स०—पादस्य अन्तः [मध्ये] इति अन्तः पादम् (विभक्त्यर्थे अव्ययीभावः) अव्ययादाप्सुप इति ङेर्लुकि प्राप्ते तृतीयासप्तम्योर्बहुलम् इति ङेरम्भावः) अविद्यमानौ वकारयकारौ परा यस्येति अव्यपरम् तस्मिन् ।

अर्थ– ! पादमध्यस्थे अवकारयकारपरेऽति परतः एङ् प्रकृत्या भवति ।

(पाद के मध्य में वर्तमान अकार के परे रहने पर एङ् प्रकृतिभाव से रहता है, यदि अकार से परे य, व न हों)

उदा०—ते अग्रे अश्वमायुञ्जन् । ते अस्मिन् यवमादधुः । अव्यपरे इति किम्-तेऽवदन् । तेऽयस्मयम् ।

सर्वत्र विभाषा गोः ६।१।११८

प० वि०—सर्वत्र १।१ यद्वा अव्ययपदम् । विभाषा १।१ गोः ६।१

अर्थ—[एङोऽति] सर्वत्र॰ यजुषि भाषायां च अति परतो गोरेङ् प्रकृत्या भवति विभाषा (सर्वत्र अर्थात् यजुः या भाषा में गो शब्द का एङ् अकार के परे रहने पर विकल्प करके प्रकृति से रह जाता है)

उदा०—गोऽग्रम् । गो अग्रम् ।

अवङ् स्फोटायनस्य ६।१।११९

प० वि०—अवङ् १।१ स्फोटायनस्य ६।१

अर्थ—[गोः अचि विभाषा] अचि परतो गोः स्फोटायनाचार्यस्य मतेनावङादेशो भवति विभाषा । (अच् के परे रहने पर स्फोटायनाचार्य के मत से गो शब्द का अवङ् आदेश होता है विकल्प से)

उदा०—गवाग्रम् गोऽग्रम् , गवाजिनम्, गोऽजिनम् ।

! अत्र सर्वेऽपि वृत्तिकृतः पादशब्देन ऋक्पादस्यैव ग्रहणमाहुः केचन तदर्थं 'वाच्छन्दसि' इत्यतः छन्दसीत्यनुवर्त्तयन्ति । यद्यप्ययं नियमो वैदिकक्षु प्रायेण दृश्यते तथापि क्वचित् महाभारतादावपि नियमस्योपलम्भात् सूत्रकृता च 'ऋचि छन्दसि' इत्यादिपदस्यानुवृत्तत्वात् सामान्यविषयोऽयं द्रष्टव्यः इति मीमांसकाः ।

॰उपरिष्टाद् (६।१।११३) यजुषि' इत्यनुवर्त्तते तन्निवृत्त्यर्थं सर्वत्रग्रहणम्

इन्द्रे च ६।१।१२०

प० वि०—इन्द्रे ७।१ च अ० ।

अर्थ—इन्द्रशब्दस्याचि परतो गोरवङादेशो भवति । (इन्द्र शब्द के अच् के परे रहने पर गो शब्द का अवङ् आदेश होता है)

उदा०—गो इन्द्रः । गवेन्द्रः ।

प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् ६।१।१२१

प० वि०—प्लुतप्रगृह्याः १।३ अचि ७।१ नित्यम् १।१ स०—प्लुताश्च प्रगृह्याश्चेति प्लुतप्रगृह्याः ।

अर्थ—[प्रकृत्या] प्लुताश्च प्रगृह्याश्चाचि नित्यं प्रकृत्या भवन्ति । प्लुत और प्रगृह्य अच् के परे रहने पर नित्य ही प्रकृति भाव से रहते हैं)

उदा०—देवदत्ता ३ अत्र न्वसि । प्रगृह्याः—अग्नी इति । वायू इति ।

आङोऽनुनासिकश्छन्दसि बहुलम्! ६।१।१२२

प० वि०—आङः ६।१ अनुनासिकः १।१ छन्दसि ७।१ बहुलम् १।१

अर्थ—[अचि प्रकृत्या] आङोऽचि परतः संहितायां छन्दसि विषयेऽनुनासिकादेशो बहुलं भवति, स च प्रकृत्या भवति । (अच् के परे रहने पर संहिता के विषय में छन्द में आङ् को अनुनासिक आदेश बहुल करके होता है और वह प्रकृतिभाव से रहता है)

उदा०—अभ्र आँ अपः । गभीर आँ उग्रपुत्रे जिघांसत । बहुलं किम्[1]—

दिव उत् ६।१।१२७

अर्थ—[पदान्तात्] दिवः पदस्य उकारादेशो भवति । (दिव् पद का उकारादेश होता है)

उदा०—दिवि कामो यस्येति द्युकामः । द्युभ्याम् । द्युभिः ।

एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि ६।१।१२८

प० वि०—एतत्तदोः ६।२ सुलोपः १।१ अकोः ६।२ अनञ्समासे ७।१ हलि ७।१ स०—एतच्च तच्चेति एतत्तदौ तयोः एतत्तदोः । सोर्लोपः इति सुलोपः । न विद्यते क[2] ययोः तौ (अक्+औ) अकौ तयोः अकोः ।

! महाभाष्यानुसारी पाठोऽयम् । अन्ये तु बहुलं न पठन्ति ।

१—बहुलवचनात् क्वचिन्न भवति—इन्द्रो बाहुभ्यामातरत् (आ+अतरत्) क्वचिद् आङोऽन्यत्राप्यनुनासिको भवति । यथा—सवितुः सवायँ एवा (ऋ० १ । ११३ । १) २—अत्राकार उच्चारणार्थः । अन्यथा 'अकयोः' इति स्यात् ।

नञः समासः नञ्समासः। (ष० तत्पु०) न नञ्समासः इति अनञ्-समासः (नञ् तत्पु०) तस्मिन् अनञ्समासे।

अर्थ—अनञ्समासे वर्तमानयोरककारयोरेतत्तदोः सुलोपो भवति हलि परतः संहितायां विषये।

(नञ् समास में वर्तमान नहीं हो, ऐसा जो ककार रहित एतद् और तद् शब्द उसके सु का लोप होता है हल् के परे रहने पर संहिता के विषय में)

उदा०—एष ददाति। स ददाति।

सि०—एतद् सु। एत अ[1] सु। एत सु। एस[2] स्। एष[3] ददाति। एष ददाति। तद् सु। त अ[1] सु। त सु। स[2] सु। स सु ददाति। स ददाति॥

सुडागमप्रकरणम्

सुट् कात्पूर्वः ६।१।१३१

प० व०—सुट् १।१ कात् ५।१ पूर्वः १।१

अर्थ—ककारात् पूर्वः सुडागमो भवति इति पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम् इति यावत् अधिकारो वेदितव्यः। (ककार के पूर्व सुट् का आगम होता है, पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम् सूत्र तक इस बात का अधिकार समझना चाहिए)

संपरिभ्यां करोतौ भूषणे ६।१।१३२

प० वि०—संपरिभ्यां ५।२ करोतौ ७।१ भूषणे ७।१ स०—सं च परिश्च इति संपरी, ताभ्याम्।

अर्थ—सं परि इत्येताभ्यां भूषणार्थे करोतौ परतः सुट् कात् पूर्वो भवति। (सं और परि के पश्चात् भूषण अर्थ में वर्तमान कृ धातु को ककार के पूर्व सुट् का आगम होता है)

उदा०—संस्कर्त्ता। संस्कर्त्तुम्। संस्कर्त्तव्यम्। परिष्कर्त्ता। परिष्कर्त्तुम्। परिष्कर्त्तव्यम्।

सि०—सं कर्ता। सं सुट् कर्त्ता। संस्कर्त्ता।

१—त्यदादीनामः (७. २. १०२) अलोऽन्त्यस्य (१. १. ५१) २—तदोः सः सावनन्त्ययोः (७. २. १०६) ३—आदेशप्रत्यययोः (८. ३. ५९)

स्वरप्रकरणम्

अनुदात्तं पदमेकवर्जम् ६।१।१५२

प० वि०—अनुदात्तम् १।१ पदम् १।१ एकवर्जम् १।१

अर्थ—एकवर्जं पदं सर्वमनुदात्तं भवति। (एक को छोड़कर सारा पद अनुदात्त होता है)

ॐअत्रेदं बोध्यम्—यत्र क्वचिदपि केनापि सूत्रेण उदात्तः स्वरितो वा विधीयते, तमेव उदात्तं स्वरितं वा स्वरं वर्जयित्वा अन्यत्सर्वमनुदात्तं भवतीत्यर्थः। अपि चात्र सुप्तिङन्तं पदमिति पारिभाषिकं पदं न ग्राह्यम्, धात्वादावस्य सूत्रस्य अप्रवृत्तेः। अत एव पद्यते गम्यते अर्थो येन तत्पदम्। तत एव प्रकृतिप्रत्ययागमादिषु विगृहीतेष्वपि स्वरविधिः सिध्यति। (जहां कहीं भी किसी सूत्र से भी उदात्त या स्वरित का विधान किया जाता है, उसी उदात्त या स्वरित को छोड़कर शेष पद सारा अनुदात्त होता है। यहां यह भी जानने योग्य बात है कि सुप्तिङन्तं पदम्' इस सूत्र से जो पद संज्ञा की जाती है उस पारिभाषिक पद संज्ञा का यहां ग्रहण नहीं होता है क्योंकि यदि उस पद का ग्रहण हो तो धातु इत्यादि में उदात्त या स्वरित स्वर का विधान होने पर शेष में अनुदात्त स्वर की प्रवृति ही नहीं होगी, क्योंकि केवल धातु (प्रकृति) या केवल प्रत्यय की पद संज्ञा ही नही होती। इसलिये जिससे अर्थ का ज्ञान हो उसको पद कहते हैं। ऐसा करने से धातु प्रत्यय आगम इत्यादि को अलग अलग उदात्त या स्वरित स्वर सिद्ध हो जाता है, यह परिभाषा सूत्र है)

उदा०—कर्त्तव्यम्। गोपायति। अत्रेदं बोध्यम्—सतिशिष्टः स्वरो बलीयान्। उत्तरोत्तरं स्वरो बलीयान् भवतीत्यर्थः यथा कर्त्तव्यम् इत्यत्र धातोरित्यनेन सूत्रेण (६.१. १५६) कृ धातोरन्तोदात्तो भवति। ततस्तव्यत्तव्यानीयरः इत्यनेन सूत्रेण तव्यप्रत्ययः। सोऽप्याद्युदात्तो भवति। केन प्रकारेण भवेत् स्वरव्यवस्था इत्यस्ति अत्र विचारणा। सतिशिष्टः स्वरो बलीयान् इति नियमात् सतिशिष्टत्वात् प्रत्ययस्वरो भवति। अतएव आद्युदात्तश्च इत्यनेन प्रत्ययस्य आद्युदात्तत्वं भवति। तथा च सति कर्त्तव्यम् इत्यत्र तकारोत्तरवर्ती अकार एव उदात्तो भवति। एवं सर्वत्रॐ

(यहां पर ज्ञातव्य है—जो जो स्वर आगे आता जायेगा वही बलवान् होता जायेगा। जैसे कर्त्तव्यम् यहां पर धातोः (६. १. १५६) इस सूत्र से कृ धातु अन्तोदात्त होता है। उसके पश्चात् तव्य प्रत्यय आता है। अब वह आद्युदात्त

होता है। यहां पर किस प्रकार से स्वर की व्यवस्था हो यही विचार उपस्थित है। अब इस स्थिति में आगे आगे आने वाला स्वर बलवान् होता है इस नियम से प्रत्यय का ही स्वर होगा। अब आद्युदात्तश्च इस सूत्र से त में अकार आद्युदात्त हुआ)

※विकरणस्वरस्तु सतिशिष्टोऽपि सार्वधातुकस्वरं न बाधते※ लुनीत इति तस एव स्वरो भवति।

अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः ६।१।१५५

प० वि०—अनुदात्तस्य ६।१ च अ०। यत्र अ०। उदात्तलोपः १।१ स०—उदात्तस्य लोपः उदात्तलोपः।

अर्थ—[उदात्तः] यत्र यस्मिन्ननुदात्ते परत उदात्तस्य लोपो भवति तस्यानुदात्तस्यादिरुदात्तो भवति। (जिस अनुदात्त के परे रहने पर उदात्त का लोप होता है उस अनुदात्त का आद्युदात्त होता है)

उदा०—कुमारी। कुमार ङ, कुमारी। कुमारशब्दोऽन्तोदात्तस्तस्य ङीप्यनुदात्ते उदात्तो लुप्यते। अनुदात्तो ङीब् उदात्तः।

धातोः ६।१।१५६

प० वि०—धातोः ६।१

अर्थ—[कर्षात्वतो घञोऽन्त उदात्तः ६।१।१५२ इत्यतः अन्त इत्यनुवर्त्तते] धातोरन्तोदात्तो भवति। (धातु अन्तोदात्त होता है)

उदा०—पचति। पठति। गोपायति।

चितः ६।१।१५७

प० वि०—चितः ६।१ स०—चकार इद्यस्येति चित् तस्य चितः।

अर्थ—[अन्तः] चितोऽन्तोदात्तो भवति। (चकार इत्वाला प्रत्यय अन्तोदात्त होता है)

उदा०—भञ्जभासमिदो घुरच्। भङ्गुरम्। भासुरम्। मेदुरम्।

तद्धितस्य ४।१।१५८

अर्थ—[अन्तः चितः] तद्धितस्य चितोऽन्तोदात्तो भवति। (चकार इत्वाला तद्धित अन्तोदात्त होता है)

उदा०—गोत्रे कुञ्जादिभ्यश्च्फञ्। कौञ्जायनाः।

कितः ६।१।१५९

प० वि०—कितः ६।१ ककार इत् यस्येति कित् तस्य कितः।

अर्थ—[तद्धितस्य अन्तः] तद्धितस्य कितः अन्तोदात्तो भवति। (ककार इत्वाला तद्धित अन्तोदात्त होता है)

उदा०—नडादिभ्यः फक्। नाडायनः। चारायणः।

तित्स्वरितम् ६।१।१७०

प० वि०—तित् १।१ स्वरितम् १।१ स०—तकार इत् यस्येति तित्।

अर्थ—तित्स्वरितं भवति। (तकार इत् वाला स्वरित होता है)

उदा०—सन्नन्ताद्यत्। चिकीर्ष्यम्। जिहीर्ष्यम्। ऋहलोर्ण्यत्। हार्यम्॥

भीह्रीभृहुमदजनधनदरिद्राजागरां [प्रत्ययात्पूर्वं] पिति ६।१।१८६

लिति ६।१।१८७

प० वि०—लिति ७।१

अर्थ—[प्रत्ययात्पूर्वं] लिति प्रत्ययात्पूर्वमुदात्तं भवति।

(लकार इत्वाले प्रत्यय के परे रहने पर पूर्व को उदात्त होता है)

उदा०—चिकीर्षकः। जिहीर्षकः॥

ञ्नित्यादिर्नित्यम् ६।१।१९१

प० वि०—ञ्निति ७।१ आदिः १।१ नित्यम् १।१ स०—ञश्च नश्चेति ञ्नौ। इच्च इच्चेति इतौ। ञ्नौ इतौ यस्येति ञ्नित् तस्मिन् ञ्निति।

अर्थ—ञिति निति च नित्यमादिरुदात्तो भवति। (ञकार और नकार इत वाले प्रत्यय के परे रहने पर नित्य आदि उदात्त होता है)

उदा०—गार्ग्यः। वात्स्यः। वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्। वासुदेवकः। अर्जुनकः।

आमन्त्रितस्य च ६।१।१९२

अर्थ—आमन्त्रितस्यादिरुदात्तो भवति। (आमन्त्रित का आदि उदात्त होता है)

उदा०—देवदत्त। देवदत्तौ। देवदत्ताः॥

उपोत्तमं रिति ६।१।२११

प० वि०—उपोत्तमम् १।१ रिति ७।१ स०—रेफ इत् यस्येति रित् तस्मिन् रिति।

अर्थ—रिदन्तस्योपोत्तममुदात्तं भवति। (रेफ है इत् जिसका ऐसे तदन्त का उपोत्तम उदात्त होता है)

उदा०—त्रिप्रभृतीनामन्त्यमुत्तमम्। तस्य समीपमपोत्तमम्। तव्यत्त-व्यानीयरः। करणीयम्। हरणीयम्। इत्यत्र णेरिकार उदात्तो भवति।

समासस्य ६।१।२१७

प० वि०—समासस्य ६।१

अर्थ—समासस्यान्तोदात्तो भवति। (समास का अन्तोदात्त होता है)

उदा०—राजपुरुषः। ब्राह्मणकम्बलः। ब्राह्मणसमित्। स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवदिति हलन्तेऽप्यन्तोदात्तत्वं भवति।

इत्यष्टाध्यायी-प्रकाशिकायां षष्ठाध्याये प्रथमः पादः

अलुक्प्रकरणम्

अलुगुत्तरपदे ६।३।१

प० वि०—अलुक् १।१ उत्तरपदे ७।१ स०—न लुक् अलुक्। उत्तरं च तत् पदं च इति उत्तरपदं तस्मिन् उत्तरपदे॥

अर्थ—अलुगिति प्रागानङः, उत्तरपदे इति प्रागङ्गस्य अधिकारो वेदितव्यः। (अलुक् इस पद का आनङ् ऋतो द्वन्द्वे इस सूत्र तक तथा उत्तरपदे इस पद का अङ्गस्य इस सूत्र तक अधिकार समझना चाहिये)

पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः ६।३।२

प० वि०—पञ्चम्याः ६।१ स्तोकादिभ्यः ५।३ स०—स्तोकमादि येषां ते स्तोकादयः तेभ्यः।

अर्थ—स्तोकादिभ्य उत्तरस्य पञ्चम्याः अलुग्भवति उत्तरपदे परतः। (स्तोक इत्यादि शब्दों के पश्चात् पञ्चमी का अलुक् होता है उत्तरपद के परे रहने पर)

उदा०—स्तोकान्मुक्तः। अल्पान्मुक्तः। अन्तिकादागतः। अभ्या-शाद्आगतः। दूरादागतः। विप्रकृष्टादागतः। कृच्छ्रान्मुक्तः।

ओजःसहोम्भस्तमसस्तृतीयायाः ६।३।३

प० वि०—ओजःसहोम्भस्तमसः ५।१ तृतीयायाः ६।१ स०—ओजश्च सहश्च अम्भश्च तमश्चेति ओजःसहोम्भस्तमः तस्मात् ओज-सहोम्भस्तमसः

अर्थ—ओजस् सहस् अम्भस् तमस् इत्येतेभ्य उत्तरस्यास्तृतीयाया अलुक् भवति उत्तरपदे परतः। (ओजस् सहस् अम्भस् तमस् इन शब्दों के पश्चात् तृतीया का अलुक् होता है उत्तरपद के परे रहने पर)

उदा०—ओजसाकृतम्। सहसाकृतम्। अम्भसाकृतम्। तमसाकृतम्।

[आत्मनश्च] ६।३।६

वैयाकरणाख्यायां चतुर्थ्याः ६।३।७

प० वि०—वैयाकरणाख्यायाम् ७।१ चतुर्थ्याः ६।१ स०—वैयाकरणस्य आख्या (संज्ञा) वैयाकरणाख्या तस्याम्।

अर्थ—[आत्मनः] वैयाकरणस्य आख्यायां वर्तमानायाम् आत्मनः चतुर्थ्या अलुक् भवति उत्तरपदे परतः। (वैयाकरण की संज्ञा में वर्तमान आत्मन् शब्द के चतुर्थी का अलुक् होता है, उत्तरपद के परे रहने पर)

उदा०—आत्मनेपदम्। आत्मनेभाषा।

परस्य च ६।३।८

प० वि०—परस्य ६।१ च अ०।

अर्थ—[वैयाकरणाख्यायां चतुर्थ्याः] वैयाकरणाख्यायां वर्तमानायां परस्य चतुर्थ्याः अलुग्भवति उत्तरपदे परतः। (वैयाकरण की आख्या में वर्तमान पर शब्द की चतुर्थी का अलुक् होता है उत्तरपद के परे रहने पर)

उदा०—परस्मैपदम्। परस्मैभाषा।

हलदन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम् ६।३।६

प० वि०—हलदन्तात् ५।१ सप्तम्याः ६।१ संज्ञायाम् ७।१ स०—हल् च अच्च इति हलतौ। अन्तश्च अन्तश्चेति अन्तौ। हलतौ अन्तौ यस्येति हलदन्तम् तस्मात् हलदन्तात्।

अर्थ—हलन्तादन्ताच्चोत्तरस्याः सप्तम्याः संज्ञायामलुग् भवति उत्तरपदे परतः। (हलन्त और अकारान्त के परे संज्ञा के गम्यमान होने पर सप्तमी का अलुक् होता है, उत्तरपद के परे रहने पर

उदा०—युधि स्थिरः इति युधिष्ठिरः। गविष्ठिरः। अदन्तात्—अरण्येतिलका। अरण्येमाषका॥

प्रावृट्शरत्कालदिवां जे ६।३।१५

प० वि०—प्रावृट्शरत्कालदिवाम् ६।३ जे ७।१ स०—प्रावृट् च

शरच्च कालश्च द्यौश्चेति प्रावृट्शरत्कालद्यावः तेषाम् प्रावृट्शरत्कालदिवाम्।

अर्थ—[सप्तम्याः] प्रावृट् शरत् काल दिव् इत्येतेषां सप्तम्या अलुग्भवति जशब्दे उत्तरपदे परतः। (प्रावृट्, शरत्, काल और दिव् शब्द की सप्तमी का अलुक् होता है जशब्द के उत्तरपद में परे रहने पर)

उदा०—प्रावृषिजः। शरदिजः। कालेजः। दिविजः।

घकालतनेषु कालनाम्नः ६।३।१७

प० वि०—घकालतनेषु ७।३ कालनाम्नः ५।१ स०—घश्च कालश्च तनं चेति घकालतनानि तेषु घकालतनेषु। कालस्य नाम कालनाम तस्मात् कालनाम्नः।

अर्थ—[विभाषा वर्षक्षरशरवरात् इत्यतः विभाषा अनुवर्त्तते] घसंज्ञके प्रत्यये कालशब्दे तनप्रत्यये च उत्तरपदे परतः कालनाम्नः उत्तरस्याः सप्तम्याः विभाषा अलुग्भवति। (घ संज्ञा वाले प्रत्यय काल शब्द और तन प्रत्यय के उत्तरपद के परे रहने पर कालवाची शब्द के पश्चात् सप्तमी का विकल्प से अलुक् होता है)

उदा०—घ—पूर्वाह्णेतरः। पूर्वाह्णतरः। पूर्वाह्णेतमः। पूर्वाह्णतमः। काल—पूर्वाह्णेकालः। पूर्वाह्णकालः। तन—पूर्वाह्णेतनः। पूर्वाह्णतनः।

आनङ् ऋतो द्वन्द्वे ६।३।२५

प० वि०—आनङ् १।१ ऋतः ६।१ द्वन्द्वे ७।१

अर्थ—ऋकारान्तानां द्वन्द्वे समासे उत्तरपदे परत आनङ् आदेशो भवति [पूर्वपदस्य]। (ऋकारान्तों के द्वन्द्व समास में [पूर्वपद को] आनङ् आदेश होता है उत्तरपद परे रहने पर)

उदा०—मातापितरौ

सि०—माता सु पिता सु। मातृ पितृ। मात् आन् पितृ। मातापितृ। मातापितृ औ। अग्रे पूर्ववत्।

पुंवद्भावप्रकरणम्

स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणीप्रियादिषु ६।३।३४

प० वि०—स्त्रियाः ६।१ पुंवत् १।१ भाषितपुंस्कात् ५।१ अनूङ् १।१ (षष्ठ्यर्थे प्रथमेति हरदत्तः) समानाधिकरणे ७।१ स्त्रियाम् ७।१ अपूरणीप्रियादिषु ७।३ स०—भाषितः पुमान् येन समानायामाकृतौ एकस्मि-

न्प्रवृत्तिनिमित्ते स भाषितपुंस्कः तस्मात् भाषितपुंस्कात्। समानमधिकरणं यस्य स समानाधिकरणं तस्मिन् समानाधिकरणे। पूरणी च प्रियादयश्चेति पूरणीप्रियादयः। न पूरणीप्रियादय इति अपूरणीप्रियादयः तेषु अपूरणीप्रियादिषु। ऊङोऽभावः अनूङ् तस्य अनूङ् (अनूङ् ङसोर्लुक्)

अर्थ—भाषितपुंस्काद् ऊङ्वर्जितायाः स्त्रियाः पुंवद् भवति स्त्रीलिङ्गे समानाधिकरणे उत्तरपदे पूरणीप्रियादिवर्जिते।

❀भाषितपुंस्कादनूङः स्त्रीशब्दस्य पुंशब्दस्य इव रूपं भवतीत्यर्थः❀

(एक ही आकृति अर्थात् एक प्रवृत्ति निमित्त में कह दिया है पुल्लिङ्ग को जिस ने, ऐसे ऊङ् प्रत्ययान्त वर्जित स्त्रीलिङ्ग शब्द को पुंल्लिगवत् हो जाता है, स्त्रीलिङ्ग समानाधिकरण शब्द के उत्तर पद के परे रहने पर पूरणी और प्रियादिगण पठित शब्दों को उत्तर पद में छोड़कर)

उदा०—दर्शनीयभार्यः।

सि०—दर्शनीया भार्या यस्य स दर्शनीयभार्यः। दर्शनीया सु भार्या सु। दर्शनीया[1] भार्या। दर्शनीय भार्या। दर्शनीयभार्य[2] सु। दर्शनीयभार्यः।

तसिलादिष्वाकृत्वसुचः ६।३।३५

प० वि०—तसिलादिषु ७।३ आ अ०। कृत्वसुचः ५।१ स०—तसिल् आदिर्येषां ते तसिलादयः तेषु तसिलादिषु।

अर्थ—[स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्] कृत्वसुजिति एतस्मात् प्राक् तसलादिषु प्रत्ययेषु परतो भाषितपुंस्कादनूङ्स्त्रियाः पुंवद् भवति।

(कृत्वसुच् प्रत्यय के पहले-पहले तसिल् इत्यादि प्रत्ययों के परे रहने पर कह दिया है पुंलिङ्ग शब्द को जिस ने ऐसा ऊङ् प्रत्ययान्तवर्जित स्त्रीलिङ्ग शब्द पुंल्लिङ्ग शब्दवत् हो जाते हैं)

उदा०—तस्याः शालायाः ततः। तस्यां शालायां तत्र। ×भस्याढे तद्धिते पुंवद्भावो वक्तव्यः× हस्तिनीनां समूहः हास्तिकम्।

पुंवत्कर्मधारयजातीयदेशीयेषु ६।३।४२

प० वि०—पुंवत् १।१ कर्मधारयजातीयदेशीयेषु ७।३ स०—कर्मधारयश्च जातीयश्च देशीयश्च इति कर्मधारयजातीयदेशीयाः तेषु।

अर्थ—[स्त्रियाः भाषितपुंस्कादनूङ्] कर्मधारये समासे उत्तरपदे

१—अनेकमन्यपदार्थे (२. २. २४) २—गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य (१.२.४८)

परतः जीतीये प्रत्यये देशीये प्रत्यये च भाषितपुंस्कादनूङ्स्त्रियाः पुंवद् भवति। (कर्मधारय समास में जातीय और देशीय प्रत्ययों के उत्तरपद में परे रहने पर कह दिया है पुल्लिङ्ग को जिसने ऐसा ऊङ् वर्जित स्त्रीलिङ्ग शब्द पुल्लिङ्गवत् हो जाता है)

उदा०—कर्म--पाचकवृन्दारिका। पाचकजातीया। पाचकदेशीया।

सि०—पाचिका[1] चासौ वृन्दारिका चेति विग्रहः। ईसद् असमाप्ता पाचिका इति पाचकजातीया, पाचकदेशीया।

घरूपकल्पचलड्ब्रुवगोत्रमतहतेषु ङ्योनेकाचो ह्रस्वः ६।३।४३

प० वि०—घ-रूप-कल्प-चेलट्-ब्रुव-गोत्र-मत-हतेषु ७।३ ङ्यः ६।१ अनेकाचः ६।१ ह्रस्वः १।१

स०—घश्च रूपं च कल्पश्च चेलट् च ब्रुवश्च गोत्रश्च मतश्च हतश्च इति घरूपकल्पचेलड्ब्रुवगोत्रमतहताः तेषु। एकश्चासौ अच इति एकाच् न एकाच् इति अनेकाच् तस्य अनेकाचः।

अर्थ—[भाषितपुंस्कात्] घ-रूप-कल्प इत्येतेषु प्रत्ययेषु चेलट्-ब्रुव गोत्र-मत-हत इत्येतेषु च उत्तरपदेषु परतो भाषितपुंस्काद् यो ङीप्रत्ययस्तदन्तस्य अनेकाचो ह्रस्वो भवति। (घ रूप कल्प इन प्रत्ययों तथा चेलट्-ब्रुव-गोत्र-मत-हत इन शब्दों के उत्तरपद में परे रहने पर कह दिया है पुल्लिङ्ग को जिस ने ऐसे शब्द के पश्चात् जो ङी प्रत्यय तदन्त अनेकाच् को ह्रस्व होता है)

उदा०—ब्राह्मणितरा। ब्राह्मणितमा। ब्राह्मणिरूपा। ब्राह्मणिकल्पा। ब्राह्मणिचेली। ब्राह्मणिब्रुवा। ब्राह्मणिगोत्रा। ब्राह्मणिमता। ब्राह्मणिहता।

नद्याः शेषस्यान्यतरस्याम् ६।३।४४

प० वि०—नद्याः ६।१ शेषस्य ६।१ अन्यतरस्याम् अ०।

अर्थ—[घ-रूप-कल्प-चेलट्-ब्रुव-गोत्र-मत-हेतषु ह्रस्वः] शेषस्य घादिषु उत्तरपदेषु परतः नद्याः अन्यतरस्याम् ह्रस्वो भवति।

❀ कश्च शेषः। अङी च या नदी ङ्यन्तं च यदेकाच् ❀ (घादि उत्तरपद के परे रहने पर शेष नदी को ह्रस्व होता है विकल्प करके)

उदा०—ब्रह्मबन्धूतरा। ब्रह्मबन्धुतरा। स्त्रितरा। स्त्रीतरा। स्त्रितमा। स्त्रीतमा।

१—विशेषणं विशेष्येण बहुलम् (२. १. ५६)

उगितश्च ६।३।४५

प० वि०—उगितः ६।१ च अ०। स०—उक् इत् यस्येति उगित् तस्य।

अर्थ—[नद्याः घादिषु अन्यतरस्यां ह्रस्वः] उगितश्च परस्य घादिषु अन्यतरस्यां ह्रस्वो भवति। (घादि उत्तरपद के परे रहने पर उगित् का विकल्प करके ह्रस्व होता है)

उदा०—श्रेयसितरा श्रेयसीतरा श्रेयस्तरा। श्रेयसितमा, श्रेयसीतमा श्रेयस्तमा। विदुषितरा विदुषीतरा विद्वत्तरा।

आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः ६।३।४६

प० वि—आत् १।१ महतः ६।१ समानाधिकरणजातीययोः ७।२

स०—समानाधिकरणं च जातीयश्च इति समानाधिकरणजातीयौ तयोः।

अर्थ—समानाधिकरण उत्तरपदे जातीये च प्रत्यये परतो महत आकारादेशो भवति। (समानाधिकरण उत्तरपद के परे रहने पर तथा जातीय प्रत्यय के परे रहने पर महत् शब्द का आकार हो जाता है।

उदा०—महान् चासौ देवश्च इति महादेवः। महाब्राह्मणः। महाबाहुः। महाजातीयः।

द्व्यष्टनः संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः ६।३।४७

प० वि०—द्व्यष्टनः ६।१ संख्यायाम् ७।१ अबहुव्रीह्यशीत्योः ७।२

स०—द्विश्च[1] अष्टंश्च[1] इति द्वि-अष्टन् तस्य। न बहुव्रीहिः अबहुव्रीहिः। न शीतिः अशीतिः। अबहुव्रीहिश्च अशीतिश्चेति अबहुव्रीहि-अशीती तयोः अबहुव्रीह्यशीत्योः।

अर्थ—[आत्] द्वि-अष्टन् इत्येतयोराकादेशो भवति संख्यायामुत्तरपदे परतः अबहुव्रीह्यशीत्योः।

(द्वि और अष्टन् शब्द का आकार आदेश होता है संख्यावाची उत्तरपद के परे रहने पर बहुव्रीहि में और अशीतिशब्द के उत्तर पद में न परे रहने पर)

उदा०—द्वादश। द्वाविंशतिः। द्वात्रिंशत। अष्टादश। अष्टाविंशतिः। अष्टात्रिंशत्।

* द्वाभ्यामधिका द्वादश इति समानाधिकरणाधिकारे शाकपार्थिवा-

1—शब्दरूपापेक्षमेकवचनम्।

दीनामुपसंख्यानमुत्तरपदलोपश्चेत्युत्तरपदलोपी (२. १. ६० वा०) तत्पुरुष-समासः ।॥

त्रेस्त्रयः ६।३।४८

प० वि०—त्रेः ६।१ त्रयः १।१

अर्थ–[संख्यायाम् अबहुव्रीह्यशीत्योः] त्रि इत्येतस्य त्रयस् इत्ययमादेशो भवति संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः ।

(त्रि शब्द के स्थान में त्रयस् यह आदेश हो जाता है संख्यावाची उत्तर-पद के परे रहने पर, बहुव्रीहि समास में तथा अशीति शब्द के उत्तर पद में परे रहने पर नहीं)

उदा०—त्रयोदश । त्रयोविंशतिः । त्रयस्त्रिंशत् ।

विभाषा चत्वारिंशत्प्रभृतौ सर्वेषाम् ६।३।४९

प० वि०—विभाषा १।१ चत्वारिंशत्प्रभृतौ ७।१ सर्वेषाम् ६।३ स०—चत्वारिंशतः प्रभृतिः इति चत्वारिंशत्प्रभृतिः तस्याम् चत्वारिंशत्प्रभृतौ ।

अर्थ–[संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः सर्वेषां द्व्यष्टन् त्रि इत्येतेषां यदुक्तं तद् विभाषा भवति ।। (चत्वारिंशत् इत्यादि संख्यावाची शब्दों के उत्तरपद में परे रहने पर सभी द्वि अष्टन् और त्रि शब्द को जो कुछ कहा गया है, वह विकल्प से होता है, बहुव्रीहि समास तथा अशीति उत्तरपद के परे रहने पर नहीं होता)

उदा०—द्विचत्वारिंशत् । द्वाचत्वारिंशत् । त्रिपञ्चाशत् । त्रयःपञ्चाशत् । अष्टपञ्चाशत् । अष्टापञ्चाशत् ।

हृदयस्य हृल्लेखयदण्लासेषु ६।३।५०

प० वि०—हृदयस्य ६।१ हृत् १।१ लेखयदण्लासेषु ७।३ स०—लेखश्च यच्च अण् च लासश्चेति लेखयद्अण्लासाः तेषु ॥

अर्थ—हृदयस्य हृद् इत्ययमादेशो भवति लेख यत् अण् लास इत्येतेषु परतः । (हृदय शब्द के स्थान में हृत् यह आदेश होता है लेख, यत् अण् और लास शब्द के परे रहने पर)

उदा०—हृदयं लिखतीति हृल्लेखः । हृद्यम् । हार्दम् । हृल्लासः ।

सि०—हृल्लेखः । हृदय लिख् अण्[1] । हृदयाय हितम् हृद्यम्[2] । हृदयस्य इदम् हार्दम्[3] । हृदयस्य लासः । लसनं लासः । लस् घञ्[4]

१—कर्मण्यण् (३. २. १) २—शरीरावयवाद्यत् (५. १. ६) ३—प्राग्दीव्यतोऽण् (४. १. ८३) तस्येदम् (४. ३. १२०) ४—भावे (३. ३. १८)

×कृद्योगा च षष्ठी समस्यते इति (२।२।८ वा०)×

खित्यनव्ययस्य ६।३।६६

प० वि०—खिति ७।१ अनव्ययस्य ६।१ स०—ख् इत् यस्येति खित् तस्मिन् । न अव्ययम् इति अनव्ययम् तस्य अनव्ययस्य ।

अर्थ—[ह्रस्वः] खिदन्त उत्तरपदेऽनव्ययस्य ह्रस्वो भवति ।

(खिदन्त उत्तरपद के परे रहने पर अव्ययभिन्न का ह्रस्व होता है)

उदा० कालिंमन्या । हरिणिंमन्या ।

सि०—कालीमात्मानं मन्यते । हरिणीमात्मानं मन्यते इति विग्रह । कालीम् मन् खश्[1] । कालीम् मन् श्यन् अ । कालीम् मन्य । काली मन्य । काली मन्य टाप् । काली मन्या । कालि मन्या । कालि मुम् मन्या । कालिंमन्या ॥

मुमागमप्रकरणम्

अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम् ६।३।६७

प० वि०—अरुर्द्विषदजन्तस्य ६।१ मुम् १।१ स०—अरुस् च द्विषत् च अजन्तश्च इति अरुर्द्विषदजन्तं तस्य ।

अर्थ—अरुस् द्विषत् इत्येतयोरजन्तानां चानव्ययानां खिदन्त उत्तरपदे मुमागमो भवति । (अरुस् द्विषत् और अव्ययभिन्न अजन्त को मुम् का आगम होता है खिदन्त उत्तरपद के परे रहने पर)

उदा०—अरुंतुदः । द्विषंतपः । अजन्तस्य—कालिंमन्या ।

सि०—अरुस्तुदतीति विग्रहः । अरुस् तुद् खश्[2] । अरुस् तुद् ख अ । अरुस् तुद् अ अ । अरुस् तुद । अरु मुम् स् तुद । अरुम्स् तुद । अरुम् तुद । अरुं तुद सु । अरुंतुदः । द्विषन्तं तापयतीति विग्रहः । द्विपत् अम् तापि खच्[3] । द्विषत् अम् तपि[4] अ । द्विषत् अम् तप । द्विषत् तप । द्विष मुम् त् तप । द्विषमत् तप । द्विषम् तप । द्विषंतप सु । द्विषन्तपः ॥

नलोपो नञः ६।३।७३

प० वि०—नलोपः १।१ नञः ६।१ स०—नस्य लोपः । नलोपः

१—आत्ममाने खश् (३. २. ८३) २—विध्वरुषोस्तुदः (३. २. ३५) ३—द्विषत्परयोस्तापेः (३. २. ३९) ४—खचि ह्रस्वः (६. ४. ९४)

अर्थ---नञो नकारस्य लोपो भवति उत्तरपदे परतः। (नञ् के नकार का लोप होता है उत्तरपद के परे रहने पर)

उदा०—न ब्राह्मणः अब्राह्मणः।

तस्मान्नुडचि ६।३।७४

प० वि०—तस्मात् ५।१ नुट् १।१ अचि ७।१

अर्थ--[नञः] तस्मान्नलोपान्नञः नुडागमो भवति अजादावुत्तरपदे परतः। (उस नकार लोप के पश्चात् नञ् को नुट् का आगम होता है अजादि उत्तरपद के परे रहने पर)

उदा०—न अजः। अनजः। न अश्वः। अनश्वः

सि०—नञ् इति समासविधायकसूत्रे साधनं द्रष्टव्यम्॥

नगोऽप्राणिष्वन्यतरस्याम् ६।३।७७

प० वि०—नगः १।१ अप्राणिषु ७।३ अन्यतरस्याम् अ०। स०--न प्राणी अप्राणी तेषु अप्राणिषु।

अर्थ—नग इति अप्राणिषु निपात्यते अन्यतरस्याम्। (नगः यह प्राणिवाचक न हो तो विकल्प से निपातन से सिद्ध होता है)

उदा०-नगाः वृक्षाः। अगाः वृक्षाः। नगाः प्लक्षाः। अगाः प्लक्षाः॥

[सहस्य सः] संज्ञायाम् ६।३।७८

अव्ययीभावे चाकाले ६।३।८१

प० वि०—अव्ययीभावे ७।१ च अ०। अकाले ७।१

अर्थ—[सहस्य सः] अव्ययीभावे च समासेऽकालवाचिन्युत्तरपदे सहस्य स इत्ययमादेशो भवति। (अव्ययीभाव समास में अकालवाची शब्द के उत्तरपद में रहने पर सह के स्थान में स यह आदेश होता है)

उदा०—सचक्रं धेहि।

सि०—अव्ययं विभक्तिसमीपेति सूत्रे द्रष्टव्यम्।

वोपसर्जनस्य ६।३।८२

प० वि०—वा अ०। उपसर्जनस्य ६।१

अर्थ—[सहस्य सः] उपसर्जनस्य सहस्य स इत्ययम् आदेशो भवति विकल्पेन उत्तरपदे परतः। (उपसर्जन सह के स्थान में स यह आदेश विकल्प से होता है उत्तरपद के परे रहने पर)

उदा०—पुत्रेण सह। सपुत्रः। सहपुत्रः। साधनं तेन सहेति तुल्य-

योगे (२. २. २८) इत्यत्र द्रष्टव्यम्।

ज्योतिर्जनपदरात्रिनाभिनामगोत्ररूपस्थानवर्णवयोवचन-बन्धुषु ६।३।८५

प० वि०—ज्योतिस्-जनपद-रात्रि-नाभि-नाम-गोत्र-रूप-स्थान-वर्ण-वयस् वचन-बन्धुषु ७।३ स०—स्पष्टम् (इतरे० द्वन्द्वः)

अर्थ—[समानस्य सः] ज्योतिस्-जनपद-रात्रि-नाभि-नाम-गोत्र-रूप स्थान-वर्ण-वयस्-वचन-बन्धुषु उत्तरपदेषु परतः समानस्य स इत्ययमादेशो भवति। (इन शब्दों के उत्तरपद में परे रहने पर समान के स्थान में स यह आदेश होता है)

उदा०—सज्योतिः। सजनपदः। सरात्रिः। सनाभिः। सनामा। सगोत्रः। सरूपः। सस्थानः। सवर्णः। सवयाः। सवचनः। सबन्धुः।

सि०—समानं ज्योतिर्यस्येति विग्रहः। तत्पुरुषेऽपि भवित स्वयमेव एवं सवत्र वि ग्रहः कर्त्तव्यः॥

दृग्दृशवतुषु ६।३।८९

प० वि०—दृग्दृशवतुषु ७।३ स०—दृक् च दृशश्च वतुश्च इति दृग्दृशवतवः तेष।

अर्थ—[समानस्य सः] दृक् दृश वतु इत्येतेषु उत्तरपदेषु परतः समानस्य स इत्ययमादेशो भवति। (दृक् दृश वतु के उत्तरपद में परे रहने पर समान के स्थान में स यह आदेश होता है)

उदा०—सदृक् सदृशः। ×दृक्षे चेति वक्तव्यम्× सदृक्षः।

सि०—समानमात्मानं पश्यतीति सदृक् सदृशो वा। समान अम् दृश् क्विन्[1]। समान अम् दृश्। समान अम् दृक्[2]। समान दृक्। सदृक्। सदृश् कञ्। सदृशः।

इदंकिमोरीश्की ६।३।९०

प० वि०—इदंकिमोः ६।२ ईश्की अविभ०। स०—इदंच किंच इति इदंकिमौ तयोः। ईश् च की च इति ईश्की।

अर्थ—[दृक्दृशवतुषु] इदं किम् इत्येतयोरीश् की इत्येतावादेशौ

१—त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च (३. २. ६०) २—क्विन्प्रत्ययस्य कुः (८. २. ६२)

भवतः यथासंख्यं दृक्दृशवतुषु। (इदं और किम् के स्थान में क्रमशः ईश् और की आदेश होते हैं दृक् दृश वतु के परे रहने पर)

उदा०—इदमिव पश्यतीति ईदृक्। ईदृशः। किमिव पश्यतीति कीदृक्। कीदृशः। ❀ व्युत्पत्तिमात्रार्थो विग्रहः कृतः। नात्रावयवार्थो विग्रहवाक्योपदर्शितो विद्यते तथा हि ईदृक् ईदृश इत्यनेन तुल्य इत्येषोऽर्थः समुदायादेव प्रतीयते। कीदृक् कीदृश इत्यत्रापि केन तुल्य इति❀ किं परिमाणमस्येति कियान्। इदं परिमाणमस्येति इयान्।

सि०—साधनं कृत्प्रकरणे तद्धितप्रकरणे च द्रष्टव्यम्।

आ सर्वनाम्नः ६।३।९१

प० वि०—आ १।१ सर्वनाम्नः ६।१

अर्थ–[दृक्दृशवतुषु] सर्वनाम्न आकारादेशो भवति दृक्दृशवतुषु]।

(सर्वनाम को आकारादेश होता है दृक् दृश् वतु के परे रहने पर)

उदा०—तादृक्। तादृशः। तावान्। यादृक्। यादृशः। यावान्।

× दृक्षे चेति वक्तव्यम् × तादृक्षः। यादृक्षः।

द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत् ६।३।९७

प० वि०—द्व्यन्तरुपसर्गेभ्यः ५।३ अपः ६।१ ईत् १।१

स०—द्विश्च अन्तश्च उपसर्गश्चेति द्व्यन्तरुपसर्गाः तेभ्यः।

अर्थ—द्वि-अन्तर-उपसर्ग इत्येतेभ्य उत्तरस्य अप ईकारादेशो भवति।

(द्वि, अन्तर, और उपसर्ग के पश्चात अप् शब्द का ईकार आदेश होता है)

उदा०—द्वीपम्। अन्तरीपम्। नीपम्। समीपम्।

सि०—ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे (५. ४. ७४) इत्यत्र द्रष्टव्यम्।

पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् ६।३।१०९

प० वि०—पृषोदरादीनि १।३ यथोपदिष्टम् १।१ स०—आदिशब्दः प्रकारवचन इति। पृषोदरं आदि येषां तानि पृषोदरादीनि (बहु०) यानि यानि शिष्टैरुपदिष्टानि इति यथोपदिष्टम्। (यथासादृश्ये इति वीप्सायामव्ययीभावः)

अर्थ— ❀ दिशिरत्रोच्चारणक्रियः उपदिष्टान्युच्चारितानीत्यर्थः ❀ पृशोदरप्रकाराणि शिष्टैर्यथोच्चारितानि तथैव साधूनि भवन्ति।

(पृषोदर इस प्रकार के शब्द जैसे शिष्टों द्वारा उच्चारित होते हैं वैसे ही साधु माने जाते हैं)

उदा०---पृषदुदरं यस्य, पृषोदरम्। पृषद् उद्वानं यस्य, पृषोद्वानम्। तकारलोपः। वारिवाहिको, वलाहकः। पूर्वपदस्य वः, उत्तरपदादेश्च लत्वम्। जीवनस्य मूतः, जीमूतः। वनशब्दस्य लोपः। शवानां शयनं, श्मशानम्। शव शब्दस्य श्मादेशः। शयनशब्दस्यापि शानशब्दादेशः। ऊर्ध्वं खम् यस्येति उलूखलम् ऊर्ध्वखशब्दयोरुलूखल इत्येतावादेशौ। मह्यां रौतीति मयूरः। रौतेरचि टिलोपः, महीशब्दस्य मयूभावः।

भवेद्वर्णागमाद्धंशः सिंहोवर्णविपर्ययात्।
गूढोत्मा वर्णविकृतेर्वर्णनाशात्पृषोदरम्।

❀ के शिष्टाः ? एतस्मिन्नार्यावर्त्ते निवासे ये ब्राह्मणाः कुम्भीधान्या अलोलुपा अगृह्यमाणकारणाः किञ्चिदन्तरेण कस्याश्चिद्विद्यायाः पारङ्गतास्तत्र भवन्तः शिष्टाः (महाभाष्ये) ❀

ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः ६।३।१११

प० वि०—ढ्रलोपे ७।१ पूर्वस्य ६।१ दीर्घः १।१ अणः ६।१

स०—ढश्च रश्चेति ढ्रौ (द्वन्द्वः)। ढ्रयोर्लोपो यस्मिन् इति ढलोपः (बहु०) तस्मिन्।

अर्थ—ढ्रलोपे पूर्वस्याणो दीर्घो भवति।

(ढकार और रेफ का लोप हो जिसमें, उसके पूर्व अण् का दीर्घ होता है)

उदा०—लीढम्। मीढम्। उपगूढम्। रलोपे—नीरक्तम्। अग्नीरथः। इन्दूरथः। पुनारक्तं वासः। अन्ताराष्ट्रीयः।

सि०—लिह् क्त[1]। लिह् त। लिढ्[2] त। लिढ् ध[3]। लिढ् ढ[4]। लि[5] ढ। ली ढ[6] सु। लीढ अम्। लीढम्। मिह् क्त। मिह् त। मिढ् त। मिढ् ध। मिढ् ढ। मि ढ। मीढ सु। मीढ अम्। मीढम्। उपगुह् क्त। उपगुढ् त। उपगुढ् ध। उपगुढ् ढ। उप गुढ। उपगूढ सु। उपगूढ अम्। उपगूढम्। निर् रक्तम्। नि रक्तम्[7]। नी रक्तम्[6]। अग्निर् रथः। अग्नि रथः। अग्नीरथः। इन्दुर् रथः। पुनर् रक्तम। अन्तर् राष्ट्रीयः।

१—भूते (३. २. ८४) निष्ठा (३. २. १०२) क्तक्तवतू निष्ठा(१. १. २६) २—हो ढः (८. २. ३१) ३—झषस्तथोर्धोऽधः (८. २. ४०) ४—ष्टुना ष्टुः (८. ४. ४०) ५—ढो ढे लोपः (८. ३. १३) ६—ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः (६. ३. १११) ७—रो रि (८. ३. १४)

सहिवहोरोदवर्णस्य ६।३।११२

प० वि०—सहिवहोः ६।२ ओत् १।१ अवर्णस्य ६।१ स०—सहिश्च वहश्चेति सहिवहौ तयोः ।

अर्थ—[ढ्रलोपे] सहि वह इत्येतयोरवर्णस्य ओकारादेशो भवति ढ्रलोपे । (सह और वह धातु के अकार के स्थान में ओकार आदेश होता है ढकार और रेफ के लोप होने पर)

उदा०—सोढा । सोढुम् । सोढव्यम् । वोढा । वोढुम् । वोढव्यम् ।

सि०—सह् तृच् । सह् तृ । सढ् तृ । सढ् धृ । सढ् ढृ । स ढृ सु । सोढा । एवं सर्वत्र स्वयमेव अभ्यासः कर्त्तव्यः ।

संहितायाम् ६।३।११४

प० वि०—संहितायाम् ७।१

अर्थ—संहितायाम् इत्यधिकारो वेदितव्यः ।

(अब यहां से आगे संहिता का अधिकार समझना चाहिये)

ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम् ६।३।१३३

प० वि०—ऋचि ७।१ तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम् ६।३

अर्थ—[दीर्घः] ऋचि विषये तु–नु–घ–मक्ष–तङ्–कु–त्र उरुष्य इत्येतेषां दीर्घो भवति संहितायां विषये । (ऋक् ऋचा में) तु, नु, घ, मक्षु (शीघ्र) तङ्, कु, त्र, उरुष्य इनको दीर्घ होता है संहिता के विषय में)

उदा०—आ तू न इन्द्र वृत्रहन् । नू करणे । उत वा घा स्यालात् । मक्षू गोमन्तमीमहे । तङ्—भरता जातवेदसम् तङिति थादेशस्य ङित्वपक्षे ग्रहणं, तेनेह न भवति शृणोत ग्रावाणः । कूमनः । अत्रा गौः । उरुष्या णोऽग्नेः ।

निपातस्य ६।३।१३६

प० वि०—निपातस्य ६।१

अर्थ—[ऋचि दीर्घः] ऋचि विषये संहितायां निपातस्य दीर्घो भवति । (ऋचा के विषय में संहिता में निपात का दीर्घ होता है)

उदा०—एवा ते ।

अन्येषामपि दृश्यते ६।३।१३७

प० वि०—अन्येषाम् ६।३ अपि अ० । दृश्यते (क्रिया०)

अर्थ—[दीर्घः] अन्येषामपि दीर्घो दृश्यते । ❀ स दीर्घः शिष्ट-प्रयोगादनुगन्तव्यः । यस्य दीर्घत्वं न विहितं दृश्यते च प्रयोगे तदनेन कर्त्तव्यम् ❀ (अन्यों को भी दीर्घ देखा जाता है)

उदा०—केशाकेशि । कचाकचि । जलाषाट् । नारकः।पूरुषः ।

सि०—केशेषु केशेषु गृहीत्वा इदं युद्धं वृत्तमिति विग्रहः । केश सुप् केश सुप् । केशकेश[1] । केशाकेश । केशाकेश इच्[2] केशाकेश् इ । केशाकेशि सु । केशाकेशि[3] । जलं सहते इति विग्रहः । जल अम् सह् ण्विः[4] । जल सह् वि । जल सह् व् । जला[5] साह् । जला साढ्[6] । जलासाड्[7] । जलासाट्[8] । जलाषाट्[9] ।

चौ ६।३।१३८

प० वि०—चौ ७।१

अर्थ—[पूर्वस्य दीर्घः] चौ परतः पूर्वपदस्य दीर्घो भवति । (चु के परे रहने पर पूर्व पद का दीर्घ होता है)

उदा०—दधीचः पश्य । दधीचा । दधीचे । मधूचः पश्य । मधूचा । मधूचे ।

सि०—अचः (६. ४. १३८) इत्यत्र द्रष्टव्यम् ।

सम्प्रसारणस्य ६।३।१३९

प० वि०—सम्प्रसारणस्य ६।१

अर्थ—[पूर्वस्य दीर्घः] सम्प्रसारणान्तस्य पूर्वपदस्य उत्तरपदे परतो दीर्घो भवति । (सम्प्रसारणान्त पूर्वपदका दीर्घ होता है, उत्तरपद के परे रहने पर)

उदा०—कारीषगन्धीपुत्रः । कौमुदगन्धीपुत्रः ।

सि०—ष्यङः सम्प्रसारणम् (६. १. १३) इत्यत्र द्रष्टव्यम् ।

इत्यष्टाध्यायी-प्रकाशिकायां षष्ठाध्याये तृतीयः पादः

———

१—तत्र तेनदमिति सरूपे (२. २. २७) २—इच् कर्मव्यतीहारे (५. ४. १२७) ३—इचोऽव्ययत्वम् अत एव-अव्ययादाप्सुपः (२. ४. ८१) ४—छन्दसि सहः (३. २. ६३) ५—अन्येषामपि दृश्यते (६. ३. १३७) ६—हो ढः (८. २. ३१) ७—झलां जशोऽन्ते (८. २. ३९) ८—वावसाने (८. ४. ५८) ९—सहेः साडः षः (८. ३. ५६)

अङ्गाधिकारप्रकरणम्—

अङ्गस्य ६।४।१

प० वि०—अङ्गस्य ६।१

अर्थ—आ सप्तमाध्यायपरिसमाप्तेः "अङ्गस्य" इत्यधिकारो वेदितव्यः। (सप्तमाध्यायपर्यन्त अङ्गस्य" का अधिकार समझना चाहिए। अर्थात् अगले सूत्रों में यह पद उपस्थित होता है)

हलः ६।४।२

प० वि०—हलः ५।१

अर्थ—[अणः सम्प्रसारणस्य दीर्घः] हल उत्तरस्य अङ्गस्यावयवस्य अणो दीर्घो भवति। (हल् के उत्तर अङ्ग के अवयव सम्प्रसारण अण् का दीर्घ होता है)

उदा०—जीनः। जीनवान्।

सि०—ग्रहिज्येति (६. १. १६) सूत्रे द्रष्टव्यम्।

नामि ६।४।३

प० वि०—नामि ७।१

अर्थ—[दीर्घः] नामि परतोऽङ्गस्य दीर्घो भवति।
(नाम् के परे रहने पर अङ्ग का दीर्घ होता है)

उदा०—अग्नीनाम्। वायूनाम्। कर्तॄणाम्। हर्तॄणाम्।

न तिसृचतसृ ६।४।४

प० वि०—न अ०। तिसृचतसृ (सुपां सुलुगिति षष्ठीद्विवचनस्य लुकं कृत्वा निर्देशः कृत इति न्यासः)

अर्थ—[नामि दीर्घः] तिसृ चतसृ इत्येतयोर्नामि दीर्घो न भवति।
(तिसृ और चतसृ अङ्ग का नाम् के परे रहने पर दीर्घ नहीं होता है)

उदा०—तिसृणाम्। चतसृणाम्।

छन्दस्युभयथा ६।४।५

प० वि०—छन्दसि ७।१ उभयथा १।१ अथवा अव्ययपदम्।

अर्थ—[तिसृ चतसृ नामि दीर्घः] तिसृ चतसृ इत्येतयोर्नामि परत उभयथा दृश्यते छन्दसि विषये। (छन्द के विषय में तिसृ और चतसृ को दीर्घ और अदीर्घ दोनों प्रकार से देखा जाता है नाम् के परे रहने पर)

उदा०—तिसृणाम् मध्यंदिने तिसॄणां मध्यंदिने। चतसृणां मध्यंदिने

चतसृणां मध्यंदिने ॥

सि०—त्रि आम्। तिसृ[1] आम्। तिसृ नुट्[2] आम्। तिसृनाम्। तिसृ नाम्। तिसृणाम्। चतुर् नाम्[3]। चतसृणाम्।

नृ च ६।४।६

प० वि०—नृ (लुप्तषष्ठीकं पदम्) च अ०।

अर्थ—[नामि उभयथा] नृ इत्येतस्य च नामि परत उभयथा भवति। (नाम् के परे रहने पर नृ शब्द का दोनों प्रकार से दीर्घ और अदीर्घ होता है)

उदा०—त्वं नृणां नृपते। त्वं नॄणां नृपते॥

नोपधायाः ६।४।७

प० वि०—नः ६।१ ॐसौत्रत्वान्निर्देशस्य यकारलोपस्यासिद्धत्वम् अनाश्रित्याद् गुणः कृतः ॐउपधायाः ६।१

अर्थ—[नामि दीर्घः] नान्तस्याङ्गस्योपधायाः नामि परतो दीर्घो भवति।ॐ न इति वर्णग्रहणम्। तत्र वर्णग्रहणे सर्वत्र तदन्तविधिं प्रयोजयन्ति इति नशब्देन नकारान्तस्य ग्रहणं क्रियते।ॐ

(नकारान्त अङ्ग की उपधा को दीर्घ होता है नाम् के परे रहने पर)

उदा०—पञ्चानाम्। सप्तानाम्। नवानाम्। दशानाम्।

सि०—पञ्चन आम्। पञ्चन् नुट्[3] आम्। पञ्चन् नाम्। पञ्चान्[4] नाम्। पञ्चानाम्[5]॥

सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ ६।४।८

प० वि०—सर्वनामस्थाने ७।१ च अ०। असम्बुद्धौ। ७।१

अर्थ—[नोपधायाः दीर्घः] सम्बुद्धिभिन्ने सर्वनामस्थाने च परतो नान्तस्योपधायाः दीर्घो भवति। (सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान विभक्ति के परे रहने पर नकारान्त अङ्ग की उपधा को दीर्घ होता है)

उदा०—राजा। राजानौ। राजानः। राजानम्। राजानौ। सामानि तिष्ठन्ति। सामानि पश्य॥ असम्बुद्धौ इति किम्—हे राजन्।

१—त्रिचतुरोःस्त्रियां तिसृचतसृ (७. २. ९९) २—ह्रस्वनद्यापो नुट् (७. १. ५४) ३—ष्णान्ता षट् (१.१. २३) षट्चतुर्भ्यश्च (७.१. ५५) ४—नोपधायाः (६. ४. १७) ५--स्वादिष्वसर्वनामस्थाने (१. ४.१७) पदस्य (८.१.१६) नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य (८. २. ४)

हे तक्षन् । हे सामन् ।

सान्तमहतः संयोगस्य ६।४।१०

प० वि०—सान्तमहतः ६।१ संयोगस्य ६।१ स०—सकारोऽन्तो यस्येति सान्तः । सान्तश्च महच्चेति सान्तमहत् तस्य सान्तमहतः ।

अर्थ—[नोपधायाः सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ] सान्तसंयोगस्य महतश्च यो नकारस्तस्योपधाया दीर्घो भवति सम्बुद्धिभिन्नसर्वनाम-स्थाने परतः । (सकारान्त और महत् शब्द के संयोग का जो नकार उसकी उपधा को दीर्घ होता है, सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान विभक्ति के परे रहने पर)

उदा०—श्रेयान् । श्रेयांसौ । श्रेयांसः । श्रेयांसम् । श्रेयांसौ ॥ पयांसि । यशांसि । मनांसि ॥ महतः—महान् । महान्तौ । महान्तः । महान्तम् । महान्तौ ॥ असम्बुद्धौ इति किम्—हे श्रेयन् । महन् ।

सि०—साधनं प्रशस्यस्य श्र इत्यत्र घप्रकरणे द्रष्टव्यम् ॥

अप्तृन्तृच्स्वसृनप्तृनेष्टृत्वष्टृक्षत्तृहोतृपोतृप्रशास्तॄणाम् ६।४।११

प० वि०—अप्-तृन्-तृच्-स्वसृ--नप्तृ-नेष्टृ--त्वष्टृ क्षत्तृ--होतृ--पोतृ-प्रशास्तॄणाम् ६।३

अर्थ—[उपधायाः दीर्घः सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ] अप्-तृन्-तृच्-स्वसृ-नप्तृ-नेष्टृ-त्वष्टृ-क्षत्तृ-होतृ-पोतृ-प्रशास्तृ इत्येतेषामङ्गानामुपधाया दीर्घो भवति सम्बुद्धिभिन्नसर्वनामस्थाने परतः (अप् इत्यादि अङ्गों की उपधा को दीर्घ होता है सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान विभक्ति के परे रहने पर)

उदा०—अप्—आपः । ॐअप्सुमनस्समासिकतावर्षाणां बहुत्वं च (लिङ्ग० १।२६) इत्येतेषां बहुत्वं अत एव एकवचनद्विवचने न संभवतःॐ तृन्—कर्ता । कर्त्तारौ । कर्त्तारः । कर्त्तारम् । कर्त्तारौ ॥ तृच्—कर्त्ता । कर्त्तारौ । कर्त्तारः । कर्त्तारम् । कर्त्तारौ । ॐतृचः अर्थे वैशिष्ट्यम्ॐ स्वसृ—स्वसा । स्वसारौ । स्वसारः । स्वसारम । स्वसारौ । नप्तृ—नप्ता । नप्तारौ । नप्तारः । नप्तारम् । नप्तारौ । नेष्टृ—नेष्टा । निष्टारौ । नेष्टारः । नेष्टारम् । नेष्टारौ ॥ त्वष्टृ—त्वष्टा । त्वष्टारौ । त्वष्टारः । त्वष्टारम् । त्वष्टारौ ॥ क्षत्तृ—क्षत्ता । क्षत्तारौ । क्षत्तारः । क्षत्तारम् । क्षत्तारौ । होतृ – होता । होतारौ । होतारः । होत्तारम् । होत्तारौ ॥ पोतृ—पोता । पोतारौ । पोतारः । पोतारम् । पोतारौ । प्रशास्तृ—प्रशास्ता । प्रशास्तारौ । प्रशास्तारः । प्रशास्तारम् । प्रशास्तारौ । ॐनप्त्रादीनां

ग्रहणमव्युत्पत्तिपक्षे विध्यर्थम्, व्युत्पत्तिपक्षे नियमार्थम्। एवं भूतानामन्येषां संज्ञाशब्दानां दीर्घो मा भूदिति॥ पितरौ। पितरः। मातरौ। मातरः। भ्रातरौ। भ्रातरः।॥ असम्बुद्धाविति किम्—हे कर्त्तः। हे स्वसः॥

सि०—कर्त्ता इत्यस्य साधनं ण्वुल्तृचौ इति सूत्रे द्रष्टव्यम्। अन्यत्सर्वं कर्तृवज्ज्ञेयम्॥ ॥काशिकायामेकवचनं नोदाहृतम्। तत्र ऋदुशनस्पुरोदंशोऽनेहसाञ्चेत्यनङादेशे कृते नोपधायाः सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ इत्यादिना दीर्घस्य सिद्धत्वात् इति यन्न्यासे लिखितं तच्चिन्त्यम्—कथं? परत्वात् अप्तृन्०—इत्येव न्यायात्॥

इन्हन्पूषार्यम्णां शौ ६।४।१२

प० वि०- इन्-हन्-पूषार्यम्णाम् ६।३ शौ ७।१ स०—इन् च हन् च पूषन् च अर्यमन् चेति इन्हन्पूषार्यमणः तेषाम्।

अर्थ—[उपधायाः दीर्घः] इन्-हन्-पूषन्-अर्यमन् इत्येतेषां शावेवोपधाया दीर्घो भवति नान्यत्र। (इन्, हन्, पूषन् और अर्यमन् इनकी उपधा को दीर्घ होता है शि के ही परे रहने पर और जगह नहीं)

उदा०—बहुदण्डीनि। बहुछत्रीणि। बहुवृत्रहाणि। बहुभ्रूणहाणि। बहुपूषाणि। बह्वर्यमाणि। एतेषां शावेव दीर्घो भवतीति किम्—दण्डिनौ। दण्डिनः। दण्डिनम्। दण्डिनौ। दण्डिनः। दण्डिना। दण्डिभ्याम्। दण्डिभिः। एवं छत्रिणौ। वृत्रहणौ। पूषणौ। अर्यमणौ॥

सौ च ६।४।१३

प० वि०—सौ ७।१ च अ०।

अर्थ—[इन्हन्पूषार्यम्णाम् उपधायाः दीर्घः असम्बुद्धौ] सावसम्बुद्धौ परतः इन्हन्पूषार्यम्णामुपधायाः दीर्घो भवति। (इन्-हन्-पूषन्-अर्यमन् इनकी उपधा को दीर्घ होता है सम्बुद्धिभिन्न सु के परे रहने पर)

उदा०—दण्डी। वृत्रहा। पूषा। अर्यमा। असम्बुद्धौ इति किम्। हे दण्डिन्। हे वृत्रहन्। हे पूषन्। हे अर्यमन्।

अत्वसन्तस्य चाधातोः ६।४।१४

प० वि०—अत्वसन्तस्य ६।१ च अ०। अधातोः ६।१ स०—अतुश्च अश्चेति अत्वसौ। अन्तश्च अन्तश्चेति अन्तौ। अत्वसौ अन्तौ यस्येति अत्वसन्तम् तस्य अत्वसन्तस्य। न धातुरिति अधातुः तस्य।

अर्थ—[उपधायाः सावसम्बुद्धौ दीर्घः] धातुभिन्नस्य अत्वन्तस्य असन्तस्य च अङ्गस्योपधायाः सावसम्बुद्धौ दीर्घो भवति। (धातुभिन्न अत्वन्त और असन्त अङ्ग की उपधा को दीर्घ होता है सम्बुद्धिभिन्न सु के परे रहने पर)

उदा०—अत्वन्तस्य, डवतु—भवान्। क्तवतु—गतवान्। मतुप्—गोमान्। यवमान्॥ *परं नित्यं च नुमं बाधित्वा वचनसामर्थ्यादादौ दीर्घः, ततो नुम्*असन्तस्य—सुपयाः। सुयशाः॥ असम्बुद्धावित्येव गोमन्। हे सुपयः।

अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति ६।४।१५

प० वि०—अनुनासिकस्य ६।१ क्विझलोः ७।२ क्ङिति ७।१

अर्थ—[उपधायाः दीर्घः] अनुनासिकान्तस्याङ्गस्योपधाया दीर्घो भवति क्विप्रत्यये परतो झलादौ च क्ङिति। (अनुनासिकान्त अङ्ग की उपधा को दीर्घ होता है क्वि प्रत्यय के परे रहनें पर और झलादि कित् ङित् प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०—क्वौ—प्रशान्। प्रतान्। झलादौ किति—शान्तः। शान्तवान्। शान्तिः। झलादौ ङिति—शंशान्तः। तन्तान्तः॥

सि०—शमु उपशमे। शम् क्विप्[1]। प्रशम्। प्रशाम्[2]। प्रशान्[3]। तमु काङ्क्षायाम्। प्रतम् क्विप्। शम् क्त। शान्तः[4]। शमु यङ् य। शम् शम् य। श शम् य। श नुक्[5] शम् य। शन् शम् य। शंशम्य। शंशम्[6] लट्। शंशम् तस्। शंशम् शप् तस। शंशम्[7] तस्। शंशाम्तस्। शंशांतस्। शंशान्तः॥

अञ्झनगमां सनि ६।४।१६

प० वि०—अज्झनगमाम् ६।३ सनि ७।१ स०—अच्च हन् च गम्

१—क्विप् च (३. २. ७२) २—अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति (६. ४. १५) ३—क्विबन्तं धातुत्वं न जहाति इति वचनाद्० मो नो धातोः (८. २. ६४) ४—नश्चापदान्तस्य झलि (८. २. २४) अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः (८. ४. ५७) ५—नुगतोऽनुनासिकान्तस्य (७. ४. ८५) आद्यन्तौ टकितौ (१. (१. ४५) ६—यङोऽचि च (२. ४. ७४) सनाद्यन्ताः धातवः (३. १. ३२) धातोः (३. १. ९१) वर्तमाने लट् (३. २. १२३) प्रत्ययः (३. १. १) परश्च (३. १. १) ७—अदिप्रभृतिभ्यः शपः (२. ४. ७२)

चेति अज्झनगमः तेषाम्।

अर्थ—[झलि दीर्घः] अजन्त-हन्-गम् इत्येतेषामङ्गानां झलादौ सनि दीर्घो भवति। (अजन्त, हन् गम्, इन अङ्गों का दीर्घ होता है झलादि सन् के परे रहने पर)

उदा०—अजन्तस्य-चिकीर्षति। जिहीर्षति। हनः-जिघांसति। गमः-अधिजिगांसते। ×गमेरिङादेशस्येति वक्तव्यम्×इह मा भूत् संजिगंसते वत्सो मात्रेति।

सि०—चिकीर्षति इति साधनं सन्विधायकसूत्रे द्रष्टव्यम्। जिघांसति। हन्। हान् सन्। हान् हान् स[1]। ह हान् स। झ[2] हान स। ज[3] हान् स। ज घान्[4] स। जघान् स। जिघान्[6] स। जिघान्स लट् जिघांस शप् ति। जिघांसति॥ अधिजिगांसते। इङ्। गम्[5]। गम सन्। गम् गम् स। ग गम् स। ज गम् स। जि[6] गम् स। जिगाम् स। जिगांस लट्। जिगांस त। जिगांस शप् त। जिगांस अ त। जिगांसत। जिगांसते। अधिजिगांसते।

च्छ्वोः शूडनुनासिके च ६।४।१९

प० वि०—च्छ्वोः ६।२ शूड् १।१ अनुनासिके ७।१ च अ०। स०—च्छश्च वश्चेति च्छ्वौ तयोः च्छ्वोः। शश्च ऊठ्चेति शूठ्।

अर्थ—[क्विझलोः क्ङिति] च्छ् व् इत्येतयोः स्थाने यथासंख्यं श् ऊठ् इत्येतावादेशो भवतः, अनुनासिकादौ प्रत्यये परतः क्वौ झलादौ च क्ङिति।

(च्छ् और व् के स्थान में क्रमशः श् और ऊठ् आदेश होते हैं अनुनासिकादि प्रत्यय के परे रहने पर क्वि के परे रहने पर और झलादि कित ङित् के परे रहने पर)

उदा०—अनुनासिके-प्रश्नः। विश्नः। वकारस्य ऊठ-स्योनः। क्वौ च्छस्य-शब्दप्राट्। वकारस्य क्वौ-अक्षद्यूः। हिरण्यद्यूः। झलादौ च्छस्य किति-पृष्टः। पृष्टवान्। पृष्ट्वा। वकारस्य झलादौ किति-द्यूतः। द्यूतवान्। द्यूत्वा।

१—सन्यङोः (६. १. ९) २—पूर्वोऽभ्यासः (६. १. ४) अत्र लोपोऽभ्यासस्य (७. ४. ५८) कुहोश्चुः (७. ४. ६२) ३—अभ्यासे चर्च (८. ४. ५३) ४—अभ्यासाच्च (७. ३. ५६) ५—इङश्च (२. ४. ४८) ६—सन्यतः (७. ४. ७९)

सि०—प्रच्छ् नङ् । प्रश्नः, साधनन्तु नङ्विधिसूत्रे द्रष्टव्यम् । स्योनः । सिव् न[1] । सि ऊठ् न । स्यू न । स्योन[2] सु । स्योनः । अक्षै-र्दीव्यति इति अक्षद्यूः । अक्ष भिस् दिव् क्विप् । अक्ष भिस् दि ऊठ् । अक्षद्यू सु । अक्षद्यूः ।

राल्लोपः ६।४।२१

प० वि०—रात् ५।१ लोपः १।१

अर्थ—[च्छ्वोः क्विझलोः क्ङिति] रेफादुत्तरयोश्च्छ्वोर्लोपो भवति क्वौ परतो झलादौ च क्ङिति ।

(रेफ के पश्चात् च्छ् और व् का लोप हो जाता है क्वि और झलादि कित् ङित् प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०—मुर्छा । मूः । मुरौ । मुरः । मूर्त्तिः । ※राल्लोपे सतुक्कस्य छस्याभावात्केवलो गृह्यते※ वकारस्य–तुर्वी–तूः । तुरौ । तुरः । तूर्णः । तूर्णवान् । तूर्त्तिः । धुर्वी । धूः । धुरौ । धुरः । धूर्णः । धूर्णवान् । धूर्त्तिः ।

सि०—मुर्छा । मुर्छ् क्विप् । मुर् सु । मूर्[3] । मूः । मुर् औ । मुरौ । एवं सर्वत्र ।।

श्नान्नलोपः ६।४।२३

प० वि०—श्नात् ५।१ नलोपः १।१

अर्थ—श्नादुत्तरस्य नकारस्य लोपो भवति ।

(श्न के पश्चात् नकार का लोप होता है)

उदा०—अनक्ति । भनक्ति । हिनस्ति ।

सि०—अन्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु । भन्जो आमर्दने । हिसि हिंसायाम् ।

अन्जू ।अन्ज् लट् । अन्ज् तिप् । अ श्नम् न्ज् तिप् । अनन्ज् ति । अनज् ति । अनग्[4] ति । अनक्ति[5] ।

अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति ६।४।२४

प० वि०—अनिदिताम् ६।३ हलः ६।१ उपधायाः ६।१ क्ङिति ७।१

१—धापृवस्यज्यतिभ्यो न इति (उण् ३. ६) धादिभ्यो विधीयमानो न प्रत्ययो बहुलवचनात् सिवरेपि भवति । २—सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७. ३. ८४) ३—र्वोरुपधाया दीर्घ इकः (८. २. ७६) ४—चोः कुः (८. २. ३०) ५—खरि च (८. ४. ५४)

स०—इत् इत् यस्येति इदित्। न इदित् अनिदित् तेषा अनिदिताम्।

अर्थ—[नलोपः] अनिदितामङ्गानां हलन्तानाम् उपधाया नकारस्य लोपो भवति क्ङिति प्रत्यये परतः।

(इकार इत् जिसका नहीं है ऐसे हलन्त अङ्ग की उपधा नकार का लोप होता है, कित् ङित् प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०—किति–स्रस्तः। ध्वस्तः। स्रस्यते। ध्वस्यते। सनीस्रस्यते दनीध्वस्यते।

सि०—स्रंसु ध्वंसु अधःपतने। स्रन्स् क्त। स्रन्स् यक्[1] ते। स्रन्स् यङ्। स्रस् य। स स्रस् य। स नीक्[2] स्रस् य। सनीस्रस्य शप् ते। सनीस्रस्यते। ×रजकरजनरजःसु रञ्जेरुपसंख्यानम्× रजकः। रजनम्। रजः।

शास इदङ्हलोः ६।४।३४

प० वि०—शासः ६।१ इत् १।१ अङ्हलोः ७।२

अर्थ–[क्ङिति] शास् उपधाया इकारादेशो भवति अङि परतो हलादौ च क्ङिति।

(शास् की उपधा का इकारादेश होता है अङ् के और हलादि कित् ङित् के परे रहने पर)

उदा०—अन्वशिषत्। अन्वशिषताम्। अन्वशिषन्। अन्वशिषः। अन्वशिषतम्। अन्वशिषत। अन्वशिषम्। अन्वशिष्व। अन्वशिष्म। हलादौ किति–शिष्टः। शिष्टवान्। हलादौ ङिति–तौ शिष्टः। वयं शिष्मः।

शा हौ ६।४।३५

प० वि०—शा १।१ हौ ७।१

अर्थ—[शासः] शासो हौ परतः शा इत्ययमादेशो भवति।

(शास् के स्थान में शा आदेश होता है हि के परे रहने पर)

उदा०—अनुशाधि। प्रशाधि।

सि०—शास् लोट्। शास् ल्। शास् सिप्। शास् हि। शा हि[3]। शाधि।

१—सार्वधातुके यक् (३. १. ६७) २—नीग्वञ्चुस्रंसुध्वंसुभ्रंसुकसपतपदस्कन्दाम् (७. ४. ८४) ३—असिद्धवदत्राभात् (६. ४. २२) हुझल्भ्योर्हेर्धिः (६. ४. १०१)

हन्तेर्जः ६।४।३६

प० वि०—हन्तेः ६।१ जः १।१

अर्थ—[हौ] हन्तेर्धातोर्ज इत्ययमादेशो भवति हौ परतः ।
(हन् धातु के स्थान में ज आदेश होता है हि के परे रहने पर)

उदा०—जहि शत्रून् ।

सि०—हन् सिप् । हन् हि । ज[1] हि । जहि ।

अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति ६।४।३७

प० वि०—अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनाम् ६।३ अनुनासिकलोपः १।१ झलि ७।१ क्ङिति ७।१ स०—अनुदात्तो य उपदेशे सः अनुदात्तोपदेशः । तनोतिः आदिः येषां ते तनोत्यादयः । अनुदात्तोपदेशश्च वनतिश्च तनोत्यादयश्च इति अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादयः तेषाम् । अनुनासिकस्य लोपः अनुनासिकलोपः ।

अर्थ—उपदेशे अनुदात्तानां, वनतेः, तनोत्यादीनां चाङ्गानां झलि क्ङिति अनुनासिकस्य लोपो भवति । (उपदेश में जो अनुदात्त धातुएं, वनति और तनोति आदि अङ्गों के अनुनासिक का लोप होता है झलादि कित् ङित् प्रत्यय परे रहने पर)

उदा०—यत्वा । यतः । यतवान् । रत्वा । रतः । रतवान् ।

वनति—वतिः (क्तिनो रूपम्) । तनोत्यादयः—ततः—ततवान् । क्षतः । क्षतवान् । ङिति—अतत । अतथाः ।

❀ अनुनासिक इत्यत्र सिद्धान्तकौमुदीकारस्तु यल्लुप्तषष्ठीकं मन्यते तच्चिन्त्यम् । अत्र तत्त्वबोधिनीव्याख्यायां—यद्यत्र एतेषामनुनासिकस्य लोप इति व्याख्यायते तदा मन्यतेर्नम्निहमिहमुचमस्ज्जादीनां चानन्त्यस्यापि लोप स्यात्, तथा च मतः नतः नद्धः मीढः मग्न इत्यादि न सिध्येत् इत्येतदपि तथैव चिन्त्यम्—तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्येति झलि क्ङिति इति सप्तमीनिर्देशेन विधीयमानम् अनुनासिकलोपकार्यं वर्णान्तरेणाऽव्यवहितस्य पूर्वस्य अलोऽन्त्यस्यैव सरलतया बोध्यत्वात् ।

आर्धधातुके ६।३।४६

प० वि०—आर्धधातुके ७।१ ॥

१—अनेकाल्शित्सर्वस्य (१. १. ५४)

अर्थ—आ न ल्यपेः वक्ष्यमाणानि कार्याणि आर्धधातुके परतः भवन्ति इत्यधिकारो वेदितव्यः।

(न ल्यपि इस सूत्र तक यहां से आगे कहे जाने वाले कार्य आर्धधातुक के परे रहने पर होते हैं, इस बात का अधिकार समझना चाहिये)

अतो लोपः ६।४।४८

प० वि०—अतः ६।१ लोपः १।१

अर्थ—अङ्गस्य अकारस्य लोपो भवति आर्धधातुके।

(अङ्ग के अकार का लोप होता है आर्धधातुक के परे रहने पर)

उदा०—चिकीर्षिता। चिकीर्षितुम्। चिकीर्षितव्यम्।

यस्य हलः ६।४।४९

प० वि०—यस्य ६।१ हलः ५।१

अर्थ—[लोपः] हल उत्तरस्य यशब्दस्य आर्धधातुके लोपो भवति।

(हलन्त अङ्ग के पश्चात् य शब्द का लोप होता है)

उदा—वेभिदिता। वेभिदितुम्। वेभिदितव्यम्।

सि०—भिदिर्। भिद् यङ्। वेभिद्य तृच्। वेभिद् अ तृ। वेभिद् तृ। वेभिदिता। ❀ अत्र आदेः परस्येति सूत्रेण य् इत्येतस्य लोपः कर्त्तव्यः पश्चात् अतो लोप इत्यनेन अकारस्य लोपः ❀

णेरनिटि ६।४।५१

प० वि०—णेः ६।१ अनिटि ७।१ स०—न इट् अनिट् तस्मिन् अनिटि।

अर्थ—[लोपः] अनिडादावार्धधातुके णेर्लोपो भवति।

(अनिडादि आर्धधातुक के परे रहने पर णि का लोप होता है)

उदा०—अततक्षत्। अररक्षत्। आशिशत। आटिटत्। कारणा। हारणा। कारकः। हारकः। कार्यते। हार्यते।

निष्ठायां सेटि ६।४।५२

प० वि०—निष्ठायां ७।१ सेटि ७।१ स०—इटा सह इति सेट तस्मिन्।

अर्थ—[णेः] निष्ठायां सेटि परतो णेर्लोपो भवति।

(सेट् निष्ठा के परे रहने पर णि का लोप होता है)

उदा०—कारितम्। हारितम्।

सि०—कृ णिच् इट् क्त। कारि इत। कार् इत। कारित सु। कारित अम्। कारितम्।

स्यसिच्सीयुट्तासिषु भावकर्मणोरुपदेशेऽज्झनग्रहदृशां वा चिण्वदिट् च ६।४।६२

प० वि०—स्यसिच्सीयुट्तासिषु ७।३ भावकर्मणोः ७।२ उपदेशे ७।१ अज्झनग्रहदृशाम् ६।३ वा अ०। चिण्वत् १।१ इट् १।१ च अ०।

स०—स्यश्च सिच्च सीयुट् च तासिश्चेति स्यसिच्सीयुट्तासयः तेषु। भाव च कर्म च भावकर्मणी तयोः। अच्च हनश्च ग्रहश्च दृट् च इति अज्झनग्रहदृशः तेषाम्।

अर्थ—स्य सिच् सीयुट् तासि इत्येतेषु भावकर्मविषयेषु परत उपदेशेऽजन्तानामङ्गानां हन् ग्रह् दृश् इत्येतेषां च चिण्वत् कार्यं भवति, इडागमश्च। तेन यदा चिण्वत् कार्यं तदा इडागमः। (भाव और कर्म विषयक स्य सिच् सीयुट् और तासि के परे रहने पर उपदेश में जो अजन्त धातु उसको और हन ग्रह तथा दृश को विकल्प से चिण्वत कार्य होता है और इट् का आगम भी होता है। जब चिण् होता है तभी इट् का आगम भी होता है, ऐसा समझना चाहिए)

चिण्वद् वृद्धिर्युक् च हन्तेश्च घत्वं दीर्घश्चोक्तो यो मितां वा चिणीति।
इट् चासिद्धस्तेन मे लुप्यते णिर्नित्यश्चायं वलनिमित्तो विघाती॥

इमान्येवास्य सूत्रस्य प्रयोजनानि। यथा चिणि णित्त्वाद् 'अचोऽञ्णिति' इति वृद्धिर्भवति, तथैव चिण्वद्भावेऽपि भवति। यथा चिणि 'आतो युक् चिण्कृतोः' इत्याकारान्तस्य युग् भवति तथा चिण्वद्भावेऽपि भवति। यथा चिणि 'हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु' इति हन्तेर्हकारस्य घत्वं भवति तथैव चिण्वद्भावेऽपि भवति। यथा चिणि 'चिण्णमुलोर्दीर्घोऽन्यतरस्याम्' इति मितां वा दीर्घत्वं भवति तथैव चिण्वद्भावेऽपि भवति। अपरं चैतत् प्रयोजनम्—अनेन विहितमिट् 'असिद्धवदत्राभात्' नियमेनासिद्धो भवति, अतः 'णेरनिटि' इत्यनेन सत्यपीटि इटोऽसिद्धत्वेन णेर्लोपो भवति।

ननु चानेनेडागमे विधीयमानेऽपि 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इत्यनेनेट् प्राप्नोति चिण्वद्भावेन च तत्र पदत्वात् साप्तमिकेन इटा भवित-

व्यम्, तस्मिंश्च सति तस्यासिद्धवत्त्वाभावात् णिलोपो न प्राप्नोति। उच्यते—आर्धधातुकस्येति विहितं साप्तमिकं वलादिं निमित्तमाश्रयते, अयं पुनः निर्निमित्तकः न किञ्चिन्निमित्तमाश्रयते। तेन वलादिलक्षणे इटि कृतेऽपि प्राप्नोति अकृतेऽपि। 'यः कृतेऽपि प्राप्नोति अकृतेऽपि स नित्यः' इति नियमात् चिण्वद्भावसहचरितमिट् नित्यम्। परत्वाच्च नित्यं बलवान् भवति इति न्यायात् पूर्वं चिण्वद्भावसहचरितमिट् भवति। सति चास्मिन्निटि वलादित्वाभावात् वलादिनिमित्तकः साप्तमिक इट् न प्राप्नोति। अर्थात् वलादिलक्षणस्येटः अयमिट् निमित्तं विहन्ति।

इस सूत्र के निम्नलिखित प्रयोजन हैं—१. जिस प्रकार चिण् के परे रहने पर 'अचोऽञ्णिति' इत्यादि से 'अचायि' आदि में वृद्धि होती है वैसे चिण्वद् भाव में भी हो जाती है—चायिष्यते। २. जिस प्रकार चिण् परे रहने पर 'आतो युक् चिण्कृतोः' से 'अदायि इत्यादि में आकारान्त अंग को युक् का आगम होता है, वैसे चिण्वद् भाव में भी हो जाता है—दायिष्यते। ३. जिस प्रकार चिण् परे रहने पर हन् धातु के हकार को 'हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु' सूत्र से घत्व हो जाता है वैसे चिण्वद् भाव में भी होता है—घानिष्यते। ४. जिस प्रकार णि से चिण् परे रहने पर 'चिण्णमुलो दीर्घोऽन्यतरस्याम्' से 'अशामि अशमि' में मित् संज्ञकों को विकल्प से दीर्घ होता है वैसे चिण्वद् भाव में भी विकल्प से दीर्घ हो जाता है—शामिष्यते, शमिष्यते। ५. ण्यन्त धातु से चिण्वद् भाव के साथ इस सूत्र के साथ जो इट् का आगम होता है वह 'असिद्धवदत्राभात्' नियम से असिद्धवत् हो जाता है इसलिए स्यादि को अनिडादि मानकर 'णेरनिटि' से णि का लोप हो जाता है यथा—शामिष्यते, शमिष्यते, चिण्वद् अभाव में—शमयिष्यते।

प्रश्न—'शम् णिच् स्य ते' इस अवस्था में इस सूत्र से भी इट् प्राप्त होता है, 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' से भी। परत्व से 'आर्धधातुकस्य' से इट् होगा इस से नहीं, तब णि का लोप कैसे होगा?

उत्तर—इस सूत्र से जो इट् होता है वह नित्य है। 'आर्धधातुकस्य' सूत्र से विहित इट् तभी होता है जब वलादि प्रत्यय हो। इस इट् के लिए कोई निमित्त नहीं है चाहे वह वलादि हो चाहे अजादि। इसलिए परत्वात् वलादि निमित्तक इट् के हो जाने पर भी इस सूत्र से पुनः इट् की प्राप्ति होती है। जो कार्य किसी कार्य के न करने पर भी प्राप्त हो और कर लेने पर भी वह नित्य होता है। इस कारण यह इट् नित्य है। इस इट् के कर लेने पर प्रत्यय

वलादि नहीं रहता अतः वलादि लक्षण इट् नहीं होता। इस प्रकार वह इट् अनित्य है। पर से भी नित्य बलवान् होता है अतः पहले यही चिण्वद् भाव वाला इट् होगा, इसके हो जाने पर सप्तमाध्याय वाला वलादि लक्षण इट् नहीं होगा और यह इट् णिलोप के करने में 'असिद्धवदत्राभात्' नियम से असिद्धवत् हो जाता है अतः 'शामिष्यते' में णि का लोप हो जाएगा

उदा०—अजन्तानाम्—चायिष्यते। चेष्यते। अचायिष्यत। अचेष्यत। दायिष्यते। दास्यते। अदायिष्यत अदास्यत। शामिष्यते। शमिष्यते। शमयिष्यते। अशामिष्यत। अशमिष्यत। अशमयिष्यत। हन्—घानिष्यते। हनिष्यते। अघानिष्यत। अहनिष्यत। ग्रह—ग्राहिष्यते। ग्रहीष्यते। अग्राहिष्यत। अग्रहीष्यत। ग्रहोऽलिटि दीर्घ इति प्रकृतस्येटो दीर्घत्वम् न त्वस्य। दृश—दर्शिष्यते। द्रक्ष्यते। अदर्शिष्यत। अद्रक्ष्यत। सिच्यजन्तानाम्—अचायिषाताम्। अचेषाताम्। अदायिषाताम्। अदिषाताम्। अशामिषाताम्। अशमिषाताम्। अशमयिषाताम्। हन्—अघानिषाताम्। अवधिषाताम्। अहसाताम्। ग्रह—अग्राहिषाताम्। अग्रहीषाताम्। दृश्—अदर्शिषाताम्। अदृक्षाताम्। सीयुटि अजान्तानाम्—चायिषीष्ट। चेषीष्ट। दायिषीष्ट। दासीष्ट। शामिषीष्ट। शमिषीष्ट। शमयिषीष्ट। हन्। घानिषीष्ट। वधिषीष्ट। ग्रह—ग्राहिषीष्ट। ग्रहीषीष्ट। दृश्—दर्शिषीष्ट। दृक्षीष्ट। तासावजन्तानाम्—चायिता। चेता। दायिता। दाता। शामिता। शमिता। शमयिता। हन्—घानिता। हन्ता। ग्रह—ग्राहिता। ग्रहीता।

दीङो युडचि क्ङिति ६।४।६३

प० वि०—दीङः ५।१ युट् १।१ अचि ७।१ क्ङिति ७।१

अर्थ—दीङो युडागमो भवति अजादौ क्ङिति प्रत्यये परतः।

❀ दीङ् इति पञ्चमीनिर्देशाद् अजादेर्युडागमो भवति ❀

(दीङ् के पश्चात् अजादि कित्ङित् को युट् का आगम होता है)

उदा०—उपदिदीये। उपदिदीयाते। उपदिदीयिरे।

आतो लोप इटि च ६।४।६४

प० वि०—आतः ६।१ लोपः १।१ इटि ७।१ च अ०।

अर्थ—[आर्धधातुके क्ङिति] इडादावार्धधातुके क्ङिति च आकारान्तस्याङ्गस्य लोपो भवति।

(अजादि आर्धधातुक और कित् ङित् प्रत्यय के परे रहने पर आकारान्त अङ्ग का लोप होता है)

उदा०—पपिथ। तस्थिथ। किति—पपतुः। पपुः। तस्थतुः। तस्थुः। गोदः। कम्बलदः। ङिति—प्रदा। प्रधा।

सि०—पा। पा लिट्। पा थल्। पा थ। पा इट् थ। प् इ थ। पा प् इ थ। प प् इ थ। पपिथ। प्र दा अङ्। प्रद टाप। प्रदा सु। प्रदा।

ईद्यति ६।४।६५

प० वि०—ईत् १।१ यति ७।१

अर्थ—[आतः] आकारान्तस्याङ्गस्य ईकारादेशो भवति यति परतः।

(आकारान्त अङ्ग को ईकार आदेश होता है, यत प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०—देयम्। धेयम्। हेयम्।

घुमास्थागापाजहातिसां हलि ६।४।६६

प० वि०—घु–मा–स्था–गा–पा–जहाति–साम् ६।३ हलि ७।१

अर्थ—घु-मा-स्था-गा-पा-हा-सा इत्येतेषामङ्गानाम् ईकारादेशो भवति हलादौ क्ङिति प्रत्यये परतः।

(घु (दा धा) मा, स्था, गा, पा, ओहाक् त्यागे षो अन्तकर्मणि इन अङ्गों को ईकार आदेश होता है हलादि कितङित् प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०—दीयते। धीयते। देदीयते। देधीयते। मीयते। मेमीयत। स्थीयते। तेष्ठीयते। गीयते। जेगीयते। पीयते पेपीयते। हीयते। जेहीयते। अवसीयते। अवसेसीयते।

एर्लिङि ६।४।६७

प० वि०—एः १।१ लिङि ७।१

अर्थ—[घुमास्थागापाजहातिसां क्ङिति] घुमास्थागापाजहातिसामङ्गानामेकारादेशो भवति लिङि क्ङिति परतः।

(कितङित लिङ् के परे रहने पर इन अङ्गों को एकार आदेश होता है)

उदा०–देयात्। धेयात्। मा माने। मेयात्। स्थेयात्। कैं गौ शब्दे। गेयात्। पेयात्। हेयात्। अवसेयात्। क्ङिति—इत्येव। दासीष्ट। धासीष्ट।

१–ऋतो भारद्वाजस्येति (७. २. ६३) नियमादिट्। २–द्विर्वचनेऽचि (१. १. ५८) ३—आतश्चोपसर्गे (३. ३. १०६)

वाऽन्यस्य संयोगादेः ६।४।६८

प० वि०—वा अ० । अन्यस्य ६।१ संयोगादेः ६।१

अर्थ—[एर्लिङि आतः] घ्वादिभ्योऽन्यस्य संयोगादेराकारान्तस्याङ्गस्य विकल्पेन एकारादेशो भवति लिङि क्ङिति ।

(घु इत्यादि से भिन्न अन्य आकारान्त अङ्गों का विकल्प से एकार आदेश होता है लिङ् कित्ङित प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०—ग्लायात् । ग्लेयात् । म्लायात् । म्लेयात् ।

न ल्यपि ६।४।६९

अर्थ—ल्यपि परतो घुमास्थागापाजहातिसां यदुक्तं तन्न भवति ।

(ल्यप् के परे रहने पर घ्वादि धातुओं को जो कहा गया सो नहीं होता)

उदा०—प्रदाय । प्रधाय । प्रमाय । प्रस्थाय । प्रगाय । प्रपाय । प्रहाय । अवसाय ।

लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः ६।४।७१

प० वि०—लुङ् लङ् लृङ्क्षु ७।३ अट् १।१ उदात्तः १।१

स०—लुंङ् च लङ् च लृङ् चेति लुङ् लङ् लृङः, तेषु ।

अर्थ—लुङ् लङ् लृङ् इत्येतेषु परतोऽङ्गस्य अडागमो भवति, उदात्तश्च स भवति । (इनके परे रहने पर अङ्ग को अट् का आगम होता है और वह उदात्त होता है)

उदा०—लुङ्—अकार्षीत् । अहार्षीत् । लङ्—अकरोत् । अहरत् । लृङ्—अकरिष्यत् । अहरिष्यत् ।

आडजादीनाम् ६।४।७२

प० वि०—आट् १।१ अजादीनाम् ६।३

अर्थ—[लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः] अजादीनामङ्गानामाडागमो भवति एतेषु परतः उदात्तश्च स भवति ।

(इनके परे रहने पर अजादि अङ्गों को आट् का आगम होता है और वह उदात्त होता है)

उदा०—लुङ्—ऐधिष्ट । लङ्—ऐधत । लृङ्—ऐधिष्यत ।

न माङ्योगे ६।४।७४

अर्थ—[लुङ् लङ् लृङ्क्षु] माङ्योगे लुङ् लङ् लृङ्क्षु यदुक्तं

तन्न भवति। (माङ् के योग में इनके परे रहने पर जो कुछ कहा गया है, सो नहीं होता है)

उदा०—मा भवान् कार्षीत्। मा स्म करोत्।

अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ ६।४।७७

प० वि०—अचि ७।१ श्नुधातुभ्रुवाम् ६।३ य्वोः ६।२ इयङ्वङौ १।२
स०—श्नुश्च धातुश्च भ्रूश्च श्नुधातुभ्रुवः तेषाम्। इश्च उश्चेति यू तयोः य्वोः। इयङ् च उवङ् च इयङुवङौ।

अर्थ—श्नु-धातु-भ्रू इत्येतेषाम् इवर्णोवर्णयोः स्थाने इयङ्-उवङ् इत्येतावादेशौ भवतोऽचि परतः। (श्नुप्रत्ययान्त इवर्णान्त उवर्णान्त धातु और भ्रू अङ्ग के इवर्ण और उवर्ण के स्थान में इयङ् और उवङ् आदेश होता है अजादि प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०—आप्नुवन्ति। धातोः—चिक्षियतुः। चिक्षियुः। लुलुवतुः। लुलुवुः। नियौ। नियः। लुवौ। लुवः। * क्विबन्तं धातुत्वं न जहाति इति परिभाषया धातुत्वम् भ्रू—भ्रुवौ। भ्रुवः।

सि०—आप्लृ। आप झि। आप् अन्ति। आप् श्नु अन्ति। आप् न् उवङ् अन्ति। आप्नुव् अन्ति। आप्नुवन्ति।

अभ्यासस्यासवर्णे ६।४।७८

प० वि०—अभ्यासस्य ६।१ असवर्णे ७।१॥

अर्थ—[य्वोरियङुवङौ अचि] अभ्यासस्येवर्णोवर्णान्तस्य असवर्णेऽचि परत इयङ् उवङ् इत्येतावादेशौ भवतः। (इवर्णान्त और उवर्णान्त अभ्यास को असवर्ण अजादि प्रत्यय के परे रहने पर इयङ् और उवङ् आदेश होता है)

उदा०—इयेष। उवोष।

सि०—इष्। इष् लिट्। इष् तिप्। इष् णल्। एष् अ। इष् एष् अ। इ एष् अ। इयङ् एष। इय् एष। इयेष॥ उष्॥ उवोष।

स्त्रियाः ६।४।७९

प० वि०—स्त्रियाः ६।१

अर्थ—[अचि इयङ्] स्त्री इत्येतस्याजादौ प्रत्यये परतः इयङादेशो भवति। (स्त्री शब्द को अजादि प्रत्यय के परे रहने पर इयङ् आदेश होता है)

उदा०—स्त्री। स्त्रियौ। स्त्रियः। स्त्रियम् स्त्रीम्। स्त्रियौ। स्त्रियः

स्त्रीः। स्त्रिया। स्त्रीभ्याम्। स्त्रीभिः। स्त्रियै। स्त्रीभ्याम्। स्त्रीभ्यः। स्त्रियाः। स्त्रीभ्याम्। स्त्रीभ्यः। स्त्रियाः। स्त्रियोः। स्त्रीणाम्। स्त्रियाम्। स्त्रियोः। स्त्रीषु। हे स्त्रि। हे स्त्रियौ। हे स्त्रियः॥

सि०—स्त्रियै। स्त्री ङे। स्त्री आट् ए। स्त्री आ ए। स्त्री ऐ। स्त्र् इयङ् ऐ। स्त्रिय् ऐ। स्त्रियै। स्त्रीणाम्। परत्वानुडागमः॥ ❀हलादौ नहि किञ्चिद् वैशिष्ट्यम् अमि शसि च अग्रिमेण सूत्रेण विकल्पः❀

वाऽम्शसोः ६।४।८०

प० वि०—वा अ०। अम्शसोः ७।२

अर्थ—[स्त्रियाः इयङ्] अमि शसि च परतो वा इयङादेशो भवति स्त्रियाः (अम् और शस् के परे रहने पर स्त्री शब्द को विकल्प से इयङ् आदेश होता है)

उदा०—स्त्रियम्। स्त्रीम्। स्त्रियः। स्त्रीः॥

इणो [यण्] ६।४।८१

एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य ६।४।८२

प० वि०—एः ६।१ अनेकाचः ६।१ असंयोगपूर्वस्य ६।१ न एक इति अनेकः। अनेकोऽच् यस्मिन् इति अनेकाच् तस्य अनेकाचः। अविद्यमानः संयोगः पूर्वः यस्मात् स असंयोगपूर्वः तस्य॥

अर्थ—[अचि धातोः यण्] असंयोगपूर्वस्यानेकाच इवर्णान्तस्य धातोरङ्गस्य यण् आदेशो भवति अचि परतः। (नहीं है संयोग पूर्व जिसका ऐसे अनेक अच् वाले इवर्णान्त धातु अङ्ग का यण् आदेश होता है अजादि प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०—निन्यतुः निन्युः। ग्रामण्यौ। ग्रामण्यः।

सि०—णीञ्। णी। नी लिट्। नी अतुस्। नी नी अतुस्। नि नी अतुस्। निन्य्अतुस्। निन्यतुः॥

हुश्नुवोः सार्वधातुके ६।४।८७

प० वि०—हुश्नुवोः ६।२ सार्वधातुके ७।१

अर्थ—[अनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य अचि यण्] हु इत्येतस्य अङ्गस्य श्नुप्रत्ययान्तस्यानेकाचोऽसंयोगपूर्वस्याजादौ सार्वधातुके परतो यणादेशो भवति। (हु और श्नु प्रत्ययान्त अनेक अच वाला जो असंयोग पूर्व उसका

यण् आदेश होता है अजादि सार्वधातुक प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०—जुह्वति । जुह्वतु । सुन्वन्ति । सुन्वन्तु ॥

भुवो वुग्लुङ्लिटोः ६।४।८८

प० वि०- भुवः ६।१ वुक् १।१ लुङ्लिटोः ७।२

अर्थ—[अचि] भुवो वुगागमो भवति लुङि लिटि चाजादौ परतः । (भू धातु को वुक् का आगम होता है लुङ् लिट् अजादि प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०—अभूवन् । अभूवम् । साधनं गातिस्थेति सूत्रे द्रष्टव्यम् । बभूव ।

ऊ[दुपधाया]गोहः ६।४।८९ दोषो[णौ]६।४।९०

मितां ह्रस्वः ६।४।९२

अर्थ—[उपधायाः णौ] मितां धातूनामुपधाया ह्रस्वो भवति णौ परतः । (मित् धातुओं की उपधा को ह्रस्व होता है, णिच् के परे रहने पर)

❀ के इमे मितो धातव इत्युच्यते—घटादयो मितः । जनीजृष्क्नसुरञ्जोऽमन्ताश्च । ज्वलह्वलह्मलूनगामनुपसर्गाद्वा । ग्लास्नावनुवमां च । न कम्यमिचमाम्❀

उदा०—घटयति । व्यथयति । जनयति ।

चिण्णमुलो दीर्घोऽन्यतरस्याम् ६।४।९३

प० वि०—चिण्णमुलोः ७।२ दीर्घः १।१ अन्यतरस्याम् अ० ।

अर्थ—[णौ मितां उपधायाः] चिण्परे णमुल्परे च णौ परतो मिताङ्गनामुपधाया दर्घो भवति अन्यतरस्याम् । (चिण् है परे जिसके और णमुल् है परे जिसके ऐसे णिच् के परे रहने पर मित् धातुओं के अङ्ग की उपधा को विकल्प से दीर्घ होता है)

उदा०—अशमि । अशामि । अतमि । अतामि । णमुल्—शमंशमम् । शामंशामम् ॥

खचि ह्रस्वः ६।४।९४

अर्थ—[णौ उपधायाः] खच्परे णौ परतः ह्रस्वो भवति अङ्गस्योपधायाः । (खच् परे णि के परे रहने पर अङ्ग की उपधा को ह्रस्व होता है)

उदा०—द्विषंतपः परंतपः ।

गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि ६।४।९८

प० वि०—गमहनजनखनघसाम् ६।३ लोपः १।१ क्ङिति ७।१ अनङि ७।१ स०—गमश्च हनश्च जनश्च खनश्च घश्चेति गमहनजनखनघसः तेषाम्। न अङ् इति अनङ् तस्मिन्।

अर्थ—[उपधायाः अचि लोपः] गह-हन-जन-खन-घस इत्येतेषामङ्गानामुपधाया लोपो भवति अजादौ क्ङिति अनङि परतः। (इन अङ्गों की उपधा का लोप होता है, अङ् भिन्न अजादि कित् ङित् प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०—जग्मतुः। जग्मुः। जघ्नतुः। जघ्नुः। जज्ञे। जज्ञाते। जज्ञिरे। चख्नतु। चख्नुः। जक्षतुः। जक्षुः। अनङि इति किम्। अगमत्। अघसत्।

सि०—गमॢ। गम् लिट्। गम् अतुस्। ग्म् अतुस्। गम्[1] ग्म् अतुस्। ग ग्म् अतुस्। जग्मतुस्। जग्मतुः। हन् अतुस्। ह् न् अतुस्। हन् ह् न् अतुस्। ह् ह् न् अतुस्। झ[2] ह् न् अतुस्। ज[3] ह् न् अतुस्। जघ्नतुस्[4]। जघ्नतुः। जन् लिट्। जन् त। जन् एश्। ज् न् ए। जन् ज् न् ए। ज ज्न् ए। ज ज् ञ्[5] ए। जज्ञ् ए। जज्ञे। अद् लिट्। घस्ॢ[6] लिट्। घस् अतुस्। घ्स् अतुस्। घस् घ्स् अतुस्। घ घ्स् अतुस्। झ घ्स् अतुस्। झ घ्ष् अतुस्। ज घ्स् अतुस्। जक्ष्[7] अतुस। जक्षतुस्। (जक्षतुः) अथवा घस्ॢ अदने इत्यस्यैतद्रूपम्।

घसिभसो[र्हलि] च ६।४।१००

हुझल्भ्यो हेर्धिः ६।४।१०१

प० वि०—हुझल्भ्यः ५।३ हेः ६।१ धिः १।१ स०—हुश्च झल् चेति हुझलः तेभ्यः।

अर्थ—[हलि] हु इत्येतस्माद् झलन्तेभ्यश्चोत्तरस्य हलादेर्हेः स्थाने धिः आदेशो भवति। (हु और झलन्त अङ्ग के पश्चात् हलादि हि के स्थान

१—द्विर्वचनेऽचि (१. १. ५८) २—कुहोश्चुः (७. ४. ६२) ३—अभ्यासे चर्चं (८. ४. ५४) ४—अभ्यासाच्च (७. ३. ५५) ५—स्तोः श्चुना श्चुः (८. ४. ३९) ६—लिट्यन्यतरस्याम् (२. ४. ४०) ७—शासिवसिघसीनाञ्च (८. ३. ६०)

में धि यह आदेश होता है)

उदा०—जुहुधि । भिन्द्धि । छिन्द्धि । हलि इति किम्—रुदिहि ।

चिणो लुक् ६।४।१०४

प० वि०—चिणः ५।१ लुक् १।१

अर्थ—चिण उत्तरस्य प्रत्ययस्य लुक् भवति ।

(चिण् के उत्तर प्रत्यय का लुक् होता है)

उदा०—अकारि । अहारि । चिण्भावकर्मणोरित्यत्र द्रष्टव्यम् ।

अतो हेः ६।४।१०५

प० वि०—अतः ५।१ हेः ६।१

अर्थ—[लुक्] अदन्तादङ्गाउत्तरस्य हेर्लुक् भवति ।

(अदन्त अङ्ग के पश्चात हि का लुक् होता है)

उदा०—पच । पठ । खाद ।

उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात् ६।४।१०६

प० वि०—उतः ५।१ च अ० । प्रत्ययात् ६।१ असंयोगपूर्वात् ५।१ स०—अविद्यमानः संयोगः पूर्वः यस्मात् स असंयोगपूर्वः तस्मात् ।

अर्थ—[हेर्लुक्] असंयोगपूर्वादुकारान्तात् प्रत्ययादङ्गादुत्तरस्य हेर्लुक् भवति । (नहीं है संयोग पूर्व जिसका ऐसे उकारान्त प्रत्यय के पश्चात् हि का लुक् होता है)

उदा०—चिनु । सुनु ।

लोपश्चस्यान्यतरस्यां म्वोः ६।४।१०७

प० वि०—लोपः १।१ च अ० । अस्य ६।१ अन्यतरस्याम् । अ० म्वोः ७।२ स०—मश्च वश्चेति म्वौ तयोः म्वोः ।

अर्थ—[उतः असंयोगपूर्वात्] सामर्थ्यात् षष्ठीभ्यां विपरिणम्येते एते पदे] अस्य असंयोगपूर्वस्योकारस्य प्रत्ययस्य अन्यतरस्यां लोपो भवति मकारादौ वकारादौ च प्रत्यये परतः । *लुगिति वर्तमाने लोप ग्रहणम् अन्त्यलोपार्थम्* (नहीं है संयोग पूर्व जिसका ऐसे उकारान्त प्रत्यय का विकल्प से लोप होता है मकारादि और वकारादि प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०—सुन्वः । सुनुवः । सुन्मः । सुनुमः । तन्वः । तनुवः । तन्मः । तनुमः ।

सि०—षुञ्। सु लट्। सु ल्। सु वस्। सु श्नु वस्। सु नु वस्। सुन्वः। सुनुवः।

नित्यं करोतेः ६।४।१०८

प० वि०—नित्यम् १।१ करोतेः ५।१

अर्थ—[उतः म्वोः] करोतेरुत्तरस्य उकारप्रत्ययस्य वकारमकारादौ प्रत्यये परतो नित्यं लोपो भवति। (कृ अङ्ग के पश्चात् उकार प्रत्यय का नित्य ही लोप होता है वकारादि और मकारादि प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०—कुर्वः। कुर्मः। ॐउकारलोपस्य दीर्घविधावस्थानिवद्भावाद् हलि चेति दीर्घत्वं प्राप्तं न भकुर्छुराम् इति प्रतिषिध्यतेॐ

ये च ६।४।१०९

प० वि०—ये ७।१ च अ०।

अर्थ—[उतः लोपः नित्यम्] करोतेरुत्तरस्योकारप्रत्ययस्य नित्यं लोपो भवति यकारादौ च प्रत्यये परतः। (कृ अङ्ग के पश्चात् उकार प्रत्यय का नित्य लोप होता है यकारादि प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०—कुर्यात्। कुर्याताम्। कुर्युः ॐविध्यादिलिङि अयं विधिः आशिषि तु रिङ्शयग्लिङ्क्षु इत्यनेन रिङादेशे कृते क्रियात्। क्रियास्ताम्। क्रियासुः इति रूपाणि भवन्तिॐ

अत उत्सार्वधातुके ६।४।११०

प० वि०—अतः ६।१ उत् १।१ सार्वधातुके ७।१

अर्थ—[करोतेः क्ङिति] करोतेरकारस्य स्थाने उकारादेशो भवति। सार्वधातुके क्ङिति परतः। (कृ अङ्ग के अकार के स्थान में उकारादेश होता है सार्वधातुक कित्ङित् प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०—कुरुतः। कुर्वन्ति।

सि०—सार्वधातुकमपित् इत्यत्र द्रष्टव्या॥

श्नसोरल्लोपः ६।४।१११

प० वि०—श्नसोः ६।२ अल्लोपः १।१ स०—श्नश्च अश्चेति श्नसौ तयोः श्नसोः (अकारस्य पररूपत्वम् शकन्ध्वादित्वात्) अतो लोपः अल्लोपः (ष० तत्पु०)

अर्थ—[सार्वधातुके क्ङिति] श्नस्यास्तेश्च अकारस्य लोपो भवति

सार्वधातुके क्ङिति परतः। (श्न और अस्ति के अकार का लोप होता है सार्वधातुक कित् ङित् प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०—रुन्द्धः रुन्धः। रुन्धति। भिन्तः। भिन्दन्ति॥ अस्तेः—स्तः। सन्ति। स्थः। स्थ। स्वः। स्मः॥

श्नाभ्यस्तयोरातः ६।४।११२

प० वि०—श्नाभ्यस्तयोः ६।२ आतः ६।१

अर्थ—[सार्वधातुके क्ङिति लोपः] श्ना अभ्यस्त इत्येतयोराकारस्य लोपो भवति सार्वधातुके क्ङिति। (श्ना और अभ्यस्त आकार का लोप होता है सार्वधातुक कित् ङित् प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०—लुनते। लुनताम्। अलुनत। पुनते। पुनताम्। अपुनत। अभ्यस्तस्य—मिमते। मिमताम्। अमिमत। संजिहते। संजिहताम्। समजिहत॥

सि०—लूञ्। लू लट्। लू झ। लू श्ना झ। लू ना अत[1]। लुन्[2] अत। लुनत। लुनते। लू लोट्। लू श्ना झ। लु ना अत। लुन् अत। लुनत। लुनते। लुनत् आम्[3]। लुनताम्। लूञ् लङ्। अट् लू श्ना झ। अ लु न् अत। अलुनत॥ माङ् माने। मा लट्। मा झ। मा मा झ। म मा अत। म म् अत। म मत। मि[4] मत। मिमते॥ ओहाङ् गतौ इत्यस्य रूपम् संजिहते इति॥

ई हल्यघोः ६।४।११३

प० व०—ई १।१ हलि ७।१ अघोः ६।१ स०—न घुः इति अघुः तस्य अघोः

अर्थ—[श्नाभ्यस्तयोरातः सार्वधातुके क्ङिति] श्ना-अभ्यस्तयोरातः स्थाने ईकारादेशो भवति हलादौ सार्वधातुके क्ङिति। (श्ना और अभ्यस्त अङ्ग के आकार के स्थान में ईकार आदेश होता है सार्वधातुक हलादि कित ङित प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०—लुनीतः। लुनीथः। पुनीतः। पुनीथः। अभ्यस्तानाम्—मिमीते। मिमीषे। मिमीध्वे। संजिहीते। संजिहीषे। संजिहीध्वे। हलि इति किम्—लुनन्ति। पुनन्ति॥

१—आत्मनेपदेष्वनतः (७. १. ५) २—प्वादीनां ह्रस्वः (७. ३. ८०) ३—आमेतः (३. ४. ९०) ४—भृञामित् (७. ४. ७६)

[इद्]दरिद्रस्य ६।४।११४

भियोऽन्यतरस्याम् ६।४।११५

प० वि०—भियः ६।१ अन्यतरस्याम् अ०।

अर्थ—[सार्वधातुके हलि क्ङिति इत्] भी इत्येतस्य अङ्गस्यान्यतरस्याम् इकारादेशो भवति सार्वधातुके हलादौ क्ङिति परतः।

(भी इस अङ्ग का इकार आदेश होता है विकल्प से सार्वधातुक हलादि कित ङित प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०—बिभितः। बिभीतः। बिभिथः। बिभीथः। बिभिवः। बिभीवः। बिभिमः। बिभीमः। हलि इति किम्—बिभ्यति। क्ङितीति किम्—बिभेति॥

जहातेश्च ६।४।११६

प० वि०—जहातेः ६।१ च अ०।

अर्थ—[सार्वधातुके हलि क्ङिति इत् अन्यतरस्याम्] जहातेश्च इकारादेशो भवति अन्यतरस्यां सार्वधातुके हलादौ क्ङिति।

(ओहाक् त्यागे अङ्ग को इकारादेश होता है विकल्प से सार्वधातुक हलादि कित् ङित प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०—जहितः। जहीतः। जहिथः। जहीथः। हलावित्येव जहति। हा भि॥ क्ङितीत्येव। जहाति। सार्वधातुक इत्येव। हीयते। जेहीयते॥

आ च हौ ६।४।११७

प० वि०—आ १।१ च अ०। हौ ७।१

अर्थ—[इत् अन्यतरस्याम् जहातेः] जहातेराकारश्चान्तादेशो भवति इकारश्चान्यतरस्यां हौ परतः। पक्षे ई। (ओहाक् त्यागे अङ्ग को आकार और इकार अन्तादेश, विकल्प से होता है हि के परे रहने पर और पक्ष में ईकार)

उदा०—जहाहि। जहिहि। जहीहि। भट्टिकाव्ये—"जहिहि जहीहि जहाहि रामभार्याम्"।

लोपो यि ६।४।११८

प० वि०—लोपः १।१ यि ७।१

अर्थ—[जहातेः क्ङिति सार्वधातुके] जहातेर्लोपो भवति यकारादौ सार्वधातुके क्ङिति परतः। (ओहाक् अङ्ग का लोप होता है सार्वधातुक

यकारादि कित् ङित् प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०--जह्यात् । जह्याताम् । जह्युः । ❀विध्यादौ लिङि अयं विधिः न तु आशिषि तस्यार्धधातुकत्वात् तत्र तु हेयात् । हेयास्ताम् । हेयासुः । हेयाः । हेयास्तम् । हेयास्त । हेयासम् । हेयास्व । हेयास्म । एर्लिङि इत्येत्वम्❀

घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च ६।४।११९

प० वि०—घ्वसोः ६।२ एत् १।१ हौ ७।१ अभ्यासलोपः १।१ च अ० ।

अर्थ—घु-अस् इत्येतयोरेकारादेशो भवति हौ परतोऽभ्यासलोपश्च । (घु संज्ञक और अस् अङ्ग का एकार आदेश होता है हि के परे रहने पर और अभ्यास का लोप भी होता है)

उदा०--❀लोपश्चेत्यत्र द्वौ शकारौ निर्दिष्टौ । तत्रैको लोपस्य सम्बन्धी । द्वितीयस्तु विभक्तेः अत एव लोपश् इत्यत्र लोपश्श् इत्येव विज्ञेयम् । तथा च सति लोपस्य शित्त्वात् सर्वस्य अभ्यासस्य लोपो भवति, न अलोऽन्त्यस्य❀ देहि । धेहि । अस्तेः । एधि ।

सि०--❀दाञ्धाञोरेते रूपे । अन्येषां तु घुसंज्ञकानामुदाहरणं न सम्भवति । विकरणेन हेर्व्यवधानात्❀ अस् लोट् । अस् हि । स्[1] हि । ए हि । ए धि[2] ।❀ सकारस्य एत्वे कृते असिद्धवदत्राभात् अधिकारसूत्रेण तस्य एत्वस्यासिद्धत्वात् हुझल्भ्योहेर्धिरिति धिभावः❀

अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि ६।४।१२०

अतः ६।१ एकहल्मध्ये ७।१ अनादेशादेः ६।१ लिटि ७।१ स०—एकशब्दोऽयमसहायवाची । एकश्च एकश्च एकौ । एकौ च तौ हलौ च इत्येकहलौ । एकहलोर्मध्ये इति द्विवचनान्तस्य षष्ठीसमासः ।। अविद्यमान आदेशः आदिर्यस्येति अनादेशादिः तस्य अनादेशादेरङ्गस्य ।।

अर्थ--[क्ङिति एत् अभ्यासलोपश्च] अनादेशादेरङ्गस्य असहाययोर्हलोर्मध्ये वर्तमानस्य एकारादेशो भवति लिटि क्ङिति परतोऽभ्यासलोपश्च । (नहीं हुआ है आदि आदेश में जिसके ऐसे अङ्ग के असहाय हलों के बीच में वर्तमान अकार के स्थान में एकार आदेश होता है और अभ्यास का

१—श्नसोरल्लोपः (६. ४. २३) २—असिद्धवदत्राभात् (६. ४. २२) हुझल्भ्यो हेर्धिः (६. ४. १०१)।

लोप भी, लिट् कित् ङित् प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०—रेणतुः। रेणुः। येमतुः। येमुः। पेचतुः। पेचुः॥

सि०—रण शब्दार्थे, यम उपरमे॥ पच् लिट्। पच् पच् अतुस्। पेच् अतुस। पेचतुः।

थलि च सेटि ६।४।१२१

प० ०—थलि ७।१ च अ०। सेटि ७।१

अर्थ—[सर्वं सूत्रमनुवर्त्तते] अनादेशादेरङ्गस्य असहाययोर्हलोर्मध्ये-वर्तमानस्याकारस्य स्थाने एकारादेशो भवति सेटि थलि परतोऽभ्यास-लोपश्च। (इट् के साथ थल् के परे रहने पर अनादेशादि अङ्ग के असहाय हलों के बीच में वर्तमान अकार के स्थान में एकार आदेश होता है और अभ्यास का लोप भी होता है)

उदा०—पेचिथ। शेचिथ। सेटीति किम्—पपक्थ॥

सि०—पच् लिट्। पच् थल्। पच् इट्[1] थ। पच् पच् इथ। पेच् इथ। पेचिथ।

अर्वणस्त्रसावनञः ६।४।१२८

मघवा बहुलम् ६।४।१२८

प० वि०- मघवा (षष्ठ्यर्थे प्रथमा) बहुलम् १।१

अर्थ—[तृ] मघवन्शब्दस्य बहुलं तृ इत्ययमादेशो भवति।

(मघवन् अङ्ग का बहुल करके तृ यह आदेश होता है)

उदा०—मघवान्। मघवन्तौ। मघवन्तः। मघवन्तम्। मघवन्तौ। मघवतः। मघवता। मघवद्भ्याम्। मघवद्भिः। मघवते। मघवद्भ्याम्। मघवद्भ्यः। मघवतः। मघवद्भ्याम्। मघवद्भ्यः। मघवतः मघवतोः। मघवताम्। मघवति। मघवतोः। मघवत्सु। हे मघवन्। हे मघवन्तौ। हे मघवन्तः। न च भवति। मघवा। मघवानौ। मघवानः। मघवानम्। मघवानौ। मघोनः। मघोना। मघवभ्याम्। मघवभिः। मघोने। मघवभ्याम्। मघवभ्यः। मघोनः। मघवभ्याम्। मघवभ्यः। मघोनः। मघोनोः। मघोनाम्। मघोनि। मघोनोः। मघवसु। हे मघवन्। हे मघवानौ। हे मघवानः।

सि०—मघवन्। मघवतृ। मघवत्। मघवान्। इतोऽग्रे सर्वेषां

1—क्र्यादिनियमादिट्

रूपाणां साधनं निष्ठेति[1] सूत्रे द्रष्टव्यम् । मघवा इत्यत्र तु मघवन् सु । मघवन् स् । मघवान् । मघवा । मघोनः । इत्यत्र तु मघवन् शस् । मघवन् अस् । मघ उ[2] अन् अस् । मघ उन्[3] अस् । मघोन्[4] अस् । मघोनः । एवं सर्वं साधनं पुनः पुनः अभ्यसनीयम् ।

वस्तुतस्तु द्विविधमेतच्छब्दरूपम् एकमौणादिकं कनिन् प्रत्ययान्तं मघवन् प्रातिपदिकम्, तस्य अनन्तप्रातिपदिकवत् रूपाणि, अजादौ सुपि तु 'श्वयुवमघोनामतद्धिते' इति सम्प्रसारणम् । अपरं मघमस्यास्तीति मघवत् मतुप्प्रत्ययान्तम्, तस्य अन्यमतुप्प्रत्ययान्तवद्रूपाणि द्रष्टव्यानि । एवं च सति विनाप्येतत्सूत्रेणोभयप्रकारकाणि रूपाणि सिद्ध्यन्ति इति मीमांसकाः ।

भस्य ६।४।१२९

अर्थ—इतोऽग्रे आ अध्यायपरिसमाप्तेः वक्ष्यमाणानि कार्याणि अङ्गस्य भस्य भवन्ति इत्यधिकारो वेदितव्यः ।

(यहां से आगे कहे जाने वाले, अध्याय की परिसमाप्ति तक, कार्य भसंज्ञक के होते हैं, इस बात का अधिकार समझना चाहिए)

वसोः सम्प्रसारणम् ६।४।१३१

प० वि०—वसोः ६।१ सम्प्रसारणम् १।१

अर्थ—वस्वन्तस्य भस्य सम्प्रसारणं भवति ।

(वसु है अन्त में जिसके ऐसे भसंज्ञक अङ्ग का संप्रसारण होता है)

उदा०—विद्वान् । विद्वांसौ । विद्वांसः । विद्वांसम् । विद्वांसौ । विदुषः । विदुषा । विद्वद्भ्याम् । विद्वद्भिः । विदुषे । विद्वद्भ्याम । विद्वद्भ्यः । विदुषः । विद्वद्भ्याम् । विद्वद्भ्यः । विदुषः । विदुषोः । विदुषाम् । विदुषि । विदुषोः । विद्वत्सु । हे विद्वन् । हे विद्वांसौ । हे विद्वान्सः ॥

१—सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ (६. ४. ८) २—स्वादिष्वसर्वनामस्थाने (१. ४. १७) यचि भम् (१. ४. १८) भस्य (६. ४. १२९) श्वयुवमघोनामतद्धिते (६. ४. १३३) इग्यणः सम्प्रसारणम् (१. १. ४५) ३—परः सन्निकर्षः संहिता (१. ४. १०७) संहितायाम् (६. १. ७०) एकः पूर्वपरयोः (६. १. ८१) अमि पूर्वः (६. १. १०३) सम्प्रसारणाच्च (६. १. १०४) ४—आद्गुणः ६. १. ८४)

सि०—विद्वान् । विद् शतृ[1] । विद् वसु[2] । विद्वस् । विद्वस् सु । विद्वास्[3] सु । विद्वा नुम्[4] स् स् । विद्वान्स् । विद्वान् । विदुषः । विद्वस् शस् । विद्वस् अस् । विद् उ[5] अस् अस् । विद् उस्[6] अस् । विदुस् अस् । विदुष्[7] अस् । विदुषः । विद्वस् भ्याम् । विद्वद्[8] भ्याम् । विद्वद्भ्याम् । विद्वत्सु । विद्वस् सुप् । विद्वद्[8] सु । विद्वत्[9] सु । विद्वत्सु । अन्यत्सर्वं साधनमुच्चारणमात्रेण सरलतया एव कर्त्तव्यम् ।

श्वयुवमघोनामतद्धिते ६।४।१३३

प० वि०—श्वयुवमघोनाम् ६।३ अतद्धिते ७।१

अर्थ-[अल्लोपोऽनः इत्यतः अन अपकृष्यते] अन्नन्तानां भसंज्ञकानां श्वन्-युवन्-मघवन्-इत्येषामङ्गानामतद्धिते सम्प्रसारणं भवति ।

(अन् है अन्त में जिसके ऐसे भ संज्ञा वाले श्वन्, युवन् और मघवन् अङ्गों का तद्धित भिन्न प्रत्यय के परे रहने पर सम्प्रसारण होता है)

उदा०—श्वा । श्वानौ । श्वानः । श्वानम् । श्वानौ । शुनः । शुना । श्वभ्याम् । श्वभिः । शुने । श्वभ्याम् । श्वभ्यः । शुनः । श्वभ्याम् । श्वभ्यः । शुनः । शुनोः । शुनाम् । शुनि । शुनोः । श्वसु । हे श्वन् । हे श्वानौ । हे श्वानः । युवा । युवानौ । युवानः । युवानम् । युवानौ । यूनः । यूना । युवभ्याम् । युवभिः । यूने । युवभ्याम् । युवभ्यः । यूनः । युवभ्याम् । युवभ्यः । यूनः । यूनोः । यूनाम् । यूनि । यूनोः । युवसु ।। हे युवन् । युवानौ । युवानः ।

सि०—श्वा इत्यस्य साधनं मघवा इतिवत् कर्त्तव्यम् । शुनः इत्यत्र श्वन् शस् । श्वन् अस् । श् उ अन् अस् । शुन् अस् । शुनः । यून इत्यत्र तु युवन् शस् । युवन् अस् । यु उ अन् अस् । यु उन् अस् । यून् अस् । यूनः

१—लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे (३. २. १२४) २—विदेः शतुर्वसुः (७. १. ३६) ३—अत्वसन्तस्य चाधातोः (६. ४. १४) ४—उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः (७. १. ७०) मिदचोऽन्त्यात्परः (१. १. ४६) ५—स्वादिष्वसर्वनामस्थाने (१. ४. १७) यचि भम् (१. ४. १८) भस्य (६. ४. १२९) वसोः सम्प्रसारणम् (३. ४. १३१) इग्यणः सम्प्रसारणम् (१. १. ४५) ६—सम्प्रसारणाच्च (६.१. १०४) ७—आदेशप्रत्यययोः (८.३.५९) ८—वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः (८.२. ७२) ९—खरि च (८. ४. ५५)

अल्लोपोऽनः ६।४।१३४

प० वि०—अल्लोप: १।१ अन: ६।१ स०—अत: लोप: अल्लोप: ।

अर्थ—अनन्तस्य भस्य अकारलोपो भवति । (अन् है अन्त में जिसके ऐसे भसंज्ञकअङ्ग के अकार का लोप होता है)

उदा०—(राजा । राजानौ । राजान: । राजनम् । राजानौ) राज्ञ: राज्ञा । राजभ्याम् । राजभि: । राज्ञे । राजभ्याम् । राजभ्य: । राज्ञ: । राजभ्याम् । राजभ्य: । राज्ञ: । राज्ञो: । राज्ञाम् । राज्ञि । राजनि । राज्ञो: । राजसु । हे राजन् । हे राजानौ । हे राजन: । तक्षा । तक्षाणौ । तक्षाण: ।। तक्ष्णाम् । तक्ष्णो । तक्ष्ण: ।

सि०—राज्ञ: । राजन् शस् । राजन् अस् । राज्न् अस् । राज् ञ्[1] अस् । राज्ञ् अस् । राज्ञस् । राज्ञ: ।।

विभाषा ङिश्योः ६।४।१३६

प० वि०—विभाषा १।१ ङिश्यो: ७।२ स०—ङिश्च शीश्चेति ङिश्यौ तयो: ङिश्यो: ।

अर्थ—[अन: अल्लोप:] ङिश्यो: अनो विभाषा अकारलोपो भवति । (ङि और शी के परे रहने पर अनन्त जो अङ्ग उसके अकार का लोप विकल्प से होता है)

उदा०—राज्ञि, राजनि । साम । सामनी । साम्नी । (सामानि) । साम । सामनी । साम्नी । (सामानि) । अन्यत्सर्वं राजन् इतिवत् । सप्तम्यामपि तथैव सामनि । साम्नि इति । (हे साम । हे सामन्) ।

सि०—सामन् औ । सामन् शी । सामन् ई । साम्न् ई । साम्नी । सामन् ई । सामान् ई । सामानी । हे सामन् । हे साम[2] ।

न संयोगाद्वमन्तात् ६।४।१३७

प० वि०—न अ० । संयोगात् ५।१ वमन्तात् ५।१ स०—वश्च मश्चेति वमौ । अन्तश्च अन्तश्चेति अन्तौ । वमौ अन्तौ यस्य तत् वमन्तं तस्मात् वमन्तात् ।

अर्थ—[अल्लोपऽनः] वकारान्तात् मकारान्तात् संयोगादुत्तरस्य अनोऽकारस्य लोपो न भवति । (वकार और मकार है अन्त में जिसके ऐसे संयोग के पश्चात् अन् के अकार का लोप नहीं होता).

१—स्तो: श्चुना श्चु: (८. ४. ३९) २—वा नपुंसकानाम (८. २. ८ वा०)

उदा०—(यज्वा । यज्वानौ । यज्वानः । यज्वानम् । यज्वानौ) यज्वनः । यज्वना । यज्वभ्याम् । यज्वभिः । मकारान्तात्—(आत्मा । आत्मानौ । आत्मानः । आत्मानम् । आत्मानौ) आत्मनः । आत्मना । आत्मभ्याम् । आत्मभिः । आत्मने । आत्मभ्याम् । आत्मभ्यः । आत्मनः । आत्मभ्याम् । आत्मभ्यः । आत्मनः । आत्मनोः । आत्मनाम् । आत्मनि । आत्मनोः । आत्मसु । हे आत्मन् । हे आत्मानौ । हे आत्मानः ।

आतो धातोः ६।४।१४०

प० वि०—आतः ६।१ धातोः ६।१

अर्थ—[लोपः] आकारान्तस्य धातोर्भस्य लोपो भवति ।

(भसंज्ञक आकारान्त धातु का लोप होता है)

उदा०—(सोमपाः । सोमपौ । सोमपाः । सोमपाम् । सोमपौ) सोमपः । सोमपा । सोमपाभ्याम् । सोमपाभिः । सोमपे । सोमपाभ्याम् । सोमपाभ्यः । सोमपः । सोमपाभ्याम् । सोमपाभ्यः । सोमपः । सोमपोः । सोमपाम् । सोमपि । सोमपोः । सोमपासु । हे सोमपाः । हे सोमपौ । हे सोमपाः ।

सि०—सोमपः । सोमपा शस् । सोमप्[1] अस् । सोमपस । सोमपः ।

ति विंशतेर्डिति ६।४।१४२

प० वि०—ति (लुप्तषष्ठीकम्) विंशतेः ६।१ डिति ७।१

अर्थ—[लोपः] भस्य विंशतेस्तिशब्दस्य लोपो भवति डिति प्रत्यये परत । (भसंज्ञक विंशति के ति शब्द का लोप होता है डित् प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०—विंशकः । विंशं शतम् । एकविंशं शतम् ।

सि०—विंशत्या क्रीतः विंशकः । विंशति टा ड्वुन्[2] । विंशति वु । विंशति अक । विंश अक । विंशक[3] । विंशक सु । विंशकः । विंशम्[2] । विंशतिरधिका अस्मिन् शते इति विंशं शतम् । एकविंशतिरधिका अस्मिन् शते इति एकविंशं शतम् । विंशति ड[4] । विंशति अ । विंश अ । विंश अ । विंश[3] सु । विंश अम् । विंशम् । एकविंशम् ।

१—क्विबन्तं धातुत्वं न जहाति इत्यत एव धातुत्वम् । २—विंशतित्रिंशद्भ्यां ड्वुन्नसंज्ञायाम् (५. १. २४) ३—अतो गुणे (६. १. ९४) ४—शदन्तविंशतेश्च (५. २. ४६)

टेः ६।४।१४३

प० वि०—टेः ६।१

अर्थ—[डिति लोपः] [भसंज्ञकस्याङ्गस्य टेः लोपो भवति डिति प्रत्यये परतः। (भसंज्ञक अङ्ग की टि का लोप होता है डित् प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०—कति।

सि०—किमः संख्यापरिमाणे डति च इत्यत्र द्रष्टव्यम्।]

नस्तद्धिते ६।४।१४४

प० वि०—नः ६।१ तद्धिते ७।१

अर्थ—[टेः लोपः] नकारान्तस्य भस्य टेर्लोपो भवति तद्धिते परतः। (नकारान्त भसंज्ञक अङ्ग की टि का लोप होता है तद्धित के परे रहने पर)

उदा०—अग्निशर्मणोऽपत्यम् आग्निशर्मिः।

सि०—अग्निशर्मन् इञ्। अग्निशर्म् इ। आग्निशर्म् इ। आग्निशर्मि सु। आग्निशर्मिः।

अह्नष्टखोरेव ६।४।१४५

प० वि०—अह्नः ६।१ टखोः ७।२ एव अ०।

अर्थ—[टेः लोपः] अहन् इत्येतस्य टखोरेव परतष्टेर्लोपो भवति। (अहन् शब्द की टि का लोप होता है ट और ख के ही परे रहने पर ही)

उदा०—द्व्यहः। त्र्यहः। अहीनः क्रतुः।

सि०—अह्नां समूहः क्रतुः अहीनः क्रतु। अहन् ख × अह्नः समूहे खो वक्तव्यः × अहन् ईन। अह् ईन। अहीन सु। अहीनः।

ओर्गुणः ६।४।१४६

प० वि०—ओः ६।१ गुणः १।१

अर्थ—[तद्धिते] उवर्णान्तस्य भस्य गुणो भवति तद्धिते परतः। (उवर्णान्त भसंज्ञक अङ्ग का गुण होता है तद्धित के परे रहने पर)

उदा०—औपगवः। साधनं वृद्धिरादैच् इत्यत्र द्रष्टव्यम्।

ढे लोपोऽकद्र्वाः ६।४।१४७

प० वि०—ढे ७।१ लोपः १।१ अकद्र्वाः ६।१

अर्थ—[उः] उवर्णान्तस्य भस्य अकद्रवाः लोपो भवति ढे परतः।

(ढ प्रत्यय के परे रहने पर उवर्णान्त भसंज्ञ अङ्ग का लोप होता है, कद्रू शब्द को छोड़ कर)

उदा०—कामण्डलेयः। शैतवाहेयः।

सि०—कमण्डलु ढञ्[1]। कमण्डल् एय। कामण्डल् एय। कामण्डलेयः।

यस्येति च ६।४।१४८

प० वि०—यस्य ६।१ ईति ७।१ च अ०। स०—इश्च अश्च इति यम् तस्य यस्य।

अर्थ—[तद्धिते] इवर्णान्तस्य अवर्णान्तस्य च भस्य अङ्गस्य ईकारे तद्धिते च परतो लोपो भवति। (इवर्णान्त और उवर्णान्त भसंज्ञक अङ्ग का लोप होता है ईकार और तद्धित के परे रहने पर)

उदा०—इवर्णान्तस्य ईकारे—दाक्षी। प्लाक्षी। इवर्णान्तस्य तद्धिते—दौलेयः। अवर्णान्तस्य ईकारे—गौरी। कुमारी। अवर्णान्तस्य तद्धिते—दाक्षिः। प्लाक्षिः।

दाक्षी। दाक्षि ङीष्[2]। दाक्षि ई। दाक्ष् ई। दाक्षी सु। दाक्षी। दुलि ढक्[3]। दुलि ढ। दुलि एय। दुल् एय। दौल् एय। दौलेय सु। दौलेयः। गौर ङीष्[4] गौर् ई। गौरी सु। गौरी। दक्षस्य अपत्यम् दाक्षिः। दक्ष इञ्[5]। दक्ष् इञ्। दाक्ष् इ। दाक्षि सु। दाक्षिः।

सूर्यतिष्यागस्त्यमत्स्यानां [य उपधायाः] ६।४।१४९

हलस्तद्धितस्य च ६।४।१५०

प० वि०—हलः ५।१ तद्धितस्य ६।१ च अ०।

अर्थ—[उपधायाः यः लोपः ईति] भसंज्ञकस्याङ्गस्य हल उत्तरस्य तद्धितस्य यकारस्य उपधाया ईति परतो लोपो भवति। (भसंज्ञक अंग के हल् तद्धित के यकार की उपधा का लोप होता है ईकार के परे रहने पर)

उदा०—गार्गी। वात्सी।

सि०—गर्ग यञ्। गर्ग् य। गार्ग्य ङीप्[6]। गार्ग्य ई। गार्ग् य् ई।

१—चतुष्पाद्भ्यो ढञ् (४. १. १३५) २—इतो मनुष्यजातेः (४. १. ६५) ३—इतश्चानिञः (४. १. ११२) ४—षिद्गौरादिभ्यश्च (४. १. ४१) ५—अत इञ् (४. १. ९५) ६—यञश्च (४. १. १६)

गार्गी सु । गार्गी ।

तुरिष्ठेमेयस्सु ६।४।१५४

प० वि०—तुः ६।१ इष्ठेमेयस्सु ७।३

अर्थ—तृ इत्येतस्याङ्गस्य इष्ठन् इमनिच् ईयसुन् इत्येतेषु परतो लोपो भवति । (तृ इस अङ्ग का लोप होता है इष्ठन् इमनिच् और ईयसुन् प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०—आसुतिं करिष्ठः । विजयिष्ठः । दोहीयसी धेनुः ।

❀ इमनिग्ग्रहणमुत्तरार्थम् इतरौ तु तुश्छन्दसीति भवतः ❀

सि०—करिष्ठः । कृ तृन् । कर्तृ इष्ठन्[1] । कर् इष्ठ । करिष्ठ सु । करिष्ठः । विजि तृन् । विजेतृ । विजेतृ इष्ठन्[2] । विजे इष्ठ । विजय इष्ठ । विजयिष्ठ सु । विजयिष्ठः । दुह तृच् । दोह् तृ ङीप् ईयसुन्[1] । दोह्[3] तृ ईयस् । दोहीयस् ङीप्[3] । दोहीयसी सु । दोहीयसी ।

❀ लोपविधिः सर्वविधिभ्यो बलीयान् इति पूर्वं लोपः प्रवर्तते न तु दादेर्धातोर्घः इति घत्वम् तेन पूर्वं लोपे कृते घत्वं न भवति निमित्ताभावात् ।

टेः ६।४।१५४

प० वि०—टेः ६।१

अर्थ—[इष्ठेमेयस्सु लोपः] भस्य टेर्लोपो भवति इष्ठन् इमनिच् ईयसुन इत्येतेषु परतः । (इन प्रत्ययों के परे रहने पर भसंज्ञक टि का लोप होता है)

उदा०—पटु । पटिष्ठः । पटिमा । पटीयान् । लघु । लघिष्ठः । लघिमा । लघीयान् । × णाविष्ठवत्प्रातिपदिकस्य कार्यं भवतीति वक्तव्यम् × पटुमाचष्टे पटयति ।

सि०—पटु इमनिच्[4] । पट् इमन् । पटिमन् सु । पटिमान् स् । पटिमान् । पटिमा । पटिमानौ । पटिमानः ।

ज्यादादीयसः ६।४।१६०

प० वि०—ज्यात् ५।१ आत् १।१ ईयसः ६।१

१—तुश्छन्दसि (५. ३. ५९) २—अतिशायने तमबिष्ठनौ (५. ३. ५५) उगितश्च (४. १. ६) ३—भस्याढे तद्धिते इति पुंवद्भावे कृते तुरिष्ठेमेयस्स्वति तृचो निवृतिः । ४—पृथ्वादिभ्य इमनिज् वा (५. १. १२२)

अर्थ—ज्यादुत्तरस्य ईयस आकार आदेशो भवति।
(ज्य के पश्चात् ईयस् का आकार आदेश होता है)

उदा०—ज्या ईयसुन्। ज्या आयस्[1]। ज्यायस्[2]। ज्यायास् सु। ज्यायास् सु। ज्यायान्स्। ज्यायान्। ज्यायांसौ। ज्यायासः।

प्रकृत्यैकाच् ६।४।१६३

प० वि०—प्रकृत्या ३।१ एकाच् १।१

अर्थ—[इष्ठेमेयस्सु] एकाज् भसंज्ञकं प्रकृत्या भवति इष्ठेमेयस्सु परतः (एक अच् वाला भसंज्ञक अंग प्रकृति से रह जाता है इन प्रत्ययों के परे रहने पर)

उदा०—स्रजिष्ठः। स्रजीयान्।

सि०—स्रग्विन्[3] इष्ठन्। स्रज्[4] इष्ठन्। स्रजिष्ठ सु। स्रजिष्ठः।

इनण्यनपत्ये ६।४।१६४

प० वि०—इन् १।१ अणि ७।१ अनपत्ये ७।१

अर्थ—[प्रकृत्या] इन्नन्तम् अनपत्ये अणि परतः प्रकृत्या भवति।
(इन्नन्त भसंज्ञक अङ्ग अपत्य से भिन्न अर्थ में अण् के परे रहने पर प्रकृति से रह जाता है)

उदा०—सांकूटिनम्। सांराविणम्। कूट दाहे। रु शब्दे।

सि०—सम् कूट् इनुण्[5]। संकूटिन् अण्[6]। सांकूटिनम्।

गाथिविदथिकेशिगणिपणिनश्च ६।४।१६५

प० वि०—गाथिविदथिकेशिगणिपणिनः १।३ च अ०।

अथ—[अणि प्रकृत्या] गाथिन्, विदथिन्, केशिन्, गणिन्, पणिन् इत्येते च अणि प्रकृत्या भवन्ति। ये भसंज्ञक अङ्ग अण् के परे रहने पर प्रकृति से रहते हैं)

उदा०—गाथिनोऽपत्यम् गाथिनः। वैदथिनः। कैशिनः। गाणिनः। पाणिनः। ❀ अपत्यार्थोऽयमारम्भः ❀

१—आदेः परस्य (१. १.) २—प्रकृत्यैकाच् (४. ३. १६२) अकः सवर्णे दीर्घः (६. १.) ३—अस्मायामेधास्रजो विनिः (५. २. १२१) ४—विन्मतोर्लुक् (५. ३. ६५) प्रकृत्यैकाच् (६. ४. १६२) ५—अभिविधौ भाव इनुण् (३. ३. ४३) ६—अणिनुणः (५. ४. १५)

संयोगादिश्च ६।४।१६६

अर्थ—[इनणि प्रकृत्या] संयोगादिश्च इनणि प्रकृत्या भवति ।

(संयोग है आदि जिस का ऐसा इन्नन्त, अण् के परे, रहने पर प्रकृति से रहता है)

उदा०—शाङ्खिनोऽपत्यं, शाङ्खिनः । माद्रिणः । वाज्रिणः ।

❀ अयमपि अपत्यार्थः । शङ्खमद्रवज्रशब्देभ्यो मत्वर्थे इनिः । तदन्तादण् ❀

अन् ६।४।१६७

अर्थ—[प्रकृत्या अणि] अन्नन्तमणि प्रकृत्या भवति ।

(अन्नन्त प्रकृति से रहता है अण् प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०—❀ सामान्येनाण्मात्रे विधिः अपत्ये अनपत्ये च ❀

सि०—सामन इदम्[1] सामन् अण् । सामनः ।

ये चाभावकर्मणोः ६।४।१६८

प० वि०—ये ७।१ च अ० । अभावकर्मणोः ।

अर्थ—[तद्धिते] यकारादौ च तद्धितेऽभावकर्मणोरर्थयोरन् प्रकृत्या भवति । (भाव और कर्म अर्थ को छोड़कर यकारादि तद्धित के परे रहने पर अन्नन्त प्रकृति से रह जाता है)

उदा०—सामसु साधुः, सामन्यः[2] । ब्रह्मण्यः ।

आत्माध्वानौ खे ६।४।१६९

प० वि०—आत्माध्वानौ १।२ खे ७।१

अर्थ—[प्रकृत्या] आत्मन् अध्वन् इत्येतौ खे परतः प्रकृत्या भवतः ।

(आत्मन् और अध्वन् शब्द ख के परे रहने पर प्रकृति से रहते हैं)

उदा०—आत्मने हितम् । अध्वने हितम् । आत्मनीनः[3] [अध्वनीनम्[4] ।

इतिश्रीमत्पदवाक्यप्रमाणज्ञमहावैयाकरणपण्डितब्रह्मदत्ताचार्याणामन्तेवासिना देवप्रकाशपातञ्जलेन विरचितायामष्टाध्यायी-प्रकाशिकायां
षष्ठाध्याये चतुर्थः पादः
इति षष्ठोऽध्यायः

१—तस्येदम् (४. ३. १२०) २—तत्र साधुः (४. ४. ९८) ३—आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात् खः (५. १. ९) ४—अध्वनो यत्खौ (५. २. १६)

प्रत्ययस्य विकारप्रकरणम्

युवोरनाकौ ७।१।१

प० वि०—युवोः ६।१ (समाहारद्वन्द्वे सौत्रं पुंस्त्वम्) अनाकौ १।२ स०—युश्च वुश्चेति युवु: तस्य: युवोः। अनश्च अकश्च इति अनाकौ ॥

अर्थ—अनुनासिकयण्विशिष्टयोर्युवोः स्थाने यथासंख्यं अन-अकौ भवतः। (अनुनासिक यण् विशिष्ट जो यु और वु उसके स्थान में क्रमशः अन और अक आदेश होते हैं)

उदा०—※प्रतिज्ञानुनासिक्याः पाणिनीयाः※ नन्दनः[1]। रमणः[1]। सायंतनः[2]। चिरंतनः[2]। कारकः[3]। हारकः[3]। अनुनासिकयणोरिति किम्। ऊर्णायुः। ऊर्णाया युस् (५. २. १२३)

सि०—साधनं प्रत्ययोत्पादकसूत्रे द्रष्टव्यम्।

आयनेयीनीयियः फढखच्छघां प्रत्ययादीनाम् ७।१।२

प० वि०—आयनेयीनीयियः १।३ फढखच्छघाम् ६।३ प्रत्ययादीनाम् ६।३ स०—आयंश्च ऐय् च ईश्च ईय् च इय् चेति आयन्-एय्-ईन्-ईय्-इयः॥ फश्च ढश्च खश्च छश्च घश्च इति फढखच्छघः तेषाम्। प्रत्ययस्य आदिः प्रत्ययादिः तेषाम् प्रत्ययादीनाम् ॥

अर्थ—प्रत्ययादीनां फढखच्छघाम् आयन्-एय्-ईन-ईय इय् इत्येते आदेशा यथासंख्यं भवन्ति। (प्रत्यय के आदि जो फ् ढ् छ् ख् घ् उनके स्थान में क्रमशः आयन् एय्, ईन्, ईय् और इय् आदेश होते हैं)

उदा०—फस्य[4]—नाडायनः। चारायणः। ढस्य[5]—सौपर्णेयः। वैनतेयः। खस्य[6]—युष्माकीणः। अस्माकीनः॥ छस्य—शालीयः[7]। मालीयः। घस्य—कियान्[8] इयान्। प्रतिसूत्रे साधनं द्रष्टव्यम्॥

झोऽन्तः ७।१।३

प० वि०—झः ६।१ अन्तः १।१

अर्थ—[प्रत्ययस्य] प्रत्ययस्य अवयवस्य झस्य स्थाने अन्त् इत्ययमादेशो भवति। (प्रत्यय के अवयव झकार के स्थान में अन्त यह आदेश होता है)

१—नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः (३. १. १३४) २—सायञ्चिरमित्यादिना (४. ३. २३) जातादौ शैषिकेऽर्थे तद्धितः ३—ण्वुल्तृचौ (३. १. १३३) ४—नडादिभ्यः फक् (४. १. ६६) ५—स्त्रीभ्यो ढक् (४. १. १२०) ६—युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ्च (४. ३. १) तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ (४. ३. १) ७—वृद्धाच्छः (४. २. ११३) ८—किमिदंभ्यां वो घः (५. २. ४०)

उदा०—पठन्ति । खादन्ति । एधन्ते । स्पर्द्धन्ते ।

अदभ्यस्तात् ७।१।४

प० वि०—अत् १।१ अभ्यस्तात् ५।१

अर्थ—[झः] अभ्यस्तादङ्गादुत्तरस्य झकारस्य स्थाने अत् इत्ययमादेशो भवति । (अभ्यस्त अङ्ग के पश्चात् झ् के स्थान में अत् आदेश होता है)

उदा०—ददति । ददतु । दधति । दधतु ॥

उदा०—डुदाञ् दाने । दा लट् । दा झि । दा शप् झि । दा दा झि[1] । द दा झि । द दा अत् इ । द दा अति । द द्[2] अति । ददति ॥

आत्मनेपदेष्वनतः ७।१।५

प० वि०—आत्मनेपदेषु ७।३ अनतः ५।१ स०—न अत् इति अनत् तस्मात् अनतः ॥

अर्थ—[अत् झः] अनकारान्तादङ्गादुत्तरस्य आत्मनेपदेषु वर्तमानस्य झकारस्य अत् इत्ययमादेशो भवति । (अनकारान्त अङ्ग के पश्चात् आत्मनेपद में वर्तमान झकार के स्थान में अत् आदेश होता है)

उदा०—चिन्वते[3] । चिन्वताम्[4] । अचिन्वत[5] । लुनते[3] । लुनताम्[4] । अलुनत[5] । अनत इति किम् । च्यवन्ते । प्लवन्ते । ꣳनित्यत्वादत्र विकरणे कृते झोऽन्तादेशेन भवितव्यम् इति अत् आदेशो न भवतिꣳ

शीङो रुट् ७।१।६

प० वि०—शीङः ५।१ रुट् १।१

अर्थ—शीङोऽङ्गादुत्तरस्य झकारस्य आदेशस्य अतो रुडागमो भवति । (शीङ् अङ्ग के पश्चात् जो झ् के स्थान में अत् उसको रुट् का आगम होता है)

उदा०—शेरते[3] । शेरताम्[4] । अशेरत[5] ।

अतो भिस ऐस् ७।१।९

प० वि०—अतः ५।१ भिसः ६।१ ऐस् १।१

१—जुहोत्यादिभ्यः श्लुः (२. ४. ७५) श्लौ (६. १. ११) पूर्वोऽभ्यासः (६. १. ४) २ - उभे अभ्यस्तम् (६. १. ५) श्नाभ्यस्तयोरातः (६. ४. ११२) ३—वर्तमाने लट् (३. २. १२३) ४—लोट च (३. ३. १६२) ५—अनद्यतने लङ् (३. १. १११)

अर्थ—अदन्तादङ्गादुत्तरस्य भिसः स्थाने ऐसादेशो भवति। (अदन्त अङ्ग के पश्चात भिस् के स्थान में ऐस् आदेश होता है)

उदा०—रामैः। बालकैः। तैः। यैः। कैः। एतैः। अत इति किम्। अग्निभिः। वायुभिः। तपरकरणमिति किम्। खट्वाभिः। मालाभिः। ताभिः। याभिः। काभिः। एताभिः।

सि०—राम भिस्। एम ऐस्। रामैस्। रामैः। तद् भिस्। त अ[1] भिस्। त[2] भिस्। त ऐस्। तैः[3]। यद् भिस्। य अ भिस्। य भिस्। य ऐस्। यैः। किम् भिस्। क[4] भिस्। क ऐस्। कैस्। कैः॥ एतद् भिस्। एत अ भिस्। एत भिस्। एत ऐस्। एतैस्। एतैः। ताभिः। तद् भिस्। त अ भिस्। त भिस्। त टाप्[5] भिस्। त आ भिस्। ताभिः[6]॥

बहुलं छन्दसि ७।१।१०

प० वि०—बहुलम् १।१ छन्दसि ७।१

अर्थ—छन्दसि विषये बहुलमैसादेशो भवति। (छन्दसि के विषय में बहुल् कर ऐस् आदेश होता है)

उदा०—अनतोऽपि भवति। नद्यैः। देवेभिः। सर्वेभिः।

टाङसिङसामिनात्स्याः ७।१।१२

प० वि०—टाङसिङसाम् ६।३ इनात्स्याः १।३ स०—टाश्च ङसिश्च ङश्चेति टाङसिङसः तेषाम्। इनश्च आच्च स्यश्चेति इनात्स्याः।

अर्थ—[अतः] अदन्तादङ्गादुत्तरेषां टा-ङसि-ङसाम् इन-आत्-स्याः आदेशा भवति। (अदन्त अङ्ग के पश्चात् टा, ङसि ङस् के स्थान में क्रमशः इन आत् स्य आदेश होते हैं)

उदा०—टः—रामेण। बालकेन। तेन। येन। केन। एतेन। अनेन। फलेन। ङसेः—रामात्। बालकात्। फलात्। ङसः—रामस्य। बालकस्य। तस्य। यस्य। कस्य। एतस्य। अस्य। फलस्य। अत इत्येव। टः—अग्निना। वायुना। पत्या। सख्या। तपरकरणमिति किम्। रमया। बालिकया। तया। यया। कया। अनया।

१—त्यदादीनामः (७. २. १०२) २—अतो गुणे (६. १. ९७) ३—वृद्धिरेचि (६. १. ८८) ४—किमः कः (७. २. १०३) ५—अजाद्यतष्टाप् (४. १. ४) ६—अकः सवर्णे दीर्घः (६. १. ९७)

एतथा । ङसेः--अग्नेः । वायोः । पत्युः । सख्युः । तपरकरणमिति किम् । रमायाः । बालिकायाः । तस्याः । यस्याः । कस्याः । अस्याः । एतस्याः ङसः---अग्नेः । वायोः । पत्युः । सख्युः । तपरकरणमिति किम् । रमायाः । बालिकायाः । तस्याः । यस्याः । कस्याः । एतस्याः ।

सि०—रामेण । राम टा । राम इन । रामेन[1] । रामेण[2] । तद् टा । त अ टा । त इन । तेन । अनेन । इदम् टा । इद अ टा । इद टा । अन्[3] अ टा । अन टा । अन इन । अनेन । राम ङसि । राम आत् । रामात् । राम् ङस् । राम स्य । रामस्य । तद् ङस् । त अ अस् । त स्य । तस्य । अस्य । इदम् ङस् । इद अ अस् । इद अस् । इद स्य । अ[4] स्य । अस्य । अग्नि टा । अग्नि ना[5] । वायुना । पति टा । पति आ । पत्या[6] । सखि टा । सख्या । रमा टा । रमे[7] आ । रमय् आ । रमया । तया । तद् टा । त अ आ । त आ । ता[8] आ । ते[7] अ । तय् आ । तया । अनया । इदम् टा । इद अ आ । अन्[3] अ आ । अन आ । अना[8] आ । अने[7] आ । अनय् आ । अनया । अग्नेः । अग्नि ङसि । अग्नि अस् । अग्ने[9] अस् । अग्नेस्[10] । अग्नेः । पति ङसि । पति अस् । पत्युरस्[11] । पत्युः[12] । रमा ङसि । रमा अस् । रमा याट्[13] अस् । रमा या अस् । रमा यास् । रमायाः । तद् ङसि । तद् अस् । त अ अस् । त अस् । ता[8] अस् । ता स्याट्[14] अस् । त स्या अस् । त स्यास् । तस्याः ॥

ङेर्यः ७।१।१३

प० वि०—ङेः ६।१ यः १।१

अर्थ—[अतः] अकारान्तादङ्गादुत्तरस्य ङे इत्येतस्य य इत्ययमादेशो भवति । (अकारान्त अङ्ग के पश्चात ङे के स्थान में य आदेश होता है)

उदा०—रामाय । बालकाय । अत इत्येव । अग्नये । वायवे । पत्ये ।

१—आद्गुणः (६. १. ८४) २—अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि (८. ४. २) ३—अनाप्यकः (७. २. ११२) ४—हलि लोपः (७. २. ११३) ५—आङो नाऽस्त्रियाम् (७. ३. ११९) ६—इको यणचि (६. १. ७४) ७—आङि चापः (७. ३. १०५) ८—अजाद्यतष्टाप् (४. १. ४) ९—शेषो घ्यसखि (१. ४. ७) घेर्ङिति (७. ३. १११) १०—ङसिङसोश्च (६. १. १०६) ११—ख्यत्यात्परस्य (६. १. १०८) १२—रात्सस्य (८. २. २४) १३—याडापः (७. ३. ११३) १४—सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च (७. ३. ११४)

सख्ये। तपरकरणमिति किम्—रमायै। बालिकायै। तस्यै। यस्यै। कस्यै। अस्यै। एतस्यै।

सि०—राम ङे। राम य। रामाय[1]। अग्नि ङे। अग्नि ए। अग्ने[2] ए। अग्नय् ए। अग्नये। पति ङे। पति ए। पत्ये। सख्ये। रमायै। रमा ङे। रमा याट्[3] ए। रमा या ए। रमा यै। रमायै। तस्यै। तद् ङे। त अ ए। त ए। ता[4] ए। ता स्याट् ए। त स्या ए। तस्यै।

सर्वनाम्नः स्मै ७।१।१४

प० वि०—सर्वनाम्नः ५।१ स्मै (अविभक्तिको निर्देशः)

अर्थ—[अतः ङेः] अकारान्तात् सर्वनाम्न उत्तरस्य ङेः स्थाने स्मै इत्ययमादेशो भवति। (अकारान्त सर्वनाम के पश्चात् ङे के स्थान में स्मै आदेश होता है)

उदा०—तस्मै। यस्मै। कस्मै। अस्मै। एतस्मै। सर्वस्मै। अत इत्येव। तस्यै। यस्यै। कस्यै। अस्यै। एतस्यै। सर्वस्यै। भवते।

सि०—तद् ङे। त अ ङे। त ङे। त स्मै। तस्मै।

ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ ७।१।१५

प० वि०—ङसिङ्योः ६।२ स्मात्स्मिनौ १।२

अर्थ—[अतः सर्वनाम्नः] अदन्तात् सर्वनाम्नः उत्तरयोः ङसि ङि इत्येतयोः स्थाने स्मात् स्मिन् इत्येतावादेशौ भवतः। (अकारान्त सर्वनाम के पश्चात् ङसि और ङि के स्थान में स्मात् और स्मिन् आदेश होते हैं)

उदा०—ङसेः–तस्मात्। यस्मात्। कस्मात्। अस्मात्। एतस्मात्। सर्वस्मात्। विश्वस्मात्। ङौ—तस्मिन्। यस्मिन्। कस्मिन्। अस्मिन्। एतस्मिन्। सर्वस्मिन्। विश्वस्मिन्। अत इत्येव। ङसेः—तस्याः। एतस्याः। सर्वस्याः। विश्वस्याः। भवतः। ङौ—तस्याम्। यस्याम्। कस्याम्। अस्याम्। एतस्याम्। भवति॥

सि०—तद् ङसि। त अ ङसि। त स्मात्। तस्मात्। तद् ङि। त अ ङि। त स्मिन्। तस्मिन्। तस्याम्। तद् ङि। त अ ङि। त ङि। ता[4] ङि। त स्याट् इ। तस्या आम्[5]। तस्याम्।

१—स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ (१. १. ५५) सुपि च (७. ३. १०२) २—शेषो घ्यसखि (१. ४. ७) घेर्ङिति (७. ३. १११) ३—याडापः (७. ३. ११३) ४—अजाद्यतष्टाप् (४. १. ४) ५—ङेराम्नद्याम्नीभ्यः (७. ३. ११६)

पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा ७।१।१६

स०—पूर्वः आदिर्येषां ते पूर्वादयः पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर, स्व, अन्तर शब्दाः।

अर्थ—[सर्वनाम्नः ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ] पूर्वादिभ्यो नवभ्यः सर्वनाम्न उत्तरयोर्ङसिङ्योः स्मात् स्मिन् इत्येतावादेशौ वा भवतः। (पूर्व इत्यादि नव सर्वनाम के पश्चात् ङसि और ङि के स्थान में स्मात् और स्मिन् विकल्प से होते हैं)

उदा०—पूर्वात्। पूर्वस्मात्। पूर्वस्मिन्। पूर्वे।

जसः शी ७।१।१७

प० वि०—जसः ६।१ शी (अविभक्तिको निर्देशः)

अर्थ—[अतः सर्वनाम्नः] अकारान्तात् सर्वनाम्न उत्तरस्य जसः शी इत्ययमादेशो भवति। (अकारान्त सर्वनाम के पश्चात् जस् के स्थान में शी आदेश होता है)

उदा०—ते। ये। के। इमे। एते। सर्वे। विश्वे। पूर्वे। अत इत्येव–ताः। याः। काः। इमाः। एताः। सर्वाः। विश्वाः। पूर्वाः। भवन्तः।

सि०—तद् जस्। त अ अस्। त अस्। त शी। त इ। ते। तद् जस्। त अ जस्। त अस्। त टाप् अस्। ता अस्। ताः॥

औङ आपः ७।१।१८

प० वि०—औङः ६।१ आपः ५।१

अर्थ—[जसः शी] आबन्तादङ्गादुत्तरस्य औङः स्थाने शी इत्ययमादेशो भवति। औङ् इति औ ओट् इत्येतयोः पूर्वाचार्यसंज्ञा। (आबन्त अङ्ग के पश्चात् औङ् के स्थान में शी यह आदेश होता है)

उदा०—खट्वे। खट्वे। रमे। रमे। ते। ये। के। इमे। एते। सर्वे। विश्वे॥

सि०—खट्वा औ। खट्वा शी। खटवा ई। खट्वे। रमे। तद् औ। त अ औ। त टाप् औ। ता शी। ता ई। ते॥ इदम् औ। इद अ औ। इद औ। इदा औ। इमा[1] शी। इमे॥

१—दश्च (७. २. १०९)

नपुंसकाच्च ७।१।१९

प० वि०—नपुंसकात् ५।१ च अ० ।

अर्थ—[औङः शी] नपुंसकादङ्गादुत्तरस्य औङः शी इत्ययमादेशो भवति। (नपुंसक अङ्ग के पश्चात् औङ् के स्थान में शी यह आदेश होता है)

उदा०—फले। कुण्डे। वने। ये। ते। के। इमे। एते। ॐयस्येति लोपः प्राप्तः ×श्यां प्रतिषेधो वक्तव्यः× इति न भवति॥ दधिनी। मधुनी। त्रपुणी। जतुनी॥

सि०—फल औ। फल औ। फल शी। फल ई। फले। तद् औ। त अ औ। त औ। त शी। त ई। ते। दधि औ। दधि शी। दधि ई। दधि नुम्[1] ई। दधि न् ई। दधिनी।

जश्शसोः शिः ७।१।२०

प० वि०—जश्शसोः ६।२ शिः १।१

अर्थ—[नपुंसकात्] नपुंसकादुत्तरयोर्जश्शसोः शि इत्ययमादेशो भवति। (नपुंसक अङ्ग के पश्चात् जस् और शस् के स्थान में शि यह आदेश होता है)

उदा०—फलानि। कुण्डानि। दधीनि तिष्ठन्ति। दधीनि पश्य। त्रपूणि। जतूनि। तानि। यानि। कानि। इमानि। एतानि।

सि०—फल जस्। फल शि। फल नुम्[2] इ। फलन् इ। फलान्[3] इ। फलानि। तद् जस्। त अ जस्। त शि। त नुम् इ। तान् इ। तानि॥

अष्टाभ्य औश् ७।१।२१

प० वि०—अष्टाभ्यः ५।३ औश् १।१

अर्थ—[जश्शसोः] ॐअष्टाभ्य इति कृताकारोऽष्टशब्दो गृह्यते अष्टन आ विभक्तौ इति॥ अष्टाभ्य उत्तरयोः जश्शसोरौशादेशो भवति। (अष्टा शब्द के पश्चात् जस् और शस् के स्थान में औश् आदेश होता है)

उदा०—अष्टन् जस्। अष्ट आ जस्। अष्टा औश्। अष्टा औ। अष्टौ। अष्टौ॥ कृताकारास्य ग्रहणं किम्। अष्ट तिष्ठन्ति। अष्ट पश्य।

षड्भ्यो लुक् ७।१।२२

प० वि०—षड्भ्यः ५।३ लुक् १।१

१—इकोऽचि विभक्तौ (७. १. ७३) मिदचोऽन्त्यात्परः (१. १. ४६) २—शि सर्वनामस्थानम् (१. १. ४१) नपुंसकस्य झलचः (७. १. ७२) मिदचोऽन्त्यात्परः (१. १. ४६) ३—सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ (६. ४. ८)

अर्थ—[जश्शसोः] षट्संज्ञकेभ्य उत्तरयोर्जश्शसोर्लुक् भवति। (षट् संज्ञक अङ्ग के पश्चात् जस् और शस् का लुक् हो जाता है)

उदा०—षट् तिष्टन्ति। षट् पश्य। पञ्च। नव। दश।

सि०—षष् जस्। षष्[1]। षड्[2]। षट्[3]। षड्॥ पञ्चन् जस्। पञ्चन्[1]। पञ्च[4]॥

स्वमोर्नपुंसकात् ७।१।२३

प० वि०—स्वमोः ६।२ नपुंसकात् ५।१

अर्थ—[लुक्] नपुंसकादुत्तरयोः स्वमोर्लुक् भवति। (नपुंसक के पश्चात् सु और अम् का लुक् होता है)

उदा०—मधु तिष्ठति। मधु पश्य। दधि। त्रपु। जतु। तत्। यत्। किम्। इदम्। एतत्।

अतोऽम् ७।१।२४

प० वि०—अतः ५।१ अम् १।१

अर्थ—[स्वमोः] अदन्तान्नपुंसकादुत्तरयोः स्वमोः स्थाने अम् इत्ययमादेशो भवति। (अदन्त नपुंसक के पश्चात् सु और अम् के स्थान में अम् आदेश होता है)

उदा०—फलम्। कुण्डं पश्य। कुण्डं तिष्ठति।

युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश् ७।१।२७

प० वि०—युष्मदस्मद्भ्याम् ५।२ ङसः ६।१ अश् १।१

अर्थ—युष्मद् अस्मद् इत्येताभ्यामङ्गाभ्यामुत्तरस्य ङसः स्थाने अश इत्ययमादेशो भवति। (युस्मद् और अस्मद् के पश्चात् ङस् के स्थान में अश् आदेश होता है)

उदा०—तव। मम।

सि०—युष्मद् ङस्। युष्मद् अश्। तव[5] अद् अ। तव अ[6]। तव[7]।

ङे प्रथमयोरम् ७।१।२८

प० वि०—ङे। इत्यविभक्तिको निर्देशः। प्रथमयोः। ६।२ अम् १।१

अर्थ—[युष्मदस्मद्भ्याम्] युष्मद्-अस्मद्भ्यामुत्तरयोः ङे इत्येतस्य

१—ष्णान्ता षट् (१. १. २३) २—झलां जशोऽन्ते (८. २. ३९) ३—वावसाने (८. ४. ५५) ४—नलोपः० (८. २. २) ५—तवममौ ङसि (७. २. ९६) ६—शेषे लोपः (७. २. ९०) ७—अतो गुणे (६. १. ९४)

प्रथमाद्वितीययोश्च विभक्त्योरम् इत्ययमादेशो भवति ।

(युष्मद् और अस्मद् अङ्ग के पश्चात् ङे, प्रथमा और द्वितीया विभक्त के स्थान में अम् यह आदेश होता है ।

उदा०—ङे--तुभ्यम् । मह्यम् । प्रथमायाः--त्वम् । युवाम् । यूयम् । अहम् । आवाम् । वयम् । द्वितीयायाः--त्वाम् । माम् । आवाम् ।

सि०--युष्मद् ङे । तुभ्य[1] अद् ङे । तुभ्य अम् । तुभ्यम्[2] । मह्यम् । त्वम् । युष्मद् सु । त्व[3] अद् अम् । त्व अम् । त्वम् । युष्मद् औ । युष्मद् अम् । युव[4] अद् अम् । युव आ[5] अम् । युवा[6] अम । युवाम्[7] । युष्मद् जस् । युष्मद् अम् । यूय अद् अम् । यूय अम् । यूयम् । युष्मद् अम् । युष्मद् अम् । त्व अद् अम् । त्व अ आ अम् । त्व आ[6] अम् । त्व आम् । त्वाम् । युष्मद् औट् । युव अद् औ । युव अ आ[8] अम् । युव आम् । युवाम् ।

शसो न ७।१।२९

प० वि०—शसः ६।१ न (अविभक्तिकम्)

अर्थ—[युष्मदस्मद्भ्याम्] युष्मदस्मद्भ्यामुत्तरस्य शसो नकारादेशो भवति । (युष्मद् और अस्मद के पश्चात् शस् के स्थान में नकार आदेश होता है)

उदा०—युष्मान् । अस्मान् ।

सि०—युष्मद् शस् । युष्म अ अस् । युष्म अस् । युष्मास् । युष्मान् । अस्मान् ।

भ्यसोऽभ्यम् ७।१।३०

प० वि०--भ्यसः ६।१ भ्यम् अभ्यम् वा १।१ (उभयथा विग्रहः सम्भवति)

अर्थ----[युष्मदस्मद्भ्याम्] युष्मदस्मद्भ्यामुत्तरस्य भ्यसो भ्यम् (अभ्यम् वा) आदेशो भवति । (युष्मद् और अस्मद् के पश्चात् भ्यस् के स्थान में भ्यम् (वा अभ्यम्) आदेश होता है)

उदा०—युष्मभ्यम् । अस्मभ्यम् ।

१—तुभ्यमह्यौ ङयि (७. २. ९५) २—अमि पूर्वः (६. १. १०३) ३—त्वाहौ सौ (७. २. ९४) ४—युवावौ द्विवचने (७. २. ९२) ५--प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम् (७. २. ८८) ६—अकः सवर्णे दीर्घः (६. १. ९७) ७—अमि पूर्वः (६.१.१०३) ८—द्वितीयायां च (७.२.८७)

सि०—ॐ भ्यमादेशपक्षे शेषे लोप इत्यन्त्यलोपः अभ्यमादेशपक्षे तु अन्त्यलोपे टिलोपे वा पक्षद्वयेपि साधुः ॐ युष्मद् भ्यस्। युष्मद् भ्यम्। युष्म[1] भ्यम्। युष्मभ्यम्। युष्मद् भ्यस्। युष्मद् अभ्यम्। युष्म युष्म् वा अभ्यम्। युष्मभ्यम् युष्मभ्यम्। ॐभ्यमादेशे कृते शेषे लोपे च बहुवचने झल्येदिति एत्वं प्राप्नोति। तदङ्गवृत्ते पुनर्वृ लावधिर्निष्ठितस्य इति न भवति ॐ

पञ्चम्या अत् ७।१।३१

प० वि०—पञ्चम्याः ६।१ अत् १।१

अर्थ—[युष्मदस्मद्भ्याम् भ्यसः] युष्मद्अस्मद्भ्यामुत्तरस्य पञ्चम्याः भ्यसो अत् इत्ययमादेशो भवति। (युष्मद् और अस्मद् के पश्चात् पञ्चमी भ्यस् के स्थान में अत् आदेश होता है)

उदा०—युष्मत्। अस्मत्।

सि०—अस्मद् भ्यस्। अस्मद् अत्। अस्म् अद् अत्। अस्म् अत्। अस्मत्।

एकवचनस्य च ७।१।३२

प० वि०—एकवचनस्य ६।१ च अ०।

अर्थ—[युष्मदस्मद्भ्याम पञ्चम्याः अत्] युष्मद्-अस्मद्भ्या-मुत्तरस्य पञ्चम्याः एकवचनस्य अत् इत्ययमादेशो भवति।

(युष्मद् और अस्मद अङ्ग के पश्चात् पञ्चमी एकवचन के स्थान में अत् यह आदेश होता है।

उदा०—त्वत्। मत्।

सि०—अस्मद् ङसि। म[2] अद् अत्। म अत्। मत्।

साम आकम् ७।१।३३

प० वि०—सामः ६।१ आकम् १।१

अर्थ—[युस्मदस्मद्भ्याम्] युष्मद्-अस्मद्भ्यामुत्तरस्य साम आकम् इत्ययमादेशो भवति। (युष्मद् और अस्मद् अङ्ग के पश्चात् साम् के स्थान में आकम् यह आदेश होता है)

उदा०—युष्माकम्। अस्माकम्।

सि०—ॐ साम इति षष्ठीबहुवचनमागतसुट्कं गृह्यतेॐ

१—शेषे लोपः (७. २. ९०) २—त्वमावेकवचने (७. २. ९७)

अस्मद् आम् । अस्म्[1] सुट्[2] आम् । अस्म साम । अस्म आकम् । अस्म आकम् । अस्माकम् ।

आत औ णलः ७।१।३४

प० वि०—आतः ५।१ औ (अविभक्तिको निर्देशः) णलः ६।१

अर्थ—आकारान्तादङ्गादुत्तरस्य णलः स्थाने औकारादेशो भवति । (आकारान्त अङ्ग के पश्चात् णल् के स्थान में औकार आदेश होता है)

उदा० -पपौ । तस्थौ ।

सि०—पा णल् । पा औ । प्[3] औ । पा प्[4] औ । पा पौ । पपौ । ष्ठा । स्था[5] णल् । स्था औ । स्था स्था औ । स्थ स्था औ । थ स्था तस्था औ । औ । तस्थौ ।

तुह्योस्तातङाशिष्यन्यतरस्याम् ७।१।३५

प० वि०—तुह्योः ६।२ तातङ् १।१ आशिषि ७।१ अन्यतरस्याम् अ० ।

अर्थ—तु हि इत्येतयोराशिषि विषये तातङादेशो भवति अन्यतरस्याम् । (तु और हि के स्थान में तातङ् आदेश होता है आशीस् अर्थ में विकल्प करके)

उदा०—भवतु । भवतात् । भव । भवतात् ।

विदेः शतुर्वसुः ७।१।३६

प० वि०—विदेः ५।१ शतुः ६।१ वसुः १।१

अर्थ—विद ज्ञाने इत्यस्माद्धातोरुत्तरस्य शतुर्वसुरादेशो भवति । (विद् धातु के पश्चात् शतृ के स्थान में वसु आदेश होता है ।

उदा०—विद्वान् । साधनन्त वसो सम्प्रसारणमित्यत्र (६. ४. १३१) द्रष्टव्यम् ।

समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप् ७।१।३

प० वि०—समासे ७।१ अनञ्पूर्वे ७।१ क्त्वः ६।१ ल्यप् १।१ स०—अविद्यमानो नञ् पूर्वो यस्मात् सः अनञ्पूर्वः समासः तस्मिने अनञ्पूर्वे ।

अर्थ—अनञ्पूर्वे समासे क्त्वा इत्येतस्य स्थाने ल्यप् इत्ययमादेशो

१—शेषे लोपः (७. २. ९०) २—आमि सर्वनाम्नः सुट् (७. १. ५२) ३—आतो लोप इटि च (६. ४. ६४) ४—द्विर्वचनेऽचि (१. १. ५८) ५—धात्वादेः षः सः (६. १. ६२)

भवति । (नहीं है नञ् पूर्व जिससे ऐसे समास में क्त्वा के स्थान में ल्यप् आदेश होता है)

उदा०—प्रकृत्य । प्रहृत्य । अनञ्पूर्वे इति किम्—अहृत्वा ।

सि०—ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् इत्यत्र (६. १. ६६) द्रष्टव्यम् ।

[आज्] जसेरसुक् ७।१।५०

आमि सर्वनाम्नः सुट् ७।१।५८

प० वि०—आमि ७।१ सर्वनाम्नः ५।१ सुट् १।१

अर्थ—[आत्] अवर्णात्सर्वनाम्न उत्तरस्यामः सुडागमो भवति । (अवर्णान्त सर्वनाम के पश्चात् आम् को सुट् का आगम होता है)

॥आमीति सप्तमीनिर्देश उत्तरार्थः । इह तु सर्वनाम्न इति पञ्चमीनिर्देशात्तस्मादित्युत्तरस्येति षष्ठीप्रक्लृप्तिर्भवति॥

उदा०—तेषाम् । येषाम् । केषाम् । एषाम् । एतेषाम् । युष्माकम् । अस्माकम् । तासाम् । यासाम् । कासाम् । आसाम् । एतासाम् ।

सि०—तेषाम् । तद् आम् । त अ आम् । त आम् । त सुट् आम् । त साम् । ते[1] साम् । तेषाम् ।

त्रेस्त्रयः ७।१।५३

प० वि०—त्रेः ६।१ त्रयः १।१

अर्थ—[आमि] त्रेस्त्रय इत्ययमादेशो भवति आमि परतः । (त्रि के स्थान में आम् के परे रहने पर त्रय यह आदेश होता है)

उदा०—त्रयाणाम् । त्रीणाम् इत्यपि छन्दसि दृश्यते ।

ह्रस्वनद्यापो नुट् ७।१।५४

प० वि०—ह्रस्वश्च नदी च आप्चेति ह्रस्वनद्याप् तस्मात् ।

अर्थ—[आमि] ह्रस्वान्तान्नद्यन्तादाबन्ताच्च उत्तरस्य आमो नुडागमो भवति ।(ह्रस्वान्त, नद्यन्त और आबन्त अङ्ग के पश्चात् आम् को नुट् का आगम होता है)

उदा०—ह्रस्वान्तात्--वृक्षाणाम् । प्लक्षाणाम् । अग्नीनाम् । वायूनाम् । कर्तृणाम् । नद्यन्तात्--कुमारीणाम् । गौरीणाम् । शार्ङ्गरवीणाम् । लक्ष्मीणाम् । ब्रह्मबन्धूनाम् आबन्तात्—खट्वानाम् । मालानाम् ।

१—बहुवचने झल्येत् (७. ३. १०३)

बहुराजानाम् ।

षट्चतुर्भ्यश्च ७।१।५५

प० वि०—षट्चतुर्भ्यः ५।३ च अ० ।

अर्थ—[आमि नुट्] षट्संज्ञकेभ्यश्चतुःशब्दाच्चोत्तरस्य आमो नुडागमो भवति । (षट् संज्ञक और चतुर् शब्द के पश्चात् आम् को नुट् का आगम होता है)

उदा०—षण्णाम् । पञ्चानाम् । सप्तानाम् । नवानाम् । दशानाम् । चतुर्णाम् ।।

सि०—षष् आम् । षष् नुट् आम् । षष् नाम् । षड्[1] नाम् । षण्[2] नाम् । षण्णाम्[3] ।। पञ्चन् आम् । पञ्चन् नुट् आम् । पञ्चन् नाम् । पञ्चान्[4] नाम् । पञ्चानाम्[5] ।।

नुमागमप्रकरणम्

इदितो नुम् धातोः ७।१।५८

प० वि०—इदितः ६।१ नुम् १।१ धातोः ६।१ स०—इत् इत् यस्य स इदित् तस्य इदितः । अर्थ—इदितो धातोर्नुमागमो भवति । (इकार है इत् जिसका ऐसे धातु को नुम् का आगम होता है)

उदा०—नन्दनः । साधनन्तु नन्दिग्रहिपचादिभ्यः (३. १.१३४) इति सूत्रे द्रष्टव्यम् ।।

शे मुचादीनाम् ७।१।५९

प० वि०—शे ७।१ मुचादीनाम् ६।३

अर्थ—[नुम्] मुचादीनां धातूनां नुमागमो भवति शे परतः । (मुचादि धातुओं को श के परे रहने पर नुम् का आगम होता है)

उदा०—मुञ्चति । लुम्पति । विन्दति ।

सि०—मुच्लृ । मुच् लट् । मुच् तिप् । मु नुम् च् श ति । मुन्च् अ ति । मुंच्[6] अ ति । मुञ्चति[7] ।।

१—झलां जशोऽन्ते (८. २. ३९) २—यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा (८. ४. ४५) ३—ष्टुना ष्टुः (८. ४. ४१) ४—नोपधायाः (६. ४. ७) ५—नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य (८. २. ७) ६—नश्चापदान्तस्य झलि (८. ३. २४) ७—अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः (८. ४. ५७)

उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः ७।१।७०

प० वि०—उगिदचाम् ६।३ सर्वनामस्थाने ७।१ अधातोः ६।१ स०—उक् इत् यस्य स उगित्। उगिच्च अच्चेति उगिदचः तेषाम् उगिदचाम्। न धातुः अधातु तस्य अधातोः।

अर्थ—[नुम्] धातुवर्जितानामुगितामङ्गानामञ्चतेश्च नुमागमो भवति सर्वनामस्थाने परतः। (धातु वर्जित उगित् और अञ्चु धातु को नुम् का आगम होता है सर्वनामस्थान के परे रहने पर)

उदा०—डवतुप्--भवान्[1] । भवन्तौ । भवन्तः । भवन्तम् । भवन्तौ । ईयसुन्–श्रेयान्[2] । श्रेयांसौ । श्रेयांसः । श्रेयांसम् । श्रेयांसौ । शतृ । पचन् । पचन्तौ । पचन्तः । पचन्तम् । पचन्तौ । अञ्चतेः--प्राङ् । प्राञ्चौ । प्राञ्चः । प्राञ्चतीति प्राङ् । प्राञ्च् क्विन्[3] ।

युजेरसमासे ७।१।७१

प० वि०—युजेः ६।१ असमासे ७।१

अर्थ—[सर्वनामस्थाने नुम्] युजेरसमासे सर्वनामस्थाने परतो नुमागमो भवति। (असमास में युज् को नुम् का आगम होता है सर्वनामस्थान विभक्ति के परे रहने पर)

उदा०—युङ् । युञ्जौ । युञ्जः । युञ्जम् । युञ्जौ ।

सि०—युजिर् । युज् क्विन्[3] । युज् सु । यु नुम् ज् सु । युन्ज् स् । यु न् ज् । युन् । युङ्[4] । युज् औ । यु नुम् ज् औ । युन्ज् औ । यंज् औ । युञ्जौ ।

नपुंसकस्य झलचः ७।१।७२

प० वि०—नपुंसकस्य ६।१ झलचः ६।१ स०—झल् च अच्चेति झलच् तस्य ॥

अर्थ—[नुम् सर्वनामस्थाने] झलन्तस्य अजन्तस्य च नपुंसकस्य नुमागमो भवति सर्वनामस्थाने विभक्तौ परतः। (झलन्त और अजन्त नपुंसक को सर्वनामस्थान विभक्ति के परे रहने पर नुमागम होता है)

उदा०—झलन्तस्य—यशांसि । यशांसि । अजन्तस्य—कुण्डानि ।

१—अत्वसन्तस्य चाधातोः (६. ४. १४) २—सान्तमहतः संयोगस्य (६. ४. १०) ३—ऋत्विगादिसूत्रेण (३. २. ६९) क्विन् । ४—क्विन्प्रत्ययस्य कुः (८. २. ६२)

बनानि। ❀उगितो झलन्तस्य नपुंसकस्य परत्वादनेनैव नुम्भवति❀ श्रेयांसि। भूयांसि।

सि०—यशस् जस्। यशस् शि[1]। यशास्[2] इ। यशा नुम् स् इ। यशान्स् इ। यशांसि[3]। कुण्ड जस्। कुण्ड शि। कुण्ड नुम् शि कुण्डन् इ। कुण्डान्[4] इ। कुण्डानि।

इकोऽचि विभक्तौ ७।१।७३

प० वि०—इकः ६।१ अचि ७।१ विभक्तौ। ७।१

अर्थ—[नपुंसकस्य नुम्] इगन्तस्य नपुंसकस्य अजादौ विभक्तौ नुमागमो भवति। (इगन्त नपुंसक को अजादि विभक्ति के परे रहने परे नुम् का आगम होता है)

उदा०—वारि औ। वारि औ। वरि शी। वारि ई। वारि नुम ई। वारि न् ई। वारि ण् ई। वारिणी॥ ❀वारीणाम् इत्यत्र तु नुमचिरतृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन इत्यनेन नुडेव भवति। ततो नामि दीर्घः❀

तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद्गालवस्य ७।१।७४

प० वि०—तृतीयादिषु ७।३ भाषितपुंस्कं १।१ पुंवद् १।१ गालवस्य ६।१ स०—तृतीया आदि येषां ते तृतीयादयः तेषु तृतीयादिषु। भाषितः पुमान् येन समानायामाकृतौ एकस्मिन् प्रवृत्तिनिमित्ते तत् भाषितपुस्कम्।

अर्थ—[इकोचि विभक्तौ] तृतीयादिषु अजादिषु विभक्तिषु भाषितपुंस्कं नपुंसकम् इगन्तं गालवाचार्यस्य मतेन पुंवद् भवति। (तृतीया आदि अजादि विभक्ति के परे रहने पर भाषितपुंस्क इगन्त नपुंसक गालवाचार्य के मत में पुंवद् हो जाता है)

उदा०—❀यथा पुंसि ह्रस्वनुमौ न भवतस्तद्वदत्रापि न भवत इत्यर्थः❀ ग्रामणीः ब्राह्मणः। ग्रामणि ब्राह्मणकुलम्। ग्रामण्या ब्राह्मणकुलेन। ग्रामणिना ब्राह्मणकुलेन। ग्रामण्ये, ग्रामणिने। ग्रामण्यः, ग्रामणिनः। ग्रामण्यः। ग्रामणिनः। ग्रामण्योः, ग्रामणिनोः। ग्रामण्यां। ❀नुमचिरेति पूर्वविप्रतिषेधेन नुट❀ ग्रामणीनाम्। ग्रामण्यां, ग्रामणिनि।

१—जश्शसोः शि (७. १. २०) २–अत्वसन्तस्य चाधातोः (६. ४. १४) नश्चापदान्तस्य झलि (८. ३. २४) सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ (६. ४. ८)

अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः ७।१।७५

प० वि०—अस्थि-दधि-सक्थि-अक्ष्णाम् ६।३ अनङ् १।१ उदात्तः १।१

अर्थ—[नपुंसकस्य तृतीयादिषु विभक्तौ] अस्थि-दधि सक्थि-अक्ष्णाम् नपुंसकानां तृतीयादिष्वजादिषु विभक्तिषु परतोऽनङ् इत्ययमादेशो भवति, चोदात्तो भवति। (अस्थि, दधि, सक्थि और अक्षि इन नपुंसक अङ्गों को अनङ् आदेश होता है तृतीयादि अजादि विभक्ति के परे रहने पर और वह उदात्त होता है)

उदा०—अस्थि। अस्थ्ना। अस्थ्ने। अस्थ्नः। अस्थ्नः। अस्थ्नोः। अस्थ्नाम्। अस्थ्नि। अस्थनि। दधि। दध्ना। दध्ने। दध्नः। दध्नः। दध्नोः। दध्नाम्। दध्नि। दधनि। सक्थि। सक्थ्ना। सक्थ्ने। सक्थ्नः। सक्थ्नः। सक्थ्नोः। सक्थ्नाम्। सक्थ्नि। सक्थनि। अक्षि। अक्ष्णा। अक्ष्णे। अक्ष्णः। अक्ष्णः। अक्ष्णोः। अक्ष्णाम्। अक्ष्णि। अक्षणि।

सि०—अस्थ्ना। अस्थि टा। अस्थ् अनङ टा। अस्थन् टा। अस्थ्न्[1] आ। अस्थ्ना॥

नाभ्यस्ताच्छतुः ७।१।७८

प० वि०—न अ०। अभ्यस्तात् ५।१ शतुः ६।१

अर्थ—[नुम्] अभ्यस्तादङ्गादुत्तरस्य शतुर्नुम्न भवति। (अभ्यस्त अङ्ग के पश्चात् जो शतृ उसको नुम् का आगम नहीं होता है)

उदा०—ददत्। ददतौ। ददतः। दधत्। दधतौ। दधतः।

वा नपुंसकस्य ७।१।७९

प० वि०—वा अ०। नपुंसकस्य ६।१

अर्थ—[अभ्यस्ताच्छतुः नपुंसकस्य नुम्] अभ्यस्तादङ्गादुत्तरो यः शतृप्रत्ययस्तदन्तस्य नपुंसकस्य वा नुमागमो भवति। (अभ्यस्त अङ्ग के पश्चात् जो शतृ प्रत्यय तदन्त नपुंसक को विकल्प से नुम् का आगम होता है)

उदा०—*सर्वनामस्थानेऽयं विकल्पः* ददति कुलानि। ददन्ति कुलानि। दधति कुलानि। दधन्ति कुलानि॥

सि०—दा लट्। दा शतृ। दा अत्। दा दा अत्। दा दत्।

१—अल्लोपोऽनः (६. ४. १३४)

ददत् । ददत् जस् । ददत् शि । ददति । ददत् शि । दद नुम् त् इ । ददन्त् इ । ददंत् इ । ददन्ति ।

आच्छीनद्योर्नुम् ७।१।८०

प० वि०—आत् ५।१ शीनद्योः ७।२ नुम् १।१

अर्थ—[शतुः वा नुम्] अवर्णादङ्गादुत्तरस्य शतुर्वा नुमागमो भवति शीनद्योः परतः । (अवर्णान्त अङ्ग के पश्चात् जो शतृ प्रत्यय उसको नुम् विकल्प से होता है शी और नदी परे रहने पर)

उदा०—शौ—तुदती कुले । तुदन्ती कुले ॥ याती कुले । यान्ती कुले । करिष्यती कुले । करिष्यन्ती कुले । नद्याम्—तुदन्ती ब्राह्मणी । तुदती ब्राह्मणी । याती ब्राह्मणी । यान्ती ब्राह्मणी । करिष्यती ब्राह्मणी । करिष्यन्ती ब्राह्मणी ॥

सि०—तुद् लट् । तुद् शतृ । तुदत् औ । तुदत् शी । तुदती । तुदन्ती ॥

शप्श्यनोर्नित्यम् ७।१।८१

प० वि०—शप्श्यनोः ६।२ नित्यम् १।१

अर्थ—[शतुः शीनद्योः नुम्] शप् श्यन् इत्येतयोः शतुः शीनद्योः परतो नित्यं नुमागमो भवति । (शप् और श्यन् का जो शतृ प्रत्यय उसको नित्य ही नुम् का आगम होता है शी और नदी के परे रहने पर)

उदा--शौ---पचन्ती कुले । [पचन्ति कुलानि] ।

सावनडुहः ७।१।८२

प० वि०—सौ ७।१ अनडुहः ६।१

अर्थ—[नुम्] सौ परतोऽनडुहोऽङ्गस्य नुमागमो भवति ।
(अनडुह् अङ्ग को नुम् का आगम होता है सु के परे रहने पर)

उदा०—अनड्वान् । अनड्वाहौ । अनड्वाहः । हे अनड्वन् । हे अनड्वाहौ । हे अनड्वाहः । अनड्वाहम् । अनड्वाहौ । अनडुहः । अनडुहा । अनडुद्भ्याम् । अनडुद्भिः । अनडुहे । अनडुद्भ्याम् । अनडुद्भ्यः । अनडुहः । अनडुद्भ्याम् । अनडुद्भ्यः । अनडुहः । अनडुहोः । अनडुहाम् । अनडुहि । अनडुहोः । अनडुत्सु ।

सि०—अनडुह् सु । अनडु नुम् ह् स् । अनडुन्ह् स् । अनडुन्ह् ।

अनडुन् । अनडु आम्[1] न् । अनड् व्[2] आ न् । अनड्वान् । अनडुद्-भ्याम्[3] । अनडुद्भ्याम् । अनडुह् सु । अनडुनुम् ह् स् । अन डुन्ह् स् । अनडुन् । अनडु अम्[4] न् । अनड्वन् ।

दिव औत् ७।१।८४

प० वि०—दिवः ६।१ औत् १।१

अर्थ—[सौ] सौ परतौ दिव् इत्येतस्य औदित्ययमादेशो भवति । (सु के परे रहने पर दिव् अङ्ग को औकार आदेश होता है)

उदा०—द्यौः । दिवौ । दिवः । दिवम् । दिवौ । दिवः । दिवा । द्युभ्याम् । द्युभिः । दिवे । द्युभ्याम् । द्युभ्यः । दिवः । द्युभ्याम् । द्युभ्यः । दिवः । दिवोः । दिवाम् । दिवि । दिवोः । द्युषु । हे द्यौः । हे दिवौ । हे दिवः ।

सि०—द्यौः । दिव् सु । दि औ स् । द्यौः । दिव् भ्याम । दि उ[5] भ्याम् । द्युभ्याम् ।

पथिमथ्यृभुक्षामात् ७।१।८५

प० वि०—पथि-मथि-ऋभुक्षाम् ६।३ आत् १।१

अर्थ—[सौ] पथिन्, मथिन्, ऋभुक्षिन् इत्येतेषामङ्गानाम् सौ परत आकारादेशो भवति । (पथिन्, मथिन् और ऋभुक्षिन् अङ्गों का आकार आदेश होता है सु के परे रहने पर)

उदा०—पन्थाः [पन्थानौ । पन्थानः । पन्थानम् । पन्थानौ । पथः । पथा । पथिभ्याम् । पथिभिः । पथे । पथिभ्याम् । पथिभ्यः । पथः । पथिभ्याम् । पथिभ्यः । पथः । पथोः । पथाम् । पथि । पथोः । पथिषु] मन्थाः । मन्थानौ । मन्थानः । ऋभुक्षाः । ऋभुक्षाणौ । ऋभुक्षाणः ।

सि०—पथिन् सु । पथि आ[6] सु । पथ् अ[7] आ स् । पन्थ[8] आ स् । पन्थाः । पथिन् शस् । पथ्[9] अस् । पथः । ॐ स्थानिन्यनुनासिकेऽपि

१—चतुरनडुहोरामुदात्तः (७. १. ९८) मिदचोऽन्त्यात्परः (१. १. ७४) २—इको यणचि (६. १. ७४) ३—वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः (८. २. ७२) ४—अम्सम्बुद्धौ (७. १. ९९) ५—दिव उत् (६. १. १२७) ६—पथिमथ्यृभुक्षामात् (७. १. ८५) अलोऽन्त्यस्य (१. १. ५१) ७—इतोऽत्सर्वनामस्थाने (७. १. ८६) ८—थोन्थः (७. १. ८७) ९—यचि भम् (१. ४. १८) भस्य टेर्लोपः (७. १. ८८) अचोऽन्त्यादि टि (१. १. ६३)

आकारोऽनुनासिको न भवति। भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न भवतीति शुद्धो ह्ययमुच्चार्यते ॐ

इतोऽत्सर्वनामस्थाने ७।१।८६

प० वि०—इतः ६।१ अत् १।१ सर्वनामस्थाने ७।१

अर्थ—[पथिमथि-ऋभुक्षाम्] पथ्यादीनाम् इकारस्य स्थाने अकारादेशो भवति सर्वनामस्थाने परतः। (पथि इत्यादि अङ्गों के इकार के स्थान में अकार आदेश होता है सर्वनामस्थान के परे रहने पर)

उदा०—पन्थाः। पन्थानौ। पन्थानः। पन्थानम्। पन्थानौ। मन्थाः। मन्थानौ। मन्थानः। मन्थानम्। मन्थानौ। ऋभुक्षाः। ऋभुक्षाणौ। ऋभुक्षाणः। ऋभुक्षाणम्। ऋभुक्षाणौ।

थोन्थः ७।१।८७

प० वि०—थः ६।१ न्थः १।१

अर्थ—[सर्वनामस्थाने पथिमथ्यृभुक्षाम्] पथिमथोस्थकारस्य स्थाने न्थ इत्ययमादेशो भवति सर्वनामस्थाने परतः।

(पथि और मथि अङ्ग के थकार के स्थान में न्थ आदेश होता है सर्वनामस्थान विभक्ति के परे रहने पर)

उदा०—पन्थाः। पन्थानौ। पन्थानः इत्यादयः।

भस्य टेर्लोपः ७।१।८८

प० वि०—भस्य ६।१ टेः ६।१ लोपः १।१

अर्थ—[पथिमथ्यृभुक्षाम्] पथ्यादीनां भसंज्ञकानां टेर्लोपो भवति। (पथि इत्यादि भसंज्ञक अङ्गों की टि का लोप होता है)

उदा०—पथः। पथा। पथे। पथः। पथः। पथोः। पथाम्। पथि। पथोः। मथः। मथा। मथे। मथः। मथः। मथोः। मथाम्। मथि। मथोः। ऋभुक्षः। ऋभुक्षा। ऋभुक्षे। ऋभुक्षः। ऋभुक्षः। ऋभुक्षोः। ऋभुक्षाम्। ऋभुक्षि। ऋभुक्षोः।

ॐ सर्वनामस्थान इत्यनुवर्तमानमपि विरोधादिह न संबद्ध्यते ॐ

पुंसोऽसुङ् ७।१।८९

प० वि०—पुंसः ६।१ असुङ् १।१

अर्थ—[सर्वनामस्थाने] पुंस इत्येतस्य असुङ् इत्ययमादेशो भवति सर्वनामस्थाने विभक्तौ परतः।

(पुंस् के स्थान में असुङ् यह आदेश होता है, सर्वनामस्थान विभक्ति के परे रहने पर)

उदा०—पुमान् । पुमांसौ । पुमांसः । पुमासम् । पुमांसौ । सर्वनामस्थाने इति किम् । पुंसः । पुंसा । पुंभ्याम् । पुंभिः । पुंसे । पुंभ्याम् । पुंभ्यः । पुंसः । पुंभ्याम् । पुंभ्यः । पुंसः । पुंसोः । पुंसाम् । पुंसि । पुंसोः । पुंसु । हे पुमन् । हे पुमांसौ । हे पुमांसः ।

सि०—पुम्स् सु । ॐ पुम् असुङ् सु । पुमास्[1] सु । पुमा नुम्[2] स् स् । पुमान्स्[3] । पुमान्[4] । पुम्स् शस् । पुंस् अस् । पुंसः । पुंभ्याम् । पुम्स भ्याम् । पुम् भ्याम् । पुंभ्याम् । पुंसु । पुम्स् सुप् । पुम् सु । पुंसु ।

गोतो णित् ७।१।९०

अर्थ—[सर्वनामस्थाने] ॐसामर्थ्यात् प्रथमा विभक्तिःॐ गोशब्दात् परं सर्वनामस्थानं णिद् भवति । (गोशब्द के पश्चात् सर्वनामस्थान विभक्ति णित् हो जाती है)

उदा०—गौः । गावौ । गावः । गाम् । गावौ । [गाः । गवा । गोभ्याम् । गोभिः । गवे । गोभ्याम् । गोभ्यः । गोः । गोभ्याम् । गोभ्यः । गोः । गवोः । गवाम् । गवि । गवोः । गोषु] हे गौः । हे गावौ । हे गावः ।

सि०—गो सु । गौ स् । गौः । गो औ । गौ औ । गाव् औ । गावौ । गाम् । गो अम् । ग् आ[5] अम् । गा अम् । गाम् । गा शस् । गा[5] अस् । गाः । गो टा । गो आ । गव् आ । गवा । गो आम् । गवाम् ॥

णलुत्तमो वा ७।१।९१

प० वि०—णल् १।१ उत्तमः १।१ वा अ० ।

अर्थ—[णित्] उत्तमो णल् वा णिद् भवति । (उत्तम पुरुष का णल् विकल्प से णित् होता है)

उदा०—चकार । चकर । पपाठ । पपठ ।

१—सान्तमहतः संयोगस्य (६. ४- १०) २—उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः (७. १. ७०) ३—हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल् (६. १. ६६) ४—संयोगान्तस्य लोपः (८. २. २३) ५—औतोऽम्शसोः (६. १. ९३)

सख्युरसंबुद्धौ ७।१।९२

प० वि०—सख्युः ५।१ असंबुद्धौ ७।१

अर्थ—[सर्वनामस्थानं णित्] असंबुद्धौ यः सखिशब्दः तस्मात् परं सर्वनामस्थानं णिद् भवति ।(असंबुद्धि के परे रहने पर जो सखि शब्द उसके पश्चात् सर्वनामस्थान विभक्ति णित् होती है)

उदा०—सखा । सखायौ । सखायः । सखायम् । सखायौ । [सखीन् । सख्या । सखिभ्याम् । सखिभिः ।सख्ये । सखिभ्यः । सख्युः[२] । सख्योः । सखीनाम् । सख्याम् । सख्योः । सखिषु । हे सखे] हे सखायौ । हे सखायः ।

सि०—सखि सु । सख् अनङ्[१] सु । सखन् सु । सखान्[२] स् । सखान् । सखा । सखि औ । सखै[३] औ । सखाय् औ । सखायौ । सखि शस् । सखीस्[४] । सखीन् । सखि ङसि । सखि अस् । सख्युर्[५] स् । सख्युर्[६] । सख्युः । सखि आम् । सखि नुट् आम् । सखि नाम् । सखीनाम् । सखि ङि । सखि आट्[७] इ । सखि आ आम्[८] । सखि आम् । सख्याम् । हे सखे । सखि सु । सखे स् । सखे ।

अनङ् सौ ७।१।९३

प० वि०—अनङ् १।१ सौ ७।१

अर्थ—[सख्युः असम्बुद्धौ] सखिशब्दस्य सावसम्बुद्धौ अनङ् इत्ययमादेशो भवति । (सम्बुद्धिभिन्न सु के परे रहने पर सखि शब्द को अनङ् यह आदेश होता है)

उदा०—सखा । असम्बुद्धाविति किम्-हे सखे ।

ऋदुशनस्पुरुदंशोऽनेहसां च ७।१।९४

प० वि०—ऋदुशनस्पुदंशोऽनेहसाम् ६।३ च अ० । स०—ऋच्च उशनश्च पुरुदंशश्च अनेहश्चेति ऋदुशनस्पुरुदंशोऽनेहसः तेषाम् ऋदुशनस्पुरुदंशसनेहसाम् ।

१—अनङ् सौ (७. १. ९३) २—सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ (६. ४. ८) ३—अचो ञ्णिति (७. २. ११५) ४—प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (६. १. ९८) ५–इको यणचि (६. १. ७४) ख्यत्यात्परस्य (६. १. १०८) ६—रात्सस्य (८. २. २३) ७–शेषो घ्यसखि (१. ४. ७) आण्नद्याः (७. ३. ११२) ८–ङेराम्नद्याम्नीभ्यः (७. ३. ११६)

अर्थ—[अनङ् असम्बुद्धौ सौ] ऋकारान्तानामङ्गानामुशनस् पुरुदंशस् अनेहस् इत्येतेषां च असम्बुद्धौ सौ परतोऽनङ् आदेशो भवति ॥

(ऋकारान्त उशनस् पुरुदंशस् अनेहस् अङ्ग को सम्बुद्धिभिन्न सु के परे रहने पर अनङ् आदेश होता है)

उदा०—ऋतः--कर्त्ता । हर्त्ता । माता । पिता । भ्राता । उशना । पुरुदंशा । अनेहा । असम्बुद्धाविति किम्—हे कर्त्तः । हे हर्त्तः । हे मातः । हे पितः । हे पुरुदशः । हे अनेहः । हे उशनः ।

चतुरनडुहोरामुदात्तः ७।१।९८

प० वि०—चतुरनडुहोः ६।२ आम् १।१ उदात्तः १।१

अर्थ—[सर्वनामस्थाने] चतुर् अनडुह् इत्येतयोः सर्वनामस्थाने परत आमागमो भवति, स चोदात्तः ।

(चतुर् और अनडुह् अङ्गों को सर्वनामस्थान विभक्ति के परे रहने पर आम् का आगम होता है, वह उदात्त होता है)

उदा०—चत्वारः । अनड्वान् । अनड्वाहौ । अनड्वाहः । अनड्वाहम् । अनड्वाहौ ॥

ऋत इद्धातोः ७।१।१००

प० वि०—ऋतः ६।१ इत् १।१ धातोः ६।१

अर्थ—ऋकारान्तस्य धातोरङ्गस्य इकारादेशो भवति । (ऋकारान्त धातु जो अङ्ग उस का इकारादेश होता है)

उदा०—किरति । गिरति । चिकीर्षति । जिहीर्षति ।

सि०—कॄ विक्षेपे । गॄ निगरणे । कॄ लट् । कॄ तिप् । कॄ श त । किर् अ ति । किरति ॥

उपधायाश्च ७।१।१०१

प० वि०—उपधायाः ६।१ च अ० ।

अर्थ—[ऋतः इत्] उपधायाश्च ॠकारस्य इकारादेशो भवति ॥

(उपधा जो ॠकार उसका इकारादेश होता है)

उदा०—कीर्त्तयति । कीर्त्तयतः । कीर्त्तयन्ति ।

सि०—कॄत संशब्दने चुरादिः । कॄत् णिच् । किर् त इ । कीर्त् इ । कीर्ति लट् । कीर्त्ति तिप् । कीर्त्ति शप् ति । कीर्त्तयति ।

उदोष्ठ्यपूर्वस्य ७।१।१०२

प० वि०—उत् १।१ ओष्ठ्यपूर्वस्य ६।१ स०—ओष्ठ्यः पूर्वो यस्मात् असौ ओष्ठ्यपूर्वः तस्य ओष्ठ्यपूर्वस्य।

अर्थ—[धातोः] ओष्ठ्यः पूर्वो यस्माद् ॠकारात् तदन्तस्य धातोरङ्गस्य उकारादेशो भवति। (ओष्ठ्य वर्ण है पूर्व जिस ॠकार से ऐसे तदन्त धातु का उकार आदेश होता है)

उदा०—पुपूर्षति। मुमूर्षति।

सि०– पॄ पालनपूरणयोः। पॄ सन्[1]। पुर् स। पूर्[2] स शप तिप्। पूर् पूर् स अ ति। पुपूर् षति। पुपूर्षति॥ वॄ वरणे। ❀इत्वोत्वाभ्यां गुणवृद्धी भवतो विप्रतिषेधेन तेनेह पिपर्त्ति गुणो भवत्येव न उत्त्वम् इति।❀

पिपर्त्ति इत्यस्य साधनमर्त्तिपिपर्त्योश्चेति (७. ४. ७७) द्रष्टव्यम्।

इत्याष्टाध्यायी-प्रकाशिकायां सप्तमाध्याये प्रथमः पादः

सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु ७।२।१

प० वि०—सिचि ७।१ वृद्धिः १।१ परस्मैपदेषु ७।३

अर्थ—परस्मैपदेषु परेषु सिचि परत इगन्तस्य अङ्गस्य वृद्धिर्भवति। (परस्मैपद है परे जिसके ऐसे सिच् के परे रहने पर इगन्त अङ्ग को वृद्धि होती है)

उदा०–अचैषीत्। अनैषीत्। अलावीत्। अपावीत्। अकार्षीत्। अहार्षीत्।

सि०—संज्ञाप्रकरणे द्रष्टव्या।

अतो ल्रान्तस्य ७।२।२

प० वि०—अतः ६।१ ल्रान्तस्य ६।१ स०—लश्च रश्च इति ल्रौ। अन्तश्च अन्तश्च इति अन्तौ। ल्रौ अन्तौ यस्येति ल्रान्तः तस्य।

अर्थ—लकारान्तस्य रेफान्तस्य च अकारस्य स्थाने वृद्धिर्भवति परस्मैपदेषु परेषु सिचि परतः।

१—सनि ग्रहगुहोश्च (७. २. १२) इको झल् (१. २. ९) उदोष्ठ्यपूर्वस्य (७. १. १०२) उरण् रपरः (१. १. ४९) २--हलि च (८. २. ७७)

(लकारान्त और रेफान्त अकार के स्थान में वृद्धि होती है परस्मैपद है परे जिसके ऐसे सिच् के परे रहने पर)

उदा०—क्षर। अक्षारीत्। त्सर। अत्सारीत्। ज्वल। अज्वालीत्। ह्मल। अह्मालीत्।

वदव्रजहलन्तस्याचः ७।२।३

प० वि०—वदव्रजहलन्तस्य ६।१ अचः ६।१ हल् अन्ते यस्य इति हलन्तः। वदश्च व्रजश्च हलन्तश्च इति वदव्रजहलन्तं तस्य।

अर्थ—[सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु] वद व्रज हलन्त इत्येतेषामङ्गानामचः स्थाने वृद्धिर्भवति सिचि परस्मैपदेषु परतः। (वद व्रज और हलन्त अङ्गों के अच् के स्थान में वृद्धि होती है परस्मैपदपरक सिच् के परे रहने पर)

उदा०—अवादीत्। अव्राजीत्। हलन्तस्य—अभैत्सीत्। अच्छैत्सीत्।

नेटि ७।२।४

प० वि०—न अ०। इटि ७।१

अर्थ—[सिचिः वृद्धिः परस्मैपदेषु हलन्तस्य] इडादौ सिचि परस्मैपदेषु परतः हलन्तस्य अङ्गस्य वृद्धिर्न भवति। (इडादि सिच् परस्मैपद के परे रहने पर हलन्त अङ्ग की वृद्धि नहीं होती है)

उदा० अदेवीत्। असेवीत्।

ह्म्यन्तक्षणश्वसजागृणिश्व्येदिताम् ७।२।५

प० वि०—ह्-म्-यन्त-क्षण-श्वस-जागृ-णि-श्वि-एदिताम् ६।३

अर्थ—[सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु नेटि] हकारान्तानां मकारान्तानां यकारान्तानामङ्गानां क्षण श्वस जागृ णि श्वि इत्येतेषामेदितां च इडादौ सिचि परस्मैपदेषु परतो वृद्धिर्न भवति। (हकारान्त, मकारान्त, यकारान्त, क्षण, श्वस, जागृ, णिजन्त, श्वि औ एकार इत् वाले अङ्गों की वृद्धि नहीं होती है, इडादि सिच् परस्मैपद के परे रहने पर)

उदा०—हकारान्तस्य—ग्रह उपादने। अग्रहीत्। स्यमु स्वन ध्वन शब्दे। अस्यमीत्। व्यय वित्तसमुत्सर्गे। अव्ययीत्। क्षणु हिंसायाम्। अक्षणीत्। श्वस प्राणने। अश्वसीत्। जागृ निद्राक्षये। अजागरीत्। णि। ऊन परिहाणे ईल प्रेरणे। चुरादिणिच्। औनयीत्। ऐलयीत्। टुओश्वि गतिवृद्ध्योः। अश्वयीत्। एदिताम्। रगे लगे सङ्गे। अरगीत्। कखे। अकखीत्।

ऊर्णोते [विभाषा ७।२।६]

अतो हलादेर्लघोः ७।२।७

प० वि०—अतः ६।१ हलादेः ६।१ लघोः ६।१

अर्थ—[इटि सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु न विभाषा] हलादेरङ्गस्य लघोरकास्य इडादौ सिचि परस्मैपदेषु परतो विभाषा वृद्धिर्न भवति।
(हलादि अङ्ग के लघु अकार की विकल्प से वृद्धि नहीं होती है इडादि सिच् परस्मैपद के परे रहने पर)

उदा०—अकणीत। अकाणीत्। अरणीत्। अराणीत्।

इट्प्रकरणम्

नेड्वशि कृति ७।२।८

प० वि०—न अ०। इट् १।१ वशि ७।१ कृति ७।१

अर्थ—वशादौ कृति प्रत्यये परत इडागमो न भवति। (वशादि कृत् प्रत्यय के परे रहने पर इट् का आगम नहीं होता है)

उदा०—ईशिता। ईशितुम्। ईश्वरः। दीपिता। दीपितुम्। दीप्तः।

तितुत्रतथसिसुसरकसेषु च ७।२।९

प० वि०—ति-तु-त्र-त-थ-सि-सु-सर-क-सेषु ७।३ च अ०।

अर्थ—[नेट् कृति] ति-तु-त्र-त-थ-सि-सु-सर-कस इत्येतेषु कृत्सु इडागमो न भवति। (इन कृत् प्रत्ययों के परे रहने पर इडागम नहीं होता है)

उदा०—क्तिच्। तनिता। तनितुम्। तन्तिः। क्तिन्। दीपिता। दीपितुम्। दीप्तिः। तु। सचिता। सचितुम्। सक्तुः। त्र। तनिता। तनितुम्। तन्त्रम्। त। हसिता। हसितुम्। हस्तः। लविता। लवितुम्। लोतः। ❀औणादिकस्यैव तशब्दस्य ग्रहणमिष्यते न पुनः क्तस्य❀ हसितुम इत्येव तत्र भवति। कोपिता। कोपितुम्। कुष्ठम्। सि। कोषिता। कोषितुम्। कुक्षिः। सुक् च इषेः। एषिता। एषितुम। इक्षुः। सर। अशिता। अशितुम्। अक्षरम्। क। शलिता। शलितुम्। शल्कः। स। वदिता। वदितुम्। वत्सः।

एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् ७।२।१०

प० वि०—एकाचः ५।१ उपदेशे ७।१ अनुदात्तात् ५।१

अर्थ—[इट् न] उपदेशे यो धातुरेकाच् अनुदात्तश्च तस्माद् इडा-

गमो न भवति। (उपदेश में जो धातु एक अच् वाले और अनुदात्त उसके पश्चात् इट् का आगम नहीं होता है)

उदा०—दाता। नेता। चेता। स्तोता।

उपदेशे के धातवोऽनुदात्ता इति धातुपाठाज्ज्ञेयम्।

श्र्युकः किति ७।२।११

प० वि०—श्र्युकः ६।१ किति ७।१ स०—श्रिश्च उक् च इति श्र्युक् तस्य।

अर्थ—[नेट्] श्रि इत्येतस्य उगन्तानां च किति प्रत्यये परत इडागमो न भवति। (श्रि और उगन्त धातु को कित् प्रत्यय के परे रहने पर इट् का आगम नहीं होता है)

उदा०—श्रित्वा। श्रितः। श्रितवान्। उगन्तानां च। युत्वा। युतः। युतवान्। लूत्वा। लूनः। लूनवान्।

सनि ग्रहगुहोश्च ७।२।१२

प० वि०—सनि ७।१ ग्रहगुहोः ६।२ च अ०।

अर्थ—[उकः नेट्] ग्रह गुह इत्येतयोरुगन्तानां च सनि प्रत्यये परत इडागमो न भवति। (ग्रह् गुह् और उगन्त अङ्ग को इट् का आगम नहीं होता है सन् प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०—जिघृक्षति। जिघृक्षतः। जिघृक्षन्ति। जुघुक्षति। जुघुक्षतः। जुघुक्षन्ति। उगन्तानां च-रुरूषति। रुरूषतः। रुरूषन्ति। लुलूषति।

सि०—ग्रह। ग्रह् सन्। गृह्[1] स। गृह् गृह् स[2]। गृ[3] गृह् स। गर्[4] गृह् स। ज[5] गृह् स। जि[6] गृह् स। जि घृह्[7] स। जि घृढ्[8] स। जिघृक्[9] स। जिघृक्ष[10] शप् तिप्। जिघृक्षति।

१—रुदविदमुषग्रहिस्वपिप्रच्छः संश्च (१. २. ८) इति सनः कित्वे सति ग्रह्यादिसूत्रेण (६. १. १६) सम्प्रसारणम्, इग्यणः सम्प्रसारणम् (१. १. ४४) २—सन्यङोः (६. १. १०) ३—पूर्वोभ्यासः (६. १. ४) अत्र लोपोऽभ्यासस्य (७. ४. ५८) हलादिः शेषः (७. ४. ६०) ४—उरत् (७. ४. ६६) उरण् रपरः (१. १. ४९) हलादिः शेषः (७. ४. ६०) ५—कुहोश्चुः (७. ४. ६२) ६—सन्यतः (७. ४. ७९) ७—एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः (८. २. ३८) ८—हो ढः (८. २. ३१) ९—षढोः कः सि (८. २. ४१) १०—आदेशप्रत्यययोः (८. ३. ५९)

कृसृभृवृस्तुद्रुस्रुश्रुवो लिटि ७।२।१३

प० वि०—कृ-सृ-भृ-वृ-स्तु-द्रु-स्रु-श्रुवः ६।१ लिटि ७।१

अर्थ—[नेट्] कृ-सृ-भृ-वृ-स्तु-द्रु-स्रु-श्रु इत्येतेषां लिटि प्रत्यये इडागमो न भवति। (कृ-सृ-भृ-वृ-स्तु-द्रु-स्रु-श्रु इनको लिट् प्रत्यय के परे रहने पर इट् का आगम नहीं होता है)

❀ सिद्धे सति आरम्भो नियमार्थः। क्रादय एव लिट्यनिटस्ततोऽन्ये सेट इति ❀

उदा०—कृ। चकृव। चकृम। सृ। ससृव ससृम। भृ। बभृव। बभृव। वृञ्। ववृव। ववृम। वृङ्। ववृवहे। ववृमहे। स्तु। तुष्टुव। तुष्टुम। द्रु। दुद्रुव। दुद्रुम। स्रु। सुस्रुव। सुस्रुम। श्रु। शुश्रुव। शुश्रुम।

श्वीदितो निष्ठायाम् ७।२।१४

प० वि०—श्वीदितः ६।१ निष्ठायाम् ७।१ स०—श्विश्च ईदिच्च इति श्वीदित् तस्य।

अर्थ—[नेट्] श्वि इत्येतस्य ईदितश्च निष्ठायामिडागमो न भवति। (श्वि और ईकार इत् वाले धातु को निष्ठा के परे रहने पर इट् का आगम नहीं होता है)

उदा०—शूनः। शूनवान्। ईदितः। ओलस्जी। लग्नः। लग्नवान्।

यस्य विभाषा ७।२।१५

प० वि०—यस्य ६।१ विभाषा १।१

अर्थ—[नेट् निष्ठायाम्] यस्य धातोः विभाषा क्वचिदुक्तस्तस्य निष्ठायां परत इडागमो न भवति।

(जिस धातु को कहीं भी इट् का विधान विकल्प से किया गया है, उस को निष्ठा के परे रहने पर इट् का आगम नहीं होता है)

उदा०—धूञ्। विधूतः!। विधूतवान्। गुह्। गूढः। गूढवान्।

सि०—गुह् त। गुढ्[1] ध[2]। गुढ् ढ[3]। गु ढ[4]। गूढ[5] सु। गूढः।

! स्वरतिसूतिसूयतिधूञूदितो वा (७. २.) से विकल्प कहा है।

१—हो ढः (८. २. ३१) २—झषस्तथोर्धोऽधः (८. २ ४०) ३—ष्टुना ष्टुः (८. ४. ४०) ४—ढो ढे लोपः (८. ३. १३) ५—ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः (६. ३. १११)

आदितश्च ७।२।१६

प० वि०—आदितः ६।१ च अ०।

स०—आत् इत् यस्य इति आदित् तस्य।

अर्थ—[नेट् निष्ठायाम्] आदितश्च धातोर्निष्ठायामिडागमो न भवति। (आकार इत् वाले धातु को निष्ठा के परे रहने पर इट् का आगम नहीं होता है)

उदा०—ञिमिदा। मिन्नः। मिन्नवान्।

आर्धधातुकस्येड् वलादेः ७।२।३५

प० वि०—आर्धधातुकस्य ६।१ इट् १।१ वलादेः ६।१ स०—वल् आदिर्यस्य इति वलादिः तस्य वलादेः।

अर्थ—वलादेरार्धधातुकस्य इडागमो भवति।

(वल् प्रत्याहार में आने वाले कोई अक्षर है आदि में जिस आर्धधातुक प्रत्यय के उसको इट् का आगम होता है)

उदा०—लविता। लवितुम्। लवितव्यम्।

ग्रहोऽलिटि दीर्घः ७।२।३७

प० वि०—ग्रहः ५।१ अलिटि ७।१ दीर्घः १।१।

अर्थ—ग्रह उत्तरस्य इटः अलिटि दीर्घो भवति।

(ग्रह धातु के पश्चात् इट् का दीर्घ होता है, लिट् के परे रहने पर नहीं।

उदा०—ग्रहीता। ग्रहीतुम्। ग्रहीतव्यम्। अलिटीति किम्। जगृहिव। जगृहिम।

❀ प्रकृतस्य इटो दीर्घत्वमिदं तेन चिण्वदिटो न भवति ❀ ग्राहिता। ग्राहिष्यते।

वृतो वा ७।२।३८

प० वि०—वॄतः ५।१ वा अ०। स०—वॄ च ॠत् च इति वॄत् तस्मात् वॄतः।

अर्थ—[इट् दीर्घ] अलिटि वॄ इति वृङ्वृञोः सामान्यने ग्रहणं तस्मादुत्तरस्य ॠकारान्तेभ्यश्चेटो वा दीर्घो भवति अलिटि।

वॄ (वृङ् वृञ्) और ॠकारान्त धातुओं के पश्चात इट् का विकल्प से दीर्घ होता है लिट् के परे रहने पर नहीं)

उदा०—वृङ्—वरिता। वरीता। वृञ्। प्रावरिता। प्रावरीता। ऋकारान्तेभ्यः—तॄ—तरिता। तरीता। स्तॄञ्। आस्तरिता। आस्तरीता।

सि०—तृजन्तानि रूपाणि इमानि।

न लिङि ७।२।३९

प० वि०—न अ०। लिङि ७।१

अर्थ—[वॄतः इट् दीर्घः] वॄत उत्तरस्य इटो लिङि दीर्घो न भवति। (वॄत् के पश्चात् इट् का दीर्घ नहीं होता है लिङ् के परे रहने पर)

उदा०—विवरिषीष्ट। प्रावरिषीष्ट। आस्तरिषीष्ट। विस्तरिषीष्ट।

सि०—वृङ्—वृ लिङ्। वृ ल्। वृ त। वृ सीयुट् सुट् त। वृ सीय् स् त। वृ सी स् त। वृ इट् सीस् त। वर् इ षीष् त। वरिषीष्ट। वि उपसर्गात् विवरिषीष्ट। एवं सर्वम्।

सिचि च परस्मैपदेषु ७।२।४०

प० वि०—सिचि ७।१ च अ०। परस्मैपदेषु ७।३

अर्थ—[वॄतः इटः दीर्घः न] परस्मैपदेषु परतः सिचि वॄत उत्तरस्य इटो दीर्घो न भवति। (परस्मैपदपरक सिच् के परे रहने पर वॄत के पश्चात इट् का दीर्घ नहीं होता है)

उदा०—प्रावारिष्टाम्। प्रावारिषुः। अतारिष्टाम्। अतारिषुः। अस्तारिष्टाम्। अस्तारिषुः। परस्मैपदेष्विति किम्। प्रावरिष्ट। प्रवरीष्ट। प्र वृञ्। वृ सिच् लुङ्। वृ इट् स् तस्। वृ इस् ताम्। वार् इत् ताम्। वारिष्टाम्। अट् वारिष्टाम्। अवारिष्टाम्। प्र अवारिष्टाम्। प्रावारिष्टाम्।

❀ वृङ उदाहरणं नोपन्यस्तम् तस्य परस्मैपदासम्भवात्। प्रावरिष्ट। प्रावरीष्ट।

इट् सनि वा ७।२।४१

प० वि०—इट् १।१ सनि ७।१ वा अ०।

अर्थ—[वॄतः] वॄत उत्तरस्य सनो वा इडागमो भवति।

(वॄत् के पश्चात् सन् को विकल्प से इडागम होता है)

उदा०—वृङः—वुवूर्षते। वुवूर्षेते। वुवूर्षन्ते। विवरिषते। विवरीषते। वृञः—प्रावुवूर्षति। प्रावुवूर्षतः। प्रावुवूर्षन्ति। प्राविवरिषति। प्राविवरीषति। ॠकारान्तेभ्यः—तितीर्षति। तितरिषति। तितरीषति।

आतिस्तीर्षति । आतिस्तरिषति । आतिस्तरीषति । ❀ सनि ग्रहगुहोश्चेति इट् प्रतिषेधे प्राप्ते पक्षे इडागमो विधीयते । इटश्च वृतो वेति पक्षे दीर्घः ❀ चिकीर्षति (कृ स इत्यवस्थायां) इत्यत्रोपदेशाधिकाराल्लाक्षणिकत्वाच्च इडागमो न भवति ।❀

सि०—वृङ् । वृ सन्[1] । वृ[2] स । वुर्[3] स । वूर्[4] स । वूर् वूर् स । वू वूर् स । वुवूर् स । वुवूर्ष शप् त । वुवूर्षत । वुवूर्षते ।

लिङ्सिचोरात्मनेपदेषु ७।२।४२

प० वि०—लिङ्सिचोः ६।२ आत्मनेपदेषु ७।३

अर्थ—[वृतः वेट्] आत्मनेपदेषु परतो वृत उत्तरयोर्लिङ्सिचोः वा इडागमो भवति । (आत्मनेपद है परे जिसके ऐसे लिङ् और सिच् को वृत् धातुओं के पश्चात् विकल्प से इट् का आगम होता है । न लिङीति

उदा०—वृङः । वृषीष्ट । वरिषीष्ट वरीषीष्ट । वृञः । प्रावृषीष्ट । विस्मृतम् प्रावरिषीष्ट । प्रावरीषीष्ट । ॠतः । आस्तीर्षीष्ट । आस्तरिषीष्ट । आस्तरीषीष्ट । सिचि वृङः । अवृत । अवरिष्ट । अवरीष्ट । वृञः । प्रावृत । प्रावरिष्ट । प्रावरीष्ट । ॠतः । आस्तीर्ष्ट । आस्तरिष्ट । आस्तरीष्ट ।

सि०—वृषीष्ट । वृङ् । वृ लिङ् । वृ त । वृ सीयुट् सुट् त । वृ सीय् स् त । वृ सी स् त । वृषीष्ट । अवृत । वृङ् । वृ लुङ् । वृ त । वृ सिच् त । वृ स् त । वृत[5] । अट् वृत । अवृत । एवं सर्वत्र सूत्रपूर्वकं साधनीयम् ।

ॠतश्च संयोगादेः ७।२।४३

प० वि०—ॠतः ५।१ च अ० । संयोगादेः ५।१ स०—संयोग आदिर्यस्य स संयोगादिः तस्मात् संयोगादेः ।

अर्थ—[लिङ्सिचोरात्मनेपदेषु वा इड्] संयोगादिर्यो धातुः ॠकारान्तस्तस्मादुत्तरयोर्लिङ्सिचोरात्मनेपदेषु वा इडागमो भवति ।
(संयोग है आदि में जिसके ऐसे जो धातु ॠकारान्त उसके पश्चात् लिङ् और सिच् को विकल्प से इट् का आगम होता है आत्मनेपद के परे रहने पर)

१—यदा इडागमो न भवति तदा इको झल् (१. २. ९) क्ङिति च (१. १. ५.) २—अज्झनगमां सनि (६. ४. १६) ३–उदोष्ठ्यपूर्वस्य (७. १ १०२) उरण् रपरः (१. १. ४९) ४—हलि च (८. २. ७७) ५—ह्रस्वादङ्गात् (८. २. २७)

उदा०—ध्वृषीष्ट। ध्वरिषीष्ट। स्मृषीष्ट। स्मरिषीष्ट। सिचः खल्पपि—अध्वृषाताम्। अध्वरिषाताम्। अस्मृषाताम्। अस्मरिषाताम्।

सि०—ध्वृ हूर्च्छने। भावकर्मणोरित्यात्मनेपदम्। एवमन्यत्रापि आत्मनेपदं वेदितव्यम्।

स्वरतिसूतिसूयतिधूञूदितो वा ७।२।४४

प० वि०—स्वरतिसूतिसूयतिधूञूदितः ५।१ वा अ०। स०—स्वरतिश्च सूतिश्च सूयतिश्च धूञ् च ऊदिच्च इति स्वरतिसूतिसूयतिधूञ्-ऊदित् तस्मात्। ऊत् इत् यस्य स ऊदित्।

अर्थ—[आर्धधातुकस्येड्वलादेः] स्वृ शब्दोपतापयोः षूङ् प्राणिगर्भविमोचन इत्यादादिकः। षूङ् प्राणिप्रसव इति दैवादिकः। धूञ् कम्पने इति सौवादिकः। क्र्यादिश्चौरादिक। तत्रैकाच् इत्यधिकाराद्याद्ययोर् ग्रहणम् नेतरस्य चौरादिकस्य ऊदित् गाहू विलोडने गुपू रक्षणे इत्यादयः। एतेभ्य उत्तरस्य वलोदरार्धधातुकस्य वा इडागमो भवति। (इन धातुओं के पश्चात् वलादि आर्धधातुक को विकल्प से इट् का आगम होता है)

उदा०—स्वर्ता। स्वरिता। सूति। प्रसोता। प्रसविता। सूयति। सोता। सविता। धूञ्। धोता। धविता। ऊदित्। विगाढा। विगाहिता। गोप्ता। गोपिता।

रधादिभ्यश्च ७।२।४५

प० वि०—रधादिभ्यः ५।३ च अ०।

अर्थ–[आर्धधातुकस्येड्वलादेः वा] रधादिभ्य उत्तरस्य वलादेरार्धधातुकस्य वा इडागमो भवति। (रधादि धातुओंके पश्चात वलादि आर्धधातुक को विकल्प से इट् का आगम होता है)

उदा०—रधिता। रद्धा। नंष्टा। नशिता।

सि०—रध् तृच्। रध् इट् तृ। रधितृ सु। रधिता। रधितारौ। रधितारः। णश अदर्शने। नश् तृच्। न नुम्[1] श् तृ। नन्श् तृ। नंश् तृ। नंष्[2] तृ। नंष्टृ[3] सु। नंष्टा। नंष्टारौ। नंष्टारः।

तीषसहलुभरुषरिषः ७।२।४८

प० वि०—ति ७।१ इषसहलुभरुषरिषः ५।१ स०—इषश्च हश्चस

१—मस्जिनशोर्झलि (७. १. ३०) २—व्रश्चादिसूत्रेण० (८. २. ३६) ३—ष्टुना ष्टुः (८. ४. ४०)

लुभश्च रुषश्च रिट् चेति इषसहलुभरुषरिट्, तस्मात्।

अर्थ—[आर्धधातुकस्य इट् वा] इषु इच्छायाम्। षह मर्षणे। लुभ गार्द्धे। लुभ विमोहने। द्वयोरपि ग्रहणम्। रुष रोषे। रुष रिष हिंसायाम्। ऐतेभ्यो धातुभ्य उत्तरस्य तकारादेरार्धधातुकस्य इड् आगमो वा भवति। (इन धातुओं के पश्चात तकारादि आर्धधातुक को विकल्प से इडागम होता है)

उदा०—इषु। एष्टा। एषिता। सह। सोढा। सहिता। लुभ। लोब्धा। लोभिता। रुष। रोष्टा। रोषिता। रिष्। रेष्टा। रेषिता। तीति किम्। एषिष्यति।

सि०—सोढा। षह। षह्। सह्[1] तृच्। सढ्[2] तृ। सढ् धृ[3]। सढ् ढृ[4]। सढृ[5]। सोढृ[6]। सोढ सु। सोढ् अनङ् सु। सोढन् स्। सोढान् स्। सोढान्। सोढा। सोढारौ। सोढारः। लोब्धा। लुभ् तृच्। लोभ् तृ। लोभ् धृ। लोब्धृ। लोब्धा। लोब्धारौ। लोब्धारः।

सनीवन्तर्द्धभ्रस्जदम्भुश्रिस्वृयूर्णुभरज्ञपिसनाम् ७।२।४९

प० वि०—सनि ७।१ इवन्तर्द्धभ्रस्जदम्भुश्रिस्वृयूर्णुभरज्ञपिसनाम् ६।३ स०—इव् अन्ते यस्य स इवन्तः। इवन्तश्च ऋधुश्च भ्रस्जश्च दम्भुश्च श्रिश्च स्वा चि युश्च ऊर्णुश्च भरश्च ज्ञपिश्च संश्च इवन्तर्धसनः, तेषां।

अर्थ—[वा इट्] इवन्तानां धातूनाम् ऋधु वृद्धौ, भ्रस्ज पाके, दम्भु दम्भे, श्रिञ् सेवायां, स्वृ शब्दोपतापयोः, यु मिश्रणे, ऊर्णुञ् आच्छादने, भृञ् भरणे, मारणतोषणनिशामनेषु ज्ञपिर्ण्यन्तः, षणु दाने, वन षण सम्भक्तौ, (द्वयोरपि ग्रहणं) इत्येतेषाञ्च सनि वा इडागमो भवति। (इन धातुओं के पश्चात् सन् को विकल्प से इट् का आगम होता है)

उदा०—इवन्तानाम्—दिदेविषति। दुद्यूषति। सिसेविषति। सुस्यूषति। ऋध्। अर्दिधिषति। ईर्त्सति। भ्रस्ज। बिभ्रज्जिषति। बिभ्रक्षति। बिभ्रर्ज्जिषति। बिभ्रर्क्षति। दम्भु। दिदम्भिषति। धीप्सति। धिप्सति। श्रि। उच्छिश्रयिषति। उच्छिश्रीषति। स्वृ। सिस्वरिषति। सुस्वूर्षति।

१—धात्वदेः षः सः (६. १. ६२) २—हो ढः (८. २. ३१) ३—झषस्तथोर्धोऽधः (८. २. ४०) ४—ष्टुना ष्टुः (८. ४. ४०) ५—ढो ढे लोपः (८. ३. १३) ६—सहिवहोरोदवर्णस्य (६. ३. ११२)

यु । यियविषति । युयूषति । ऊर्णु । प्रोर्णुनविषति । प्रोर्णुनुविषति । भर इति भृञित्येतस्य भौवादिकस्य ग्रहणं शपा निर्देशात् । बिभरिषति । बुभूर्षति । ज्ञपि । जिज्ञपयिषति । ज्ञीप्सति । सन् । ससनिषति । सिषासति । × तनिपतिदरिद्राणामुपसंख्यानम् × तितनिषति । तितंसति । तितांसति । पिपतिषति । पित्सति । दिदरिद्रिषति । दिदरिद्रासति ।

सि०—दिवु । दिव् सन्[1] । दिव् स[2] । दि ऊठ्[3] स । दि ऊ स । द्यू[4] स । द्यू द्यूष । दू द्यूष । दुद्यूष शप् तिप् । दुद्यूषति ।

ऋध् सन् । ऋध् इट् स । ऋध् इस । अर्ध् इस । अर्धिष । अर् धि[5] धिष । अर् दिधिष[6] । अर्दिधिष शप् तिप् । अर्दिधिषति । ईर्त्सति । ऋध् सन् । ऋध्स । ईर्ध्[7] स । ईर् ध्स ध्स[8] । ईर् ध्स[9] । ईर्त्स[10] । ईर्त्स्[11] शप् तिप् । ईर्त्स अ ति । ईर्त्सति । भ्रस्ज् सन् । भ्रस्ज् इट् स । भ्रस्ज् इस । भ्रस्ज् भ्रस्जिस । भ भ्रस्जिस । ब भ्रस्जिस । बिभ्रस्जिष । बिभ्रद्जिष[12] । बिभ्रज्जिष[13] शप् तिप् । बिभ्रज्जिषति । बिभर्क्षति । भ्रस्ज् सन् । भ्र रम् स्ज्[14] स । भर् ज्[14] स । भर्ज् भर्ज् स । भ भर्ज् स । ब भर्ज् स । बिभर्ज् स । बिभर्ग्[15] स । बिभर्क्[10] ष । बिभर्क्ष शप् तिप् । बिभर्क्षति[16] । बिभर्जिषति । भ्रस्ज् सन् । भस्ज इस । भर् ज् इ स । भर्ज् भर्ज् इस । भ भर्ज् इस । भ भर्जिस । ब भर्जिस । बिभर्जिस । बिभर्जिष शप् तिप् । बिभर्जिषति । बिभ्रक्षति । भ्रस्ज् । भ्रस्ज सन् । भ्रस्ज् भ्रस्ज् सन् । भ भ्रस्ज् सन् । बभ्रस्ज स । बिभ्रस्ष्[17]

१—यदा इडागमो न भवति तदा—हलन्ताच्च (१. २. १०) २—क्ङिति च (१. १. ५.) ३—च्छ्वोः शूडनुनासिके च (६. ४. १९) अलोऽन्त्यस्य (१. १. ५१) ४—इको यणचि (६. १. ७४) ५—नन्द्राः संयोगादयः (६. १. ३) ६—अभ्यासे चर्च (८. ४. ५४) ७—आप्ज्ञप्यृधामीत् (७. ४. ५५) उरण् रपरः (१. १. ५०) ८—अजादेर्द्वितीयस्य (६. १. २) ९—अत्र लोपोऽभ्यासस्य (७. ४ ५८) १०—खरि च (८. ४. ५५) ११—वर्तमाने लट् (३. २. १२३) १२—झलां जश् झशि (८. ४. ५३) इति सकारस्य दकारः १३—स्तोः श्चुना श्चुः (८. ४. ३९) इति दकारस्य जकारः १४—भ्रस्जो रोपधयोरमन्यतरस्याम् (६. ४. ४७) इत्यकारात् परो रमागमो रोपधयोरिति षष्ठीनिर्देशाद्रेफस्योपधायाश्च सकारस्य निवर्त्तकः १५—चोः कुः (८. २. ३०) १६—अतो गुणे (६. १.) १७—व्रश्चभ्रस्जादिसूत्रेण षत्वम्

स । बिभ्रष्[1] स । बिभ्रक्[2] स । बिभ्रक्ष । विभ्रक्ष शप् तिप् । बिभ्रक्षति ।❀ इटि तदभावे च रमागमविकल्पाच्चत्वारि रूपाणि भवन्ति ❀ दम्भ् सन् । दम्भ् इट् स । दम्भिस । दम्भ् दम्भिष । ददम्भिष । दिदम्भिष शप् तिप् । दिदम्भिषति । धीप्सति । धिप्सति । दम्भ् सन् । दिम्भ्[3] स । दिम्प्[4] स । दिप्[5] स । दिप् दिप् स । दिप् स शप् तिप् । धिप्[6] स शप् तिप् । धिप्सति । धीप्सति । उच्छिश्रीषति । श्रिञ् । श्रि स[7] श्री[8] श्री श्री स । शि[9] श्री ष शप् तिप् । शिश्रीषति । उत् शिश्रीषति । उच्[10] शिश्रीषति । उच्छिश्रीषति[11] । सिस्वरिषति । स्वृ सन् । स्वृ स्वृ स । सृ स्वृ इट स । सृ स्वृ इस । स स्वृ इस । सर् स्वृ इस । स्वृ इस । सि स्वृ इ स । सि स्वरिष शप् तिप् । सिस्वरिषति । स्वृ स । स्वॄ स । स्वु स । स्वुर् स । स्वूर् स । स्वूर् ष । स्वूर् स्वूर्ष । सू स्वूर्ष । सुस्वूर्ष शप् तिप् । सुस्वूर्षति यु । यु स । यु इट् स । योइस । यविष । यु यविष[12] । यि[13] यविष शप् तिप् । यि यविषति । ऊर्णुञ् । ऊर्णु सन् । ऊर् नू[14] नूस । ऊर्णुनूषति[15] । ऊर्णु स । ऊर्णु इट् स । ऊर्णु इस । ऊर्ण् उवङ्[16] इष । ऊर्णुव् इष । ऊर्णुविष । ऊर् नु नुविष । ऊर्णुनुविषति । ऊर्णु सन् । ऊर्णु इट् स । ऊर्णो इस । ऊर्णव् इष । ऊर्णविष । ऊर् नुन विष । ऊर्णुनविषति ॥ ज्ञीप्सति । ज्ञपि[17] स । ज्ञीपि[18] स । ज्ञीप्स[19] । ज्ञीप् ज्ञीप्

१—स्कोः० (८. २. २९) इति झलि सकार लोपः २—षढोः कः सि (८. २. ४१) ३—दम्भ इच्च (७. ४. ५६) ४–खरि च (८.४. ५५) ५–हलन्ताच्च (१. २. १०) इति कित्वम् अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति (६. ४. २४) ६—एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः (८. २. ३७) ७—इको झल् (१. २. क्ङिति च (१. १. ५) ८—अज्झनगमां सनि (६. ४. १६) ९—शर्पूर्वाः खयः (७. ४. ६१) १०–स्तोः श्चुना श्चुः (८. ४. ३९) ११–शश्छोऽटि (८ ४. ८२) १२—द्विर्वचनेऽचि (१. १. ५८) १३—ओः पुयण्ज्यपरे (७. ४. ८०) १४—अजादेर्द्वितीयस्य (६. १. २) नन्द्राः संयोगादयः (६. १. ३) १५—रषाभ्यां नो णः समानपदे (८. ४. १) १६—विभाषोर्णोः (१. २. ३) इति यदा ङित्वं तदा-अचि श्नुधातुभ्रुवामिति (६. ४. ७७) उवङादेशः, अन्यथा तु गुणः ङिच्च (१, १. ५२) १७—हेतुमति च (३. १. २६) अर्त्तिह्रीब्लीत्यादिना (७. ३. ३६) पुक् १८—आब्ज्ञप्यृधामीत् (७. ४. ५५) १९—णेरनिटि

स। जि ज्ञीप् स। ज्ञी प्स[1] शप् ति। ज्ञीप्सति॥ सिषासति। सन् सन्। स आ[2] सन्। सा सन्। सा सा स। स सा स। सि षा स। सिषासति। तितांसति। पित्सति। पत् स। पिस् त्[3] स। पित्[4] स। पित् पित् स। पित्स शप् तिप्। पित्सति। दिदरिद्रिषति। दिदरिद्रासति। ※दरिद्रातेरार्धधातुके लोपो वक्तव्यः※ विकल्पेन आकारलोपः।

ज्व्रश्च्योः क्त्वि ७।२।५५

उदितो वा ७।२।५६

प० वि०--उदितः ५।१ वा अ०।

अर्थ—[क्त्वि] उदितो धातोरुत्तरस्य क्त्वः वा इडागमो भवति। (उकार इत वाले धातु के पश्चात् क्त्वा को इट् का आगम होता है विकल्प करके)

उदा०—शमु। शमित्वा। शान्त्वा।

सि०—शम् क्त्वा। शम् त्वा। शाम्[5] त्वा। शान्त्वा[6]। शान्त्वा सु। शान्त्वा।

सेऽसिचि कृतचृतच्छृदतृदनृतः ७।२।५७

प० वि०—से ७।१ असिचि ७।१ कृतचृतच्छृदतृदनृतः ५।१

अर्थ—[वा इट् आर्धधातुकस्य] कृती छेदने इति तौदादिकः। कृती वेष्टने इति रौधादिकः (द्वयोरपि ग्रहणम्) चृती हिंसासंग्रन्थयोः। उच्छृदिर् दीप्तिदेवनयोः उतृदिर हिंसादानयोः, नृती गात्रविक्षेपे इत्येतेभ्य उत्तरस्य असिचः सकारादेरार्धधातुकस्य वा इडागमो भवति। (इन धातुओं के पश्चात् सिच् भिन्न सकारादि आर्धधातुक को विकल्प से इट् का आगम होता है)

कृत्। कर्त्स्यति। कर्त्तिष्यति। अकर्त्स्यत्। अकर्त्तिष्यत्। चिकृत्सति। चिकर्त्तिषति॥ चृत्। चर्त्स्यति। चर्त्तिष्यति। अचर्त्स्यत्।

(६. ४. ५१) १—अत्र लोपोऽभ्यासस्य (७. ४. ५८) २—जनसनखनां सञ्झलोः (६. ४. ४२) इत्यात्वम्। ३—सनि मीमाघुरभलभशकपतपदामच इस् (७. ४. ५४) ४—स्कोः संयोगाद्योरन्ते च (८. २. २९) ५—अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति (६. ४. २४) ६—नश्चापदान्तस्य झलि (८. ३. २४) अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः (८. ४. ५७)

अचर्त्तिष्यत् । चिचृत्सति । चिचर्त्तिषति । छृद् । छर्त्स्यति । छर्दिष्यति । अच्छर्त्स्यत् । अच्छर्दिष्यत् । चिच्छृत्सति चिच्छर्दिषति । तृद् । तर्त्स्यति । तर्दिष्यति । अतर्त्स्यत् । अतर्दिष्यत् । तितृत्सति । तितर्दिषति । नृत् । नर्त्स्यति । नर्त्तिष्यति । अनर्त्स्यत् । अनर्त्तिष्यत् । निनृत्सति । निनर्त्तिषति ।

गमेरिट् परस्मैपदेषु ७।२।५८

गमेः ५।१ इट् १।१ परस्मैपदेषु ७।३

अर्थ—[से आर्धधातुकस्य] गमेरुत्तरस्य सकारादेरार्धधातुकस्य परस्मैपदेषु इडागमो भवति । (गम् धातु के पश्चात् सकारादि आर्धधातुक को परस्मैपद के परे रहने पर इट् का आगम होता है)

उदा०—गमिष्यति । अगमिष्यत् । जिगमिषति ।

न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः ७।२।५९

प० वि०—न अ० । वृद्भ्यः ५।३ चतुर्भ्यः ५।३

अर्थ—[से आर्धधातुकस्य इट् परस्मैपदेषु] वृधादिभ्यश्चतुर्भ्यः उत्तरस्य सकारादेरार्धधातुकस्य परस्मैपदेषु इडागमो न भवति । (वृतु वृधु शृधु स्यन्दू इन चार धातुओं के पश्चात् सकारादि आर्धधातुक को इट् का आगम नहीं होता है परस्मैपद के परे रहने पर)

उदा०—वृत्-वर्त्स्यति । अवर्त्स्यत् । विवृत्सति । वृध्-वर्त्स्यति । अवर्त्स्यत् । विवृत्सति । शृध्-शर्त्स्यति । अशर्त्स्यत् । शिशृत्सति । स्यन्द्-स्यन्त्स्यति । अस्यन्त्स्यत् । सिस्यन्त्स्यति ॥

तासि च क्लृपः ७।२।६०

प० वि०—तासि (अविभक्तिको निर्देशः) च अ० । क्लृपः ५।१

अर्थ—[से आर्धधातुकस्य परस्मैपदेषु नेट्] कृप उत्तरस्य तासेः सकारादेश्चार्धधातुकस्य परस्मैपदेषु इडागमो न भवति ।

(कृपू सामर्थ्ये इस धातु के पश्चात् तास् को और सकारादि आर्धधातुक को इट् का आगम नहीं होता है परस्मैपद के परे रहने पर)

उदा०—कल्प्ता श्वः । कल्प्स्यति । अकल्प्स्यत् । चिक्लृप्सति ।

अचस्तास्वत्थल्यनिटो नित्यम् ७।२।६१

प० वि०—अचः ५।१ तास्वत् १।१ थलि ७।१ अनिटः ५।१ नित्यम् १।१

अर्थ--[इट् न उपदेशे इत्यपकर्षणात्] उपदेशे ऽजन्तो यो धातुस्तासौ नित्यानिट् तस्मादुत्तरस्य तासाविव थल इट् आगमो न भवति। (उपदेश में अजन्त जो धातु, तास् के परें पर नित्य अनिट्, उसके पश्चात् तास् कें समान थल् को इट् का आगम नहीं होता है)

उदा०—याता। ययाथ। चेता। चिचेथ।

उपदेशेऽत्वतः ७।२।६२

प० वि०—उपदेशे ७।१ अत्वतः ५।१

अर्थ—[तास्वत्थल्यनिटो नित्यम्] उपदेशे यो धातुर् अकारवान् तासौ नित्यमनिट् तस्मात् उत्तरस्य थल तासाविव इडागमो न भवति।

(उपदेश में जो धातु अकारवान् और तास् के परे रहने पर नित्य अनिट् उसके पश्चात् थल् को तास् के समान इट् का आगम नहीं होता है)

उदा०—पक्ता। पपक्थ। शक्ता। शशक्थ।

ऋतो भारद्वाजस्य ७।२।६३

प० वि०—ऋतः ५।१ भारद्वाजस्य ६।१

अर्थ--[तास्वत्थल्यनिटो नित्यम्] ऋकारान्ताद् धातोर्भारद्वाजस्याचार्यस्य मतेन तासाविव नित्यानिटस्थल इडागमो न भवति।

(ऋकारान्त जो धातु तास् के परे रहने पर नित्य अनिट् उसके पश्चात तास् के समान थल् को इट् का आगम नहीं होता है भारद्वाज आचार्य के मत से)

उदा०—स्मर्त्ता। सस्मथ। ध्वर्त्ता। दध्वर्थ। * सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः। ऋत एव भारद्वाजस्य नान्येषां धातूनाम। अन्येषां तु क्रादिनियमात् क्राद्यन्यो धातुर्लिटि सेड् भवत्येव।

न च ऋतो भारद्वाजस्य इत्येतत् सूत्रं तेषां स्तुद्रवादीनामपि थलि इणिनषेधस्य निवर्तकमिति वाच्यम् अनन्तरस्य विधिर्वा प्रतिषेधो वा इति नियमात् अचस्तास्वत्थल्यनिटो नित्यम, उपदेशोऽत्वतः इति सूत्रद्वयस्यैव निवर्त्तकत्त्वात्। अयमेव नियमो वैयाकरणनिकाये भारद्वाजनियमनाम्ना प्रसिद्ध इत्यपि बोध्यः)

(अचस्तासवत्थल्यनिटो नित्यम् तथा उपदेशेऽत्वतः इन दोनों सूत्रों से ही यह ऋकारान्त धातु थल् के परे रहने पर अनिट् सिद्ध हो ही जाता है पुनः जो इस ऋतो भारद्वाजस्य सूत्र का आरम्भ आचार्य ने किया है वह इसलिए कि यह सूत्र नियम सूत्र हो जाय। अर्थात् दूसरे सूत्रों से कार्य के सिद्ध हो जाने पर

भी जो सूत्र का आरम्भ किया जाता है वह नियमार्थ हो जाता है। यहां पर इस सूत्र से यह नियम निकलता है कि यदि भारद्वाज आचार्य के मत में किसी धातु को थल् के परे रहने पर इट् का आगम न हो तो केवल वह ऋकारान्त धातु को ही अन्य धातुओं को थल् के परे रहने पर उनके मत से इट् का आगम हो ही जाता है, ऐसे करने से 'ययिथ' में इट् का आगम हो गया।

"स्तु द्रु स्रु इत्यादि धातु को भी थल् के परे रहने पर भारद्वाज के मत से इट् का विकल्प होता है, ऐसा यदि कोई शङ्का करे सो ठीक नहीं है क्योंकि व्याकरण की परिभाषा है अनन्तरस्य विधिर्वा प्रतिषेधो वा अर्थात् पास में रहने वाले सूत्रों का ही निषेध या विधान होता है अतः अचः तथा उपदेश इन दोनों सूत्रों का ही विकल्प इस नियम से हो सकता है, स्तु द्रु इत्यादि धातुओं का विकल्प नहीं हो सकता। उसका तो थल् में निषेध हो ही जाता है। यह नियम वैयाकरणों के समूह में भारद्वाज नियम से प्रसिद्ध है)

❀ तपरकरणमृकारान्तस्य निवत्यर्थम् तथा हि सति विध्यर्थमेतत्स्यात् ❀

विभाषा सृजिदृशोः ७।२।६५

प० वि०—विभाषा १।१ सृजिदृशोः ६।२

अर्थ—[थलि नेट्] सृजि दृशि इत्येताभ्यामुत्तरस्य थलो विभाषा इडागमो न भवति। (सृज् और दृश् धातु के पश्चात् थल् को विकल्प से इट् का आगम नहीं होता है)

उदा०—सस्रष्ठ। ससर्जिथ। दद्रष्ठ। ददर्शिथ।

सि०—सृज् थल्। सृ अम्[1] ज् थ। स्रज् थ। स्रज् स्रज् थ। स स्रज् थ। सस्रष् थ। सस्रष्ठ।

इडत्त्यर्त्तिव्ययतीनाम् ७।२।६६

प० वि०—इट् १।१ अत्त्यर्त्तिव्ययतीनाम् ६।३

अर्थ—[थलि] अद भक्षणे, ऋ गतौ, व्येञ् संवरणे इत्येतेभ्यो धातुभ्य उत्तरस्य थल इडागमो भवति।

(इन धातुओं के पश्चात् थल् को इट् का आगम होता है)

उदा०—आदिथ। आरिथ। संविव्ययिथ।

सि०—अद् थल्। अद अद् इ थ। अ अद् इ थ। आ[2] अद् इ

१—सृजिदृशोर्झल्यमकिति (६. १. ५८) २—अत आदेः (७. ४. ७०)

थ। आदिथ[२]। ऋ थल्। ऋ इट् थ। अर् इ थ। अर् अर् इथ। अ अरिथ। आ[१] अरिथ। आरिथ। व्येञ्। व्ये। व्ये[३] थल्। व्ये इट् थ। व्ये व्ये इथ। व् इ[४] ए व्ये इथ। वि ए व्ये इथ। विव्यय्[५] इथ। विव्ययिथ। सम् विव्ययिथ। संविव्ययिथ।

वस्वेकाजाद्घसाम् ७।२।६७

प० वि०—वसु (अविभक्तिको निर्देशः) एकाजाद्घसाम् ६।३

स०—एकाच्च आच्च घश्च इति एकाजाद्घसः तेषाम्।

अर्थ—[इट्] कृतद्विर्वचनानामेकाचां धातूनाम् आकारान्तानां घसेश्च वसाविडागमो भवति। (द्विर्वचन कर लेने के पश्चात् जो एक अच् वाला धातु उससे तथा आकारान्त धातु से तथा घस् के पश्चात् जो वसु उसको इट् का आगम होता है)

उदा०—आदिवान्। आशिवान्। पेचिवान्। शेकिवान्। आतयिवान्। तस्थिवान्। घस्—जक्षिवान्।

सि०—अद् लिट्। अद् क्वसु[६]। अद् वस्। अद् अद् वस्। अ अद् वस्। आ[१] अद् वस्। आद्[२] वस्। आद् इट् वस्। आदिवस् सु। आदिवस् स्। आदिवानुम्स् स्। आदिवान्स्[७] स्। आदिवान्स्। आदिवान्। आदिवांसौ। आदिवांसः। आदिवांसम्। आदिवांसौ। आदुषः[८]। आदुषा। आदिवद्भ्याम्[९]। आदिवद्भिः॥ अश भोजने। अश् लिट्। अश् क्वसु[६]। अश् अश् वस्। अ अश् वस्। आ अश् वस्। आश् वस्। आश् इट् वस्। आशिवस् सु। आशिवन्स् स। आशिवान्स् स्। आशिवान् स्। आशिवान्। आशिवांसौ। आशिवांसः। पच् लिट्। पच् वस्। पच् पच् वस्। प पच् वस्। पेच्[१०] वस्। पेच् इट् वस्। पेचि वस्। पेचिवस् सु। पेचिवन्स् स्। पेचिवान्स् स्। पेचिवान्स्। पेचिवान्। पेचिवांसौ। पेचिवांसः। या या लिट्। या

१—अत आदेः (७. ४. १०) २—अकः सवर्णे दीर्घः (६. १. ९७) ३—न व्यो लिटि (६. १. ४६) इत्यात्वं न ४—लिट्यभ्यासस्योभयेषाम् (६. १. १७) ५—सम्प्रसारणाच्च (६. १. १०४) ६—क्वसुश्च (३. २. ११७) ७—सान्तमहतः संयोगस्य (६. ४. १०) ८—वसोः सम्प्रसारणम् (६. ४. ३१) ९—वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः (८. २. ७२) १०—अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि (६. ४. १२०)

इट् वस् । या इवस् । य् इवस् । या[1] यिवस् । य यिवस् । ययिवान् । अद् । घस्लृ । घस् लिट् । घस् क्वसु । घस इट् वस् । घस् इवस् । घ्स्[2] इवस् । घस् ः । [1] इवस् । घ क्स्[3] इवस् । घ क्ष्[4] इवस् । झ[5] क्ष् इवस् । ज[6] क्षिवस् । जक्षिवान् ।

❀क्रादिनियमात् सिद्धे सति आरम्भोऽयं नियमार्थ एव वेदितव्यः । एकाजादद्घसामेव वसाविडागमो भवति नान्येषाम् । एतेन नियमेन विभिद्वान् इत्यादयः सिध्यन्ति❀

(क्रादिनियम से इन धातुओं के पश्चात् लिट् को इट् का आगम सिद्ध है फिर जो इट् का विधान किया गया, इससे यह नियम निकलता है कि इन धातुओं के पश्चात ही वस् को इट् का आगम नहीं होता, अन्य को होता है । इससे बिभिद्वान् इत्यादि सिद्ध हो जाते हैं)

विभाषा गमहनविदविशाम् ७।२।६८

प० वि०—विभाषा १।१ गमहनविदविशाम् ६।३

अर्थ—[इट् वसु] गम, हन, विशिना साहचर्याद् विद्लृ लाभे, विश प्रवेशने इत्येतेषां धातूनां वसौ विभाषा इडागमो भवति ।

(गम् हन् विद् विश् इन धातुओं के पश्चात् वस् को विकल्प से इट् का आगम होता है)

उदा०—गम—जग्मिवान् । जगन्वान् । हन—जघ्निवान् । जघन्वान् । विद—विविद्वान् । विविदिवान् । ज्ञानार्थस्य विद् धातोस्तु नित्यं विविद्वान इत्येव भवति । विश—विविशिवान् । विविश्वान् । ❀दृशेश्चेति वक्तव्यम् ददृशिवान् ददृश्वान् ।

सि०—गम् लिट् । गम् वस् । गम् इट् वस् । ग्म्[7] इवस् । गम ग्म्[8] इवस् । ग ग्म् इवस् । जग्मिवस् सु । जग्मिवनुम्स् स् । जग्मिवान्स्[9] स् । जग्मिवान्स् । जग्मिवान् । जग्मिवांसौ । जग्मिवांसः । जग्मिवांसम् । जग्मिवांसौ । जग्मुषः । जग्मुषा । जग्मिवद्भ्याम्[10] ।

१—द्विर्वचनेऽचि (१. १. ५८) २—गमहनजवखनघसां क्ङित्यनङि (६. ४. ९८) ३—खरि च (८. ४. ५४) ४—शासिवसिघसीनां च (८. ३. ६०) ५—कुहोश्चुः (७. ४. ६२) ६—अभ्यासे चर्च (८. ४. ५३) ७—गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि (६. ४. ९८) ८—द्विर्वचनेऽचि (१. १. ५८) लिटि धातोरनभ्यासस्य (६. १. ८) ९—सान्तमहतः संयोगस्य (६. ४. १०) १०—वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः (८. २. ७२)

जग्मिवद्भिः । जगन्वान् । जगम् वान् । जगन्वान् । जगन्वान् । हन्-वस् । हन् इट् वस् । ह् न् इवस् । हन् ह् न् इवस् । ह ह् न् इवस् । ह घ्न्[1] इवस् । झ[2] घ्न् इवस् । ज[3] घ्निवस् । जघ्निवान् ।

ऋद्धनोः स्ये ७।२।७०

प० वि०—ऋद्धनोः ६।२ स्ये ७।१ स०—ऋच्च हंश्चेति ऋद्धनौ तयोः ऋद्धनोः ।

अर्थ—[इट्] ऋकारान्तानां धातूनां हन्तेश्च स्ये इडागमो भवति । (ऋकारान्त और हन् धातु के पश्चात् स्य को इट् का आगम होता है)

उदा०—कृ । करिष्यति । हृ । हरिष्यति । हन् । हनिष्यति ।

अञ्जेः [सिचि] ७।२।७१

स्तु सुधुञ्भ्यः परस्मैपदेषु ७।२।७२

प० वि०—स्तुसुधुञ्भ्यः ५।३ परस्मैपदेषु ७।३

अर्थ—[सिचि इट्] स्तु सु धुञ् इत्येतेभ्य उत्तरस्य सिच इडागमो भवति परस्मैपदेषु परतः । (स्तु षु और धुञ् धातुओं के पश्चात् सिच् को इट् का आगम होता है परस्मैपद के परे रहने पर)

उदा०—अस्तावीत् । असावीत् । अधावीत् ।

❀ ष्टुञ् स्तुतौ । षुञ् अभिषवे । अनयोऽनुदात्तत्वात् प्रतिषेधे प्राप्ते धूञस्तु स्वरत्यादिसूत्रेण (७. २. ४४) विकल्पे प्राप्ते सती इदमारभ्यते ❀

परस्मैपदेषु इति किम् । अस्तोष्ट । असोष्ट । अधोष्ट । अधविष्ट ।

यमरमनमातां सक् च ७।२।७३

प० वि०—यमरमनमाताम् ६।३ सक् १।१ च अ० ।

स०—यमश्च रमश्च नमश्च आश्चेति यमरमनमातः तेषाम् यमरमनमाताम् ।

अर्थ—[सिचि इट्] परस्मैपदेषु यम उपरमे रमु क्रीड़ायाम् णम प्रह्वत्वे शब्दे च इत्येतेभ्य आकारान्तेभ्यश्च धातुभ्यः सिच इडागमो भवति परस्मैपदेषु परतः तत्संन्नियोगेन एतेषां धातूनां सक् च आगमः । (यमु रमु णम् तथा आकारान्त धातुओं के पश्चात् सिच् को इट् का

१—अभ्यासाच्च (७.३. ५५) २—पूर्वोऽभ्यासः (६. १. ४) अत्र लोपोऽभ्यासस्य (७. ४. ५८) कुहोश्चुः (७. ४. ६२) ३—अभ्यासे चर्च (८. ४. ५३)

आगम होता है परस्मैपद के परे रहने पर तथा इस इट् के सन्नियोग से इन धातुओं को सक् का आगम होता है)

उदा०—यमु—अयंसीत् । अयंसिष्टाम् । अयंसिषुः । रमु—व्यरंसीत् । व्यरंसिष्टाम् । व्यरंसिषुः । णम—अनंसीत् । अनंसिष्टाम् । अनंसिषुः । आत्—या । अयासीत् । अयासिष्टाम् । अयासिषुः । ❀सर्वेषामनुदात्तत्वादिट्प्रतिषेधे प्राप्तेऽयमारम्भः । यमादीनां हलन्तलक्षणा वृद्धिः प्राप्ता सा नेटीति प्रतिषिध्यते❀

स्मिपूङ्रञ्ज्वशां सनि ७।२।७४

प० वि०—स्मिपूङ्रञ्ज्वशाम् ६।३ सनि ७।१

अर्थ—[इट्] ष्मिङ् ईषद्धहने, पूङ् पवने, ऋ गतिप्रापणयोरिति भ्वादिः । ऋ गताविति जुहोत्यादिः (उभयोरपि ग्रहणम्) अञ्जू व्यक्तौ, अशू व्याप्तौ इत्येतेभ्य उत्तरस्य सन इडागमो भवति ।

(इन धातुओं के पश्चात् सन् को इट् का आगम होता है)

उदा०—सिस्मयिषते । पिपविषते । अरिरिषति । अञ्जिजिषति । अशिशिषते ।

किरश्च पञ्चभ्यः ७।२।७५

प० वि०—किरः ५।१ च अ० । पञ्चभ्यः ५।३·

अर्थ—[सनि इट्] किरादिभ्यः पञ्चभ्य उत्तरस्य सन इडागमो भवति । (कृ विक्षेपे इत्यादि पांच धातुओं के पश्चात् सन् को इट् का आगम होता है)

उदा०—कॄ–चिकरिषति । गॄ–जिगरिषति । ❀अत्रेटो दीर्घो नेष्टः❀ दृङ्–दिदरिषते । धृङ्–दिधरिषते । प्रच्छ–पिपृच्छिषति ।

सि०—प्रच्छ् सन्[1] । पृच्छ्[2] स । पृच्छ् पृच्छ् स । पृ पृच्छ् स । प[3] पृच्छ् स । पर्[4] पृच्छ् स । प[5] पृच्छ् स । पि[6] पृच्छ् स । पि पृच्छ् इट् स । पिपृच्छिषति । जिगरिषति । जिगलिषति ॥

रुदादिभ्यः सार्वधातुके ७।२।७६

प० वि०—रुदादिभ्यः ५।३ सार्वधातुके ७।१

१—रुदविदेत्यादिना (१. २. ८) सनः कित्त्वम् २—ग्रहिज्येत्यादिना (६. १. १६) सम्प्रसारणम् ३—उरत् (७. ४. ६६) ४—उरण् रपरः (१. १. ५०) ५—हलादिः शेषः (७. ४. ६०) ६—सन्यतः (७. ४. ७९)

अर्थ--[वलादेः इट्] ❀उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान् इति रुदादिभ्य इत्येषा पञ्चमी सार्वधातुक इत्यस्याः सप्तम्याः षष्ठीत्वं प्रकल्पयति❀

रुदिर् अश्रुविमोचने, ञिष्वप् शये, श्वस प्राणने अन च, जक्ष अदने इत्येतेभ्यो रुदादिभ्य उत्तरस्य वलादेः सार्वधातुकस्य इडागमो भवति। (इन रुदादि धातुओं के पश्चात वलादि सार्वधातुक को इट् का आगम होता है)

उदा०--रोदिति। स्वपिति। श्वसिति। प्राणिति। जक्षिति।

(१) ईशः से ७।२।७७

(२) ईड्जनोर्ध्वे च ७।२।७८

! (३) [ईशीड्जनां स्ध्वे]

प० वि०—(१) ईशः ६।१ से ७।१ (२) ईड्जनोः ६।२ ध्वे ७।१ च अ०। (३) ईशीड्जनाम् ६।३ स्ध्वे ७।१ स०—(३) ईश्च ईट् च जन् चेति ईशीड्जनः तेषाम्। सश्च ध्वश्चेति स्ध्वम् तस्मिन् स्ध्वे।

अर्थ—[सार्वधातुके इट्] ईश ऐश्वर्ये, ईड स्तुतौ जनी प्रादुर्भावे, जन जनने (उभयोरपि ग्रहणम्) इत्येतेभ्यो धातुभ्यः सकारादेः ध्वादेश्च सार्वधातुकस्य इडागमो भवति। (ईश् इड् जन् इन धातुओं के पश्चात सकारादि और ध्वादि सार्वधातुक को इट् का आगम होता है)

उदा०—ईश्–ईशिषे। ईशिष्व। ईशिध्वे। ईशिध्वम्। ईड्–ईडिषे। ईडिष्व। ईडिध्वे। ईडिध्वम्।

लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य ७।२।७९

प० वि०—लिङः ६।१ सलोपः १।१ अनन्त्यस्य ६।१ स०—सस्य लोपः सलोपः। अन्ते भवः अन्त्यः। न अन्त्यः अनन्त्यः तस्य अनन्त्यस्य।

अर्थ—[सार्वधातुके, सामर्थ्यात् षष्ठ्या विपरिणम्यते] लिङ्-लकारसम्बन्धिनोऽनन्त्यस्य सार्वधातुकस्य सकारस्य लोपो भवति। (लिङ् लकार सम्बन्धी जो अन्त में न होने वाला सार्वधातुक सकार होता है, उसका लोप हो)

! महाभाष्यसम्मतोऽयं पाठः।

उदा०—कुर्यात् । कुर्याताम् । कुर्युः । कुर्वीत । कुर्वीयाताम् । कुर्वीरन् । अनन्त्यस्य इति किम् । कुर्युः । कुर्याः । सार्वधातुक इत्येव । क्रियास्ताम् । क्रियासुः । कृषीष्ट । कृषीयास्ताम् । कृषीरन् ।

ॐसार्वधातुके लिङि सकारद्वयस्यापि निवृत्तिः सुटः श्रवणं तु आशीर्लिङि । स्फुटतरं तु तत्राप्यात्मनेपदेॐ

अतो येयः ७।२।८०

प० वि०—अतः ५।१ या [सुपां सुलुगिति षष्ठ्याः लुक्] इयः १।१

अर्थ—[सार्वधातुके, अत इति पञ्चमीसामर्थ्यादिह षष्ठ्या विपरिणम्यते] अकारादङ्गादुत्तरस्य या इत्येतस्य सार्वधातुकस्य इय् इत्ययमादेशो भवति । (अकारान्त अङ्ग के पश्चात् या सार्वधातुक के स्थान में इय् आदेश होता है)

उदा०—पचेत् । पचेताम् । पचेयुः ।

सि०—लिङ्विधायकसूत्रे साधनं द्रष्टव्यम् ।

आतो ङितः ७।२।८१

प० वि०—आतः ६।१ ङितः (अवयवषष्ठी)

अर्थ—[अतः इयः सार्वधातुकस्य] अकारान्तादङ्गादुत्तरस्य ङिदवयवस्य आकारस्य सार्वधातुकस्य इय् इत्ययमादेशो भवति ।

(अकारान्त अङ्ग के पश्चात् ङित् सार्वधातुक के अवयव आकार के स्थान में इय् यह आदेश होता है)

उदा०—पचेते । पचेथे । पचेताम् । पचेथाम् ।

सि०—पच् लट् । पच् आताम् । पच् शप् आताम् । पच आताम् । पच इय्ताम् । पचेय् ताम् । पचेताम्[1] । एवं सर्वत्र ।।

आने मुक् ७।२।८२

प० वि०—आने ७।१ मुक् १।१

अर्थ—[अतः] ॐअतो येयः इति पूर्वसूत्रादनुवृत्तं पञ्चम्यन्तमपि अत इति पदं षष्ठ्या विपरिणम्यते, आने इति सप्तमीबलात् । न च अत इति पञ्चमीबलाद् आने इति सप्तम्यन्तं पदं षष्ठ्या विपरिणम्यताम् इति शङ्क्यम्, पञ्चम्याः पूर्वसूत्रे चरितार्थत्वात् सप्तम्याश्च

1—लोपो व्योर्वलि (६. १. ६४)

अचरितार्थत्वात्ॐ अकारान्तस्य अङ्गस्य मुगागमो भवति आने परतः

(अकारान्त अङ्ग को मुक् का आगम होता है, आन के परे रहने पर)

उदा०—पचमानः। यजमानः।

ईदासः ७।२।८३

प० वि०—ईत् १।१ आसः ५।१

अर्थ—[आने] ॐआने इति पदं षष्ठ्या विपरिणम्यते आसः इति पञ्चमीबलात्ॐ आस उत्तरस्य आनस्य ईकारादेशो भवति।

उदा०—आसीनो यजते।

(आस् के पश्चात् आन का ईकारादेश होता है)

सि०—आस् लट्। आस् शानच्। आस् आन। आस् शप्[1] आन। आस्[2] आन। आस् ई[3] न। आसीन सु। आसीन स्। आसीन स् यजते। आसीन रु यजते। आसीन र् यजते। आसीन उ यजते। आसीनो यजते।

अष्टन आ विभक्तौ ७।२।८४

प० वि०—अष्टनः ६।१ आः १।१ विभक्तौ ७।१ ॐअष्टन इत्यत्र सौत्रत्वादल्लोपऽनः इति नॐ

अर्थ-[रायो हलि इत्यतः हलि इत्यपकृष्यते] अष्टनो हलादौ विभक्तौ परत आकारादेशो भवति। (अष्टन शब्द को आकार आदेश हो जाता है हलादि विभक्ति के परे रहने पर)

उदा०—अष्टाभिः। अष्टाभ्यः।

सि०—अष्टन् भिस्। अष्ट आ[4] भिस्। अष्टा[5] भिस्। अष्टाभिः। ॐकथं अष्टानाम तदुच्चते-अष्टन् आम्। अष्टन् नुट्[6] आम्। अष्टन नाम्। अष्ट आ नाम्। अष्टानाम्[7]ॐ

रायो हलि ७।२।८५

प० वि० रायः ६।१ हलि ७।१

१—तिङ्शित् सार्वधातुकम् (३. ४. ११३) सार्वधातुके यक् (३. १. ६७) कर्त्तरि शप् (३. १. ६८) २—अदिप्रभृतिभ्यः शपः (२. ४. ७२) ३—ईदासः (७. २. ८३) आदेः परस्य (१. १. ५३) ४—अलोऽन्त्यस्य (१. १. ५१) ५—अकः सवर्णे दीर्घः (६. १. १७) ६—ष्णान्ता षट् (१. १. २३) षटचतुर्भ्यश्च (७. १. ५५) आद्यन्तौ टकितौ (१. १. ४५) ७—अकः सवर्णे दीर्घः (६. १. ९७)

अर्थ—[आः विभक्तौ] रै इत्येतस्य हलादौ विभक्तौ परत आकारादेशो भवति । (रै को आकार आदेश होता है हलादि विभक्ति के परे रहने पर)

उदा०—राः । राभ्याम् । राभिः । राभ्यः । रासु । हलि इति किम् । रायौ । रायः । राया । राये । रायः । राया । रायोः । रायाम् । रायि । विभक्ताविति किम् । रैत्वम् । रैता ।

युष्मदस्मदोरनादेशे ७।२।८६

प० वि०–युष्मदस्मदोः ६।२ अनादेशे ७।१ स०–युष्मच्च अस्मच्चेति युष्मदस्मदौ तयोः युष्मदस्मदोः । न आदेशः अनादेशः तस्मिन् अनादेशे ।

अर्थ—[आः विभक्तौ] युष्मदस्मदोरनादेशे विभक्तौ परत अकारादेशो भवति । (युष्मद् और अस्मद् अङ्ग को, जिसका आदेश नहीं हुआ है ऐसी विभक्ति के परे रहने पर, आकार आदेश होता है)

उदा०—युष्माभिः । अस्माभिः । युष्मासु । अस्मासु । अनादेश इति किम्—युष्मत् । अस्मत् ।

सि०—युष्मद् भिस् । युष्म आ भिस् । युष्माभिः ।

द्वितीयायां च ७।२।८७

प० वि०—द्वितीयायाम् ७।१ च अ० ।

अर्थ—[युष्मदस्मदोः आः विभक्तौ] युष्मदस्मदोराकारादेशो भवति द्वितीयायां विभक्तौ परतः । (युष्मद् और अस्मद् अङ्ग को आकार आदेश होता है द्वितीया विभक्ति के परे रहने पर)

उदा०—त्वाम् । माम् । युवाम् । आवाम् । युष्मान् । अस्मान् ।
ॐआदेशार्थं वचनम्ॐ

सि०—साधनं तु एतेषां सर्वेषां पदानां सप्तमाध्यायस्य प्रथमे पादे विस्तृतरूपेण दत्तम् अत एव तत्रैव द्रष्टव्यं तस्य च नियन्त्रणमपि कर्त्तव्यम् ।

प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम् ७।२।८८

प० वि०—प्रथमायाः ६।१ च अ० । द्विवचने ७।१ भाषायाम् ७।१

अर्थ—[युष्मदस्मदोः आः] प्रथमायाश्च द्विवचने विभक्तौ परतो युष्मदस्मदोराकारादेशो भवति । (प्रथमा की द्विवचन विभक्ति के परे रहने

पर युष्मद् और अस्मद् अङ्ग को आकार आदेश होता है भाषा में)

उदा०—युवाम्। आवाम्।

योऽचि ७।२।८९

प० वि०—यः १।१ अचि ७।१

अर्थ—[युष्मदस्मदोः अनादेशे विभक्तौ] अजादावनादेशे विभक्तौ परतो युष्मदस्मदोर्यकारादेशो भवति।

(आदेश जिस का नहीं हुआ है ऐसी अजादि विभक्ति के परे रहने पर युष्मद् और अस्मद् अङ्ग को यकार आदेश होता है)

उदा०—त्वया। मया। त्वयि। मयि। युवयोः। आवयोः।

सि०—युष्मद् टा। त्व अद् टा। त्व अय् आ। त्वया। एवं सर्वं सूत्रपूर्वकं साधनीयम्।

शेषे लोपः ७।२।९०

प० वि०—शेषे ७।१ लोपः १।१

अर्थ—[विभक्तौ युष्मदस्मदोः] शेषे विभक्तौ युष्मदस्मदोर्लोपो भवति। कश्च शेषः यत्र आकारो यकारश्च न विहितः।

(शेष विभक्ति के परे रहने पर युष्मद् और अस्मद् का लोप होता है) शेष का अर्थ है जहाँ यकार और आकार का विधान नहीं किया गया है। पञ्चमी चतुर्थी षष्ठी और प्रथमा के एकवचन और बहुवचन में लोप का विधान होता है)

उदा०—त्वत्। मत्। युष्मत्। अस्मत्। तुभ्यम्। मह्यम्। युष्मभ्यम्। अस्मभ्यम्। तव। मम। युष्माकम्। अस्माकम्। त्वम। अहम्। यूयम्। वयम्।

सि०—साधने त्रयः पक्षाः सन्ति—(१) स्वामिनो दयानन्दाः शेषे लोप इति टिलोपम् इच्छन्ति। (२) सिद्धान्तकौमुदीकारास्तु शेषे लोप इति अलोन्त्यस्यैव लोपम् इच्छन्ति। तथा च सति अतो गुणे, अमि पूर्वः इति सूत्रद्वयं प्रयुञ्जन्ति। (३) नव्यास्तु त्वाहौ सौ इत्यादिषु मपर्यन्तानामादेशानां सर्वत्रैव अकार उच्चारणार्थ इति मन्यन्ते तस्माद् अतो गुणे इति पररूपप्रयासो ऽव्यर्थ इत्याहुः। तथैव क्रमेण साधनं प्रदर्श्यते—(१) युष्मद् सु। त्व अद् सु। त्व अम्। (२) युष्मद् सु। त्व अद् सु। त्व अ अम्। त्व अम्। त्वम्। (३) युष्मद् सु। त्व् अद् अम्। त्वम्। अस्मिन् पक्षे टिलोपो वा स्यात् अन्त्यलोपो वा स्यात् नहि कश्चिद्

विशेषः भ्यसोऽभ्यम् इत्यत्र तु टिलोपपक्षे अभ्यमादेशः कर्त्तव्यः अन्यथा युष्मभ्यम् इत्येवं रूपं जायते ।

मपर्यन्तस्य ७।२।९१

प० वि०—मपर्यन्तस्य ६।१

अर्थ—इतोऽग्रे वक्ष्यमाणा आदेशा मपर्यन्तस्यैव भवन्ति इत्यधिकारो वेदितव्यः । (यहां से आगे मकार पर्यन्त को ही आदेश होते हैं, इस बात का अधिकार समझना चाहिए)

युवावौ द्विवचने ७।२।९२

प० वि०—युवावौ १।२ द्विवचने ७।१

अर्थ—[युष्मदस्मदोः विभक्तौ मपर्यन्तस्य] द्विवचने विभक्तौ परतो युष्मदस्मदोर्मपर्यन्तस्य स्थाने युव आव इत्येतावादेशो भवतः)

(द्विवचन विभक्ति के परे रहने पर युष्मद् और अस्मद् अङ्ग के स्थान में युव (युव्) आव (आव्) मपर्यन्त आदेश होते हैं)

उदा०—युवाम् । आवाम् । युवाभ्याम् । आवाभ्याम् । यवयोः । आवयोः ।

यूयवयौ जसि ७।२।९३

प० वि०—यूयवयौ १।२ जसि ७।१

अर्थ—[युष्मदस्मदोः मपर्यन्तस्य] युष्मदस्मदोर्मपर्यन्तस्य जसि परतो यूय वय इत्येतावादेशौ भवतः । (युष्मद् और अस्मद् अङ्ग के मपर्यन्त यूय और वय आदेश होते हैं जस् के परे रहने पर)

उदा०—यूयम् । वयम् ।

त्वाहौ सौ ७।२।९४

प० वि—त्वाहौ १।२ सौ ७।१

अर्थ—[युष्मदस्मदोः मपर्यन्तस्य] युष्मदस्मदोः मपर्यन्तस्य त्व अह अत्येतावादेशौ भवतः सौ परतः । (युष्मद् और अस्मद् के स्थान में मपर्यन्त त्व और अह आदेश होते हैं सु के परे रहने पर)

उदा०—त्वम् । अहम् ।

तुभ्यमह्यौ ङयि ७।२।९५

प० वि०—तुभ्यमह्यौ १।२ ङयि ७।१

अर्थ—[युष्मदस्मदोः मपर्यन्यस्य] युग्मदस्मदोमपर्यन्तस्य तुभ्य मह्य

इत्येतावादेशौ भवतः ङयि परतः। (युष्मद् और अस्मद् के स्थान में मपर्यन्त तुभ्य और मह्य आदेश होते है ङे के परे रहने पर)

उदा०—तुभ्यम्। मह्यम्।

तवममौ ङसि ७।२।९६

प० वि०—तवममौ १।२ ङसि ७।१

अर्थ—[युष्मदस्मदोः मपर्यन्तस्य] युष्मदस्मदोर्मपर्यन्तस्य तव मम इत्येतावादेशौ भवतः ङसि परतः।

(युष्मद् और अस्मद् के स्थान में मपर्यन्त तव और मम आदेश होते हैं ङस् के परे रहने पर)

उदा०—तव। मम।

त्वमावेकवचने ७।२।९७

प० वि०—त्वमौ १।२ एकवचने ७।१

अर्थ—[युष्मदस्मदोः मपर्यन्तस्य] युष्मदस्मदोर्मपर्यन्तस्य त्व म इत्येतावादेशौ भवतः एकवचने विभक्तौ परतः। (युष्मद् और अस्मद् के मपर्यन्त स्थान में त्व और म क्रमशः आदेश होते हैं, एकवचन विभक्ति के परे रहने पर)

उदा०-त्वाम्। माम्। त्वया। मया। त्वत्। मत्।। त्वयि। मयि।

प्रत्ययोत्तरपदयोश्च ७।२।९८

प० वि०—प्रत्ययोत्तरपदयोः ७।२ च अ०। स०— उत्तरं च तत् पदं चेति उत्तारपदम्। प्रत्ययश्च उत्तरपदं चेति प्रत्ययोत्तरपदे तयोः प्रत्ययोत्तरपदयोः।

अर्थ—[युष्मदस्मदोः मपर्यन्तस्य एकवचने] प्रत्यये उत्तरपदे च परतः एकार्थयोर्युष्मदस्मदोर्मपर्यन्तस्य त्व म इत्येतावादेशौ भवतः। (प्रत्यय और उत्तरपद के परे रहने पर एक अर्थ वाले युष्मद् और अस्मद् के स्थान में त्व और म आदेश होते हैं)

उदा०—तवार्थं त्वदीयः। मदीयः। अतिशयेन त्वम्। त्वत्तरः। मत्तरः। उत्तरपदे। तव पुत्रस्त्वत्पुत्रः। मत्पुत्रः।

सि०—युष्मद् छ। त्व अद् छ। त्वद् ईय। त्वदीयः। त्वत्पुत्रः। युष्मद् ङस् पुत्र सु। युष्मद् पुत्र। त्व अद् पुत्र। त्वद् पुत्र। त्वत्पुत्र सु। त्वत्पुत्रः॥

त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ ७।२।९९

प० वि०—त्रिचतुरोः ६।२ स्त्रियाम् ७।१ तिसृचतसृ (अविभक्ति०)

अर्थ—त्रि चतुर् इत्येतयोः स्त्रियां तिसृचतसृ इत्येतावादेशौ भवतो विभक्तौ परतः। (त्रि और चतुर् के स्थान में स्त्रीलिङ्ग में तिसृ और चतसृ आदेश होते हैं विभक्ति के परे रहने पर)

उदा०—तिस्रः। तिस्रः। तिसृभिः। तिसृभ्यः। तिसृभ्यः। तिसृणाम्। तिसृषु। चतस्रः। चतस्रः। चतसृभिः। चतसृभ्यः। चतसृभ्यः। चतसृणाम्। चतसृषु।

अचि र ऋतः ७।२।१००

प० वि०—अचि ७।१ रः १।१ ऋतः ६।१

अर्थ—[तिसृचतसृ विभक्तौ] तिसृचतसृ इत्येतयोर्ऋतः स्थाने रेफादेशो भवति अजादौ विभक्तौ परतः। (तिसृ और चतसृ के ऋकार के स्थान में रेफ आदेश होता है अजादि विभक्ति के परे रहने पर)

उदा०—तिस्रः तिष्ठन्ति। तिस्रः पश्य। चतस्रः तिष्ठन्ति। चतस्रः पश्य।

जराया जरसन्यतरस्याम् ७।२।१०१

प० वि०—जरायाः ६।१ जरस् १।१ अन्यतरस्याम् अ०।

अर्थ—[अचि विभक्तौ] जरा इत्येतस्य जरस् इत्ययमादेशो भवति अन्यतरस्याम् अजादौ विभक्तौ परतः। (जरा के स्थान में अजादि विभक्ति के परे रहने पर जरस् यह आदेश होता है विकल्प करके)

उदा०—जरा। जरे। जराः। जराम्। जरे। जराः। जरया। जराभ्याम्। जराभिः। जरायै। जराभ्याम्। जराभ्यः। जरायाः। जराभ्याम्। जराभ्यः। जरायाः। जरयोः। जराणाम्। जरायाम्। जरयोः। जरासु। हे जरे। हे जरे। हे जराः। जरसौ। जरसः। जरसम्। जरसौ। जरसः। जरसा। जरसे। जरसः। जरसः। जरसोः। जरसाम्। जरसि। जरसोः। हे जरसौ। हे जरसः।

त्यदादीनामः ७।२।१०२

प० वि०—त्यदादीनाम् ६।३ अः १।१ स०—त्यद् आदिर्येषां ते त्यदादयः तेषाम् त्यदादीनाम्।

अर्थ—[विभक्तौ] त्यदादीनामकारादेशो भवति विभक्तौ परतः।

(त्यद् इत्यादि को अकार आदेश होता है विभक्ति के परे रहने पर)

उदा०—त्यद् । स्यः । त्यौ । त्ये । तद् । सः । तौ । ते ।

किमः कः ७।२।१०३

प० वि०—किमः ६।१ कः १।१

अर्थ—[विभक्तौ] किम् इत्येतस्य स्थाने क इत्ययमादेशो भवति विभक्तौ परतः । (किम् के स्थान में क आदेश होता है विभक्ति के परे रहने पर)

उदा०—कः । कौ । के ।

कु तिहोः ७।२।१०४

प० वि०—कु १।१ तिहोः ७।२

अर्थ—[किमः विभक्तौ] तकारादौ हकारादौ च विभक्तौ परतः किमः कु इत्ययमादेशो भवति । (तकारादि और हकारादि विभक्ति के परे रहने पर किम् के स्थान में कु यह आदेश होता है)

उदा०—कुतः । कुत्र । कुह । ❀तिहोरितीकार उच्चारणार्थः❀

क्वाति ७।२।१०५

प० वि०—क्व । अविभ । अति ७।१

अर्थ—[किमः विभक्तौ] अत् इत्यस्यां विभक्तौ परतः किमः क्व इत्ययमादेशो भवति ।(अत् विभक्ति के परे रहने पर किम् के स्थान में क्व आदेश होता है)

उदा०—क्व गमिष्यसि ।

सि०—साधनं तु तद्धितप्रकरणे द्रष्टव्यम् ॥

तदोः सः सावनन्त्ययोः ७।२।१०६

प० वि०—तदोः ६।२ सः १।१ सौ ७।१ अनन्त्ययोः ६।२ स०—तश्च दश्चेति तदौ तयोः तदोः ।

अर्थ—[त्यदादीनाम] त्यदादीनाम् अनन्त्ययोस्तदोः स्थाने सकारादेशो भवति सौ परतः । (त्यदादियों के अनन्त्य=जो अन्त में न हों उन तकार और दकार के स्थान में सकार आदेश होता है सु के परे रहने पर)

उदा०—तकारस्य—त्यद् । स्यः । तद् । सः । एतद् । एषः । अदस् असौ ।

अदस औ सुलोपश्च ७।२।१०७

प० वि०—अदसः ६।१ औ (अविभ०) सुलोपः १।१ च अ० ।

अर्थ—[सौ] अदसः सौ परतः औकारादेशो भवति सोश्च लोपो भवति। (अदस् शब्द के अन्तिम सकार के स्थान में औकार आदेश होता है, सु के परे रहने पर और सु का लोप होता है)

उदा०—असौ।

सि०—अदस्। अदस् सु। अद औ। अद औ। अस औ। असौ।

इदमो मः ७।२।१०८

प० वि०—इदमः ६।१ मः १।१

अर्थ—[सौ] इदमः सौ परतो मकारान्तादेशो भवति।

(इदम् अङ्ग का मकारान्त आदेश होता है सु के परे रहने पर)

※मकारस्य मकारवचनं त्यदादीनामः इति अत्वबाधनार्थम्※

उदा०—इयम्। अयम्।

दश्च ७।२।१०९

प० वि०—दः ६।१ च अ०।

अर्थ—[इदमः विभक्तौ मः] इदमो दकारस्य स्थाने मकारादेशो भवति विभक्तौ परतः। (इदम् के दकार के स्थान में मकार आदेश होता है विभक्ति के परे रहने पर)

उदा०—इमौ। इमे। इमम्। इमौ। इमान्।

यः सौ ७।२।११०

प० वि०—यः १।१ सौ ७।१

अर्थ—[इदमः दः] इदमो दकारस्य स्थाने यकारादेशो भवति सौ परतः। (इदम् के दकार के स्थान में यकार आदेश होता है सु के रहने पर)

उदा०—इयम्

इदोऽय् पुंसि ७।२।१११

प० वि०—इदः ६।१ अय् १।१ पुंसि ७।१

अर्थ—[इदमः सौ] इदमः इद्रूपस्य पुंसि सौ परतोऽय् इत्ययमादेशो भवति। (इदम् के इद् भाग का अय आदेश होता है सु के परे रहने पर पुल्लिङ्ग में)

उदा०—अयम् वेदपाठी ।

अनाप्यकः ७।२।११२

प० वि०—अन (अविभ) आपि ७।१ अकः ६।१

अर्थ—[इदमः इदः विभक्तौ] इदमोऽककारस्य इद्रूपस्य स्थाने अन इत्ययमादेशो भवति आपि विभक्तौ परतः ।

(ककाररहित इदम् के इद् भाग के स्थान में अन आदेश होता है आप् विभक्ति के परे रहने पर)

उदा०—*आपीति प्रत्याहारः तृतीयैकवचनात्प्रभृति सुपः पकारेण* अनेन । अनयोः ।

हलि लोपः ७।२।११३

प० वि०—हलि ७।१ लोपः १।१

अर्थ—[इदमः अकः इदः] इदमोऽकक्कारस्य इद्रूपस्य लोपो भवति हलादौ विभक्तौ परतः। (ककाररहित इदम् के इद् भाग का लोप होता है हलादि विभक्ति के परे रहने पर)

उदा०—आभ्याम् । एभिः । एभ्यः । एषाम् । एषु ।

वृद्धिप्रकरणम्—

मृजेर्वृद्धिः ७।२।११४

प० वि०—मृजेः ६।१ वृद्धिः १।१

अर्थ–मृजेरङ्गस्य वृद्धिर्भवति । (मृज् अङ्ग की वृद्धि होती है)

उदा०—मार्ष्टा । मार्ष्टुम् । मार्ष्टव्यम् ।

सि०—मृज् तृच् । मार्ज् तृ । मार्ष् तृ । मार्ष् टृ । मार्ष्टा ।

अचो ञ्णिति ७।२।११५

प० वि०—अचः ६।१ ञ्णिति ७।१ स०—ञश्च णश्चेति ञ्णौ । इच्च इच्चेति इतौ । ञ्णौ इतौ यस्य स ञ्णित् तस्मिन् ञ्णिति ।

अर्थ—[वृद्धिः] अजन्तस्य अङ्गस्य वृद्धिर्भवति ञिति णिति च प्रत्यये परतः । (ञित् और णित् प्रत्यय के परे रहने पर अजन्त अङ्ग की वृद्धि होती है)

उदा०—ञिति—कारः । हारः । णिति—कुम्भकारः ।

अत उपधायाः ७।२।११६

प० वि०—अतः ६।१ उपधायाः ६।१

अर्थ-[वृद्धिः ञ्णिति] उपधायाः अकारस्य स्थाने वृद्धिर्भवति ञिति णिति च प्रत्यये परतः। (ञित् और णित् प्रत्यय के परे रहने पर उपधा के अकार के स्थान में वृद्धि होती है)

उदा०--ञिति-पाकः। त्यागः। णिति-पाचकः। पाठकः।

सि०--साधनं तु ण्वुल्तृचौ इत्यत्र द्रष्टव्यम्।

तद्धितेष्वचामादेः ७।२।११७

प० वि०--तद्धितेषु ७।३ अचाम् ६।३ आदेः ६।१

अर्थ--[अचः ञ्णिति वृद्धिः] तद्धिते ञिति णिति च प्रत्यये परतोऽङ्गस्याचामादेरचः स्थाने वृद्धिर्भवति। (तद्धित ञित् णित् प्रत्यय के परे रहने पर अङ्ग के अचों के आदि अच् के स्थान में वृद्धि होती है)

उदा०--ञिति--गार्ग्यः। वात्स्यः। णिति--औपगवः।

किति च ७।२।११८

प० वि०--किति ७।१ च अ०।

अर्थ--[तद्धितेषु अचामादेरचः वृद्धिः] किति च तद्धिते परताऽङ्गस्याचामादेरचः स्थाने वृद्धिर्भवति। (तद्धित कित् प्रत्यय के परे रहने पर अचों के आदि अच् के स्थान में वृद्धि होती है)

उदा०--नाडायनः। चारायणः।

सि०--साधनं तु नडादिभ्यो फक् इत्यत्र द्रष्टव्यम्।

इत्यष्टाध्यायी-प्रकाशिकायां सप्तमाध्याये द्वितीयः पादः

न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच् ७।३।३

प० वि०--न अ०। य्वाभ्याम् ५।२ पदान्ताभ्याम् ५।२ पूर्वौ १।२ तु अ०। ताभ्याम् ५।२ ऐच् १।१

अर्थ--[अचोऽञ्णिति वृद्धिः तद्धितेष्वचामादेः किति च] पदान्ताभ्याम् यकारवकाराभ्यामुत्तरस्य न वृद्धिः किन्तु ताभ्यां पूर्वौ क्रमादैचावागमौ भवतः तद्धिते ञ्णिति किति च परतः। (पदान्त यकार वकार के पूर्व क्रमशः ऐच् आगम होते हैं ञित णत कित् तिद्धित प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०--वैयाकरणः। सौवश्वः।

सि०--व्याकरणमधीते वेद वा इति विग्रहे--वि आकरण=

व्याकरण अम् अण्[1]। व्याकरण अ। व् ऐ याकरण अ। वै याकरण् अ। वैयाकरण सु। वैयाकरणः। शोभनोऽश्वः स्वश्वः इति विग्रहे-स्वश्वस्य अपत्यम् इति विग्रहः। स् औ श्व अ[2]। सौवश्वः।

द्वारादीनां च ७।३।४

अर्थ—द्वार इत्येवमादीनां य्वाभ्याम् उत्तरस्याचामादेरचः स्थाने वृद्धिर्न भवति किन्तु पूर्वौ तु ताभ्यामैजागमौ भवतः तद्धिते ञिति णिति किति च प्रत्यये परतः। (द्वार इत्यादि के यकार वकार के पश्चात् अचों के आदि अच् के स्थान में वृद्धि नहीं होती है किन्तु उसके पूर्व ऐच् का आगम होता है)

उदा०—द्वारपालस्येदं दौवारपालम्[3]। शौवस्तिकः[4]।

हनस्तोऽचिण्णलोः ७।३।३२

प० वि०—हनः ६।१ तः १।१ अचिण्णलोः ७।२

अर्थ—[ञ्णिति] हनस्तकारादेशो भवति ञिति णिति च प्रत्यये परतः चिण्णलौ वर्जयित्वा। (हन् को तकारादेश होता है ञित् णित् प्रत्यय के परे रहने पर चिण् और णल् को छोड़कर)

उदा०—घातयति। घातकः। ञित—घातो वर्त्तते।

सि०—हन् णिच्[5]। हन् इ। हान्[6] इ। हात् इ। घात्[7] इ। घाति शप् तिप्। घातयति। हन् ण्वुल्। घातकः। हन् घञ्। घातः। अचिण्णलोरिति किम्—अघानि[8]। जघान[9]।

आतो युक्चिण्कृतोः ७।३।३३

प० वि०—आतः ६।१ युक् १।१ चिण्कृतोः ७।२

अर्थ—[ञ्णिति] आकारान्तस्य अङ्गस्य चिणि कृति ञ्णिति च प्रत्यये परतः युगागमो भवति। (आकारान्त अङ्ग को युक् का आगम होता है चिण तथा ञित् णित् कृत् प्रत्यय के परे रहने पर)

१—तदधीते तद्वेद (४. २. ५९) २—शिवादिभ्योऽण् (४. १. ११२) ३—तस्येदम् (४. ३. १२०) ४—श्वस्तुट् च (४. ३. १५) ५—हेतुमति च (३. १. २६) ६—अत उपधायाः (७. २. ११६) ७—हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु (७. ३. ५४) ८—चिण् भावकर्मणोः (३. १. ६६) भावकर्मणोः (१. ३. १३) ९—चिणो लुक् (६. ४. १०४)

उदा०—चिण्—अदायि भवता। अधायि भवता। कृति ञिति—दायः। धायः। कृति णिति—दायकः। धायकः।

नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः ७।३।३४

प० वि०—न अ०। उदात्तोपदेशस्य ६।१ मान्तस्य ६।१ अनाचमेः ६।१ स०—उदात्तः उपदेशे यः स उदात्तोपदेशः तस्य। मोऽन्ते यस्य स मान्तः तस्य मान्तस्य ❀मकारोऽन्ते यस्य इति मन्तः तस्य मन्तस्य इति पाठः साधुतरः प्रतिभाति। यतः अशमि इत्यादीनि उदाहरणानि मकारान्तानि सन्ति न तु मान्तानि। अत्र अकार उच्चारणार्थोऽपि न मन्तव्यो भवतीति केचिदाहुः, तच्चिन्त्यम् अतो लरान्तस्य इति निर्देशात् आचार्यस्य हि एतादृशी शैली वर्तते अतः मकारे अकार उच्चारणार्थ एव।

न आचमिः अनाचमिः तस्य अनाचमेः।

अर्थ—[चिण्कृतोः ञ्णिति] उदात्तोपदेशस्य मकारान्तस्य अङ्गस्य आचमिवर्जितस्य चिणि कृति च ञ्णिति यदुक्तं तन्न भवति।

(उपदेश में उदात्त पढ़ा गया है ऐसे मकारान्त धातुओं को जो भी कुछ कहा गया है वह चिण् और ञित् णित् कृत् के परे रहने पर नहीं होता आचम् धातु को छोड़कर)

उदा०—अशमि। अतमि। अदमि। कृति—शमकः। दमकः। तमकः। शमः। तमः। दमः। ❀ अत उपधाया इति वृद्धिर्न भवति ❀ अनाचमेरिति किम्—आचामकः।

जनिवध्योश्च ७।३।३५

प० वि०—जनिवध्योः ६।२ च अ०।

अर्थ—[चिण्णलोः ञ्णिति यदुक्तं तन्न भवति।

(जन् और वध् धातु को चिण् तथा ञित् णित कृत् के परे रहने पर जो कुछ कहा गया है सो नहीं होगा)

उदा०—अर्पयति। ह्रेपयति। व्लेपयति। रेपयति। क्नोपयति। क्ष्मापयति। दापयति। धापयति।

❀ वधिः प्रकृत्यन्तरमस्ति व्यञ्जनान्तः, तस्यायं प्रतिषेधः न वधः इति आदेशस्य तस्य तु अदन्तत्वादेव वृद्धेरभावः ❀

उदा०—अजनि। जनकः। प्रजनः। अवधि। वधकः। वधः।

अर्त्तिह्रीव्लीरीक्नूयीक्ष्माय्यातां पुग्णौ ७।३।३६

प० वि०—अर्त्तिह्रीव्लीरीक्नूयीक्ष्माय्याताम् ६।३ पुक् १।१ णौ ७।१

स०—अर्तिश्च ह्रीश्च व्लीश्च रीश्च क्नूयीश्च क्ष्मायीश्च आश्चेति अर्त्ति-क्ष्मायातः तेषाम्।

अर्थ—ऋ गतिप्रापणयोः, ऋ गतौ (इति द्वयोरपि ग्रहणम्) ह्री लज्जायाम्, व्ली वरणे, री गतिशोषणयोः, रीङ् श्रवणे (इति द्वयोरपि ग्रहणम्) क्नूयी शब्दे, क्ष्मायी विधूनने इत्येतेषामङ्गानाम् आकारान्तानां च पुगागमो भवति णौ परतः।

(इन धातुओं को णिच् के परे रहने पर पुक् का आगम होता है)

शाच्छासाह्वाव्यावेपां युक् ७।३।३७

प० वि०—शाच्छासाह्वाव्यावेपां ६।३ युक् १।१

अर्थ—[णौ] शो तनूकरणे, छो छेदने, षोऽन्तकर्मणि, ह्वेञ् स्पर्द्धायां, व्येञ् संवरणे, वेञ् तन्तुसन्ताने, पा पाने, पै ओवै शोषण (इति द्वयोरपि ग्रहणम्) इत्येतेषामङ्गानां युगागमो भवति णौ परतः।

(इन धातुओं को युक् का आगम होता है णिच् के परे रहने पर)

उदा०—निशाययति। अवच्छाययति। अवसाययति। ह्वाययति। संव्याययति। वाययति। पाययति।

सि०—शो। शो णिच्। शा[1] युक् इ। शायि। शायि लट्। शायि शप् तिप्। शाययति। एवं सर्वत्र।

भियो हेतुभये षुक् ७।३।४०

प० वि०—भियः ६।१ हेतुभये ७।१ षुक् १।१

स०—हेतुः स्वतन्त्रस्य कर्त्तुः प्रयोजकः। बिभेत्यस्मादिति भयम्। हेतोर्भयं हेतुभयम् तस्मिन् हेतुभये।

अर्थ—[णौ] भी इत्येतस्य हेतुभयेऽर्थे षुगागमो भवति णौ परतः। (स्वतन्त्रकर्ता का प्रयोजक हेतु उससे भय इसके अर्थ में भी को षुक् का आगम होता है)

उदा०—मुण्डो भीषयते।

स्फायो वः ७।३।४१

प० वि०—स्फायः ६।१ वः १।१

१—आदेच उपदेशेऽशिति (६. १. ४४)

अर्थ—[णौ] स्फाय् इत्येतस्य अङ्गस्य वकारादेशो भवति णौ परतः । (स्फाय् को वकार आदेश होता है णिच् के परे रहने पर)

उदा०—स्फावयति ।

शदेरगतौ तः ७।३।४२

प० वि०—शदेः ६।१ अगतौ ७।१ तः १।१

अर्थ—[णौ] शदेरङ्गस्य अगतौ अर्थे वर्तमानस्य तकारादेशो भवति णौ परतः । (अगति अर्थ में वर्तमान शद् धातु को तकार आदेश होता है णिच् के परे रहने पर)

उदा०— पुष्पाणि शातयति । फलानि शातयति ।

रुहः पोऽन्यतरस्याम् ७।३।४३

प० वि०—रुहः ६।१ पः १।१ अन्यतरस्याम् अ० ।

अर्थ—[णौ] रुह् इत्येतस्य पकारादेशो भवति अन्यतरस्याम् णौ परतः। (रुह को विकल्प से पकार आदेश होता है णिच् के परे रहने पर)

उदा०—व्रीहीन् रोपयति । व्रीहीन् रोहयति ।

प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुपः ७।३।४४

प० वि०—प्रत्ययस्थात् ५।१ कात् ५।१ पूर्वस्य ६।१ अतः ६।१ इत् १।१ आपि ७।१ असुपः ५।१

अर्थ—प्रत्ययस्थात् ककारात् पूर्वस्य अकारस्य स्थाने इकारादेशो भवति आपि परतः स चेदाप्सुपः परो न भवति ।

(प्रत्यय में स्थित ककार के पूर्व अकार के स्थान में इकार आदेश होता है आप् के परे रहने पर, यदि वह आप् सुप् के पश्चात् नहीं हो तो)

उदा०—जटिलिका । मुण्डिका । कारिका । हारिका ।

सि०—जटिल क[1] । जटिलिका । कारक टाप् । कारिका ।

ठस्येकः ७।३।५०

प० वि०—ठस्य ६।१ इकः १।१

अर्थ—[अङ्गस्य इति सम्बन्धे षष्ठी] , अङ्गस्य सम्बन्धिनष्ठकारस्य स्थाने इक इत्ययमादेशो भवति ।

(अङ्ग का सम्बन्धी जो ठकार उसके स्थान में इक आदेश होता है)

उदा०—लाक्षिकम् ।

१—प्रागिवात्कः (५. ३. ७०)

सि०—लाक्षा ठक्[1]। लाक्षा ठ। लाक्षा इक[2]। लाक्[3] इक। लाक्षिक। लाक्षिक सु। लाक्षिक अम्[4]। लाक्षिकं वस्त्रम्।

इसुसुक्तान्तात्कः ७।३।५१

प० वि०—इसुसुक्तान्तात् ५।१ कः १।१ स०—इस् च उस् च उक च तश्चेति इसुसुक्तम्। इसुसुक्तम् अन्ते यस्येति इसुसुक्तान्तः तस्मात्।

अर्थ—[ठस्य] इसन्तात् उसन्तात् उगन्तात् तकारान्ताच्च अङ्गाद् उत्तरस्य ठस्य स्थाने क इत्ययमादेशो भवति। (इसन्त, उसन्त, उगन्त और तकारान्त अङ्ग के पश्चात् ठ के स्थान में क आदेश होता है)

उदा०—इस्—सार्पिष्कः। उस्—धानुष्कः। याजुष्कः। उक्—नैषादकर्षुकः। शाबरजम्बुकः। मातृकम्। पैतृकम्। तान्तात्—औदश्वित्कः।

सि०—सर्पिस् ठक्[5]। सर्पिस् ठ। सर्पिस् क[6] सर्पिरु[7] क। सार्पिर् क। सार्पिः[8] क। सार्पिष्क[9] सु। सार्पिष्क। धनुस् ठक्[10]। धानुस् क। धानुर् क। धानुः क। धानुष्क[9] सु। धानुष्कः। यजुस् ठक्[11]। याजुस् क[12]। याजुर् क। याजुः क। याजुष्क सु। याजुष्कः। निषादकर्षू। शबरजम्बू। निषादकर्ष्वां शबरजम्ब्वां जात इति विग्रहः निषादकर्षू ठञ्[13]। निषादकर्षू क। निषादकर्षुक[14]। नैषादकर्षुकः। मातुरागतं पितुरागतमिति विग्रहः। मातृ ठञ्[15]। मातृ क। मातृकः। पैतृकः। उदश्वित् ठक्[16]। उदश्वित् क। औदश्वित्क सु। औदश्वित्कः॥

चजोः कु घिण्ण्यतोः ७।३।५२

प० वि०—चजोः ६।२ कु १।१ घिण्ण्यतोः ७।२ स०—चश्च

१—लक्षारोचनाट्ठक् (४. २. २) २—ठस्येकः (७. ३. ५०) ३—यस्येति च (६. ४. ११८) ४—अतोऽम् (७. १. २४) ५—तदस्य पण्यम् इति (४. ४. ५१) प्राग्वहतीयष्ठक् ६—इसुसुक्तान्तात्कः (७. ३. ५१) ७—ससजुषोः रुः (८. २. ६६) ८—खरवसानयोर्विसर्जनीयः (८. ३. १५) ९—इसुसोः सामर्थ्ये (८. ३. ४४) १०—तेन दीव्यति खनति जयति जितम् (४.४. २) ठक् ११—तेन दीव्यतीति (४. ४. २) ठक् १२—किति च (७. २. ११७) १३—ओर्देशे ठञ् (४. २. ११९) १४—केऽणः (७. ४. १३) ह्रस्वः १५—ऋतष्ठञ् (४. ३. ७३) १६—उदश्वितोऽन्यतरस्याम् (४ २. १९)

जश्चेति चजौ तयोः चजोः। घिश्च ण्यच्च इति घिण्यतौ तयोः घिण्यतोः।

अर्थ—चकारजकारयोः कवर्गादेशो भवति घिति ण्यति च प्रत्यये परतः। (चकार और जकार के स्थान में कवर्ग आदेश होता है घित् और ण्यत् प्रत्यय के परे रहने पर)

❀अत्र यथासंख्यं नास्ति❀

उदा०—घिति-पाकः। रागः। त्यागः। ण्यति-पाक्यम्। वाक्यम्।

सि०—डुपचष्। पच् घञ्। पच् अ। पाच् अ। पाक् अ। पाक। पाक सु। पाकः। रागः। त्यागः इति भावे सूत्रे साधनं द्रष्टव्यम्। पच् ण्यत्। पाक्यम्। वच् ण्यत्। वाक्यम्।

हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु ७।३।५४

प० वि०—हः ६।१ हन्तेः ६।१ ञ्णिन्नेषु ७।३ स०—ञश्च णश्चेति ञ्णौ। इ च इच्चेति इतौ। ञ्णौ इतौ यस्येति ञ्णित्। ञ्णिच्च नश्चेति ञ्णिन्नाः तेषु ञ्णिन्नेषु।

अर्थ—[कु] हन्तेर्हकारस्य स्थाने कवर्गादेशो भवति ञिति णिति च प्रत्यये परतो नकारे च। (हन् धातु के हकार के स्थान में कवर्ग आदेश होता है, ञित णित् प्रत्यय के परे रहने पर और नकार के परे रहने पर)

उदा०—ञिति-घातो वर्तते। णिति-घातयति। घातकः। साधुघाती। नकारे-घ्नन्ति। घ्नन्तु। अघ्नन्।

अभ्यासाच्च ७।३।५५

प० वि०—अभ्यासात् ५।१ च अ०।

अर्थ—[हो हन्तेः कु] अभ्यासादुत्तरस्य हन्तेर्हकारस्य कवर्गादेशो भवति। (अभ्यास के पश्चात् हन् धातु के हकार का कवर्ग आदेश होता है)

उदा०—जिघांसति। जङ्घन्यते। अहं जघन।

सि०—जिघांसति इति अस्य साधनं अज्झनगमां सनि इत्यत्र द्रष्टव्यम्। जङ्घन्यते। हन् यङ्[1]। हन् हन् य[2]। ह[3] हन् य। झ[4] हन् य। ज[5] हन् य। ज घन्[6] य। ज नुक्[7] घन् य। जन् घन्य।

१—धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ् (३. १. २२) २—सन्यङोः (६. १. ९) ३—पूर्वोऽभ्यासः (६. १. ४) अत्र लोपोऽभ्यासस्य (७. ४. ५८) हलादिः शेषः (७. ४. ६०) ४—कुहोश्चुः (७. ४. ६२) ५—अभ्यासे चर्च (८. ४. ५३) ६—अभ्यासाच्च (७. ३. ५५) ७—नुगतो० (७. ४. ८५)

जंघन्य[1]। जङ्घन्य[2] शप् त। जङ्घन्यते। जघन। उत्तमपुरुषे णल यदा णित्त्वं नास्ति तदैतदुदाहरणम्। णित्त्वपक्षे तु पूर्ववदेव सिद्धम्।

हेरचङि ७।३।५६

प० वि०—हेः ६।१ अचङि ७।१

अर्थ—[हः अभ्यस्तात् कु] हिनोतेर्हकारस्य अभ्यासादुत्तरस्य कवर्गादेशो भवति अचङि। (हि गतौ धातु के हकार के स्थान में कवर्ग आदेश होता है, अभ्यास के पश्चात् चङ् परे रहने पर नहीं)

उदा०—प्रजिघीषति। प्रजेघीयते। प्रजिघाय। अचङीति किम् प्राजीहयत् दूतम्।

सि०—हि सन्। हि सन्[3]। ही स[4]। ही ही स। भि ही स। जि ही स। जि घी[5] स। जिघीष शप् तिप्। जिघीषति। प्रजिघीषति। हि यङ्। ही य[6]। ही ही य। हि ही य। भि ही य। जि ही य। जि घी य[3]। जे घीय[7] शप् त। जेघीयत। जेघीयते। प्रजेघीयते। हि णल्। हि हि णल्। भि हि अ। जि घि अ। जि घै अ। जिघाय॥ प्रजिघाय। प्राजीहयत्। हि णिच्। है इ[8]। हाय्[9] इ। हाय् इ चङ्[10]। हय्[11] इ अ। हय्[12] अ। हि हय्[13] अ। भि हय् अ। जि हय् अ। जी हय[14] तिप्। जीहयत्। अट् जीहयत्।

सन्लिटोर्जेः ७।३।५७

प० वि०—सन्लिटोः ७।२ जेः ६।१

अर्थ—[अभ्यासात् कु] अभ्यासादुत्तरस्य जेरङ्गस्य कवर्गादेशो भवति सनि लिटि च प्रत्यये परतः। (अभ्यास के पश्चात् जि जये इस धातु

१—नश्चापदान्तस्य झलि (८. ३. २४) २—अनुस्वारस्य० (८. ४. ५७) ३—एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् (७. २. १०) इको झल् (१. २. ९) क्ङिति च (१. १. ५) ४—अज्झनगमां सनि (६. ४. १६) ५—हेरचङि (७. ३. ५६) ६—अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः (७. ४. २५) ७—गुणो यङ्लुकोः (७. ४. ८२) ८—अचो ञ्णिति (७. २. ११५) ९—एचोऽयवायावः (६. १. ७५) १०—णिश्रीत्यादिना चङादेशः (३. १. ४८) ११—णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः (७. ४. १) १२—णेरनिटि (६. ४. ५१) १३णौ कृतं स्थानिवद् भवतीति हि-शब्दस्य द्विर्वचनम् १४—दीर्घो लघोः (७. ४. ९४)

का कवर्ग आदेश हो जाता है सन् और लिट् के परे रहने पर)

लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणमिति परिभाषया ज्या वयोहानौ इति एतस्य न ग्रहणं भवति

उदा०—सनि—जिगीषति लिटि—जिगाय। *आदेः परस्येति परस्यादेर्जकारस्य कुत्वम्*

विभाषा चेः ७।३।५८

प० वि०—विभाषा १।१ चेः ६।१

अर्थ—[अभ्यासात् कु सन्लिटोः] अभ्यासादुत्तरस्य चिनोतेरङ्गस्य विभाषा कवर्गादेशो भवति सनि लिटि च परतः। (अभ्यास के पश्चात् चि को विकल्प से कवर्ग आदेश होता है सन् और लिट् के परे रहने पर)

उदा०—चिचीषति। चिकीषति। चिचाय। चिकाय।

घो[र्लोपो] लेटि वा ७।३।७०

ओतः श्यनि ७।३।७१

प वि०—ओतः ६।१ श्यनि ७।१

अर्थ—[लोपः] ओकारान्तस्य अङ्गस्य लोपो भवति श्यनि परतः। (ओकारान्त अङ्ग का लोप होता है, श्यन् के परे रहने पर)

उदा०—शो—निश्यति। छो—अवच्छ्यति। दो—अवद्यति। सो—अवस्यति।

क्सस्याचि ७।३।७२

प० वि०—क्सस्य ६।१ अचि ७।१

अर्थ—[लोपः] क्सस्य अजादौ प्रत्यये परतो लोपो भवति। (क्स का लोप होता है अजादि प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०—अधुक्षाताम्। अधुक्षाथाम्। अधुक्षि। अचि इति किम्—अधुक्षत्। अधुक्षाताम्।

लुग्वा दुहदिहलिहगुहामात्मनेपदे दन्त्ये ७।३।७३

प० वि०—लुक् १।१ वा अ०। दुहदिहलिहगुहाम् ६।३ आत्मनेपदे ७।१ दन्त्ये ७।१

अर्थ—[क्सस्य] दुह दिह लिह गुह इत्येतेषामात्मनेपदे दन्त्यादौ परतः क्सस्य वा लुग्भवति। (इन धातुओं के पश्चात् क्स का विकल्प से

लुक् होता है आत्मनेपद में दांत से उच्चारण किये जाने वाले वर्ण है आदि में जिसके, ऐसे प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०—दुह—अदुग्ध । अधुक्षत । अदुग्धाः । अधुक्षथाः । अधुग्ध्वम् । अधुक्षध्वम् । अदुह्वहि । अधुक्षावहि । दिह—अदिग्ध । अधिक्षत । लिह—अलीढ । अलिक्षत । गुह—न्यगूढ । न्यघुक्षत । आत्मनेपद इति किम्—अधुक्षत् । दन्त्य इति किम् । अधुक्षामहि । ॐदन्त्यौष्ठ्योऽपि वकारो दन्त्ये इति गृह्यते । यदि स न गृह्येत ततस्तौ ग्रहणमेव कुर्तं स्यात्ॐ (दन्त से यहां दांत और ओष्ठ्य से उच्चारण किये जाने वाले वकार का भी ग्रहण करना चाहिये । क्योंकि आचार्य का यही अभिप्राय है, यदि दांत वाले वर्ण का करना अभिष्ट होता तो, 'तु' का सप्तमी एकवचन 'तौ' से ही निर्देश करते जिससे केवल तवर्गादि का बोध होता परन्तु ऐसा नहीं किया अतएव यहां वकार का भी ग्रहण करना चाहिये)

सि०—अदुग्ध । दुह् । दुह् लुङ् । दुह् त । दुह् क्स[1] त । दुह् स त । दुघ्[2] स त । दुघ्[3] त । दुघ् ध[4] । दुग्ध । अट् दुग्ध । अदुग्ध । अधुक्षत । दुह् त । दुह् क्स त । दुह् स त । दुघ् स त । धुघ्[5] स त । धुक्[6] स त । धुक्षत । अट् धुक्षत । अधुक्षत । अदुग्धाः । दुह् थास् । दुह् क्स थास् । दुह् थास् । दुघ् थास् । दुघ् धास् । दुग्धाः । अट् दुग्धाः । अदुग्धाः । ॐअत्र एकाचो वशो भष् इत्यनेन भष्भावो न भवति पूर्वत्रासिद्धम् इति धकारस्य असिद्धत्वात्ॐ

शमामष्टानां दीर्घः श्यनि ७।३।७४

प० वि०—शमाम् ६।३ अष्टानाम् ६।३ दीर्घः १।१ श्यनि ७।१

अर्थ—शमाम् अष्टानाम् दीर्घो भवति श्यनि परतः । (शम् इत्यादि आठ धातुओं को दीर्घ होता है श्यन् के परे रहने पर)

उदा०—शाम्यति । शाम्यतः । शाम्यन्ति ।

ष्ठिवुक्लम्याचमां शिति ७।३।७५

प० वि०—ष्ठिवु-क्लमु-आचमाम् ६।३ शिति ७।१

अर्थ--[दीर्घः] ष्ठिवु क्लमु आचम् इत्येतेषां दीर्घो भवति शिति परतः । (इन धातुओं का दीर्घ होता है शित् प्रत्यय के परे रहने पर)

१—शल इगुपधादनिट क्सः (३. १: ४५) २—दादेर्धातोर्घ (८. २. ३२) ३—लुग्वा० (७. ३. ७३) ४—झषस्तथोर्धोऽधः (८. २. ४०) ५—एकाचो वशो० (८. २. ३७) ६—खरि च (८. ४. ५६)

उदा०--ष्ठीवति । क्लामति । आचामति ।

क्रमः परस्मैपदेषु ७।३।७६

प० वि०—क्रमः ६।१ परस्मैपदेषु ७।३

अर्थ—[शिति दीर्घः] क्रमः परस्मैपदेषु शिति परतो दीर्घो भवति । (क्रमु पादविक्षेपे इस धातु का दीर्घ होता है परस्मैपद में शित् प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०—क्रामति । क्रामतः । क्रामन्ति ।

इषुगमियमां छः ७।३।७७

प० वि०—इषुगमियमाम् ६।३ छः १।१

अर्थ—[शिति] इषु गमि यम इत्येतेषां शिति परतश्छकारादेशो भवति । (इषु, गम और यम धातुओं का छकारादेश होता है शित् प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०—इच्छति । गच्छति । यच्छति ।

सि०—इषु । इष् लट् । इष् तिप् । इष् शप् ति । इष् अ ति । इछ् अ ति । इ तुक् छ् अ ति । इच्छति ।

पाघ्राध्मास्थाम्नादाण्दृश्यर्त्तिसर्त्तिशदसदां पिबजिघ्रधमतिष्ठमनयच्छपश्यर्च्छधौशीयसीदाः ७।३।७८

प० वि०—पा-घ्रा-ध्मा-स्था-म्ना-दाण्-दृशि-अर्ति--सर्त्ति-शद-सदाम् ६।३ पिब-जिघ्र-धम-तिष्ठ-मन-यच्छ-पश्य-ऋच्छ-धौ-शीय-सीदाः १।३

अर्थ—[शिति] पा पाने, घ्रा गन्धोपादाने, ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः, ष्ठा गतिनिवृत्तौ, म्ना अभ्यासे, दाण् दाने, दृशिर् प्रेक्षणे, ऋ गतिप्रापणयोः, ऋ सृ गतौ च, शद्लृ विशरणे, षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु भौवादिकः इत्येतेषां धातूनां स्थाने पिबादयः आदेशा भवन्ति शिति (इन धातुओं के स्थान में पिब इत्यादि आदेश होते हैं शित् प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०--❀पिब इत्यकारान्तोऽयमादेशः, अन्येषाम अकार उच्चारणार्थः❀

उदा०--पिबति । जिघ्रति । धमति । तिष्ठति । मनति । यच्छति । पश्यति । ऋच्छति । धावति । शीयते ❀शदेः शित १।३।६० इत्यात्मनेपदम्❀ सीदति ।

ज्ञाजनोर्जा ७।३।७९

प० वि०—ज्ञाजनोः ६।२ जा अविभ० ।

अर्थ—[शिति] ज्ञा, जनी प्रादुर्भावे (दैवादिकस्य ग्रहणम्) इत्येतयोः स्थाने जा इत्ययमादेशो भवति शिति । (ज्ञा और जनी धातु के स्थान में जा यह आदेश होता है, शित् प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०—जानाति । जायते ।

प्वादीनां ह्रस्वः ७।३।८०

प० वि०—प्वादीनाम् ६।३ ह्रस्वः १।१

अर्थ—[शिति] पूञ् पवने इत्यादीनां ह्रस्वो भवति शिति परतः । (पूञ् इत्यादि धातुओं का ह्रस्व होता है शित् प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा—पुनाति । लुनाति ।

गुणप्रकरणम्—

मिदेर्गुणः ७।३।८२

प० वि०—मिदेः ६।१ गुणः १।१

अर्थ—[शिति] मिदेरङ्गस्य गुणो भवति शिति प्रत्यये परतः ।
(शित् प्रत्यय के परे रहने पर मिद् अङ्ग का गुण होता है)

उदा०—मेद्यति । मेद्यतः । मेद्यन्ति । ※लघूपधगुणस्य प्रतिषेधस्य पुनः गुणस्य विधानार्थमिदं वचनम्※

जुसि च ७।३।८३

प० वि०—[गुणः अचि] अजादौ जुसि च प्रत्यये परतोऽङ्गस्य गुणो भवति । (अजादि जुस् के परे रहने पर अङ्ग का गुण होता है)

उदा०—अजुहवुः । अबिभयुः । अजादौ इति किम्—जागृयुः, चिनुयुः, सुनुयुः । आशिषि तु जागर्यात् । जागर्यास्ताम् । जागर्यासुः

सार्वधातुकार्धधातुकयोः ७।३।८४

प० वि०—सार्वधातुकार्धधातुकयोः ७।२ स०—सार्वधातुकं च आर्धधातुकं चेति सार्वधातुकार्धधातुके तयोः सार्वधातुकार्धधातुकयोः ।

अर्थ—[गुणः] सार्वधातुके आर्धधातुके च प्रत्यये परतो अङ्गस्य गुणो भवति । (सार्वधातुक और आर्धधातुक प्रत्यय के परे रहने पर अङ्ग का गुण होता है)

उदा०—तरति । नयति । भवति । आर्धधातुके–भविता । भवितुम् ।

जाग्रोऽविचिण्णल्ङित्सु ७।३।८५

प० वि०—जाग्रः ६।१ अविचिण्णल्ङित्सु ७।३

अर्थ—[गुणः] जागृ इत्येतस्य अङ्गस्य गुणो भवति अविचिण्णल्ङित्सु परतः। (जागृ अङ्ग का गुण होता है वि, चिण्, णल् और ङित् प्रत्ययों को छोड़ कर अन्य प्रत्ययों के परे रहने पर)

उदा०—जागरयति। जागरकः। साधुजागरी। जागरो वर्तते। कथम् अजागरुः। अहं जजागर इति। अविचिण्णल्ङित्सु इति प्रतिषेधात् अजागरुरित्यत्र जुसि च इत्यनेनापि प्राप्तस्य गुणस्य प्रतिषेधः प्राप्नोति एवमहं जजागर इत्यत्र णलुत्तमो वेति (७।१।९१) वचनाण्णित्वं यदा नास्ति तदा सार्वधातुकार्धधातुकयोरिति प्राप्तस्यापि गुणस्य प्रतिषेधः प्राप्नोति णलि निषेधात् इति कथं? तदुच्यते—प्रतिषेधो द्विधा भवति। प्रसज्यप्रतिषेधः पर्युदासप्रतिषेधश्च। प्रसज्यप्रतिषेधे हि लक्षणान्तरेणापि प्रसक्तस्य प्रतिषेधो भवति, प्रतिषेधार्थस्य प्राधान्यात्। पर्युदासप्रतिषेधे तु विधानस्य प्राधान्यं भवति न तु प्रतिषेधस्य तेन सत्यपि पर्युदासे यदि केनचित् अन्येन सूत्रेण कार्यं प्राप्नोति तद् भवत्येव। एवं प्रकृते पर्युदासप्रतिषेधः। अतः यदि अन्येन सूत्रेण गुणो प्राप्नुयात् तदा भवेदेव। तथा च सति अजागरुः इत्यत्र जुसि चेति गुणः, अहं जजागर इत्यत्रापि सार्वधातुकार्धधातुकयोरिति गुणो भवत्येव।

पुगन्तलघूपधस्य च ७।३।८६

प० वि०—पुगन्तलघूपधस्य ६।१ च अ०। स०—पुकि अन्तः पुगन्तः सुप्सुपा इति समास इति नागेशः। सप्तमी इति योगविभागात् समास इति न्यासः। लघ्वी चासौ उपधा चेति लघूपधा (कर्मधारयसमासः)। पुगन्तश्च लघूपधा चेति पुगन्तलघूपधम् (समा० द्वन्द्वः) तस्य पुगन्तलघूपस्य। ॐ नायं बहुव्रीहिः। लघु उपधायां यस्य स लघूपधः इति। बहुव्रीहौ तु भिनत्ति इत्यत्रापि गुणः प्राप्नोति, लघूपध इत्यस्य अङ्गविशेषणत्वात्।

अर्थ—[सार्वधातुकार्धधातुकयोः] अङ्गस्य पुकि परतोऽन्ते पुगन्तस्य इक्, उपधायाञ्च लघुसंज्ञकं इक् तस्य गुणो भवति सार्वधातुके आर्धधातुके च प्रत्यये परतः। (अङ्ग का पुक् परे रहने पर जो इक् और उपधा में जो लघु संज्ञक इक् उसको गुण होता है सार्वधातुक और आर्धधातुक प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०—ब्लेपयति । ह्नेपयति । लघूपधस्य—भेदनम् । छेदनम् । भेत्ता । छेत्ता ।

नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके ७।३।८७

प० वि०—न अ० । अभ्यस्तस्य ६।१ अचि ७।१ पिति ७।१ सार्वधातुके ७।१

अर्थ—[लघूपधस्य गुणः] अभ्यस्तसंज्ञकस्य अङ्गस्य लघूपधस्य अजादौ पिति सार्वधातुके गुणो न भवति । (अभ्यस्य संज्ञक अङ्ग की जो लघु उपधा उसको अजादि पित् सार्वधातुक प्रत्यय के परे रहने पर गुण नहीं होता है)

उदा०—नेनिजानि । अनेनिजम् ।

सि०—णिजिर् शौचपोषणयोः । णिज् । निज् लोट् । निज् मिप् । निज् नि । निज् आट् नि । निज् शप् आनि । निज् आनि । निज् आनि । निज् निज् आनि । नेनिजानि ।

भूसुवोस्तिङि ७।३।८८

प० वि०—भूसुवोः ६।२ तिङि ७।१

अर्थ—[सार्वधातुके गुणः न] भू सू इत्येतयोस्तिङि सार्वधातुके गुणो न भवति । (भू सू अङ्ग का तिङ् सार्वधातुक प्रत्यय के परे रहने पर गुण नहीं होता है)

उदा०—अभूत् । अभूताम् । अभूवन् । सुवे । सुवावहै । सुवामहै ।

सि०—अभूत् इत्यस्य साधनं गातिस्थेति सूत्रे द्रष्टव्यम् ।

❀ सूतेर्लुग्विकरणस्येदं ग्रहणम् ❀ षूङ् प्राणिगर्भविमोचने । षू । सू लोट् । सू वहि । सू वहे । सू वहै । सू आट् वहै । सू आ वहै । स् उवङ् आवहै । सुव् आवहै । सुवावहै ।

उतो वृद्धिर्लुकि हलि ७।३।८९

प० वि०—उतः ६।१ वृद्धिः १।१ लुकि ७।१ हलि ७।१

अर्थ—[सार्वधातुके पिति] उकारान्तस्याङ्गस्य वृद्धिर्भवति लुकि सति हलादौ पिति सार्वधातुके । (लुक् हो जाने पर हलादि पित् सार्वधातुक के परे रहने पर उकारान्त अङ्ग को वृद्धि होती है)

उदा०—यौति । यौषि । यौमि । नौति । नौषि । नौमि । स्तौति स्तौषि । स्तौमि ।

सि०—यु मिश्रणे अमिश्रणे च । णु स्तुतौ । ष्टुञ् स्तुतौ ।

❀ नाभ्यस्तस्य इत्येतदनुवर्त्तते योयोति नोनोति इत्येवमाद्यर्थम् ❀

ऊर्णोतेर्विभाषा ७।३।९०

प० वि०—ऊर्णोतेः ६।१ विभाषा १।१

अर्थ—[वृद्धिः हलि पिति सार्वधातुके] ऊर्णोतेर्विभाषा वृद्धिर्भवति हलादौ पिति सार्वधातुके । (हलादि पित् सार्वधातुक के परे रहने पर ऊर्णुञ् आच्छादने धातु की विकल्प से बृद्धि होती है)

उदा०—प्रोर्णौति । प्रोर्णोति ।

गुणोऽपृक्ते ७।३।९१

प० वि—गुणः १।१ अपृक्ते ७।१

अर्थ—[ऊर्णोतेः हलि पिति सार्वधातुके] ऊर्णोतेर्धातोरपृक्ते हलादौ पिति सार्वधातुके गुणो भवति । (ऊर्णुञ धातु का गुण होता है अपृक्त हलादि पित् सार्वधातुक प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०—प्रौर्णोत् । प्रौर्णोः ।

ब्रुव ईट् ७।३।९३

प० वि०—ब्रुव ५।१ ईट् १।१

अर्थ—[हलि पिति सार्वधातुके] ब्रुव उत्तरस्य हलादेः पितः सार्वधातुकस्य ईडागमो भवति ।(ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि इस धातु के पश्चात् हलादि पित् सार्वधातुक को ईट् का आगम होता है)

उदा०—ब्रवीति । ब्रवीषि । ब्रवीमि । अब्रवीत् । हलीत्येव ब्रवाणि ।

यङो वा ७।३।९४

प० वि०—यङः ५।१ वा अ० ।

अर्थ—[हलि पिति सार्वधातुके ईट्] यङ उत्तरस्य हलादेः पितः सार्वधातुकस्य ईडागमो भवति वा । (यङ् के पश्चात् हलादि पित् सार्वधातुक को विकल्प से ईट् का आगम होता है)

❀ हलादेः पितः सार्वधातुकस्य यङन्तस्याभावे यङ्लुगन्तस्योदाहरणम् ❀

उदा०—बोभवीमि। बोभोमि। लालपीति। लालप्ति। वावदीति। वावत्ति।

सि०—भू यङ्। भू भू यङ्। बू भू य। बु भू य। बो भू य। बो भू। बोभू लट्। बोभू तिप्। बो भू ईट् ति। बो भो ईति। बो भव् ईति। बोभवीति। साधकसूत्राणि वर्तमाने लट् इत्यत्र द्रष्टव्यानि।

तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुके ७।३।९५

प० वि०—तु-रु-स्तु-शमि-अमः ५।१ सार्वधातुके ७।१

अर्थ—[हलि] तु इति सौत्रो धातुर्वृद्ध्यर्थ इत्येके। हिंसार्थ इत्यपरे। अस्य च लुग् विकरणत्वं स्मर्यते, रु शब्दे, ष्टुञ् स्तुतौ, शम उपशमे, अम गत्यादिषु, इत्येतेभ्य उत्तरस्य हलादेः सार्वधातुकस्य वा ईडागमो भवति। (इन धातुओं के पश्चात् हलादि सार्वधातुक को विकल्प से ईट् का आगम होता है)

उदा०—उत्तवीति। उत्तौति। उपरवीति। उपरौति। उपस्तवीति। उपस्तौति। शमीध्वम्। शाम्यध्वम्* अभ्यमीति*। अभ्यमति।

❀शम्यमोर्बहुलं छन्दसीति २।४।७३ इत्यनेन विकरणस्य लुकि सति हलादिसार्वधातुकमनन्तरं सम्भवति। आपिशलास्तु शम्यमः सार्वधातुका-सुच्छन्दसीति पठन्ति। तत्र सर्वेषामेव छन्दसि विषये विधिरयं भवति❀

अस्तिसिचोऽपृक्ते ७।३।९६

प० वि०—अस्तिसिचः ५।१ अपृक्ते ७।१

अर्थ—[हलि सार्वधातुके ईट्] अस्तेरङ्गात् सिजन्ताच्च उत्तरस्य अपृक्तस्य हलादेः सार्वधातुकस्य ईडागमो भवति। (अस् धातु और सिच् के पश्चात् अपृक्त हलादि सार्वधातुक को ईट् का आगम होता है)

उदा०—अस्तेः—आसीत्। आसीः। सिजन्तात्—अकार्षीत्। अहार्षीत्।

---

* ईडभावे उदाहरणमिदमन्यवृत्तिकारमतानुसारम्। वस्तुतस्तु अनेनेड्-विकल्पे यथा स्तौतेः स्तौति, रौतेश्च रौति इत्युदाह्रियते तथा अत्रापि विकरण-लुक्पक्ष एव ईडभावोऽपि उदाहार्यः। शम-अमोरदादौ पाठो नास्तीति चेत् यथा सूत्रवचनप्रामाण्यात् तौतेरादादित्वं प्रमाणीक्रियते तथानयोरपि एतत् सूत्रप्रामा-ण्यादादादिकत्वं स्वीकर्तव्यम्। तथा सति शमीध्वम्, शन्ध्वम्; अभ्यमीति, अभ्यन्ति इत्येवमुदाहर्तव्यम् इति मीमांसकाः

सि०—अस् लङ् । अस् ल् । अस् तिप् । अस् त् । अस् ईट् त् । अस् ईत् । आट् असीत् । आसीत् । डुकृञ् । कृ लुङ् । कृ तिप् । कृ सिच् ति । कार् स् ति । कार् स् त् । कार् स् ईट् त् । कार् ष् ईत् । कार्षीत् । अट् कार्षीत् । अकार्षीत् ।

रुदश्च पञ्चभ्यः ७।३।९८

प० वि०—रुदः ५।१ सुव्व्यत्ययेन बहुवचनस्यैकत्वम् । पञ्चभ्यः ५।३

अर्थ—[सार्वधातुके हलि अपृक्ते] रुदादिभ्यः पञ्चभ्य उत्तरस्य हलादेः सार्वधातुकस्य अपृक्तस्य ईडागमो भवति । (रुदिर् इत्यादि पांच धातुओं के पश्चात् हलादि अपृक्त सार्वधातुक प्रत्यय को ईट् का आगम होता है)

उदा०--अरोदीत् । अरोदीः ।

अड्गार्ग्यगालवयोः ७।३।९९

प० वि०— अट् १।१ गार्ग्यगालवयोः ६।२

अर्थ--[सार्वधातुके अपृक्ते रुदादिभ्यः] रुदादिभ्यः पञ्चभ्य उत्तरस्य अपृक्तस्य सार्वधातुकस्य अडागमो भवति गार्ग्यस्य गालवस्य च मतेन । ॐगार्ग्यगालवग्रहणं पूजार्थम्ॐ (रुद इत्यादि पांच धातुओं के पश्चात् अपृक्त सार्वधातुक को अट् का आगम होता है)

उदा०—आरोदत् । अरोदः ।

अदः सर्वेषाम् ७।३।१००

प० वि०—अदः ५।१ सर्वेषाम् ६।३

अर्थ—[सार्वधातुके अपृक्ते अट्] अद भक्षणे इत्यस्मादुत्तरस्य अपृक्तस्य सार्वधातुकस्य अडागमो भवति सर्वेषामाचार्याणां मतेन । (अद् धातु के पश्चात् अपृक्त सार्वधातुक प्रत्यय को अट् का आगम होता है सभी आचार्यों के मत से)

उदा०—आदत् । आदः ।

अतो दीर्घो यञि ७।३।१०१

प० वि०—अतः ६।१ दीर्घः १।१ यञि ७।१

अर्थ –[सार्वधातुके] अकारान्तस्याङ्गस्य दीर्घो भवति यञादौ सर्वधातुके परतः । (अकारान्त अङ्ग का दीर्घ होता है यञ् प्रत्याहार में आने वाला कोई अक्षर है आदि में जिसके ऐसे सार्वधातुक प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०—ङौ—मातरि । पितरि । भ्रातरि । कर्त्तरि । सर्वनामस्थाने—कर्त्तारौ । कर्त्तारः । कर्त्तारम् । कर्त्तारौ ॥

घेर्ङिति ७।३।१११

प० वि०—घेः ६।१ ङिति ७।१

अर्थ—[गुणः] घ्यन्तस्याङ्गस्य गुणो भवति ङिति प्रत्यये परतः । (घि है अन्त में जिस के ऐसे अङ्ग का गुण होता है ङित् प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०—अग्नये । अग्नेः । अग्नेः । वायवे । वायोः । वायोः ।

सि०—अग्नि ङे । अग्ने ए । अग्नय् ए । अग्नये । अग्नि ङसि । अग्नि अस् । अग्ने अस् । अग्नेस् । अग्नेः ।

आण्नद्याः ७।३।११२

प० वि०—आट् १।१ नद्याः ५।१

अर्थ—[ङिति] नद्यन्तादङ्गादुत्तरस्य ङितः प्रत्ययस्य आडागमो भवति । (नद्यन्त अङ्ग के पश्चात् ङित् प्रत्यय को आट् का आगम होता है)

उदा०—कुमार्यै । कुमार्याः । कुमार्याः ।

सि०—कुमारी ङे । कुमारी आट् ए । कुमारी ऐ[1] । कुमार्यै । कुमारी आट् अस् । कुमारी आः । कुमार्याः ।

याडापः ७।३।११३

प० वि०—याट् १।१ आपः ५।१

अर्थ—[ङिति] आबन्तादङ्गादुत्तरस्य ङितः प्रत्ययस्य याडागमो भवति । (आबन्त अङ्ग के पश्चात् ङित् प्रत्यय को याट् का आगम होता है)

उदा०—लतायै । लतायाः । लतायाः ।

सि०—लता ङे । लता याट् ए । लता यै[2] । लतायै ।

सार्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च ७।३।११४

प० वि०—सर्वनाम्नः ५।१ स्याट् १।१ ह्रस्वः १।१ च अ० ।

अर्थ—[आपः ङिति] सर्वनाम्न आबन्तादङ्गादुत्तरस्य ङितः प्रत्ययस्य स्याडागमो ह्रस्वश्च भवति । (आबन्त सर्वनाम के पश्चात् ङित् प्रत्यय को स्याट् का आगम होता है और उस आबन्त सर्वनाम का ह्रस्व होता है)

१—आटश्च (६. १. ८७) २—वृद्धिरेचि (६. १. ८५)

उदा०—सर्वस्यै । सर्वस्याः । सर्वस्याः । तस्यै । तस्याः । तस्याः ।

सि०—सर्वा ङे । सर्वा स्याट् ए । सर्व स्या ए । सर्व स्यै । सर्वस्यै ।

विभाषा द्वितीयातृतीयाभ्याम् ७।३।११५

प० वि०—विभाषा १।१ द्वितीयातृतीयाभ्याम् ५।२

अर्थ—[ङिति स्याट्] द्वितीया तृतीया इत्येताभ्यामुत्तरस्य ङितः प्रत्ययस्य विभाषा स्याडागमो भवति। (द्वितीया और तृतीया अङ्ग के पश्चात् ङित् प्रत्यय को विकल्प से स्याट् आगम होता है)

उदा०—द्वितीयायै । द्वितीयस्यै । तृतीयायै । तृतीयस्यै ।

ङेराम्नद्याम्नीभ्यः ७।३।११६

प० वि०—ङेः ६।१ आम् १।१ नद्याम्नीभ्यः ५।३ स०—नदी च आप् च नीश्च इति नद्याम्न्यः तेभ्यः नद्याम्नीभ्यः ।

अर्थ—नद्यन्तादाबन्तात् नी इत्येतस्माच्चोत्तरस्य ङेराम् इत्ययमादेशो भवति। (नद्यन्त आबन्त और नी अङ्ग के पश्चात् ङि के स्थान में आम् यह आदेश होता है)

उदा०—कुमार्याम् । गौर्याम् । ब्रह्मबन्ध्वाम् । आपः । खट्वायाम् । मालायाम् । लतायाम् । नी । राजन्याम् । सेनान्याम् ।

सि०—कुमारी ङि । कुमारी आम् । कुमारी आट् आम् । कुमारी आम् । कुमार्याम् । खट्वा याट् आम् । खट्वायाम् ।

इदुद्भ्याम् ७।३।११७

प० वि०—इदुद्भ्याम् ५।२

अर्थ—[नद्याः ङेराम्] इकारोकाराभ्यामुत्तरस्य ङेरामादेशो भवति। (इकारान्त और उकारान्त नदी संज्ञक के पश्चात् ङि के स्थान में आम् आदेश होता है)

उदा०—कृत्याम् । धेन्वाम् ।

सि०—कृति आट् ङि । कृति आट् आम् । कृत्याम् ।

औत् ७।३।११८

प० वि०—औत् १।१

अर्थ—[इदुद्भ्याम् ङेः] इदुद्भ्यामुत्तरस्य ङेरौकारादेशो भवति। ❀ यन्न नदीसञ्ज्ञं नापि घिसंज्ञमिकारान्तं तदिहोदाहरणम् ❀ (इकारान्त

उकारान्त अङ्ग के पश्चात् ङि के स्थान में औकार आदेश होता है)

उदा०—सख्यौ । पत्यौ ।

सि०—सखि ङि । सखि औ । सख्यौ । पति ङि । पति औ । पत्यौ ।

अच्च घेः ७।३।११९

प० वि०—अत् १।१ च अ० । घेः ६।१

अर्थ—[ङे औत्] घि संज्ञकादुत्तरस्य ङेरौकारादेशो भवति तस्य च घेरकारादेशो भवति । (घि संज्ञक अङ्ग के पश्चात् ङि के स्थान में औकार आदेश होता है और उस घि का अकारादेश होता है)

उदा०—अग्नौ । वायौ । मुनौ । साधौ । कृतौ । धेनौ । पटौ ।

सि०—अग्नि ङि । अग्न औ । अग्नौ ।

आङो नाऽस्त्रियाम् ७।३।१२०

प० वि०—आङः ६।१ ना १।१ अस्त्रियाम् ७।१

अर्थ—[घेः] घेरुत्तरस्य आङो ना इत्ययमादेशो भवति । अस्त्रियाम् । (घि संज्ञक अङ्ग के पश्चात् आङ् के स्थान मे ना यह आदेश होता है स्त्रीलिङ्ग शब्द को छोड़कर)

उदा०—अग्निना । वायुना । अस्त्रियामिति किम् । कृत्या । धेन्वा ।

इत्यष्टाध्यायी-प्रकाशिकायां सप्तमाध्याये तृतीयः पादः

णौ चङ्युपधायाः ह्रस्वः ७।४।१

प० वि०—णौ ७।१ चङि ७।१ उपधायाः ६।१ ह्रस्वः १।१

अर्थ—चङ्परे णौ यदङ्गं तस्योपधायाः ह्रस्वो भवति ।

(चङ् परे है जिस के ऐसे णिच् के परे रहने पर अङ्ग की उपधा को ह्रस्व होता है)

उदा०—अचीकरत् । अजीहरत् । अलीलवत् । अपीपठत् ।

सि०—कृ णिच् । कार् इ । कारि लुङ् । कारि ल् । कारि तिप् । कारि चङ् तिप् । कर् इ च ति । कर् कर् इ अ ति । क करि अ ति । च कर् अ ति । चि[1] कर ति । ची[2] करत् । अट् चीकरत् । अचीकरत् ।

❀ अत्र द्विर्वचनोपधाह्रस्वत्वयोः प्राप्तयोः परत्वादुपधाह्रस्वत्वं तत्र कृते द्विर्वचनम् ❀

१—सन्वल्लघुनि० (७. ४. ९३) २—दीर्घो लघोः (७. ४. ९४)

नाग्लोपिशास्वृदिताम् ७।४।२

प० वि०—न अ०। अग्लोपि-शासु-ऋदिताम् ६।३ स०—अको लोपऽग्लोपः। स अस्यास्तीति अग्लोपी। ऋत् इत् यस्येति ऋदित्। अग्लोपी च शासुश्च ऋदिच्चेति अग्लोपिशास्वृदितः तेषाम्।

अर्थ—[णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः] अग्लोपिनामङ्गानां शासेर्ऋदितां च णौ चङ्युपधाया ह्रस्वो न भवति।

(अक् प्रत्ययाहार में आने वाले कोई अक्षर लोप होने वाले अङ्ग, शासु अनुशिष्टौ धातु तथा ऋकार इत् वाले का चङ् परे है जिस के ऐसे णिच् के परे रहने पर ह्रस्व नहीं होता है)

उदा०—अग्लोपिनाम्—मालामाख्यत् इति अममालत्। मातरमाख्यत् इति अममातरत्। शासु—अशशासत्। ऋदिताम्—बाधृ। अबबाधत्।

सि०—माला णिच्। माल् इ। मालि लुङ्। मालि तिप्। मालि चङ् ति। माल् अति। माल् माल् अत्। मा मालत्। म मालत्। अट् ममालत्। अममालत्।

भ्राजभासभाषदीपजीवमीलपीडामन्यतरस्याम् ७।४।३

प० वि०—भ्राज-भास-भाष-दीप-जीव-मील-पीडाम् ६।३ अन्यतरस्याम् अ०।

अर्थ—भ्राज् दीप्तौ, भासृ दीप्तौ, भाष व्यक्तायां वाचि, दीपी दीप्तौ, जीव प्राणधारणे, मील निमेषणे, पीड अवगाहने इत्येतेषामङ्गानां णौ चङ्युपधाया ह्रस्वो भवति अन्यतरस्याम्। (इन धातुओं की उपधा का ह्रस्व होता है, चङ् परक णिच् के परे रहने पर विकल्प करके)

उदा०—अबिभ्रजत्। अबभ्राजत्। अबीभसत्। अबभासत्। अबीभषत्। अबभाषत्। अदिदीपत्। अदीदिपत्। अजीजिवत्। अजिजीवत्। अमिमीलत्। अमीमिलत्। अपिपीडत्। अपीपिडत्। ×काण्यदीनां वेति वक्तव्यम्× अचकाणत्। अचीकणत्।

लोपः पिबतेरीच्चाभ्यासस्य ७।४।४

प० वि०—लोपः १।१ पिबतेः ६।१ ईत् १।१ च अ०। अभ्यासस्य ६।१

अर्थ—[णौ चङ्युपधायाः] पिबतेरङ्गस्य णौ चङ्युपधाया लोपो

भवति अभ्यासस्य चेकारादेशो भवति। (पा धातु की उपधा का चङ् परक णिच् के परे रहने पर लोप होता है, और अभ्यास का ईकार आदेश होता है)

उदा०—अपीप्यत्। अपीप्यताम्। अपीप्यन।

सि०—पा णिच्। पा युक् इ। पाय् इ। पाय् इ लुङ्—पाय् इ तिप्। पाय् इ चङ् तिप्। पाय् अ त्। प्य् अ त्। पा प्य् अ त्। पीप्यत्। अट् पीप्यत्। अपीप्यत्।

❀उपधालोपे कृते ओः पुयण्वचनं (७. ४. ८०) ज्ञापकं णौ स्थानिवद्भावस्येति स्थानिवद्भावाद् द्विर्वचनम्❀

तिष्ठतेरित् ७।४।५

प० वि०—तिष्ठतेः ६।१ इत् १।१

अर्थ—[णौ चङ्युपधायाः] तिष्ठतेरङ्गस्य णौ चङ्युपधायाः इकारादेशो भवति। (स्था धातु को चङ परक णिच् के परे रहने पर इकारादेश होता है)

उदा०—अतिष्ठिपत्। अतिष्ठिपताम्। अतिष्ठिपंत्।

जिघ्रतेर्वा ७।४।६

प० वि०—जिघ्रतेः ६।१ वा अ०।

अर्थ—[णौ चङ्युपधायाः इत्] जिघ्रतेरङ्गस्य णौ चङ्युपधायाः वा इकारादेशो भवति। (घ्रा गन्धोपादाने इस धातु का विकल्प से इकारादेश होता है चङ्परक णिच् के परे रहने पर)

उदा०—अजिघ्रिपत्। अजिघ्रिपताम्। अजिघ्रिपन्। अजिघ्रपत्। अजिघ्रपताम् अजिघ्रपन्।

उर्ऋत् ७।४।७

प० वि०—उः ६।१ ऋत् १।१

अर्थ—[णौ चङ्युपधायाः वा इत्] णौ चङ्युपधायाः ऋवर्णस्य स्थाने वा ऋकारादेशो भवति। (चङ्परक णिच् के परे रहने पर ऋवर्ण के स्थान में विकल्प से ऋकार आदेश होता है)

उदा०—❀इररामपवादः❀ इट्—अचिकीर्त्तत्। अचिकृतत्। अर्—अववर्त्तत्। अवीवृतत्। आर्—अममार्जत्। अमीमृजत्।

दयतेर्दिगि [लिटि] ७।४।९

ऋतश्च संयोगादेर्गुणः ७।४।१०

प० वि०—ऋतः ६।१ च अ० । संयोगादेः ६।१ गुणः १।१

अर्थ—[लिटि] ऋकारान्तस्याङ्गस्य [संयोगादेर्गुणो भवति लिटि परतः। (संयोगादि ऋकारान्त अङ्ग का गुण होता है लिट् के परे रहने पर)

उदा०—स्मृ—सस्मरतुः । सस्मरुः । स्वृ—सस्वरतुः । सस्वरुः । ❀वृद्धिविषये तु पूर्वविप्रतिषेधेन वृद्धिरेवेष्यते । सस्वार । सस्मार❀

सि०—स्मृ लिट् । स्मृ अतुस् । स्मृ स्मृ अतुस् । स्र स्मृ अतुस् । सर् स्मृ अतुस् । स स्मर् अतुस् । सस्मरतुः ।

ऋच्छत्यॄताम् ७।४।११

प० वि०—ऋच्छत्यॄताम् ६।३

अर्थ—[लिटि गुणः] ऋच्छतेरङ्गस्य ऋ इत्येतस्य ॠकारान्तानां च लिटि परतो गुणो भवति । (ऋच्छ गति-इन्द्रिय-प्रलय-मूर्त्तिभावेषु, ऋ, ॠकारान्तः कॄ विक्षेपे गॄ निगरणे इत्यादि धातुओं का गुण होता है लिट् के परे रहने परे)

उदा०—आनर्च्छ । आनर्च्छतुः । आनर्च्छुः । ऋ—आर । आरतुः । आरुः । ॠकारान्तानाम्—चकरतुः । चकरुः । जगरतुः । जगरुः ।

सि०—ऋच्छ् अतुस् । अर्च्छ् अतुस् । अर्च्छ् अर्च्छ् अतुस् । अ अर्च्छ् अतुस् । आ अर्च्छ् अतुस् । आ नुट् अर्च्छ् अतुस् । आनर्च्छतुः ❀वृद्धिविषये तु पूर्वविप्रतिषेधेन वृद्धिरेवेष्यते । चकार । जगार❀

शॄद्दॄप्रां ह्रस्वो वा ७।४।१२

प० वि०—शॄद्दॄप्राम् ६।३ ह्रस्वः १।१ वा अ० ।

अर्थ—[लिटि] शॄ हिंसायां, दॄ विदारणे, पॄ पालनपूरणयोः इत्येतेषामङ्गानां लिटि परतो वा ह्रस्वो भवति । (शॄ दॄ और पॄ धातु का ह्रस्व हो जाता है लिट् के परे रहने पर विकल्प करके)

उदा०—विशश्रतुः । विशश्रुः । विशशरतुः । विशशरुः । विदद्रतुः । विदद्रुः । विददरतुः । विददरुः । निपप्रतुः । निपप्रुः । निपपरतुः । निपपरुः ।

❀वावचनात् पक्षे गुणो भवत्येव । असति ह्रस्वग्रहणे वावच-

नेन विकल्पिते यस्मिन् पक्षे गुणो नास्ति तस्मिन् पक्षे ॠत इद्धातो-रितीत्वं प्रसज्येत, उदोष्ठ्यपूर्वस्येत्युत्वं च (७. १. १०२) तस्मात् तन्निवृत्यर्थं ह्रस्व इत्युच्यते❀

केऽणः ७।४।१३

प० वि०—के ७।१ अणः ६।१

अर्थ—[ह्रस्वः] के प्रत्यये परतोऽणो ह्रस्वो भवति। (क प्रत्यय के परे रहने पर अण् का ह्रस्व होता है)

उदा०—कुमारिका। किशोरिका।

सि०—कुमारीका। कुमारिक टाप्। कुमारिका सु। कुमारिका।

न कपि ७।४।१४

अर्थ—[अणः ह्रस्वः] कपि प्रत्यये परतोऽणो ह्रस्वो न भवति।

(कप् प्रत्यय के परे रहने पर अण् का ह्रस्व नहीं होता है)

❀अणिति पूर्वेण णकारेण प्रत्याहारग्रहणम्❀

उदा०—बहुकुमारीकः। साधनं तु नद्यृतश्चेति (५.४.१५३) द्रष्टव्यम्।

आपोऽन्यतरस्याम् ७।४।१५

अर्थ—[न कपि ह्रस्वः] आबन्तस्याङ्गस्य कपि ह्रस्वो न भवति अन्यतरस्याम्। (आबन्त अङ्ग का विकल्प से ह्रस्व नहीं होता है, कप् प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०—बहुखट्वाकः। बहुखट्वकः।

ॠदृशोऽङि गुणः ७।४।१६

प० वि०—ॠदृशः ६।१ अङि ७।१ गुणः १।१

अर्थ—ॠवर्णान्तानां दृशेश्च अङि परतो गुणो भवति।

(ॠवर्णान्त और दृश् धातु का गुण होता है अङ् के परे रहने पर)

उदा०—कृ—अकरत्। अकरताम्। अकरन्। दृश्—अदर्शत्। अदर्शताम्। अदर्शन्।

अस्यतेस्थुक् ७।४।१७

अर्थ—[अङि] असु क्षेपणे इत्यस्य धातोः थुक् आगमो भवत्यङि परतः। (अस् धातु को थुक् का आगम होता है अङ् के परे रहने पर)

उदा०—आस्थत्। आस्थताम्। आस्थन्।

श्वयतेरः ७।४।१८

अर्थ—[अङि] टुओश्वि गतिवृद्ध्योः इत्यस्याङ्गस्य अकारादेशो भवत्यङि। (टुओश्वि अङ्ग का अकार आदेश होता है, अङ् के परे रहने पर)

उदा०—अश्वत्। अश्वताम्। अश्वन्। अश्वः। अश्वतम्। अश्वत। अश्वम्। अश्वाव। अश्वाम।

पतः पुम् ७।४।१९

अर्थ—[अङि] पत्लृ गतौ इत्येतस्याङ्गस्य पुमागमो भवत्यङि परतः (पत् धातु को पुम् का आगम होता है अङ् के परे रहने पर)

उदा०—अपप्तत्। अपप्तताम्। अपप्तन्।

वच उम् ७।४।२०

अर्थ—[अङि] वच परिभाषणे इत्येतस्याङ्गस्य अङि परतः उमागमो भवति। (वच् धातु को पुम् का आगम होता है अङ् के परे रहने पर)

उदा०—अवोचत्। अवोचताम्। अवोचन्।

शीङः सार्वधातुके गुणः ७।४।२१

अर्थ—शीङोऽङ्गस्य सार्वधातुके परतो गुणो भवति। (शीङ् धातु को सार्वधातुक प्रत्यय के परे रहने पर गुण होता है)

उदा०—शेते। शयाते। शेरते। सार्वधातुक इति किम्—शिश्ये।

अयङ् यि क्ङिति ७।४।२२

प० वि०—अयङ् १।१ यि ७।१ क्ङिति ७।१

अर्थ—[शीङः] यकारादौ क्ङिति प्रत्यये परतः शीङोऽङ्गस्य अयङ् इत्ययमादेशो भवति। (यकारादि कित् ङित् प्रत्यय के परे रहने पर शीङ् धातु को अयङ् यह आदेश होता है)

उदा०—शय्यते। शाशय्यते। प्रशय्य।

अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः ७।४।२५

प० वि०—अकृत्सार्वधातुकयोः ७।२ दीर्घः १।१ स०—कृच्च सार्वधातुकं चेति कृत्सार्वधातुके, न कृत्सार्वधातुके अकृत्सार्वधातुके तयोः अकृत्सार्वधातुकयोः।

अर्थ—[यि क्ङिति] अकृद्यकारे असार्वधातुकयकारे च क्ङिति प्रत्यये परतोऽजन्तस्याङ्गस्य दीर्घो भवति। (कृत् और सार्वधातुक भिन्न यका-

रादि कित् ङित् प्रत्यय के परे रहने पर अजन्त अङ्ग का दीर्घ होता है)

उदा०—चीयते। चीयेते। चीयन्ते। चेचीयते। चेचीयेते। चेचीयन्ते। स्तूयते। स्तूयेते। स्तूयन्ते।

सि०—चिञ् यक् ते। चि यङ्। ष्टुञ् यक् ते। अकृदिति किम्। प्रकृत्य। प्रहृत्य। असार्वधातुक इति किम्—चिनुयात्।

च्वौ च ७।४।२६

अर्थ—[दीर्घः] च्विप्रत्यये परतोऽजन्तस्याङ्गस्य दीर्घो भवति।

(च्वि प्रत्यय के परे रहने पर अजन्त अङ्ग को दीर्घ होता है)

उदा०—पटूकरोति। पटूभवति। पटूस्यात्।

रीङ् ऋतः ७।४।२७

प० वि०—रीङ् १।१ ऋतः ६।१

अर्थ—[अकृत्सार्वधातुकयोः यि] ऋकारान्तस्याङ्गस्य अकृद्यकारेऽसार्वधातुकयकारे च परतो रीङ् इत्ययमादेशो भवति।

(कृत् और सार्वधातुक भिन्न यकारादि प्रत्यय के परे रहने पर ऋकारान्त अङ्ग के स्थान में रीङ् यह आदेश होता है)

उदा०—मात्रीयति। मात्रीयते। पित्रीयते। चेक्रीयते।

सि०—मातृ क्यच्। मातृ य। मात् रीङ् य। मात्रीय। मात्रीय शप् तिप्। मात्रीयति। मातृ क्यङ्। पितृ क्यङ्। कृ यङ्।

रिङ् शयग्लिङ्क्षु ७।४।२८

प० वि०—रिङ् १।१ शयग्लिङ्क्षु ७।३

अर्थ—[असार्वधातुके यि ऋतः] ऋकारान्तस्याङ्गस्य श यक् इत्येतयोर्लिङि च यकारादौ असार्वधातुके परतो रिङ् इत्ययमादेशो भवति।

(श यक् और सार्वधातुक भिन्न यकारादि लिङ् के परे रहने पर ऋकारान्त अङ्ग को रिङ् यह आदेश होता है)

उदा०—श—आद्रियते। आध्रियते। यक्—क्रियते। ह्रियते। लिङ्—क्रियात्। ह्रियात्।

सि०—दृङ् आदरे। धृङ् अवस्थाने। आङ् पूर्वः। धृ श त। ध् रिङ् अ ते। ध्रि अ ते। ध्र् इयङ् अ ते। ध्रियते। आध्रियते।

गुणोर्त्तिसंयोगाद्योः ७।४।२९

प० वि०—गुणः १।१ अर्त्तिसंयोगाद्योः ६।२

अर्थ—[ऋतः यकि लिङि; श इत्यत्रासंभवान्नानुवर्त्तते] अर्त्तेः संयोगादीनामृकारान्तानां च यकि असार्वधातुके यकारादौ लिङि च परतो गुणो भवति। (ऋ और संयोग आदि है जिसका ऐसे ऋकारान्त अङ्ग का गुण होता है यक् और सार्वधातुक भिन्न यकारादि लिङ् प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०—ऋ–यकि–अर्यते। अर्येते। अर्यन्ते। लिङि–अर्यात्। अर्यास्ताम्। अर्यासुः। अर्याः। अर्यास्तम्। अर्यास्त। अर्यासम्। अर्यास्व। अर्यास्म। संयोगादेः ऋतः–यकि–स्मर्यते। स्मर्येते। स्मर्यन्ते। लिङि–स्मर्यात्। स्मर्यास्ताम्। स्मर्यासुः। स्मर्याः। स्मार्यस्तम्। स्मर्यास्त। स्मर्यासम्। स्मर्यास्व। स्मर्यास्म।

यङि च ७।४।३०

अर्थ—[अत्तिसंयोगाद्योः ऋतः गुणः] अर्त्तेः संयोगादेश्च ऋतो गुणो भवति यङि च परतः। (ऋ और संयोगादि ऋकारान्त अङ्ग को गुण होता है, यङ् के परे रहने पर)

उदा०—ऋ--अरार्यते। स्मृ–सास्मर्यते। ध्वृ--दाध्वर्यते। स्वृ--सास्वर्यते। ×हन्तेर्हिंसायां घ्नीभावो वक्तव्यः× जेघ्नीयते।

सि०—अरार्यते इत्यस्य साधनं सन्योङोरिति सूत्रे द्रष्टव्यम्। स्मृ यङ्। स्मर् य। स्मर् स्मर् य। स स्मर् य। सा स्मर्य शप् त। सास्मर्यते। सास्मर्येते। सास्मर्यन्ते। हन् यङ्। घ्नी य। घ्नी घ्नी य। घी घ्नी य। घि घ्नी य। झि घ्नी य जि घ्नी य। जेघ्नीय शप् ते। जेघ्नीयते। हिंसायामिति किम्--जङ्घन्यते। हन् यङ्। हन हन् य। ह हन् य। झ हन् य। ज हन् य। ज घन् य। ज नुक् घन् य। जं घन्य। जङ्घन्य शप् ते। जङ्घन्यते।

ई घ्राध्मोः ७।४।३१

प० वि०—ई (अविभ०) घ्राध्मोः ६।२

अर्थ—[यङि] घ्रा ध्मा इत्येतयोर्यङि परत ईकारादेशो भवति। (घ्रा और ध्मा अंग को ईकार आदेश होता है यङ् के परे रहने पर)

उदा०—जेघ्रीयते। देध्मीयते।

अस्य च्वौ ७।४।३२

अर्थ—[ई] अवर्णान्तस्याङ्गस्य च्वौ परत ईकारादेशो भवति।

(अवर्णान्त अंग को ईकार आदेश होता है च्वि प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०—शुल्कीभवति । शुल्कीकरोति । शुल्कीस्यात् ।

सि०—साधनमिति अभूततद्भावे इति सूत्रे द्रष्टव्यम् ।

क्यचि च ७।४।३३

अर्थ—[अस्य ई] क्यचि परतोऽवर्णान्तस्याङ्गस्य ईकारादेशो भवति ।
(क्यच् के परे रहने पर अवर्णान्त अङ्ग को ईकार आदेश होता है)

उदा०—पुत्रीयति । घटीयति ।

सि०—सिद्धिस्तु सुपः आत्मनः क्यच् इत्यत्र द्रष्टव्या ।

द्यतिस्यतिमास्थामित्ति किति ७।४।४०

प० वि०-द्यति--स्यति--मा--स्थाम् ६।३ इत् १।१ ति ७।१ किति ७।१

अर्थ—दो अवखण्डने, षो अन्तकर्मणि, मा माने, माङ् माने शब्दे च, माङ् माने, मेङ् प्रणिदाने, ॐगामादाग्रहणेष्वविशेषः (परि०) इति चतुर्णामपि[1] ग्रहणम्) ष्ठा गतिनिवृत्तौ इत्येतेषामङ्गानाम् इकारादेशो भवति तकारादौ किति प्रत्यये परतः । (इन् धातुओं को इकार आदेश होता है, तकारादि कित् प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०—निर्दितः । निर्दितवान् । अवसितः । अवसितवान् । मितः । मितवान् । स्थितः । स्थितवान् । तीति किम् । अवदाय । कितीति किम् । अवदाता ।

ॐअत्राद्यस्य दो दद्घोः (७. ४. ४६) इति इत्वे प्राप्ते शेषाणां घुमास्थेति सूत्रेण (६. ४. ६६) ईत्वे प्राप्ते इत्वं विधीयतेॐ

शाछोरन्यतरस्याम् ७।४।४१

प० वि०—शाछोः ६।२ अन्यतरस्याम् अ० ।

अर्थ—[इत् ति किति] शो तनूकरणे, छो छेदने इत्येतयोरङ्गयोः तकारादौ किति प्रत्यये परत इकारादेशो भवति अन्यतरस्याम् । (शो और छो इनको इकार आदेश होता है तकारादि कित् के परे रहने पर विकल्प करके)

उदा०—शा -निशितम् । निशातम् । निशितवान् । निशातवान् । छा–अवच्छितम् । अवच्छातम् । अवच्छितवान् । अवच्छातवान् ।

1माङ् माने इति दैवादिकः न सर्वसम्मतः, अतस्तदभावे त्रयाणाम् ।

सि०--शो। शा क्त। शात। निशात सु। निशात अम्। निशातम्। निशितम्।

दधातेर्हिः ७।४।४२

प० वि०--दधातेः ६।१ हिः १।१

अर्थ—[ति किति] दधातेरङ्गस्य हि इत्ययमादेशो भवति तकारादौ किति प्रत्यये परतः। (धा धातु को हि यह आदेश होता है तकारादि कित् प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०—हितः। हितवान्। हित्वा।

※ अत्रेदं बोध्यम्—श्तिपा शपानुबन्धेन निर्दिष्टं यद् गणेन च।
यत्रैकाज् ग्रहणं चैव पञ्चैतानि न यङ्लुकि।

दधातेर्हिः इत्यत्र श्तिपा निर्देशः, अत एव यङ्लुगन्तस्य हिरादेशो न भवति, दाधीतः, दाधीतवान्, दाधीत्वा।

जहातेश्च क्त्वि ७।४।४३

अर्थ—[हिः] जहातेश्चाङ्गस्य क्त्वाप्रत्यये परतो हि इत्ययमादेशो भवति। (जहाति धातु का हि आदेश होता है क्त्वा प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०—हित्वा राज्यं वनं गतः। हित्वा गच्छति।

दो दद्घोः ७।४।४६

प० वि०—दः ६।१ दद् १।१ घोः ६।१

अर्थ—[ति किति] घुसंज्ञकस्य दा इत्येतस्य दद् इत्ययमादेशो भवति तकारादौ किति प्रत्यये परतः। (घु संज्ञक दा धातु के स्थान में दद् यह आदेश होता है तकारादि कित् प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०—दत्तः। दत्तवान्। दत्त्वा।

सि०—दा क्त। दा त। दत् त। दत् त। दत्त सु। दत्तः।

अच उपसर्गात्तः ७।४।४७

प० वि०—अचः ५।१ उपसर्गात् ५।१ तः १।१

अर्थ—[दद् घोः ति किति] अजन्तादुपसर्गादुत्तरस्य दा इत्येतस्य घुसंज्ञकस्य त इत्ययमादेशो भवति तकारादौ किति प्रत्यये परतः।

(अजन्त उपसर्ग के पश्चात् घुसंज्ञक दा के स्थान में त यह आदेश होता है तकारादि कित् प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०—त इत्यत्र अकार उच्चारणार्थः। प्रत्तम्। अवत्तम्।

सि०--प्र दा क्त। प्र दा त। प्र त् त। प्रत्त सु। प्रत्त अम्। प्रत्तम्।

अपो भि ७।४।४८

प० वि०—अपः ६।१ भि ७।१

अर्थ--[तः] अप् इत्येतस्याङ्गस्य भकारादौ प्रत्यये परतस्त इत्ययमादेशो भवति। (अप् का तकार आदेश होता है भकारादि प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०—अद्भिः। अद्भ्यः। भीति किम्--अप्सु।

सः स्यार्धधातुके ७।४।४९

प० वि०—सः ६।१ सि ७।१ आर्धधातुके ७।१

अर्थ—[तः] सकारान्तस्याङ्गस्य सकारादावार्धधातुके परतस्तकारादेशो भवति। (सकारान्त अङ्ग को तकार आदेश होता है सकारादि आर्धधातुक प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०--वत्स्यति। अवत्स्यत्। विवत्सति।

सि०--वस् लृट्। वस् तिप्। वस् स्य ति। वत्स्यति।

तासस्त्योर्लोपः ७।४।५०

प० वि०—तासस्त्योः ६।२ लोपः १।१

स०—तास् च अस्तिश्चेति तासस्ती तयोः।

अर्थ—[सि सः] तासेरस्तेश्च सकारस्य सकारादौ प्रत्यये परतः लोपो भवति। (तास् और अस् धातु के सकार का लोप होता है सकारादि आर्धधातुक प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०—भवितासि। कर्त्तासि। कर्त्तासे। अस्तेः। त्वमसि। व्यतिसे। ॐ अस्तेरकारसकारयोर्लुप्तयोः से इति प्रत्ययमात्रमेव पदम्।

रि च ७।४।५१

अर्थ—[तासस्त्योर्लोपः सः] तासेरस्तेश्च सकारस्य लोपो भवति। रेफादौ च प्रत्यये परतः।

(तास् और अस् के सकार का लोप होता है रेफादि प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०—भवितारौ। भवितारः। ॐ लोके अस्तेः रेफादिप्रत्ययो न सम्भवति इति नास्ति उदाहरणम् ॐ

ह एति ७।४।५२

प० वि०—हः १।१ एति ७।१

अर्थ—[तासस्त्योः सः] तासस्त्योः सकारस्य हकारादेशो भवति एति परतः। (तास् और अस् के सकार के स्थान में हकार आदेश होता है एकार के के परे रहने पर)

उदा०—भविताहे। अस्तेः—व्यतिहे।

सि०—व्यति अस् इट्। व्यति अस् ए। व्यति स् ए। व्यति ह् ए। व्यतिहे।

सनि मीमाघुरभलभशकपतपदामच इस् ७।४।५४

प० वि०—सनि ७।१ मी-मा-घु-रभ-लभ-शक-पत-पदाम् ६।३ अचः ६।१ इस् १।१

अर्थ—[सि] मीञ् हिंसायां, डुमिञ् प्रक्षेपणे (उभयोरपि ग्रहणम्) मा (इति गामादाग्रहणेष्वविशेष इति परिभाषया मेङ् प्रभृतीनां चतुर्णामपि[1] ग्रहणम्) घु, रभ राभस्ये, डुलभष् प्राप्तौ, शक्लृ शक्तौ, शल हुल पत्लृ गतौ, पद गतौ इत्येतेषामङ्गानामचः स्थाने इस् इत्ययमादेशो भवति सनि सकारादौ प्रत्यये परतः। (इन धातुओं के अच् के स्थान में इस् यह आदेश होता है साकरादि सन् प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०—मीनाति। मित्सति। मिनोति। प्रमित्सति। मित्सते। अपमित्सते। दित्सति। धित्सति। रभ—आरिप्सते। लभ—आलिप्सते। शक—शिक्षति। पत-पित्सति। पद-प्रपित्सते।

सि०—मित्सति। मी सन्। म् इस् सन्। मिस् स। मित्स[2]। मित् मित् स। मि मित् स। मित्स शप् तिप्। मित्सति। आरिप्सति। रभ् सन्। र् इस् भ् स। रिस् भ् स। रि भ् स। रिप्स। रिप्स शप् तिप्। रिप्सति। आरिप्सति। पित्सति, पिपतिषति×तनिपतिदरिद्राणाम् (७।२।४९ वा०)× इति वेट्।

आप्ज्ञप्यृधामीत् ७।४।५५

प० वि०—आप्-ज्ञपि-ऋधाम् ६।३ ईत् १।१

अर्थ—[अचः सि सनि] आप्लृ व्याप्तौ, ज्ञा पुक् णिच्, ऋधु वृद्धौ, इत्येतेषामङ्गानामचः स्थाने ईकारादेशो भवति सनि सकारादौ प्रत्यये परतः। (आप्लृ, ज्ञपि और ऋधु अङ्ग का ईकार आदेश होता है सका-

१—द्र० टिप्पणी (७. ४. ४०) २—सः स्यार्धधातुके (७. ४. ४९)

रादि सन् प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०—आप्—ईप्सति । ज्ञपि—ज्ञीप्सति । ऋध्—ईर्त्सति ।

सि०—ईप्सति । आप् सन् । ईप् स । ईप् ईप् स । ई ईप् स । ईप्स शप् तिप् । ईप्सति । ईर्त्सति, ज्ञीप्सति इत्येतयोः साधनं सनीवन्तर्धेति (७. २. ४९) सूत्रे द्रष्टव्यम् ।

दम्भ इच्च ७।४।५६

प० वि०—दम्भः ६।१ इत् १।१ च अ० ।

अर्थ—[अच सि सनि] दम्भेश्च स्थाने इकारः चकाराद् ईकारश्च आदेशो भवति सनि सकारादौ परतः । (सकारादि सन् के परे रहने पर दंभ् को इकार और चकार से ईकार आदेश होता है)

उदा०—धीप्सति । धिप्सति ।

सि०—सिद्धिस्तु सनीवन्तेति (७. २. ४९) सूत्रे द्रष्टव्या ।

अभ्यासप्रकरणम्—

अत्र लोपोऽभ्यासस्य ७।४।५८

प० वि०—अत्र अ० । लोपः १।१ अभ्यासस्य ६ । १ ।।

अर्थ—अत्र यदेतत् प्रकान्तं सनिमीमेत्यारभ्य मुचोऽकर्मकस्येति यावत् तस्य अभ्यासस्य लोपो भवति । (यहां अर्थात् सनि मीमा० से मुचोऽकर्मकस्य पर्यन्त जिनको इसादि कहा है उसके अभ्यास का लोप होता है)

उदा०— पूर्वेषु सूत्रेसूदाहृतानि ।।

❀'अभ्यासस्य' पदस्य स्वरितवत्त्वादा अध्यायपरिसमाप्तेरधिकारो द्रष्टव्यः❀ (इस सूत्र में 'अभ्यासस्य' पद स्वरित है अतः इस पद का अध्याय की समाप्ति पर्यन्त अधिकार[1] जाता है)

ह्रस्वः ७।४।५९

अर्थ—अङ्गस्याभ्यासस्य ह्रस्वो भवति । (अङ्ग के अभ्यास को ह्रस्व होता है)

उदा० —डुढौकिषते । तुत्रौकिषते ।

सि०—ढौकृ, तौकृ । ढौकृ सन् । ढौक् इट् स । ढौकि स । ढौकिष । ढौक् ढौकिष । ढौ ढौकिष । ढु ढौकिष । डु ढौकिष । डुढौकिष शप् ते । डुढौकिषते ।

हलादिः शेषः ७।४।६०

प० वि०—हल् १।१ आदिः १।१ शेषः १।१

१. स्वरितेनाधिकारः (१. ३. ११)

अर्थ—अभ्यासस्यादिर्हल् शेषस्तिष्ठति अर्थात् अनादिर्लुप्यते ।
(अभ्यास का आदि हल् बचता है अर्थात जो आदि में नहीं है, उसका लोप हो जाता है)

उदा० —डुढौकिषते ।

शर्पूर्वाः खयः ७।४।६१

प० वि०—शर्पूर्वाः १।३ खयः १।३ स०—शर् पूर्वो येषां ते शर्पूर्वाः (बहुव्रीहिः)

अर्थ—[शेषः] अभ्यासस्य शर्पूर्वाः खयः शिष्यन्ते । अन्ये हलो लुप्यन्ते । (शर् प्रत्याहार में आने वाला कोई वर्ण है पूर्व जिस खय् प्रत्याहार में आने वाले वर्ण के, ऐसे अभ्यास का खय् ही बचता है और दूसरे लुप्त हो जाते हैं)

उदा०—पस्पर्धे । पस्पर्धाते । पस्पर्धिरे ।

सि०—स्पर्ध । स्पर्ध् लिट् । स्पर्ध् स्पर्ध् लिट् । प स्पर्ध् त । प स्पर्ध् एश् । पस्पर्ध् ए । पस्पर्धे ।

कुहोश्चुः ७।४।६२

प० वि०—कुहोः ६।२ चुः १।१ स०—कुश्च हश्चेति कुहौ तयोः कुहोः ।

अर्थ—अभ्यासस्य कवर्गहकारयोश्चवर्गादेशो भवति ।
(अभ्यास के कवर्ग और हकार के स्थान में चवर्ग आदेश होता है)

उदा०—चकार । हकारस्य—जहार ।

सि०—कृ लिट् । कृ णल् । कार् अ । कार् कार् अ । का कार अ । क कार् अ । चकार । हृ लिट् । हृ णल् । हार् अ । हार् हार् अ । हा हार् अ । ह हार् अ । झ[1] हार् अ । जहार[2] ।

उरत् ७।४।६६

प० वि०—उः ६।१ अत् १।१

अर्थ—ऋवर्णान्तस्याभ्यासस्याकारादेशो भवति । (ऋवर्णान्त अभ्यास का अकारादेश होता है)

उदा०—ववृते । ववृधे । नर्नर्त्ति । नरिनर्त्ति । नरीनर्त्ति ।

सि०—वृतु वर्त्तने । वृधु वृद्धौ । वृत् लिट् । वृत् त । वृत् वृत् त ।

१—कुहोश्चु (७. ४. ६२) २—अभ्यासे चर्च्च (८. ४. ५४)

वृ वृत् त । व वृत् त । वर् वृत् त । व वृत् एश् । ववृते । एतानि त्रीणि रूपाणि यङ्लुगन्तस्य सन्ति । नृत् यङ् । नृत् नृत् य । नृ नृत् य । न नृत् य । नर् नृत् य । न नृत् य । न रुक् नृत् । नर् नृत् शप् तिप् । नर् नृत् ति । नर्न् अर् त् ति । नर्नर्त्ति । न रिक् नर्त्ति । नरिनर्त्ति । न रीक् नर्त्ति । नरीनर्त्ति । ❀इत्यत्रेदं बोध्यम्—अभ्यासविकारेषु अपवादो नोत्सर्गान्विधीन्बाधत इत्युरदत्वे कृते रुगादय आगमाः क्रियन्ते❀

(अभ्यास के विकार में अपवाद सूत्र उत्सर्ग सूत्र का बाधक नहीं होता । अतः यहां पर रुक् रिक् रीक् इनके विधायक अपवाद सूत्र इस सूत्र के पश्चात में है, इसलिये परे होने से यदि वे यहां पर लग जाय तो उरत् सूत्र की प्रवृत्ति ऋवर्णान्त न रहने से नहीं होती । इन बातों के लिये यह परिभाषा है, इससे पहले उरत् सूत्र लग जायेगा, उसके पश्चात् रुगादि का आगम करना चाहिये)

द्युतिस्वाप्योः सम्प्रसारणम् ७।४।६७

व्यथो लिटि ७।४।६८

प० वि०—व्यथः ६।१ लिटि ७।१

अर्थ—[सम्प्रसारणम्] व्यथ भयचलनयोरित्येतस्य लिटि परतोऽभ्यासस्य सम्प्रसारणं भवति । (व्यथ् के अभ्यास का सम्प्रसारण होता है लिट् के पर रहने पर)

उदा०—विव्यथे । विव्यथाते । विव्यथिरे ।

सि०—व्यथ् लिट् । व्यथ् त । व्यथ् व्यथ त । व् इ अ थ् व्यथ् त । विथ व्यथ् त । वि व्यथ् ए । विव्यथे ।

दीर्घ इणः किति ७।४।६९

प० वि०—दीर्घः १।१ इणः ६।१ किति ७।१

अर्थ—[लिटि] इणोऽभ्यासस्याङ्गस्य दीर्घो भवति किति लिटि परतः । (इण् धातु के अभ्यास का दीर्घ होता है कित् लिट् के परे रहने पर)

उदा०—ईयतुः । ईयुः । कितीति किम् । इयाय । इययिथ ।

सि०—ईयतुः । इण् । इ लिट् । इ अतुस् । य् अतुस् । इ य् अतुस् । ईयतुः । इयाय । इ णल् । ऐ अ । आय अ । इ आय् अ । इयङ् आय् अ । इय् आय । इयाय ।

अत आदेः ७।४।७०

प० वि०—अतः ६।१ आदेः ६।१

अर्थ—[लिटि दीर्घः] अभ्यासस्यादेरकारस्य दीर्घो भवति लिटि परतः। (अभ्यास के आदि अकार का दीर्घ होता है लिट् के परे रहने पर)

उदा०—आट। आटतुः। आटुः। आदेरितिकिम्—पपाच।

सि०—अट् अट् णल्। अ आट् अ। आ आट् अ। आट् अ। आट।

तस्मान्नुड् द्विहलः ७।४।७१

प० वि०—तस्मात् ५।१ नुट् १।१ द्विहलः ६।१ स०—द्वौ हलौ यस्य तद् द्विहल् तस्य द्विहलः।

अर्थ—तस्माद् दीर्घीभूतादभ्यासादुत्तरस्य द्विहलोऽङ्गावयवस्य नुडागमो भवति। (उस अभ्यास के दो हल् वाले अङ्ग अवयव को नुट् का आगम होता है)

उदा०—आनर्च। आनर्चतुः। आनर्चुः।

सि०—अर्च् णल्। अर्च् अर्च् अ। अ अर्च् अ। आ अर्च् अ। आ अर्च् अ। आ नुट् अर्च् अ। आनर्च। ॐऋकारैकदेशो रेफो हल्ग्रहणेन गृह्यते। तेनेहापि द्विहलोऽङ्गस्य नुडागमो भवति। आनृधतुः। आनृधुः ॐ

अश्नोतेश्च ७।४।७२

अर्थ—[नुट्] अश्नोतेश्च दीर्घीभूतादभ्यासादुत्तरस्य नुडागमो भवति। (अश् व्याप्तौ धातु के दीर्घ हुए हुए अभ्यास के पश्चात् नुट् का आगम होता है)

उदा०—व्यानशे। व्यानशाते। व्यानशिरे।

भवतेरः ७।४।७३

प० वि०—भवतेः ६।१ अः १।१

अर्थ—[लिटि] भवतेरभ्यासस्याकारादेशो भवति लिटि परतः। (भवति धातु के अभ्यास को अकार आदेश होता है लिट् के परे रहने पर)

उदा०—बभूव। बभूवतुः। बभूवुः। बभूवे। बभूवाते। बभूविरे।

निजां त्रयाणां गुणः श्लौ ७।४।७५

अर्थ—णिजिर् शौचपोषणयोः, विजिर् पृथग्भावे, विष्लृ व्याप्तौ

इत्येतेषां निजादीनां त्रयाणां गुणो भवति श्लौ सति ।

(इन धातुओं के अभ्यास को गुण होता है श्लु में)

उदा०—नेनेक्ति । नेनिक्तः । नेनिजति । नेनेक्षि । नेनिक्थः । नेनिक्थ । नेनेज्मि । नेनिज्वः । नेनिज्मः ।। वेवेक्ति । वेवेष्टि ।

भृञामित् ७।४।७६

प० वि०—भृञाम् ६।३ इत् १।१

अर्थ—[त्रयाणाम् श्लौ] डुभृञ् धारणपोषणयोः, माङ् माने, ओहाङ् गतौ इत्येतेषां त्रयाणां भृञाम् अभ्यासस्य इकारादेशो भवति श्लौ सति ।

(इन धातुओं के अभ्यास को इकारादेश होता है श्लु में)

उदा०—बिभर्त्ति । बिभृतः । बिभ्रति । बिभर्षि । बिभृथः । बिभृथ । बिभर्मि । बिभृवः । बिभृमः । मिमीते । मिमाते । मिमते । मिमीषे । मिमाथे । मिमीध्वे । मिमे । मिमीवहे । मिमीमहे । जिहीते । जिहाते । जिहते । जिहीषे । जिहाथे । जिहीध्वे । जिहे । जिहीवहे । जिहीमहे ।

सि०—भृ लट् । भृ तिप् । भृ शप् तिप् । भृ श्लु ति । भृ ति । भृ भृ ति । भर् भृ ति । भ भृ ति । ब भृ ति । बिभर् ति । बिभर्ति ।

अर्त्तिपिपर्त्योश्च ७।४।७७

प० वि०—अर्त्ति-पिपर्त्योः ६।२ च अ० ।

अर्थ—[इत् श्लौ] ऋ गतौ, पॄ पालनपूरणयोः इत्येतयोरभ्यासस्य इकारादेशो भवति श्लौ ।

(ऋ और पॄ धातु के अभ्यास का इकार आदेश होता है श्लु में)

उदा०—इयर्त्ति । इयृतः । इयति । इयर्षि । इयृथः । इयृथ । इयर्मि । इयृवः । इयृमः । पिपर्त्तिः । पिपूर्तः । पिपुरति । पपर्षि । पिपूर्थः । पिपूर्थ । पिपर्मि । पिपूर्वः । पिपूर्मः ।

सि०--ऋ लट् । ऋ श्लु तिप् । ऋ ति । ऋ ऋ ति । अर् ऋ ति । अ ऋ ति । इ ऋ ति । इर् ऋ ति । इ ऋ ति । इयङ् ऋ ति । इय् अर् ति । इयर्ति । इयर्त्ति । पिपूर्तः । पॄ तस् । पु र् तस् । पूर् तस् । पूर् पूर् तस् । पू पूर् तस् । पु पूर् तस् । पिपूर्त्तः ।

सन्यतः ७।४।७९

प० वि०—सनि ७।१ अतः ६।१

अर्थ—[इत] अकारान्तस्य अभ्यासस्य सनि परतः इकारादेशो भवति। (सन् के परे रहने पर अकारान्त अभ्यास के स्थान में इकार आदेश होता है)

उदा०—पिपासति। तिष्ठासति।

गुणो यङ्लुकोः ७।४।८२

प० वि०—गुणः १।१ यङ्लुकोः ७।२

अर्थ—यङि यङ्लुकि च परतोऽभ्यासस्य गुणो भवति। (यङ् और यङ्लुक् के परे रहने पर अभ्यास को गुण होता है)

उदा०—यङि—चेचीयते। चेचीयेते। चेचीयन्ते। यङ्लुकि—बोभवीति। बोभोति। बोभूतः। बोभुवति।

दीर्घोऽकितः ७।४।८३

प० वि०—दीर्घः १।१ अकितः। स०—न किदिति अकित् तस्य अकितः।

अर्थ—[यङ्लुकोः] अकितोऽभ्यासस्य दीर्घो भवति यङि यङ्लुकि च परतः। (अकित् अभ्यास को दीर्घ होता है यङ् और यङ्लुक् के परे रहने पर)

उदा०—पापच्यते। पापचीति। पापक्ति। पापक्तः। पापचति। पापचीषि। पापक्षि। पापक्थः। पापक्थ। पापचीमि। पापच्मि। पापच्वः। पापच्मः।

सि०—साधनं तु धातोरेकाच इतिसूत्रे द्रष्टव्यम्।

नीग्वञ्चुस्रंसुध्वंसुभ्रंसुकसपतपदस्कन्दाम् ७।४।८४

प० वि०—नीक् १।१ वञ्चु-स्रंसु-ध्वंसु-भ्रंसु-कस-पत-पद-स्कन्दाम् ६।३

अर्थ—[यङ्लुकोः] वञ्चु, (चञ्चु, तञ्चु, त्वञ्चु, म्रुञ्चु, मुञ्चु गत्यर्थाः) स्रंसु ध्वंसु अवसंस्रने, कस गतौ, (शल हुल) पत्लृ गतौ, स्कन्दिर् गतिशोषणयोः इत्येतेषामभ्यासस्य नीगागमो भवति यङि यङ्लुकि च परतः। (इन धातुओं के अभ्यास को नीक् का आगम होता है यङ् और यङ्लुक् के परे रहने पर)

उदा०—वनीवच्यते। वनीवञ्चीति। सनीस्रस्यते। सनीस्रंसीति। दनीध्वस्यते। दनीध्वंसीति। बनीभ्रस्यते। बनीभ्रंसीति। चनीकस्यते।

चनीकसीति । पनीपत्यते । पनीपतीति । पनीपद्यते । पनीपदीति । चनी-स्कद्यते । चनीस्कंदीति ।

सि०—※ वनीवच्यते इत्यत्र अनिदितामित्यादिनानुनासिकलोपः । वनीवञ्चीति । अत्र न भवत्यनुनासिकलोपः । यङो लुक्त्वान्न लुमताङ्गस्येति प्रत्ययलक्षणनिषेधात् । अथ नीकि कृतेऽभ्यासस्य ह्रस्वत्वं कस्मान्न भवति । दीर्घोच्चारणसामर्थ्यात् ।※

नुगतोऽनुनासिकान्तस्य ७।४।८५

प० वि०—नुक् १।१ अतः ६।१ अनुनासिकान्तस्य ६।१

अर्थ—[यङ्लुकोः] अनुनासिकान्तस्याङ्गस्ययोकारान्तोऽभ्यासस्तस्य नुगागमो भवति यङि यङ्लुकि च परतः ।

(अनुनासिकान्त अङ्ग का जो अकारान्त अभ्यास, उसको यङ् और यङ्लुक् के परे रहने पर नुक् का आगम होता है)

उदा०—तन्—तंतन्यते । तंतनीति । तंतन्ति । तन्तान्तः । तंतनति । तंतनीषि । तंतंसि । तन्तान्थः । तन्तान्थ । तन्मनीमि । तन्तन्मि । तन्तन्वः । तन्तन्मः । गम्—जंगम्यते । जंगमीति । जंगन्ति । जंगतः । जंग्मति । जंगमीषि । जंगंसि । जंगथः । जंगथ । जंगमीमि । जंगन्मि । जंगन्वः । जंगन्मः ।

सि०—तन्तान्तः । तन्तान्थः । जंगतः । जंग्मति । जंगन्मि ।

※ अत्र महाभाष्ये※—नुकि यंयम्यते रंरम्यते इति रूपाऽसिद्धिः ×अनुस्वारागात्तु सिद्धम्× एवमपीदमेव रूपं स्यात्—यँयम्यते इदं न स्यात् यंयम्यते । × पदान्तवच्च ×वा पदान्तस्य ※ अत्रेदं बोध्यम्—यंयम्यते इत्यत्र नुकि आगमे कृते नकारस्य नश्चापदान्तस्य झलि इत्येतेन सूत्रेण झल्परत्वाभावान्नो अनुस्वारः । अत एव स्थानिनाऽत्रादेशोऽनुस्वार उपलक्ष्यते । तस्मादनुस्वार एवागमोऽत्र विधीयते न तु नुक् । सत्यप्येवं यँयम्यते इत्येव प्राप्नोति अपदान्ते नित्यं परसवर्णत्वात्, न तु यंयम्यते इति तदुच्यते—अयं नुगागमो पदान्तवच्चेति भवति इति वक्तव्यं तेन वा पदान्तस्य इति सूत्रेण परसवर्णादेशो विकल्प्यते तेने उभयमेव रूपं सिध्यति यंयम्यते यँयम्यते इति ।

जपजभदहदशभञ्जपशाञ्च ७।४।८६

अर्थ—[नुक् यङ्लुकोः] जप जल्प व्यक्तायां वाचि, जभि जृभी गात्रविनामे, दह भस्मीकरणे, दंश दशने, भञ्जो आमर्दने, पशि

सौत्रो धातुः इत्येतेषामभ्यासस्य नुगागमो भवति यङि यङ्लुकि च परतः। (इन धातुओं के अभ्यास को नुक् का आगम होता है यङ् और यङ्लुक् के परे रहने पर)

उदा०—जंजप्यते। जंजपीति। जंजभ्यते। जंजभीति। दंदह्यते। दंदहीति। दंदश्यते। दंदशीति। ❀ दश इति दंशिरयं नकार लोपार्थमेव निर्दिष्टः ❀ वंभज्यते। वंभञ्जीति। पंपश्यते। पंपशीति। गत्यर्थकोऽयं धातुः। ❀ पस धातुर्दन्त्यान्तः सौत्रो गत्यर्थ इति स्पश बाधनस्पर्शनयोरिति अत्र माधवः ❀ तत्पक्षे सूत्रेऽपि भञ्जपसां च इति पाठः। पंपस्यते। पंसस् कण्डादिः, तस्य पंपस्यते दुखायते इत्यर्थः।

चरफलोश्च ७।४।८७

प० वि०—चरफलोः ६।२ च अ०।

अर्थ—[नुक् यङ्लुकोः] चर गतौ, ञिफला विशरणे, फल निष्पत्तौ (द्वयोरपि ग्रहणम्] इत्येतयोरभ्यासस्य नुगागमो भवति यङि यङ्लुकि च परतः। (चर और फल धातुओं के अभ्यास को नुक् का आगम होता है यङ् और यङ्लुक् के परे रहने पर)

उदा०—चंचूर्यते। चंचूर्येते। चंचूर्यन्ते। चंचुरीति। चंचूर्ति। चंचूर्तः। चंचुरति। पंफुल्यते। पंफुलीति। पंफुल्ति। पंफुल्तः। पंफुलति।

सि०—चर् यङ्। चर् चर् य। च चर् य। च नुक् चर् य। चं चुर् य। चं चूर् य शप् ते। चंचूर्यते।

उत्परस्यातः ७।४।८८

प० वि०—उत् १।१ परस्य ६।१ अतः ६।१

अर्थ—[चरफलोः यङ्लुकोः] चरफलोरभ्यासात् परस्य अकारस्य स्थाने उकारादेशो भवति यङि यङ्लुकि च परतः।

(चर् और फल् के अभ्यास के पश्चात् अकार के स्थान में उकार आदेश होता है यङ् और यङ्लुक् के रहने पर)

उदा०—चंचूर्यते। चंचुरीति। पंफुल्यते। पंफुलीति।

ति च ७।४।८९

प० वि०—ति ७।१ च अ०।

अर्थ—[चरफलोः अतः उत्] चरफलोरकारस्य स्थाने उकारादेशो भवति तकारादौ प्रत्यये परतः। (चर और फल धातु के अकार के स्थान में उकार आदेश होता है तकारादि प्रत्यय के परे रहने पर)

उदा०—चूर्त्तिः। प्रफुल्लिः।

सि०—चर् क्तिन्। चुर् ति। चूर् ति। चूर्त्तिः। फल् क्तिन्। फल् क्तिन्। फल् ति। फुल् ति। फुल्लि सु। प्रफुल्लिः।

रीगृदुपधस्य च ७।४।९०

प० वि०—रीक् १।१ ऋदुपधस्य ६।१ च अ०।

स०—ऋदुपधायां यस्य तद् ऋदुपधम् तस्य ऋदुपधस्य।

अर्थ—[यङ्लुकोः] ऋकारोपधस्याङ्गस्य योऽभ्यासस्तस्य रीगागमो भवति यङि यङ्लुकि च परतः। (ऋकार उपधा वाले अङ्ग के अभ्यास को रीक् का आगम होता है यङ् और यङ्लुक् के परे रहने पर)

उदा०—वरीवृत्यते। वरीवृतीति। वरीवर्त्ति। वरीवृतः। वरीवृतति। नरीनृत्यते। नरीनृतीति। नरींनर्त्ति। नरीनृतः। नरीनृतति। ×रीगृत्वत इति वक्तव्यम्× वरीवृश्च्यते। वरीवृश्चीति। परीपृच्छ्यते। यङ्लुकि यङो लुक्त्वात् संप्रसारणं न भवति। तेन पाप्रच्छीति, पाप्रष्टि।

रुग्रिकौ च लुकि ७।४।९१

प० वि०—रुग्रिकौ १।२ च अ० लुकि ७।१.

अर्थ—[ऋदुपधस्य] ऋकारोपधस्याङ्गस्य योऽभ्यासस्तस्य रुग्रिकावागमौ भवतः यङ्लुकि परतः। (ऋकार उपधा वाले अङ्ग के अभ्यास को रुक् रिक् का आगम होता है यङ्लुक् के परे रहने पर)

उदा०—वर्वृतीति। वर्वर्त्ति। वरिवृतीति। वरिवर्त्ति। वर्वृतः। वरिवृतः। वर्वृतति। वरिवृतति।

ऋतश्च ७।४।९२

प० वि०—ऋतः ६।१ च अ०।

अर्थ—[लुकि] ऋकारान्तस्याङ्गस्य योऽभ्यासस्तस्य रीक् रुक् रिक् इत्येते आगमा भवन्ति यङ्लुकि परतः। (ऋकारान्त अङ्ग का जो अभ्यास उसको रीक् रुक् और रिक् ये तीन आगम होते हैं यङ्लुक् के परे रहने पर)

※अत्र चकारः सम्मुचयार्थः। ॠकारान्तस्यापि एते आगमा भवेयुरिति एवमर्थम्। आतश्चैवैवं विज्ञेयम् अन्यथा रुग्रिकौ च लुकि इत्यत्र चकारेण रीक् इत्येतस्य अनुवृत्तौ अत्र रीकोऽनुवृत्तिर्न स्यात् चानुकृष्टं नोत्तरत्र इति नियमात्※

उदा०—कृ—चरीकरीति । चर्करीति । चरिकरीति । चरीकर्त्ति । चर्कर्त्ति । चरिकर्त्ति । चरीकृतः । चर्कृतः । चरिकृतः । चरीक्रति । चर्क्रति । चरिक्रति ।

सि०—चरीकरीति ॐइत्यत्र नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुक इत्यनेन गुणस्य निषेधो न, तस्य सूत्रस्य लघूपधस्यैव गुणस्य निषेधपरकत्वात् अत्र सार्वधातुकार्धधातुकयोरिति गुणो भवत्येवॐ

किरतिं चर्करीतान्तं च पचतीत्यत्र यो नयेत् ।
प्राप्तिज्ञं तमहं मन्ये प्रारब्धस्तेन संग्रहः ॥

अथ—किरतिमिति ऋकारान्तोपलक्षणं, चर्करीतमिति यङ्लुकः पूर्वाचार्यसंज्ञा, पचतीति लट उपलक्षणम् । तेन चरीकर्तीत्यादीनि रूपाणि किरतेर्यो नयेदित्यर्थः । प्राप्तिज्ञं रुगादीनां विषयविभागेन या प्राप्तिस्तज्ज्ञं, संग्रहः साधुशब्दसंग्रहः । इति पदमञ्जरी ॥ इत्थं शब्दशास्त्रे व्युत्पन्नस्यैव व्याडिप्रणीते संग्रहग्रन्थेऽधिकार इति मीमांसकाः । (युधिष्ठिराभि-धा इति शेषः)

सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे ७।४।९३

प० वि०—सन्वत् १।१ लघुनि ७।१ चङ्परे ७।१ अनग्लोपे ७।१

स०—चङ् परो यस्मात् तच्चङ्परम् तस्मिन् चङ्परे । अको लोपः अग्लोपः । नास्ति अग्लोपो यस्य तदनग्लोपम् तस्मिन् अनग्लोपे ।

अर्थ—लघुनि धात्वक्षरे परतो योऽभ्यासस्तस्य चङ्परे णौ परतः सनीव कार्यं भवति अनग्लोपे । (लघु धात्वक्षर के परे रहने पर जो अभ्यास, उसका सन् के समान कार्य होता है चङ् परे हो जिससे ऐसे णिच् के परे रहने पर । अर्थात सन् के परे रहने पर जो कार्य होता वैसा ही उसको कार्य होता है)

उदा०—अपीपचत् । अपीपचताम् । अपीपचन् । अचीकरत् । अचीकरताम् । अचीकरन् । लघुनीति किम्—अततक्षत् । अररक्षत् । अनग्लोप इति किम् । अचकथत् । ॐकथ वाक्यप्रबोध इति अयं धातुः चुरादावदन्तःॐ

दीर्घो लघोः ७।४।९४

अर्थ—[लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे] दीर्घो भवति लघोरभ्यासस्य लघुनि णौ चङ्परेऽनग्लोपे । (लघु धात्वक्षर के परे रहने पर लघु अभ्यास को दीर्घ होता है, चङ् परे है जिससे ऐसे णिच् के परे रहने पर)

उदा०—अचीकरत् । अपीपठत् ।

अत्स्मृदृत्वरप्रथम्रदस्तृस्पशाम् ७।४।९५

प० वि०—अत् १।१ स्मृ-दृ-त्वर-प्रथ-म्रद-स्तृ-स्पशाम् ६।३

अर्थ—[चङ्परे] स्मृ चिन्तायाम्, दृ भये, ञित्वरा संभ्रमे, प्रथ प्रख्याने, म्रम मर्द्दने, स्तृञ् आच्छादने, स्पश बाधनस्पर्शनयोः इत्येतेषामभ्यासस्य अकारादेशो भवति चङ्परे णौ परतः। (इन धातुओं के अभ्यास का अकार आदेश होता है, चङ्परक णिच् के परे रहरे पर)

उदा०—असस्मरत्। अददरत्।अतत्वरत्। अपप्रथत्। अमम्रदत्। अतस्तरत्। अपस्पशत् ॐसन्वद् भावादित्त्वं प्राप्तमनेन बाध्यते। तपरकरणसामर्थ्यात् अति कृते दीर्घो लघोरित्येतदपि न भवति अददरत् इतिॐ

विभाषा वेष्टिचेष्टयोः ७।४।९६

प० वि०—विभाषा १।१ वेष्टिचेष्टयोः ६।२

अर्थ—[अत् चङ्परे] वेष्टि चेष्टि इत्येतयोरभ्यासस्य विभाषा अकारादेशो भवति चङ्परे णौ परतः। (वेष्टि और चेष्टि धातुओं के अभ्यास को विकल्प से अकार होता है चङ्परक णिच् के परे रहने पर)

उदा०—अववेष्टत्। अविवेष्टत्। अचचेष्टत्। अचिचेष्टत्।

ई च गणः ७।४।९७

प० वि०—ई (अविभ०) च अ०। गणः ६।१

अर्थ—[चङ्परे] गणेरभ्यासस्य ईकारादेशो भवति चकारादच्च चङ्परे णौ परतः। (गण् के अभ्यास को ईकार और चकार से अकार आदेश होता है, चङ्परक णिच् के परे रहने पर)

उदा०—अजीगणत्। अजगणत्।

इतिश्रीमत्पदवाक्यप्रमाणज्ञमहावैयाकरणपण्डितब्रह्मदत्ताचार्याणामन्तेवासिना देवप्रकाशपातञ्जलेन विरचितायामष्टाध्यायी-प्रकाशिकायां

सप्तमाध्याये चतुर्थः पादः

इति सप्तमोऽध्यायः

———

पदस्य ८।१।१६

अर्थ--प्रागपदान्ताधिकाराद् इतोऽग्रे वक्ष्यमाणानि कार्याणि पदस्य भवन्ति इत्यधिकारो वेदितव्यः। (अपदान्त अधिकार के पहले पहले यहां से आगे कहे जाने वाले कार्य पद को होते हैं, इस बात का अधिकार समझना चाहिये)

पदात् ८।१।१७

अर्थ-कुत्सने च सुप्यगोत्रादौ इत्येतस्मात्प्राक् इतोऽग्रे वक्ष्यमाणानि कार्याणि पदात् पदस्य भवन्ति इत्यधिकारो वेदितव्यः।

(कुत्सने च सुप्यगोत्रादौ (८. १. ६९) इस सूत्र के पहले पहले यहां से आगे कहे जाने वाले कार्य पद के पश्चात् पद के होते हैं, इस बात का अधिकार समझना चाहिये)

युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वान्नावौ ८।१।२०

प० वि०—युष्मदस्मदोः ६।२ षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः ६।२ वान्नावौ १।२ स०—युष्मच्च अस्मच्चेति युष्मदस्मदौ तयोः युष्मदस्मदोः। षष्ठी च चतुर्थी च द्वितीया चेति षष्ठीचतुर्थीद्वितीयाः तासु तिष्ठति यः सः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थः तयोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः। वाम् च नौ च वान्नावौ।

अर्थ—[पदस्य पदात्] पदादुत्तरयोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्युष्मदस्मदोः पदयोः वाम् नौ इत्येतावादेशौ भवतः। (पद से उत्तर षष्ठ्यन्त चतुर्थ्यन्त द्वितीयान्त युष्मद् और अष्मद् पद के स्थान में वाम् और नौ यथासंख्य आदेश होते हैं)

उदा०—षष्ठी—ग्रामो वां स्वम्। ग्रामो नौ स्वम्। चतुर्थी—ग्रामो वां दीयते। ग्रामो नौ दीयते। द्वितीया—ग्रामो वां पश्यति। ग्रामो नौ पश्यति। स्थग्रहणं श्रूयमाणविभक्त्यर्थम्। इह मा भूत्। इति युष्मत्पुत्र इति।

बहुवचनस्य वस्नसौ ८।१।२१

अर्थ--[युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः] पदादुत्तरयोर्युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्यथासंख्यं वस् नस् इत्येतावादेशौ भवतः। (पद से उत्तर षष्ठी चतुर्थी द्वितीया विभक्ति में स्थित बहुवचनान्त युष्मद् और अस्मद् पद के स्थान में क्रमशः वस् और नस् आदेश होते हैं)

उदा०—ग्रामो वः स्वम् । जनपदो नः स्वम् । ग्रामो वो दीयते । जनपदो नो दीयते । ग्रामो वः पश्यति । जनपदो नः पश्यति ।

तेमयावेकवचनस्य ८।१।२१

प० वि०—तेमयौ १।२ एकवचनस्य ६।१ स०—ते च मे चेति तेमयौ ।

अर्थ—[युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः] युष्मदस्मदोरेकवचनान्तयोः षष्ठीचतुर्थीस्थयोर्यथासंख्य ते मे इत्येतावादेशौ भवतः।

(षष्ठी चतुर्थी विभक्ति में स्थित एकवचनान्त युष्मद् और अस्मद् पद के स्थान में क्रमशः ते और मे आदेश होते हैं, किसी पद के पश्चात्)

उदा०—ग्रामस्ते स्वम् । ग्रामो मे स्वम् ॥ ग्रामस्ते दीयते । ग्रामो मे दीयते ॥ ❀द्वितीयान्तस्यादेशान्तरविधानसामर्थ्यात्षष्ठीचतुर्थ्योरेव अयं योगः❀

त्वामौ द्वितीयायाः ८।१।२३

अर्थ—[एकवचनस्य युष्मदस्मदोः] द्वितीयायाः एकवचनान्तयोर्युष्मदस्मदोर्यथासंख्यं त्वा मा इत्येतावादेशौ भवतः । (द्वितीया एकवचनान्त युष्मद् और अस्मद् के स्थान में त्वा और मा क्रमशः आदेश होते हैं)

उदा०—ग्रामस्त्वा पश्यति । ग्रामो मा पश्यति ।

इत्याष्टाध्यायी-प्रकाशिकायामष्टमाध्याये प्रथमः पादः

—×—

असिद्धप्रकरणम्—

पूर्वत्रासिद्धम् ८।२।१

प० वि०—पूर्वत्र अ० । असिद्धम् १।१

अर्थ—इतोऽग्रे आ अध्यायपरिसमाप्तेः वक्ष्यमाणं कार्यं पूर्वेषु सूत्रेषु असिद्धं भवति इत्यधिकारो वेदितव्यः । (यहां से आगे अध्याय की परिसमाप्ति तक कहे जाने वाले कार्य कार्यविधायक से पूर्व सूत्रों की दृष्टि में असिद्ध समझे जाते हैं, इस बात का अधिकार समझना चाहिये)

न मु ने ८।२।३

प० वि०—न अ० । मु अविभ० ने ७।१ इति तृतीयैकवचनयस्य नाशब्दस्य सप्तम्यैकवनम् ।

अर्थ—मुभावो नाभावे कर्त्तव्ये नासिद्धो भवति । (टा के स्थान में ना

करने में मु का होना असिद्ध नहीं होता है)

उदा०—अमुना। ×सिज्लोप एकादेशे सिद्धो वक्तव्यः× अलावीत्।

सि०—अदस् टा। अद अ टा। अद टा। अमु टा। अमुना।

नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य ८।२।७

प० वि०—नलोपः १।१ प्रातिपदिकान्तस्य ६।१ स०—नस्य लोपः नलोपः। प्रातिपदिकस्य अन्तः प्रातिपदिकान्तः तस्य प्रातिपदिकान्तस्य।

अर्थ—[पदस्य] प्रातिपदिकान्तस्य पदस्य यो नकारस्तस्य लोपो भवति पूर्वत्रासिद्धं च। (प्रातिपदिकान्त पद के नकार का लोप होता है और पूर्व की दृष्टि में असिद्ध होता है)

उदा०—राजा। राजभ्याम्। राजभिः राजता। राजतरः। राजतमः। कर्ता*।

न ङिसंबुद्ध्योः ८।२।८

अर्थ—[नलोपः] ङौ परतः सम्बुद्धौ च नकारलोपो न भवति।

*इदमत्रावधेयम्—तरितृ सु। तरितन् स् इत्यवस्थायां सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ, अप्तृन्तृच्० इति चोभे प्राप्नुतः। उभे अपि सूत्रे सावकाशे। काशिकाकारस्तु अप्तृन्तृच्० इति सूत्रे एकवचनान्तान् तृन्तृच्प्रत्ययान्ताननुदाहरन् पूर्वं सूत्रेण दीर्घत्वं मनुत इति सूचयति। तथैव चाष्टाध्यायी-प्रकाशिकायां ३ पृष्ठे टिप्पण्यां च प्रदर्शितम्। भट्टोजिदीक्षितस्तु परत्वात् अप्तृन्तृच्० इत्यादि सूत्रं-प्रवर्तयति। तदाश्रित्य अस्मिन् ग्रन्थे अप्तृन्तृच्० सूत्रे तथैव प्रतिपादितम्। कोऽत्र साधीयान् पक्ष इति मीमांसायाम् सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ इत्यनेन दीर्घ-विधानमेव ज्यायान् (ज्यायः)। यतो हि उभयप्राप्तौ परत्वं तत्रैव प्रवर्तते यत्र विप्रतिषेधो भवति (विप्रतिषेधे परं कार्यम् (१. ४. २)। विप्रतिषेधश्च स उच्यते यत्रैकस्मिन् स्थाने द्वौ कार्यौ (द्वे कार्ये) युगपत् प्राप्नुतः। यथा 'बालक भ्यस्' इत्यत्र अकारस्यैकस्य दीर्घत्वमेत्वं च युगपत् प्राप्नुतः (द्रष्टव्यं महाभाष्यम् १. ४. २) अत्र तु न द्वयोः कार्ययोः प्राप्तिः किं तर्हि, एकस्यैव दीर्घरूपस्य कार्यस्य प्राप्तिः। तेन नात्र विप्रतिषेधः। विप्रतिषेधाभावे च विप्रतिषेधे परं कार्यमिति परिभाषा न प्रवर्तते। तथा सति एकस्यैव दीर्घकार्यस्य विधायकयोर्द्वयोः सूत्रयोर्मध्ये प्रथमातिक्रमे मानाभावात् सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ इत्यस्य प्रवर्तनरूपः प्राचां पक्ष एव श्रेयान् इति मीमांसकाः।

(ङि और सम्बुद्धि के परे रहने पर नकार का लोप नहीं होता है)

उदा०—आर्द्रे चर्म्मन्। लोहिते चर्म्मन्। संबुद्धौ–हे राजन्। हे तक्षन्। ×वा नपुंसकानामिति वक्तव्यम्× हे चर्मन्। हे चर्म।

मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः ८।२।९

प० वि०—मात् ५।१ उपधायाः ५।१ च अ०। मतोः ६।१ वः १।१ अयवादिभ्यः ५।३ स०—मश्च अश्चेति मं तस्मात् मात्।

अर्थ—मकारान्ताद् मकारोपधादवर्णान्तादवर्णोपधाच्च उत्तरस्य मतोर्व इत्ययमादेशो भवति, यवादिभ्यस्तु परतो न भवति।

(मकारान्त, मकारोपध, अवर्णान्त, अवर्णोपध के पश्चात् मतुप् के स्थान में वकार आदेश होता है, यवादि शब्द को छोड़कर)

उदा०—मकारान्तात्–किंवान्। शंवान्। मकारोपधात्–शमीवान्। दाडिमीवान्। अवर्णान्तात्–वृक्षवान्। प्लक्षवान्। अवर्णोपधात्–पयस्वान्। यशस्वान्। भास्वान्।

सि०—किमस्यास्ति इति मतुप्। किम् मतुप्। किम् मत्। किम् वत्। किम् वत् सु। किम् वत् सु। किम् वात् स्। किं वा नु म् त् स्। किंवान्त् स्। किंवान्त्। किंवान्।

झयः ८।२।१०

अर्थ—[मतोर्वः] झयन्तादुत्तरस्य मतोर्व इत्ययमादेशो भवति।

(झयन्त प्रातिपदिक के पश्चात् मतुप् के स्थान में वकार आदेश होता है)

उदा०—अग्निचित्वान् ग्रामः। विद्युत्वान् बलाहकः।

कृपो रो लः ८।२।१८

प० वि०—कृपः ६।१ रः ६।१ लः १।१

अर्थ—[पूर्वत्रासिद्धम्] कृपेर्धातोः रेफस्य लकारादेशो भवति पूर्वत्रासिद्धं च। (कृप् धातु के रेफ के स्थान में लकार आदेश होता है और पूर्व की दृष्टि में असिद्ध होता है)

उदा०—कल्पता। कल्पतारौ। कल्पतारः। क्लृप्तः। क्लृप्तवान्।

उपसर्गस्यायतौ ८।२।१९

प० वि०—उपसर्गस्य ६।१ अयतौ ७।१

अर्थ—[रो लः] अयतौ परत उपसर्गस्य यो रेफस्तस्य लकारादेशो भवति। (अय् धातु के परे रहने पर उपसर्ग का जो रेफ उसको लकार आदेश होता है)

उदा०—प्लायते। पलायते।

संयोगान्तस्य लोपः ८।२।२३

प० वि०—संयोगान्तस्य ६।१ लोपः १।१ स०—संयोगोऽन्तो यस्य सः संयोगान्तः तस्य संयोगान्तस्य।

अर्थ—संयोगान्तस्य पदस्य लोपो भवति। (संयोग अन्त वाले पद का लोप होता है और वह पूर्व की दृष्टि में असिद्ध होता है)

उदा०—गोमान्। यवमान्। कृतवान्। हतवान्।

सि०—गोमत् सु। गोमात् सु। गोमा नुम् त् स्। गोमान्त्। गोमान्।

रात्सस्य ८।२।२४

प० वि०—रात् ५।१ सस्य ६।१

अर्थ—[संयोगान्तस्य पदस्य] संयोगान्तस्य पदस्य यो रेफस्तस्मादुत्तरस्य सकारस्य लोपो भवति। (संयोग अन्त वाले पद का जो रेफ उसके पश्चात सकार का लोप होता है)

उदा०—मातुः। पितुः।

सि०—साधनं तु ख्यत्यात्परस्य इत्यत्र द्रष्टव्यम्।

धि च ८।२।२५

अर्थ—[सस्य] धकारादौ प्रत्यये परतः सकारस्य लोपो भवति। (धकार आदि वाले प्रत्यय के परे रहने पर सकार का लोप होता है)

उदा०—अलविध्वम्। अलविढ्वम्। अपविध्वम्। अपविढ्वम्।

सि०—लूञ्। लू लुङ्। लू ध्वम्। लू च्लि ध्वम्। लू सिच् ध्वम्। लू इट् स् ध्वम्। लो इ ध्वम्। लव् इ ध्वम्। लविध्वम्। अट् लविध्वम्। अलविढ्वम्। ※इतः प्रभृति सिचः सकारस्य लोप इष्यते※

झलो झलि ८।२।२६

प० वि०—झलः ५।१ झलि ७।१

अर्थ—[सस्य] झल उत्तरस्य सकारस्य लोपो भवति झलि परतः। (झल् के पश्चात् सकार का लोप होता है झल् के परे रहने पर)

उदा०—अभित्त। अभित्थाः।

ह्रस्वादङ्गात् ८।२।२७

अर्थ-[सस्य झलि] ह्रस्वान्तादङ्गादुत्तरस्य सकारस्य लोपो भवति झलि परतः। (ह्रस्वान्त अङ्ग के पश्चात् सकार का लोप होता है झल् के परे रहने पर)

उदा०—अकृत। अहृत। अकृथाः। अहृथाः।

इट ईटि ८।२।२८

अर्थ—[सस्य] इट उत्तरस्य सकारस्य लोपो भवति ईटि परतः। (इट् के पश्चात् सकार का लोप होता है ईट् के परे रहने पर)

उदा०-अलावीत्। अपावीत्।

स्कोः संयोगाद्योरन्ते च ८।२।२९

प० वि०—स्कोः ६।२ संयोगाद्योः ६।२ अन्ते ७।१ च अ०। स०—सश्च कश्च इति स्कौ तयोः स्कोः। संयोगस्य आदिः संयोगादिः तयोः संयोगाद्योः।

अर्थ—[झलि] संयोगाद्योः सकारककारयोर्लोपो भवति झलि परतः पदान्ते च। (संयोग के आदि जो सकार और ककार उसका लोप होता है झल् के परे रहने पर और पदान्त में)

उदा०—ओलस्जी। लग्नः। लग्नवान्। साधुलक्। ककारस्य-तक्ष। तष्टः। तष्टवान्। काष्ठतट्।

सि०—लस्ज् क्त। लस्ज् त। लज् त। लज् न। लग्न सु। लग्नः। साधुलक्। लस्ज् क्विप्। लस्ज्। लज्। लग्। लक्। साधुलक्।

तक्ष्। तक्ष् क्विप्। तक्ष्। तष्। तष् सु। तष्। तड्। तट्।

चोः कुः ८।२।३०

अर्थ—[झलि अन्ते च] चवर्गस्य कवर्गादेशो भवति झलि परतः पदान्ते च। (चवर्ग के स्थान में कवर्ग आदेश होता है झल् के परे रहने पर और पदान्त में)

उदा०—पक्ता। पक्तुम्। पक्तव्यम्। ओदनपक्। वक्ता। वक्तुम्। वक्तव्यम्। वाक्।

हो ढः ८।२।३१

अर्थ—[झलि अन्ते च] हकारस्य ढकारादेशो भवति झलि परतः पदान्ते च। (हकार के स्थान में ढकार आदेश होता है झल् के परे रहने पर और पदान्त में)

उदा०- सोढा। सोढुम्। सोढव्यम्।

सि०—साधनं सहिवहोरोदवर्णस्य इत्यत्र।

दादेर्धातोर्घः ८।२।३२

प० वि०—दादेः ६।१ धातोः ६।१ घः १।१

स०—दः आदिर्यस्य सः दादिः तस्य दादेः।

अर्थ—[हः झलि अन्ते च] दकारादेर्धातोर्हकारस्य घकारादेशो भवति झलि परतः पदान्ते च।

(दकार है आदि में जिस धातु के ऐसे धातु के हकार के स्थान में घकार आदेश होता है झल् के परे रहने पर और पदान्त में)

उदा०—दग्धा। दग्धुम्। दग्धव्यम्। काष्ठधक्। दोग्धा। दोग्धुम्। दोग्धव्यम्। गोधुक्।

सि०—दह भस्मीकरणे। दह तृच्। दह् तृ। दघ् तृ। दघ् धृ। दग्धृ सु। दग्धा। काष्ठं दहतीति काष्ठधक्। दह् क्विप्। दह्। दघ्। धघ्। धग्। धक्। काष्ठधक्।

वा द्रुहमुहष्णुहष्णिहाम् ८।२।३३

अर्थ—[हः घः झलि अन्ते च] द्रुह जिघांसायाम्, मुह वैचित्ये, ष्णुह उद्गरणे, ष्णिह प्रीतौ इत्येतेषां धातूनां हकारस्य वा घकारादेशो भवति झलि पदान्ते च। (इन धातुओं के हकार के स्थान में घकार आदेश होता है विकल्प से झल् के परे रहने पर और पदान्त में)

उदा०—द्रुह्। द्रोग्धा। द्रोढा। मित्रध्रुक्। मित्रध्रुट्। मह्। उन्मोग्धा। उन्मोढा। उन्मुक्। उन्मुट्। स्नुह्। उत्स्नोग्धा। उत्स्नोढा। उत्स्नुक्। उत्स्नुट्। स्निह्। स्नेग्धा। स्नेढा। स्निक्। स्निट्।

सि०—द्रुह् तृच्। द्रघ् तृ। द्रोघ् तृ। द्रोघ् धृ। द्रोग्धृ। द्रोग्धा। द्रह् तृच्। द्रह् तृ। द्रढ् तृ। द्रोढ् धृ। द्रोढ् ढृ। द्रोढृ। द्रोढा।

नहो धः ८।२।३४

अर्थ—[दहः झलि अन्ते च णह बन्धने इत्यस्य हकारस्य धका-

रादेशो भवति झलि पदान्ते च। (नह् के हकार के स्थान में धकार आदेश होता है झल् के परे रहने पर और पदान्त में)

उदा०—नद्धा। नद्धुम्। नद्धव्यम्।

आहस्थः ८।२।३५

अर्थ—[हः झलि] आहो हकारस्य थकारादेशो भवति झलि परतः। (आह् के हकार के स्थान में थकार आदेश होता है झल् के परे रहने पर)

उदा०—आत्थ।

व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः ८।२।३६

अर्थ—[झलि अन्ते च] ओव्रश्चू छेदने, भ्रस्जो पाके, सृज विसर्गे, मृजू शुद्धौ, यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु, भ्राजृ दीप्तौ इत्येतेषां छकारान्तानां शकारान्तानां च षकार आदेशो भवति झलि परतः पदान्ते च।

(इन धातुओं के तथा छकारान्त और शकारान्तों के षकार आदेश होता है झल् के परे रहने पर और पदान्त में)

उदा०—व्रश्च—व्रष्टा। व्रष्टुम्। व्रष्टव्यम्। मूलवृट्। भ्रस्ज—भ्रष्टा। भ्रष्टुम्। भ्रष्टव्यम्। धानाभृट्। सृज—स्रष्टा। स्रष्टुम्। स्रष्टव्यम्। रज्जुसृट्। मृज—मार्ष्टा। मार्ष्टुम्। मार्ष्टव्यम्। कंसपरिमृट्। यज—यष्टा। यष्टुम्। यष्टव्यम्। उपयट्। राज—सम्राट्। स्वराट्। विराट्। ॐराजभ्राजोः पदान्तार्थं ग्रहणं झलादिराभ्यामिटा व्यवधीयतेॐ केचित्तु राष्टिभ्राष्टिरिति क्तिन्नन्तमिच्छन्ति।

× क्तिन्नाबादिभ्यश्च वक्तव्यः × (३।३।९४ वा०) छकारान्तानाम्—प्रच्छ। प्रष्टा। प्रष्टुम्। प्रष्टव्यम्। शब्दप्राट्। ॐछ्वोः शूडनुनासिके चेत्यत्र क्ङितीत्यनुवर्त्तते इति छग्रहणमिह क्रियते ॐ शकारान्तानाम्—लिश। लेष्टा। लेष्टुम्। लेष्टव्यम्। लिट्। विश्। वेष्टा। वेष्टुम्। वेष्टव्यम्। विट्।

सि०—व्रश्च तृच्। व्रस् तृ। व्रष् तृ। व्रष्टृ। व्रष्टृ सु। व्रष्ट् अनङ् सु। व्रष्टन् स्। व्रष्टान् स्। व्रष्टान्। व्रष्टा। मूलं वृश्चति इति मूलवृट्। मूल अम् व्रश्च् क्विप्। मूलवृश्च्। मूलवृस्। मूलवृष्। मूलवृष् सु। मूलवृष्। मूलवृड्। मूलवृट्। मूलवृषौ। मूलवृषः। मूलवृषम्। मूलवृषौ। मूलवृषः। मूलवृषा। मूलवृड्भ्याम्। मूलवृड्भिः। स्रष्टा। सम्राट्।

एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः ८।२।३७

प० वि०—एकाचः (अवयवषष्ठी) बशः ६।१ भष् १।१ झषन्तस्य ६।१ स्ध्वोः ७।२ स०—एकोऽच् यस्मिन् इति एकाच् तस्यावयवस्य एकाचः । झष् अन्ते यस्येति झषन्तः तस्य झषन्तस्य । सश्च ध्वश्च इति स्ध्वौ तयोः स्ध्वोः ।

अर्थ–धातोरवयवो य एकाच् झषन्तः तदवयवस्य बशः स्थाने भष् आदेशो भवति झलि सकारे ध्वशब्दे च परतः पदान्ते च ।

(धातु का अवयव जो एक अच् वाला झषन्त उस अवयव के बश् के स्थान में भष् आदेश होता है झलादि सकार और झलादि ध्व शब्द के परे रहने पर और पदान्त में)

उदा०—बुध—भोत्स्यन्ते । अभुद्ध्वम् । अर्थभुत् । गुह—निघोक्ष्यते । न्यघूढ्वम् । पर्णघुट् । दुह—धोक्ष्यन्ते । अधुग्ध्वम् । गोधुक् । अजर्घाः ।

सि०—बुध अवगमने-बुध् लृट् । बुध् झ । बुध् अन्त । बुध् अन्ते । बुध् स्य अन्ते । भुध् स्यन्ते । भोध् स्यन्ते । भोत्स्यन्ते । बुध् लुङ् । बुध् ध्वम् । बुध् सिच् ध्वम् । बुध् स् ध्वम् । बुध् ध्वम् । भुध् ध्वम् । भुद्-ध्वम् । भुद्ध्वम् । अट् भुद्ध्वम् । अभुद्ध्वम् । अर्थभुत् । अर्थ अम् बुध् क्विप् । अर्थबुध् । अर्थभुध् । अथभुध् सु । अर्थभुध् । अर्थभुद् । अर्थभुत् ॥

गुह । गुह् लृट् । गुह् त । गुह् ते । गुह् स्य ते । गोह् स्यते । घोह् स्यते । घोढ् स्यते । घोक् स्यते । घोक्ष्यते । घोक्ष्यते । निघोक्ष्यते ।

गुह् लुङ् । गुह् ध्वम् । गुह् सिच् ध्वम् । गुह् ध्वम् । गुढ् ध्वम् । गुढ् ढ्वम् । गुढ्वम् । गूढ्वम् । अट् गूढ्वम् । अगूढ्वम् । नि अगू-ढ्वम् । न्यगूढ्वम् । दुह् । दुह स्यते । दुघ् स्यते । दोघ् स्यते । धोघ् स्यते । धोक्ष्यते । धोक्ष्यते । गोधुक् । गोदुह क्विप् । गोदुह् । गोधुह् । गोधुघ् । गोधुघ् सु । गोधुघ् । गोधुग् । गोधुक् ।

अजर्घाः । गृधु अभिकाङ्क्षायाम् । गृध् यङ् । गृध् गृध् य । गृ गृध् य । ग[1] गृध् य । गर्[2] गृध् य । ग[3] गृध् य । जगृध् । ज रुक्

१—उरत् (७. ४. ६६) २—उरण् रपरः (१. १. ५०) ३—हलादिः शेषः (७. ४. ६०)

गृध् । जर् गृध् । जर् गृध् लङ् । जर् गृध् सिप् । जर् गृध् स । जर् गर्ध् स् । जर् गर्ध[१] । जर्घर्ध्[२] । जर्घर्द्[३] । जर्घर् र्[४] जर्घर्[५] । जर्घाः[६] । अट् जर्घाः । अजर्घाः ।

दधस्तथोश्च ८।२।३८

प० वि०—दधः ६।१ तथोः ७।२ च अ० ।

अर्थ—[बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः] ॐदध इति दधातिः कृतद्विर्वचनो निर्दिश्यतेॐ दध इत्येतस्य झषन्तस्य बशः स्थाने भष् आदेशो भवति तकारथकारयोः परतश्चकारात् स्ध्वोश्च परतः । (दध जो झषन्त उसके बश् के स्थान में भष् आदेश होता है तकार थकार के परे रहने पर और चकार से स् और ध्व के परे रहने पर)

उदा०—धत्तः । धत्थः । धत्से । धद्ध्वम् ।

सि०—धा लट् । धा तस् । धा श्लु तस् । धा तस् । धा धा तस् । ध धा तस् । द धा तस् । दध् तस् । धध् तस् । धत्तस् । धत्तः । धध थास् । धध् से । धत्से । धध् ध्वम् । धध् ध्वे । धध् ध्वम् । धद्ध्वम् ।

झलां जशोऽन्ते ८।२।३९

प० वि०—झलाम् ६।३ जशः १।३ अन्ते ७।१

अर्थ—पदस्य झलां जशः आदेशा भवन्ति पदस्यान्ते । (पदान्त झलों का जश् होता है)

उदा०—वागत्र । श्वलिडत्र । अग्निचिदत्र ।

सि०—वाक् अत्र । वाग् अत्र । वागत्र ।

झषस्तथोर्धोऽधः ८।२।४०

प० वि०—झषः ५।१ तथोः ६।२ धः १।१ अधः ५।१

अर्थ—झष उत्तरयोस्तकारथकारयोः स्थाने धकारादेशो भवति । दधातिं वर्जयित्वा । (झषन्त धातु के पश्चात त् और थ् के स्थान में ध् आदेश होता है, धा धातु को नहीं होता है)

उदा०—लब्धा । लब्धुम् । लब्धव्यम् । अलब्ध । अलब्धाः । दुहः । दोग्धा । दोग्धुम् । दोग्धव्यम् । अदुग्ध । अदुग्धाः । लिह । लेढा । लेढुम् ।

१—हल्ङ्याब्भ्या० (६. १. ६६) २—एकाचो० (८. २. ३७) ३—झलां० (८. २. ३९) ४—दश्च (८. ३. ७५) ५—रो रि (८. ३. १४) ६—ढ्रलोपे० (६. ३. १०९)

लेढव्यम् । अलीढ । अलीढाः । बुध । बोद्धा । बोद्धुम् । बोद्धव्यम् । अबुद्ध । अबुद्धाः । अध इति किम् । धत्तः । धत्थः ।

सि०—लभ् तृच् । लभ् तृ । लभ् धृ । लब्धृ सु । लब्ध् अनङ् स् । लब्धन् स् । लब्धान् स् । लब्धान् । लब्धा । लब्धारौ । लब्धारः । अलब्ध । लभ् लुङ् । लभ् त । लभ् सिच् त । लभ् स् त । लभ् त । लभ् त । लभ् ध । लब्ध । अट् लब्ध । अलब्ध । अलीढ । लिह् लुङ् । लिह् सिच् त । लिह् त । लिढ् त । लिढ् ध । लिढ् ढ । लि ढ । लीढ । अट् लीढ । अलीढ ।

षढोः कः सि ८।२।४१

प० वि०—षढोः ६।२ कः १।१ सि ७।१ स०—षश्च ढश्चेति षढौ तयोः षढोः ।

अर्थ—षकारढकारयोः ककारादेशो भवति सकारे परतः ।
(ष् और ढ् के स्थान में क् आदेश होता है सकार के रहने पर)

उदा—षकारस्य—विष्—वेक्ष्यति । अवेक्ष्यत् । विविक्षति । ढकारस्य—लिह्—लेक्ष्यति । अलेक्ष्यत् । लिलिक्षति । सीति किम्—पिनष्टि ।

सि०—विष् । विष् लृट् । विष् तिप् । विष् स्य ति । वेष् स्य ति । वेक् स्य ति । वेक्ष्य ति । वेक्ष्यति । विष् लृङ् । अवेक्ष्यत् । विष् सन् । विष् विष् स । वि विष् स । वि विक स । विविक्ष शप् तिप् । विविक्षति ।

रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः ८।२।४२

प० वि०—रदाभ्याम् ५।२ निष्ठातः ६।१ नः १।१ पूर्वस्य ६।१ च अ० । दः ६।१ स०—रश्च दश्चेति रदौ ताभ्याम् रदाभ्याम् । निष्ठायाः तकारः निष्ठात् तस्य निष्ठातः ।

अर्थ—रेफदकाराभ्यामुत्तरस्य निष्ठातकारस्य नकार आदेशो भवति पूर्वस्य च दकारस्य । (रेफ और दकार के पश्चात् निष्ठा के तकार के स्थान में नकार आदेश होता है और पूर्व दकार के स्थान मेंभी (नकार) आदेश होता है)

उदा०—रेफान्तात्—आस्तीर्णम् । विस्तीर्णम् । विशीर्णम् । निगीर्णम् । अवगूर्णम् । दकारात्—भिन्नः, भिन्नवान् । छिन्नः, छिन्नवान् । स्तॄ क्त । स्तॄ त । स्तिर् त । स्तीर् त । स्तीर् न । स्तीर्ण । आ स्तीर्ण । आस्तीर्ण सु । आस्तीर्ण अम् । आस्तीर्णम् । एवं सर्वत्र । शॄ । गॄ । भिदिर् । छिदिर् ।

संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः ८।२।४३

प० वि०—संयोगादेः ५।१ आतः ५।१ धातोः ५।१ यण्वतः ५।१
स०—संयोगः आदिर्यस्मात् सः संयोगादिः तस्मात् संयोगादेः।

अर्थ—[निष्ठातः नः] संयोगादिर्यो धातुराकारान्तो यण्वान् तस्मादुत्तरस्य निष्ठातकारस्य नकारादेशो भवति। (संयोगादि जो धातु आकारान्त यण् वाला ऐसे के पश्चात् निष्ठा के तकार के स्थान में नकार आदेश होता है)

उदा०—प्रद्राणः। प्रद्राणवान्। ग्लानः। ग्लानवान्।

सि०—द्रा कुत्सायां गतौ। द्रा क्त। द्रा न। प्रद्रा न। प्रद्राण सु। प्रद्राणः। ग्लै म्लै। हर्षक्षये। ग्ला क्त। ग्ला न। ग्लान सु। ग्लानः।

ल्वादिभ्यः ८।२।४४

अर्थ—[निष्ठातः नः] ल्वादिभ्यरुत्तरस्य निष्ठातकारस्य स्थाने नकारादेशो भवति। (लूञ् इत्यादि धातुओं के पश्चात् निष्ठा के तकार के स्थान में नकार आदेश होता है)

उदा०—लूनः। लूनवान्। धूनः। धूनवान्। जीनः। जीनवान्।

सि०—ज्या क्त। ज् इ आ त। जि त। जीन सु। जीनः।

ओदितश्च ८।२।५०

अर्थ—[निष्ठातः नः] ओकारेतो धातोरुत्तरस्य निष्ठातकारस्य नकारादेशो भवति। (ओकार इत् वाले धातु के पश्चात् निष्ठा के तकार के स्थान में नकार आदेश होता है)

उदा०—ओलस्जी। लग्नः, लग्नवान्। ओविजी। उद्विग्नः, उद्विग्नवान्। ॐस्वादय ओदितःॐ षूङ्। सूनः। सूनवान्। दूङ्। दूनः। दूनवान्। दीङ्। दीनः। दीनवान्। डीङ् डीनः। डीनवान्। धीङ्। धीनः। धीनवान्। मीङ्। मीनः। मीनवान्।

शुषः कः ८।२।५१

अर्थ—[निष्ठातः] शुष शोषणे इत्यस्माद्धातोरुत्तरस्य निष्ठातकारस्य स्थाने ककारादेश भवति। (शुष् धातु के पश्चात् निष्ठा के तकार के स्थान में ककार आदेश होता है)

उदा०—शुष्कः। शुष्कवान्।

पचो वः ८।२।५२

अर्थ—[निष्ठातः] पचेर्धातोरुत्तरस्य निष्ठातकारस्य वकारादेशो भवति। (पच् धातु के पश्चात् निष्ठा के तकार के स्थान में वकार आदेश होता है)

उदा०—पक्वः। पक्वान्।

क्षायो मः ८।२।५३

अर्थ—[निष्ठातः] क्षै जै षै क्षये इत्यस्माद् धातोरुत्तरस्य निष्ठातकारस्य स्थाने मकारादेशो भवति। (क्षै धातु के पश्चात् निष्ठा के स्थान में मकार आदेश होता है)

उदा०—क्षामः। क्षामवान्।

सि०—क्षै। क्षा क्त। क्षाम सु। क्षामः।

क्विन्प्रत्ययस्य कुः ८।२।६२

प० वि०—क्विन्प्रत्ययस्य ६।१ कुः १।१ स०—क्विन् प्रत्ययो यस्माद् धातोः स क्विन्प्रत्ययः तस्य क्विन्प्रत्ययस्य।

अर्थ—क्विन् प्रत्ययस्य पदस्य कवर्गादेशो भवति।

(क्विन् प्रत्यय का विधान किया गया है जिस धातु से उस पद को कवर्ग आदेश होता है)

उदा०—घृतस्पृक्। जलस्पृक्।

नशेर्वा ८।२।६३

प० वि०—नशेः ६।१ वा अ०।

अर्थ—[कुः] नशेः पदस्य वा कवर्गादेशो भवति।

(नश् पद का विकल्प करके कवर्ग आदेश होता है)

उदा०—जीवस्य नाशो जीवनक्। जीवनट्।

सि०—जीव नश् क्विप्। जीवनक्। जीवनष्। जीवनष् सु। जीवनष्। जीवनङ्। जीवनट्। जीवनड्।

मो नो धातोः ८।२।६४

प० वि०—मः ६।१ नः १।१ धातोः ६।१

अर्थ—मकारान्तस्य धातोः पदस्य नकारादेशो भवति।

(मकारान्त धातु पद का नकार आदेश होता है)

उदा०—प्रतान्। प्रशान्। साधनं तु अनुनासिकस्य०(६।४।१५)इत्यत्र

द्रष्टव्यम् ।

म्वोश्च ८।२।६५

प० वि०—म्वोः ७।२ च अ० ।

अर्थ—[मो नो धातोः] मकारे वकारे च परतः मकारान्तस्य धातोर्नकारादेशो भवति । (मकार और नकार के परे रहने पर मकारान्त धातु को नकार आदेश होता है)

उदा०—जगन्वान् । चक्षण्वहे । चक्षण्महे ।

सि०—क्षम् लिट् । क्षम् वहि । क्षम् वहे । क्षम् क्षम् वहे । च क्षम वहे । चक्षण्वहे । चक्षण्महे ।

ससजुषो रुः ८।२।६६

प० वि०—ससजुषः ६।१ रुः १।१ स—सश्च सजुष् चेति ससजुष् तस्य ससजुषः ।

अर्थ—[पदस्य] सकारान्तस्य पदस्य सजुष् इत्येतस्य च रुर्भवति । (पदान्त सकार और सजुष् शब्द के षकार के स्थान में रु आदेश होता है)

उदा०—सकारस्य-अग्निरत्र । वायुरत्र । सजुषः । सजुर्ऋषिभिः ।

सि०—अग्निस् अत्र । अग्निरु अत्र । अग्निरत्र । सजुष् ऋषिभिः । सजुरु ऋषिभिः । सजुर् ऋषिभिः । सजूर्ऋषिभिः ।

अहन् ८।२।६८

अर्थ—[रुः] अहन् इत्येतस्य पदस्य रुर्भवति । (अहन् पद को रु होता है)

उदा०—अहोभ्याम् । अहोभिः ।

सि०—अहन् भ्याम । अहरु भ्याम् । अहर भ्याम् । अह उ भ्याम् । अहोभ्याम ।

रोऽसुपि ८।२।६९

प० वि०—रः १।१ असुपि ७।१

अर्थ—[अहन्] अहन् इत्येतस्य रेफादेशो भवति असुपि परतः । (असुप् के परे रहने पर अहन् पद को रेफ आदेश होता है)

उदा०—अहर्ददाति । अहर्भुङ्क्ते ।

वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः ८।२।७२

प० वि०—वसु-स्रंसु-ध्वंसु-अनडुहाम् ६।३ दः १।१

अर्थ—[ससजुषो रु इत्यतः स इति वर्तते] वस्वन्तस्य पदस्य सकारान्तस्य स्रंसु ध्वंसु अनडुह् इत्येतेषां च दकारादेशो भवति।

(वस्वन्त पद सकारान्त, स्रंसु, ध्वंसु और अनदुह् के स्थान में दकार आदेश होता है)

उदा०—वसु—विद्वभिः। स्रंसु—उखास्राद्भ्याम्। ध्वंसु—पर्णध्वद्भ्याम्। अनडुह्—अनडुद्भ्याम्।

तिप्यनस्तेः ८।२।७३

प० वि०—तिपि ७।१ अनस्तेः ६।१

अर्थ—[सः पदस्य दः] तिपि परतः सकारान्तस्य पदस्य अनस्तेर्दकार आदेशो भवति। (तिप् के परे रहने पर अस्ति को छोड़कर सकारान्त पद को दकार आदेश होता है)

उदा०—अचकाद्भवान्। अन्वशाद्भवान्।

सि०—चकासृ दीप्तौ। चकास् लङ्। चकास् तिप्। चकास् ति। चकास् शप् ति। चकास् त्। चकास्। अट चकास्। अचकास्। अचकाद्।

सिपि धातोरुर्वा ८।२।७४

प० वि०—सिपि ७।१ धातोः ६।१ रुः १।१ वा अ०।

अर्थ—[सः पदस्य दः] सिपि परतः सकारान्तस्य पदस्य धातो रु इत्ययमादेशो भवति दकारो वा। (सिप् के परे रहने पर सकारान्त पद जो धातु उसके स्थान में रु आदेश होता है और दकार भी)

उदा०—अचकास्त्वम्। अचकात्त्वम्। अन्वशास्त्वम्। अन्वशात्त्वम्।

सि०—अचकास्। अचकारु। अचकार्। अचकाः। अचकाः त्वम्। अचकास्त्वम। अचकास्। अचकाद् त्वम्। अचकात्त्वम्।

दश्च ८।२।७५

अर्थ—[सिपि रुः धातोः वा दः] दकारान्तस्य धातोः पदस्य सिपि परतो रुर्भवति दकारो वा। (दकारान्त धातु जो पद उसको रु होता है और विकल्प से दकार भी सिप् के परे रहने पर)

उदा०—अजघाः। साधनं तु एकाचो वशो भष् इत्यत्र द्रष्टव्यम्।

र्वोरुपधाया: दीर्घ इक: ८।२।७६

प० वि०—र्वोः ६।२ उपधायाः ६।१ दीर्घः १।१ इकः ६।१

स०—रश्च वश्च इति वौ तयोः र्वोः।

अर्थ—रेफान्तस्य वकारान्तस्य च धातोः पदस्य उपधाया इको दीर्घो भवति।(रेफान्त और वकारान्त जो धातु पद उसकी उपधा इक् को दीर्घ होता है)

उदा०—गीः। गिरौ। गिरः। पूः। पुरौ। पुरः।

सि०—गिर् सु। गिर्। गीर्। गीः।

हलि च ७।२।७७

अर्थ—[र्वोः धातोः उपधाया इकः दीर्घः] हलि च परतः रेफवकारान्तयोः धातोरुपधाया इको दीर्घो भवति। (हल् के परे रहने पर रेफान्त और वकारान्त धातु की उपधा जो इक् उसको दीर्घ होता है)

उदा०—आस्तीर्णम्। विस्तीर्णम्। विशीर्णम्।

सि०—रदाभ्यामित्यत्र द्रष्टव्यम्।

उपधायां च ८।२।७८

अर्थ—[धातोः हलि र्वोरुपधायाः दीर्घः इकः] हलि परतो या धातोरुपधा तस्यां यौ रेफवकारौ तयोरुपधाया इको दीर्घो भवति।

(हल् के परे रहने पर जो धातु की उपधा में रेफ और वकार उसकी उपधा के इक् को दीर्घ होता है)

उदा०—हुर्छा। हुर्छ् तृच्। हूर्छिता। मुर्छा। मूर्छिता।

न भकुर्छुराम् ८।२।७९

अर्थ—रेफस्य वकारान्तस्य च भस्य कुर् छुर् इत्येतयोश्च दीर्घो न भवति। (रेफ और वकारान्त जो भ और कुर् छुर् उनको दीर्घ नहीं होता है)

उदा०—धुरं वहति धुर्यः। दिव्यम्। कुर्। कुर्यात्। छुर्यात्।

❀ हलि चेति दीर्घत्वे प्राप्ते प्रतिषेधोऽयमारभ्यते ❀

अदसोऽसेर्दादु दो मः ८।२।८०

प० वि०—अदसः ६।१ असेः ६।१ दात् ५।१ उ। अविभ०। दः ६।१ मः १।१

अर्थ—असकारान्तस्य अदसो दादुत्तरस्य उवर्णादेशो भवति दकारस्य च मकारः। (असकारान्त जो अदस् शब्द उसके दकार के पश्चात् उवर्ण

आदेश होता है और दकार के स्थान में मकार आदेश होता है)

उदा०—पुंसि–असौ। अमू। अमी। अमुम्। अमू। अमून्। अमुना। अमूभ्याम्। अमीभिः। अमुष्मै। अमूभ्याम्। अमीभ्यः। अमुष्मात्। अमूभ्याम्। अमीभ्यः। अमुष्य। अमुयोः। अमीषाम्। अमुष्मिन्। अमुयोः। अमीषु।

नपुंसके—अदः। अमू। अमूनि। अदः। अमू। अमूनि। अन्यत्सर्वं पुल्लिङ्गवत्।

स्त्रीलिङ्गे—असौ। अमू। अमूः। अमूम्। अमू। अमूः। अमूया। अमूभ्याम्। अमूभिः। अमुष्यै। अमूभ्याम्। अमूभ्यः। अमुष्याः। अमूभ्याम्। अमूभ्यः। अमुष्याः। अमुयोः। अमूषाम्। अमुष्याम्। अमुयोः। अमूषु।

सि०–असौ, अदस् औ सुलोपश्च इत्यत्र द्रष्टव्यम्। अदस् औ। अद अ औ। अद औ। अमु औ। अमू। अदस् जस्। अद अ अस्। अद अस्। अद शी। अद ई। अदे। अमी। अदस् अम्। अद अ अम्। अद अम्। अमु अम्। अमुम्। अमू। अमून्। अदस् शस्। अद अस्। अमु अस्। अमूस्। अमून्। अदस् टा। अद टा। अमु ना। अमुना। अदस् भ्याम्। अद भ्याम्। अदा भ्याम्। अमूभ्याम्। अदस् भिस्। अद भिस्। अदे भिस्। अमीभिः। अदस् ङे। अदस् अ ङे। अद ङे। अमु ङे। अमु स्मै। अमुष्मै। ॐपूर्वत्रासिद्धम् इति असिद्धत्वात् अदन्तत्वादेव स्मैभावःॐ अमीषाम्। अदस् आम्। अद आम्। अद सुट् आम्। अदे साम्। अमीषाम्। अदस् सु। अदस् अदस्। अदर्। अदः। अमू। अदस् जस्। अदस् शि। अद इ। अद नुम् इ। अदन् इ। अदानि। अमूनि। अमुया। अदस् टा। अद आ। अदे आ। अदया। अमुया। एवं सर्वं सर्वत्रैव सूत्रपूर्वकमाचेष्टव्यम।

एत ईद् बहुवचने ८।२।८१

प० वि०—एतः ६।१ ईत् १।१ बहुवचने ७।१

अर्थ--[अदसोऽसेर्दादु दो मः] अदसो दकारादुत्तरस्य एकारस्य ईकारादेशो भवति दकारस्य च मकारः बहुवचने बहूनामर्थानामुक्तौ। (असकारान्त अदस् के दकार के पश्चात् एकार के स्थान में ईकार आदेश होता है और दकार के स्थान में मकार आदेश होता है बहुवचन में)

उदा०—अमी । अमीभिः । अमीभ्यः अमीषाम् । अमीषु ।

तयोर्य्वावचि [संहितायाम्] ८।२।१०८

अर्थ—संहितायाम् आ अध्यायपरिसमाप्तेरधिकारः (अध्याय की परिसमाप्ति तक अधिकार है)

इत्यष्टाध्यायी-प्रकाशिकायामष्टमाध्याये द्वितीयः पादः

ढो ढे लोपः ८।३।१३

प० वि०—ढः ६।१ ढे ७।१ लोपः १ । १

अर्थ—ढकारस्य ढकारे लोपो भवति ।

(ढकार के परे रहने पर ढकार का लोप होता है)

उदा०—लीढम् । उपगूढम् । साधनं ढ्रलोपो० (६. ३. १०६) इत्यत्र द्रष्टव्यम ।

रो रि ८।३।१४

प० वि०—रः ६।१ रि ७।१

अर्थ —[लोपः] रेफस्य रेफे परतो लोपो भवति । (रेफ का रेफ के परे रहने पर लोप होता है)

उदा०—नीरक्तम् । दूरक्तम् । अग्नी रथः । इन्दू रथः । पुना रक्तं वासः । ॐपदस्य इत्यस्य विशेषणे षष्ठी तेन पदस्य अवयवस्य यो रेफस्तस्य रेफे परतो लोपो भवतीति अपदान्तस्यापि लोपो विज्ञायते तेन अजर्घाः अपास्पाः इति सर्वं सिध्यतिॐ

सि०—निर् रक्तम् । नि रक्तम् । नीरक्तम् । अजर्घाः । एकाचो बशो भष् इत्यादौ सूत्रे इदं व्युत्पादितम् । स्पर्द्ध यङ् । स्पर्ध् स्पर्ध् य । प स्पर्ध् य । पा स्पर्ध् य । पास्पर्ध् लङ् । पास्पर्ध् सिप् । पास्पर्ध् स् । पास्पर्ध् शप् स् । पास्पर्ध् स् । पास्पर्ध् । पास्पर्द् । पास्पर् र् । पास्पर् । पास्पार् । पास्पाः । अट् पास्पाः । अपास्पाः ।

खरवसानयोर्विसर्जनीयः ८।३।१५

प० वि०—खरवसानयोः ७।२ विसर्जनीयः १।१ स०—खर् च अवसानं चेति खरवसाने तयोः खरवसानयोः ।

अर्थ—[रः पदस्य] रेफान्तस्य पदस्य खरि परतोऽवसाने च विसर्जनीयादेशो भवति । (पदान्त रेफ का विसर्जनीय आदेश होता है खर् के परे रहने पर और अवसान में)

उदा०—वृक्षश्छादयति । प्लक्षश्छादयति । अवसाने—रामः । पुरुषः ।

सि०—वृक्षस् छादयति। वृक्षरु छादयति। वृक्षर् छादयति। वृक्षः छादयति। वृक्षस् छादयति। वृक्षश् छादयति। वृक्षश्छादयति। राम सु। राम स्। राम रु। राम र्। रामः।

रोः सुपि ८।३।१६

प० वि०—रोः ६।१ सुपि ७।१

अर्थ—[रः विसर्जनीयः] रु इत्येतस्य रेफस्य सुपि परतो विसर्जनीयादेशो भवति। (रु के रेफ के स्थान में विसर्जनीय आदेश होता है सुप् के परे रहने पर)

उदा०—॥सुपीति सप्तमीबहुवचनं गृह्यते। पयःसु। सर्पिःषु। यशःसु। ॥सिद्धे सति आरम्भो नियमार्थ रोरेव सुपि विसर्जनीयादेशो नान्यस्य गीर्षु, धूर्षु।

भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि ८।३।१७

प० वि०—भो--भगो--अघो--अपूर्वस्य ६।१ यः १।१ अशि ७।१ स०—भोश्च भगोश्च अघोश्च अश्चेति भोभगोअघोआः। भोभगोअघोआः पूर्वाः यस्य स भोभगोअघोअपूर्वः, तस्य।

॥अकारस्य च पूर्वरूपं न भवति स्वरूपनिर्देशपरत्वात्॥

अर्थ—[रो रः] भो भगो अघो इत्येवं पूर्वस्य अवर्णपूर्वस्य च रोरेफस्य यकारादेशो भवति अशि परतः।

(भो भगो अघो और अवर्ण पूर्वक जो रु उसके रेफ के स्थान में यकार आदेश होता है अश् के परे रहने पर)

उदा०—भो अत्र। भगो अत्र। अघो अत्र। भो ददाति। भगो ददाति। अघो ददाति। अवर्णपूर्वस्य क आस्ते। कय् आस्ते। ब्राह्मणा ददति। पुरुषा ददति।

सि०—भोस् अत्र। भोरु अत्र। भोर् अत्र। भोय् अत्र। भो ददाति। भोस् ददाति। भोरु ददाति। भोर् ददाति। भोय् ददाति। भो ददाति।

व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य ८।३।१८

प० वि०—व्योः ६।२ लघुप्रयत्नतरः १।१ शाकटायनस्य ६।१ स०—वश्च यश्चेति व्यौ तयोः व्योः। लघुः प्रयत्नो यस्य स लघुप्रयत्नः। अतिशयेन लघुप्रयत्नो लघुप्रयत्नतरः ॥लघुप्रयत्नतरत्वम् स्थानं ताल्वादिकरणं जिह्वामूलादि तयोरुच्चारणे शैथिल्यम्, मन्द प्रयत्नता

इत्यर्थः॥

अर्थ—[अशि[1]] वकारयकारयोः पदान्तयोर्लघुप्रयत्नतर आदेशो भवति अशि परतः शाकटायानाचार्यस्य मतेन। (पदान्त में जो यकार और वकार उसको लघुप्रयत्नतर आदेश होता है अश् के परे रहने पर शाकटायनाचार्य के मत से)

उदा०—भोयत्र। भगोयत्र। अघोयत्र। कय् आस्ते। अस्मायत्र असावादित्यः। द्वावत्र।

सि०—भोस् अत्र। भोरु अत्र। भोर् अत्र। भोय् अत्र। ॐशाकटायनग्रहणं विकाल्पार्थम्॥

लोपः शाकल्यस्य ८।३।१९

अर्थ—[व्योः अशि[2]] वकारयकारयोः पदान्तयोरवर्णपूर्वयोर्लोपो भवति शाकल्यस्य आचार्यस्य मतेन अशि परतः। (अवर्णपूर्वक पदान्त यकार और वकार का लोप होता है शाकल्याचार्य के मत से अश् के परे रहने पर)

उदा०—क[2] आस्ते। कय् आस्ते। काक आस्ते। काकय् आस्ते। अस्मा उद्धर। अस्माय् उद्धर। द्वा अत्र। द्वाव् अत्र। ॐशाकल्यग्रहणं विकल्पार्थम्॥

ओतो गार्ग्यस्य ८।३।२०

प० वि०—ओतः ५।१ गार्ग्यस्य ६।१

अर्थ—[व्योः लोपः अशि] ओकारादुत्तरस्य यकारस्य[3] लोपो भवति गार्ग्यस्य आचार्यस्य मतेन अशि परतः।

(ओकार के पश्चात यकार का लोप होता है गार्ग्य आचार्य के मत से अश् के परे रहने पर)

उदा०—ॐगार्ग्यग्रहणं पूजार्थम्॥ भो अत्र। भगो अत्र। अघो अत्र। ॐअत्रेदं बोध्यम्—योऽयं लघुप्रयत्नस्य लोपः शाकल्यस्य इति सूत्रेण विकल्पेन लोपो विधीयते सोऽनेन निवर्त्यते, नित्यलोपार्थोऽयमा-

---

१. अत्र काशिकाकारः 'भोभगोअघोअपूर्वस्य' इत्यनुवर्तयति, तदनावश्यकम्।

२. अत्र काशिकाकारः 'अपूर्वस्य' इत्यनुवर्तयति, तदनावश्यकम्। ओकारान्तेषु भो भगो अघो प्रभृतिषु उत्तरसूत्रेण नित्यलोपविधानात्।

३. व्योरनुवृत्तावपि ओकारान्तपरस्य वकारस्यासंभवात् वृत्तौ न संबद्ध्यते।

रम्भ इत्यर्थः॥

(जो लघु प्रयत्नतर आदेश नहीं हुआ है,, उस पक्ष में उसका लोप 'लोपः शाकल्यस्य, इस सूत्र से विकल्प से कहा है, लेकिन ओकार के पश्चात् नित्य लोप हो, इसलिये इस सूत्र का आरम्भ किया गया है। अतः भो अत्र यहां पर ओतो गार्ग्यस्य से यकार का लोप होता है और जिस पक्ष में लघुप्रयत्नतर होता है, वहां भोय् अत्र उदाहरण बनता है)

हलि सर्वेषाम् ८।३।२२

प० वि०—हलि ७।१ सर्वेषाम् ६।३

अर्थ—[भाभगोअघोअपूर्वस्य पदान्तस्य यः पदस्य लोपः] हलि परतो भोभगोअघोअपूर्वस्य पदान्तस्य यकारस्य लोपो भवति सर्वेषामाचार्याणां मतेन। (हल् के परे रहने पर भो, भगो अघो और अवर्णपूर्वक पदान्त यकार का लोप होता है सभी आचार्यों के मत से)

उदा०—भो हसति। भगो हसति। अघो हसति। वृक्षा हसन्ति। ॥सर्वेषां इत्यस्य ग्रहणं शाकटायनस्यापि लोपो यथा स्यात्, लघुप्रयत्नतरो मा भूदिति॥

मोऽनुस्वारः ८।३।२३

प० वि०—मः ६।१ अनुस्वारः १।१

अर्थ—[पदस्य हलि] पदान्तस्य मकारस्य अनुस्वार आदेशो भवति हलि परतः। (पदान्त मकार का अनुस्वार आदेश होता है, हल् के परे रहने पर)

उदा०—कुण्डम् हसति।। कुण्डं हसति। वनम् हसति। वनं हसति।

नश्चापदान्तस्य झलि ८।३।२४

प० वि०—नः ६।१ च अ०। अपदान्तस्य ६।१ झलि ७।१

अर्थ—[मः अनुस्वारः] नकारस्य मकारस्य चापदान्तस्यानुस्वारादेशो भवति झलि परतः। (अपदान्त मकार और नकार का अनुस्वार होता है झल् के परे रहने पर)

उदा०—पयांसि। यशांसि। मकारस्य—गंस्यते। गंस्येते। गंस्यन्ते।

सि०—पयस् जस्। पयस् अस्। पयास् शि। पया नुम् स् इ। पयान्स् इ। पयांसि। गम्। कर्मणि। गम् लृट्। गम् त। गम् ते। गम् स्य ते। गंस्यते।

मो राजि समः क्वौ ८।२।२५

प० वि०—मः ६।१ राजि ७।१ समः ६।१ क्वौ ७।१

अर्थ—[मः] समो मकारस्य मकार आदेशो भवति राजतौ क्विप्प्रत्ययान्ते परतः। (क्विप् प्रत्ययान्त राजृ दीप्तौ धातु के परे रहने पर सम् के मकार के स्थान में मकार ही आदेश होता है)

उदा०—सम् राट्। सम्राट्। साधनं व्रश्चभ्रस्जेति सूत्रे द्रष्टव्यम्।

ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम् ८।३।३२

प० वि०—ङमः ५।१ ह्रस्वात् ५।१ अचि ७।१ ङमुट् १।१ नित्यम् १।१

अर्थ—ह्रस्वात्परो यो ङम् तदन्तात्पदादुत्तरस्याचो ङमुडागमो भवति नित्यम्[1]। (ह्रस्व के पश्चात् जो ङम्, तदन्त पद के पश्चात् अच् को नित्य ङमुट् का आगम होता है)

उदा०—ॐङणनेभ्यो यथासंख्यं ङणना भवन्तिॐ ङकारान्तान् ङुट्। प्रत्यङ् आस्ते। प्रत्यङ्ङ् आस्ते। णकारान्ताण्णुट्। वण आस्ते। वण्णास्ते। नकारान्तान्नुट्। कुर्वन् आस्ते। कुर्वन्नास्ते।

विसर्गसत्वप्रकरणम्—

विसर्जनीयस्य सः ८।३।३४

प० वि०—विसर्जनीयस्य ६।१ सः १।१

अर्थ—[खरि] विसर्जनीयस्य सकारादेशो भवन्ति खरि परतः।
(खर् के परे रहने पर विसर्जनीय को सकार आदेश होता है)

उदा०—वृक्षश्छादयति। प्लक्षश्छादयति। वृक्षष्ठकारः। प्लक्षष्ठकारः। वृक्षश्चिनोति। प्लक्षश्चिनोति।

सि०—साधनं तु स्तोः श्चुना श्चुः, ष्टुना ष्टुः इत्यत्र द्रष्टव्यम्।

शर्परे विसर्जनीयः ८।३।३५

प० वि०—शर्परे ७।१ विसर्जनीयः १।१ स०—शर् परो यस्मात् सः शर्परः तस्मिन् शर्परे।

अर्थ—[खरि] शर्परे खरि परतो विसर्जनीयस्य विसर्जनीयादेशो भवति। (शर् परे है जिससे ऐसे खर् के परे रहने पर विसर्जनीय के स्थान में

१—नित्यशब्दोऽत्र प्रायोवाची नित्यप्रहसितो नित्यप्रज्वलितः (महाभाष्ये पस्पशाह्निके) इति यथा तेन क्वचिन्नापि भवति यथा अणुदितसवर्णस्य चाप्रत्ययः।

विसर्जनीय आदेश होता है)

उदा०—शशाः ऽ्क्षुरम् । पुरुषः ऽ्क्षुरम् (ऽ्क्षुरम्) । अद्भिः ऽ्प्सातम् ।

वा शरि ८।३।३६

प० वि०—वा अ० । शरि ७।१

अर्थ–[विसर्जनीयस्य विसर्जनीयः] विसर्जनीयस्य विसर्जनीयादेशो वा भवति शरि परतः।(शर् के परे रहने पर विसर्जनीय के स्थान में विकल्प से विसर्जनीय आदेश होता है)

उदा०—वृक्षः शेते । वृक्षश्शेते । वृक्षः साये । वृक्षस्साये ।

× खर्परे शरि वा लोपो वक्तव्यः × वृक्षा स्थातारः । वृक्षाः स्थातारः । वृक्षास्स्थातारः ।

कुप्वो ≍क≍ पौ च ८।३।३७

प० वि०—कुप्वोः ७।२ ≍ क ≍ पौ १।२ च अ० ।

स०—कुश्च पुश्चेति कुपू तयोः कुप्वोः ।

अर्थ—[विसर्जनीस्य] कवर्गे पवर्गे च परतो विसर्जनीस्य यथासंख्यं ≍ (जिह्वामूलीयः[1]) ≍ (उपध्मानीयः[1]) इत्येतावादेशौ भवतः, चकाराद्विसर्जनीयश्च ।

(कवर्ग और पवर्ग के परे रहने पर विसर्जनीय का क्रमशः≍ (जिह्वामूलीय) ≍ (उपध्मानीय) आदेश होता है और चकार से विसर्जनीय भी)

उदा०—वृक्ष ≍ करोति । वृक्षः करोति । वृक्ष ≍ खनति । वृक्षः

१—इमौ जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ अयोगवाहेषु परिगणितौ तैत्तिरीयप्रातिशाख्यस्य परे षडूष्माणः (१।१०) सूत्रानुसारं पुरा षडूष्माण आसन् तेषां च क्रमः जिह्वामूलीयः शः षः सः उपध्मानीयः हकार इत्येवमासीत् । तेष्वाद्याः पञ्च यथाक्रमं पञ्चवर्गसमानस्थानाः सन्तः सस्थाना इत्युच्यन्ते । यथा कवर्गसस्थाना ऊष्मा जिह्वामूलीयः चवर्गसस्थानीयः शकारः । एवमुत्तरत्र । तेन सस्थानेन द्वितीयाः इति शिक्षासूत्रस्यायमर्थः वर्गाणां द्वितीया वर्णाः सस्थानेनोष्मणा (तदीयप्रयत्नेन युक्ता) भवन्ति । हकारेण चतुर्थाः—वर्गाणां चतुर्थवर्णाः हकारस्योष्मणा युक्ता भवन्ति । अत्र ऋक्प्रातिशाख्यस्य त्रयोदशपटलस्य षोडशसप्तदशे सूत्रे तयोरुवटीयं व्याख्यानं चानुशीलनीयम् । ऋक्प्रातिशाख्ये उत्तरेऽष्टा ऊष्माणः (१।१०) सूत्रे अष्टावूष्माण उक्ताः । तेषु विसर्जनीयोऽनुस्वारश्चाधिकावुक्तौ इति मीमांसकाः ।

खनति। वृक्ष ≍ पचति। वृक्षः पचति। वृक्ष ≍ फलति। वृक्षः फलति।

सोऽपदादौ ८।३।३८

प० वि०—सः ६।१ अपदादौ ७।१॥

अर्थ—[विसर्जनीयस्य कुप्वोः] सकारादेशो भवति विसर्जनीयस्य कुप्वोरपदाद्योः परतः। (विसर्जनीय का सकार आदेश होता है अपदादि कवर्ग और पवर्ग के परे रहने पर)

उदा०—❀ पाशकल्पककाम्येषु ❀ पयस्कल्पम्। पयस्कम्। पयस्काम्यति।

इणः षः ८।३।३९

अर्थ—[अपदादौ विसर्जनीयस्य कुप्वोः] इण उत्तरस्य विसर्जनीयस्य षकारादेशो भवति कुप्वोरपदाद्योः परतः। (इण् के पश्चात् विसर्जनीय का षकारादेश होता है अपदादि कवर्ग और पवर्ग के परे रहने पर)

उदा०—❀ पाशकल्पकक्काम्येषु ❀ पाश—शर्पिष्पाशम्। यजुष्पाशम्। कल्प—सर्पिष्कल्पम्। यजुष्कल्पम्। क—सर्पिष्कम्। यजुष्कम्। काम्य–सर्पिष्काम्यति। यजुष्काम्यति। अपदादाविति किम्—अग्निः करोति। वायुः करोति। अग्निः पचतिः। वायुः पचति।

इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य ८।३।४१

प० वि०—इदुदुपधस्य ६।१ च अ०। अप्रत्ययस्य ६।१

स०–इच्च उच्चेति इदुतौ। इदुतौ उपधा यस्य तद् इदुदुपधम् तस्य इदुदुपधस्य। न प्रत्ययः अप्रत्ययः तस्य अप्रत्ययस्य।

अर्थ—[विसर्जनीयस्य षः कुप्वोः] इकारोपधस्य उकारोपधस्य च अप्रत्ययस्य विसर्जनीयस्य षकारादेशो भवति कुप्वोः परतः।

(इकार और उकार उपधा वाले प्रत्यय भिन्न विसर्जनीय का षकार आदेश होता है कवर्ग और पवर्ग के परे रहने पर)

उदा०—❀निर्दुर्बहिराविश्चतुर्प्रादुस्❀निस्। निष्कृतम्। निष्पीतम्। दुस्। दुष्कृतम्। दुष्पीतम्। बहिस्—बहिष्कृतम्। बहिष्पीतम्। आविस्—आविष्कृतम्। आविष्पीतम्। चतुस्—चतुष्कृतम्। चतुष्पीतम्। प्रादुस्—प्रादुष्कृतम्। प्रादुष्पीतम्। अप्रत्ययस्येति किम्—अग्निः करोति। वायुः करोति। अग्निः पचति। वायुः पचति।

तिरसोऽन्यतरस्याम् ८।३।४२

द्विस्त्रिश्चतुरिति कृत्वोऽर्थे ८।३।४३

स०—द्विश्च त्रिश्च चतुश्च द्विस्त्रिचतुः । कृत्वसः अर्थः कृत्वोऽर्थः तस्मिन् कृत्वोऽर्थे ।

अर्थ—[विसर्जनीयस्य षः कुप्वोः अन्यतरस्याम्] द्विस् त्रिस् चतुर् इत्येतेषां कृत्वोऽर्थे वर्त्तमानानां विसर्जनीयस्य षकार आदेशो भवति अन्यतरस्याम् कुप्वोः परतः ।

(द्विस् त्रिस् चतुर् इनके कृत्वसुच् के अर्थ में वर्तमान होने पर विसर्जनीय का षकार आदेश होता है विकल्प करके कवर्ग और पवर्ग के परे रहने पर)

उदा०—द्विः करोति । द्विष्करोति । त्रिः करोति । त्रिष्करोति । चतुः करोतिः । चतुष्करोति । द्विः पचति । द्विष्पचति । त्रिः पचति । त्रिष्पचति । चतुः पचति । चतुष्पचति ।

इसुसोः सामर्थ्ये ८।३।४४

अर्थ—[विसर्जनीयस्य अन्यतरस्यां षः कुप्वोः] इस् उस् इत्येतयोर्विसर्जनीयस्यान्यतरस्यां षकारादेशो भवति सामर्थ्ये कुप्वोः परतः ।

(इस् और उस् के विसर्जनीय का विकल्प से षकार आदेश होता है सम्बन्धित कवर्ग और पवर्ग के परे रहने पर)

उदा०—सर्पिः करोति । सर्पिष्करोति । सामर्थ्ये इति किम्—तिष्ठतु सर्पिः पिबतु उदकम् ❀ इत्यत्र सर्पिः इत्येतस्य पिबतु इत्यनेन सह सम्बन्धो नास्ति ❀

संहितायां मूर्द्धन्यप्रकरणम्—

अपदान्तस्य मर्द्धन्यः ८।३।५५

अर्थ—आ पादपरिसमाप्तेः अपदान्तस्य मर्द्धन्यादेशो भवति इत्यधिकारो वेदितव्यः । (पाद की परिसमाप्ति तक अपदान्त का मूर्द्धन्य आदेश होता है, इस बात का अधिकार समझना चाहिये)

सहेः साडः सः ८।३।५६

प० वि०—सहेः ६।१ साडः ६।१ सः ६।१

अर्थ—सहेर्धातोः साड्रूपस्य सकारस्य मर्द्धन्यादेशो भवति ।

(सह् धातु का जो बना हुआ साड् यह रूप उसके सकार के स्थान में मूर्द्धन्य आदेश होता है)

उदा०—जलाषाट् ।

सि०—जलं सहते इति विग्रहः । जल अम् सह् ण्वि । जल सह् । जलसाह् । जलसाढ् । जलसाड् । जलासाड् । जलाषाड् सु । जलाषाड् । जलाषाट् ।

इण्कोः ८।३।५७

प० वि०—इण्कोः ५।१ स०—इण् च कुश्चेति इण्कुः तस्मात् इण्कोः । (समा० द्वन्द्वः[1]) ।

अर्थ—इतोऽग्रे आ पादपरिसमाप्तेः वक्ष्यमाणानि कार्याणि इण्कवर्गाभ्यां उत्तरस्यभवन्ति इत्यधिकारो वेदितव्यः ।

(यहां से पाद की समाप्ति तक कहे जाने वाले कार्य इण् और कवर्ग के पश्चात् होते हैं, इस बात का अधिकार समझना चाहिये)

नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि ८।३।५८

प० वि०—नुम्विसर्जनीयशर्व्यवाये ७।१ अपि अ० ।

स० —नुम् च विसर्जनीयश्च शर् चेति नुम्विसर्जनीयशरः । नुम्विसर्जनीयशर्भिः व्यवायः नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायः तस्मिन् ।

अर्थ—[इण्कोः अपदान्तस्य सः मूर्द्धन्यः] व्यवायशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते नुम्व्यवायेऽपि विसर्जनीयव्यवायेऽपि शर्व्यवायेऽपि इण्कोरुत्तरस्य सकारस्य मूर्द्धन्यादेशो भवति ।

(नुम् विसर्जनीय और शर् के द्वारा व्यवधान रहने पर भी इण् और कवर्ग के पश्चात् अपदान्त सकार के स्थान में मूर्द्धन्य आदेश होता है)

उदा०—नुमा-सर्पींषि यजूंषि । विसर्जनीयेन—सर्पिःषु । यजुःषु । शरा—सर्प्पिष्षु । यजुष्षु ।

सि०—सर्पिस् । सर्पिस् जस् । सर्पिस् शि । सर्पिस् इ । सर्पि नुम् स् इ । सर्पिन्स् इ । सर्पींन्सि । सर्पींषि । सर्पिःषु । सर्पिस्सु । सर्पिस् षु सर्पिष्षु ।

❀ नुमादिभिः प्रत्येकं व्यवाये षत्वमिष्यते न समस्तैः ❀

(नुम् इत्यादि केवल एक के ही व्यवधान रहने पर षत्व होता है यदि इसमें से कोई दो या तीन का एक साथ मिलकर व्यवधान हो तो षत्व नहीं होगा)

१—प्रायेण समाहारद्वन्द्वो नपुंसकलिङ्गो भवति । सूत्रकारवचनप्रामाण्यात् पुंल्लिङ्गोऽपि द्रष्टव्यः । एवं युवोरनाकौ (७।१।१) इत्यत्रापि ज्ञेयम्

आदेशप्रत्यययोः ८।३।५९

प० वि०—आदेशप्रत्यययोः ६।२ स०—आदेशश्च प्रत्ययश्चेति आदेशप्रत्ययौ तयोः आदेशप्रत्यययोः।

अर्थ—[सः इण्कोः मूर्द्धन्यः] इण्कवर्गाभ्यामुत्तरस्य आदेशो यः सकारः प्रत्ययस्य च यः सकारस्तस्य मर्द्धन्यादेशो भवति।

(इण् और कवर्ग के पश्चात् आदेश जो सकार और प्रत्यय का जो सकार उसका मूर्द्धन्य आदेश होता है)

उदा०—आदेशस्य–सिषेव । सुष्वाप। प्रत्ययस्य–अग्निषु । वायुषु।

सि०—षिवु। षिव्। सिव् लिट्। सिव् ल्। सिव् णल्। सिव् अ। सिव् सिव् अ। सि सिव् अ। सि सेव। सि षेव। सिषिवतुः। सिषिवुः। अग्नि सुप्। अग्नि सु। अग्निषु।

शासिवसिघसीनां च ८।३।६०

प० वि०—शासि–वसि–घसीनाम् ६।३ च अ०। स०—शासिश्च वसिश्च घसिश्चेति शासिवसिघसयः तेषाम् शासिवसिघसीनाम्।

अर्थ—[इण्कोः सः मूर्द्धन्यः] शासि वसि घसि इत्येतेषां च इण्कोरुत्तरस्य सकारस्य मूर्द्धन्यादेशो भवति।

(इण् और कवर्ग के पश्चात् शास् वस् और घस् के सकार का मूर्द्धन्य आदेश होता है)

उदा०—शासि। अन्वशिषत्। अन्वशिषताम्। अन्वशिषन्। शिष्टः। शिष्टवान्। वसि। उषितः। उषितवान्। उषित्वा। घसि। जक्षतुः। जक्षुः।

सि०—शासु। शास्। शास् लुङ्। शास् ल्। शास् तिप्। शास् अङ् ति। शिस् अ ति। शिष् अ त्। शिषत्। अट शिषत्। अशिषत्। अनु अशिषत्। अन्वशिषत्। वस निवासे। वस् क्त। वस् त। उ अ स् त। उष् इट् त। उषित सु। उषितः। जक्षतुः। गमहनेति सूत्रे द्रष्टव्यम्।

इणः षीध्वंलुङ्लिटां धोऽङ्गात् ८।३।७८

प० वि०—इणः ५।१ षीध्वंलुङ्लिटाम् ६।३ धः ६।१ अङ्गात् ५।१

अर्थ—[मूर्द्धन्यः] इणन्तादङ्गादुत्तरेषां षीध्वंलुङ्लिटां यो धकार-

स्तस्य स्थाने मूर्द्धन्यादेशो भवति। (इणन्त अङ्ग के पश्चात् षीध्वम्, लुङ् और लिट् का जो धकार उसके स्थान में मूर्द्धन्य आदेश होता है)

उदा०—च्योषीढ्वम्। प्लोषीढ्वम्। लुङ्—अच्योढ्वम्। अप्लोढ्वम्। लिट्—चकृढ्वे॥

सि०—च्युङ्। च्यु लिङ्। च्यु ल्। च्यु ध्वम्। च्यु सीयुट् ध्वम्। च्यु सीय् ध्वम्। च्यो सी ध्वम्। च्योषीढ्वम्।

विभाषेटः ८।३।७९

प० वि०—विभाषा १।१ इटः ५।१

अर्थ—[इणः षीध्वंलुङ्लिटाम् धः मूर्द्धन्यः] इणः परस्मादिटः उत्तरेषां षीध्वंलुङ्लिटां यो धकारस्तस्य स्थाने मर्द्धन्य आदेशो भवति। (इण् के पश्चात् जो इट् उसके पश्चात् षीध्वं, लुङ् और लिट् के धकार के स्थान में मूर्द्धन्य आदेश विकल्प से होता है)

उदा०—लविषीढ्वम्। लविषीध्वम्। लुङ्—अलविध्वम्। अलविढ्वम्—लिट्—लुलुविढ्वे। लुलुविध्वे।

इत्यष्टाध्यायी-प्रकाशिकायामष्टमाध्याये तृतीयः पादः

संहितायां णत्वप्रकरणम्—

रषाभ्यां नो णः समानपदे ८।४।१

प० वि०—रषाभ्याम् ५।२ नः ६।१ णः १।१ समानपदे ७।१ स०—समानं च तत्पदं चेति समानपदं (कर्म०) तस्मिन् समानपदे। रश्च षश्चेति रषौ ताभ्याम् रषाभ्याम्।

अर्थ—समानम् एकम् इति अनर्थान्तरम्। रेफषकाराभ्यामुत्तरस्य नकारस्य णकारादेशो भवति एकस्मिन् पदे। ❀समानपदस्थौ चेन्निमित्तनिमित्तिनौ भवतः❀। (एक पद में स्थित रेफ और षकारके पश्चात् नकार के स्थान में णकार आदेश होता है) ❀रेफ और षकार तथा न एकपद में रहना चाहिए अर्थात् कार्य और कारण एक ही पद में होना चाहिए)❀

उदा०—आस्तीर्णम्। विस्तीर्णम्। षकारात्—कुष्णाति। पुष्णाति। ×ऋवर्णाच्चेति वक्तव्यम्× मातृणाम्। पितृणाम्।

सि०—आस्तीर्णम्। संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः इत्यत्र द्रष्टव्यम्। पुष् श्ना ति। कुष्णाति।

अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि ८।४।२

प० वि०—अट्-कु-पु-आङ्-नुम्-व्यवाये ७।१ अपि अ०। स०—अट् च कुश्च पुश्च आङ् च नुम्-चेति अट्-कु-पु-आङ्-नुमः तैर्व्यवायः अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायः तस्मिन्।

अर्थ—[रषाभ्यां नो णः समानपदे] अट् कु पु आङ् नुम् इत्येतैर्व्यवायेऽपि रेफषकाराभ्यामुत्तरस्य नकारस्य स्थाने णकारादेशो भवति समानपदे। (एक पद में रेफ और षकार के पश्चात् अट् कु, पु आङ् नुम् के द्वारा व्यवधान रहने पर भी नकार के स्थान में णकार आदेश होता है)

उदा०—अड्व्यवाये—करणम्। हरणम्। किरिणा। गिरिणा। गुरुणा। कुरुणा। कवर्गव्यवाये—अर्केण। मूर्खेण। गर्गेण। अर्घेण। पवर्गव्यवाये—दर्पेण। रेफेण। गर्भेण। चर्मणा। वर्मणा। आङ्व्यवाये—पर्याणद्धम्। निराणद्धम्। नुम्व्यवाये—बृंहणम्। बृंहणीयम्। ❋इत्यत्र व्यस्तैः समस्तैश्च व्यवायेऽपि णत्वं भवति❋

×अयोगवाहानामट्सु णत्वम्× उरः केण। उर ᳲ केण। उरः पेण। उर ᳲ पेण।

सि०—कृ ल्युट्। कृ अन। कर् अन। करण सु। करण अम्। करणम्। किरि टा। किरि ना। किरिणा। गुरु टा। गुरु ना। गुरुणा। अर्क टा। अर्क इन। अर्केन। अर्केण। दर्प टा। दर्प इन। दर्पेन। दर्पेण। नह बन्धने। नह् क्त। नह् त। नध् त। नध् ध। नद्ध। परि आङ् नद्ध। पर्यानद्ध। पर्याणद्ध सु। पर्याणद्ध अम्। पर्याणद्धम्। बृहि। बृ नुम् ह्। बृन्ह् ल्युट्। बृन्हन। बृन्हण सु। बृन्हण अम्। बृंहणम्। उरः केण। उरः कायति। उरः पायति। कै शब्दे, पा रक्षणे। उरः का क। उरः क् अ। उरः क टा। उरः केण। उरः पेण। उर ᳲ पेण।

[उपसर्गाद्] समासेऽपि णोपदेशस्य ८।४।१४

नेर्गदनदपतपदघुमास्यतिहन्तियातिवातिद्रातिप्सातिवपतिवहतिशाम्यतिचिनोतिदेग्धिषु च ८।४।१७

प० वि०—नेः ६।१ गद-नद-पत-पद-घु-मा-स्यति-हन्ति-याति-वाति-द्राति-प्साति-वपति-वहति-शाम्यति-चिनोति-देग्धिषु ७।३ च अ०।

अर्थ—[उपसर्गात् रषाभ्याम् नो णः] मा इति माङ् माने, मेङ्

प्रणिदाने इत्येतयोर्ग्रहणम् ।

गद नद पत पद घु मा स्यति याति वाति द्राति प्साति वपति वहति शाम्यति चिनोति देग्धि इत्येतेषु परतः उपसर्गस्थाभ्यां रेफषकाराभ्यामुत्तरस्य नेर्नकारस्य णकारादेशो भवति। (उपसर्ग में स्थित रेफ और षकार के पश्चात नि के नकार के स्थान में णकारादेश होता है गदादि के परे रहने पर)

उदा०--प्रणिगदति । परिणिगदति । प्रणिनदति । प्रणिपतति । प्रणिपद्यते । प्रणिददाति । प्रणिदधाति । माङ् । प्रणिमिमीते । मेङ् । प्रणिमयते । प्रणिष्यति । प्रणिहन्ति । प्रणियाति । प्रणिवाति । प्रणिद्राति । प्रणिप्साति। प्रणिवपति । प्रणिवहति । प्रणिशाम्यति । प्रणिचिणोति । प्रणिदेग्धि ।

उपसर्गादिनोत्परः ! ८।४।२७

कृत्यचः ८।४।२९

प० वि०—कृति ७।१ अचः ५।१

अर्थ—[उपसर्गात् रषाभ्याम् नो णः] अच उत्तरस्य कृत्स्थस्य नकारस्य उपसर्गस्थाभ्यां रेफषकाराभ्यामुत्तरस्य णकारादेशो भवति ।

(उपसर्ग में स्थित रेफ और षकार के पश्चात जो अच् और उस अच् के पश्चात् जो कृत् में स्थित नकार उस नकार के स्थान में णकार आदेश होता है)

उदा०—अन मान अनीय अनि इनि निष्ठादेशा एते णत्वं प्रयोजयन्ति । अन—प्रयाणम् । परियाणम् । प्रमाणम् । परिमाणम् । प्रयायमाणम् । प्रयाणीयम् । अप्रयाणिः । इनि—प्रयायिणौ । निष्ठादेशः—प्रहीणः । प्रहीणवान् ।

सि०—प्र या यक् शानच् । प्रयायमाणम् ।

[न]भाभूपूकमिगमिप्यायीवेपाम् ८।४।३३

षात्पदान्तात् ८।४।३५

प० वि०—षात् ५।१ पदान्तात् ५।१

अर्थ—[नो णः न] षकारात् पदान्तादुत्तरस्य नकारस्य णकारादेशो न भवति। (पदान्त षकार के पश्चात् नकार के स्थान में णकारादेश नहीं

! अयमेव मूलपाठः। अनोत्परः स्थाने बहुलम् इति पाठस्तु भाष्यकारकल्पितः। काशिकादिषु च स एव स्वीकृतः।

होता है)

उदा०—निष्पानम् । दुष्पानम् ।

नशेः षान्तस्य ८।४।३६

अर्थ—[न] षकारान्तस्य नशेः णकारादेशो न भवति ।
(षकारान्त नश् का णकारादेश नहीं होता है)

उदा०—प्रनष्टः । परिनष्टः । षान्तस्येति किम्—प्रणश्यति ।

पदान्तस्य ८।४।३७

अर्थ—[न] पदान्तस्य नकारस्य णकारादेशो न भवति ।
(पदान्त नकार का णकारादेश नहीं होता है)

उदा०—वृक्षान् । प्लक्षान् ।

संहिताकार्यप्रकरणम्—

स्तोः श्चुना श्चुः ८।४।४०

प० वि०—स्तोः ६।१ श्चुना ३।१ श्चुः १।१ स०—सश्च तुश्चेति स्तुः तस्य स्तोः । (समा० द्वन्द्वः[1]) शश्च चुश्चेति श्चुः तेन श्चुना ।

अर्थ—सकारतवर्गयोः शकारचवर्गाभ्यां योगे शकारचवर्गौ आदेशौ भवतः । (सकार और चवर्ग के योग में सकार और तवर्ग के स्थान में शकार और चवर्ग आदेश होता है)

उदा०—❀यथासंख्यं नेष्यते❀ वृक्षस् शेते । वृक्षश्शेते । प्लक्षस् शेते । प्लक्षश्शेते । वृक्षस् चिनोति । वृक्षश्चिनोति । प्लक्षस् चिनोति प्लक्षश्चिनोति । वृक्षस् छादयति । वृक्षश्छादयति । प्लक्षस् छादयति प्लक्षश्छादयति । अग्निचित् शेते । अग्निचिच् शेते । अग्निचिच्छेते[2] । सोमसुच्छेते । अग्निचित् छादयति । अग्निचिच्छादयति । सोमसुच्छादयति । अग्निचित् जयति । अग्निचिज्जयति । सोमसुत् जयति । सोमसुज्जयति ।

ष्टुना ष्टुः ८।४।४१

प० वि०—ष्टुना ३।१ ष्टुः १।१ स०—षश्च टुश्चेति ष्टुः तेन ष्टुना ।

अर्थ—[स्तोः] सकारतवर्गयोः षकारटवर्गाभ्यां योगे षकारटवर्गावादेशौ भवतः । (षकार टवर्ग के योग में सकार और तवर्ग के स्थान में षकार

१—८।३।५७ टिप्पणी द्रष्टव्या । २—शश्छोऽटि (८. ४. ६३)

और टवर्ग आदेश होता है)

उदा०—वृक्षस् षण्डे। वृक्षष्षण्डे। वृक्षस् टीकते। वृक्षष्टीकते। पेष्टा। पेष्टुम्। पेष्टव्यम्। कृषीष्ट। कृषीष्ठाः। अग्निचित् टीकते। अग्निचिट्टीकते।

सि०—पिष्लृ तृच्। पेष्टा।

न पदान्ताट्टोरनाम् ८।४।४२

प० वि०—न अ०। पदान्तात् ५।१ टोः ५।१ अनाम् (लुप्तषष्ठी०)

अर्थ—पदान्ताट् टवर्गाद् उत्तरस्य स्तोः ष्टुत्वं न भवति नाम् इत्येतद् वर्जयित्वा। (पदान्त टवर्ग के पश्चात् सकार और तवर्ग का षकार और टवर्ग नहीं होता है नाम् को छोड़कर)

उदा०—मधुलिट् साये। मधुलिट् तरति। ×अनाम्नवतिनगरीणाम् इति वाच्यम्× षण्णाम्। षण्णवति। षण्णगरी।

तोः षि: ८।४।४३

अर्थ—[न] तवर्गस्य षकारे यदुक्तं तन्न भवति। (तवर्ग का षकार के परे रहने पर जो कुछ कहा गया है सो नहीं होता है)

उदा०—अग्निचित् षण्डे। भवान् षण्डे।

शात् ८।४।४४

अर्थ—[न तोः] शकारादुत्तरस्य तवर्गस्य यदुक्तं तन्न भवति। (शकार के पश्चात् तवर्ग के स्थान में जो कुछ कहा गया है सो नहीं होता है)

उदा०—प्रश्नः। विश्नः।

यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा ८।४।४६

प० वि०—यरः ६।१ अनुनासिके ७।१ अनुनासिकः १।१ वा अ०।

अर्थ—[पदान्तस्य] पदान्तस्य यरोऽनुनासिके परतो वा अनुनासिकादेशो भवति। (पदान्त यर् का अनुनासिक आदेश विकल्प से होता है अनुनासिक के परे रहने पर)

उदा०—वाग्नयति। वाङ्नयति। श्वलिड्नयति। श्वलिण्नयति। अग्निचिद्नयति। अग्निचिन्नयति।

अचो रहाभ्यां द्वे ८।४।४६

प० वि०—अचः ५।१ रहाभ्याम् ५।२ द्वे १।२ स०—रश्च हश्च इति रहौ ताभ्यां रहाभ्याम् ।

अर्थ—[वा यरः] अच उत्तरौ यौ रेफहकारौ ताभ्यामुत्तरस्य यरो द्वे भवतः। (अच् के उत्तर जो रेफ और हकार उसके पश्चात् यर् का विकल्प से द्वित्व होता है)

उदा०—अर्कः। अर्क्कः। मर्कः। मर्क्कः। ब्रह्‌ह्मा। ब्रह्मा।

अनचि च ८।४।४७

प० वि०—अनचि ७।१ च अ०। स०—न अच् इति अनच् तस्मिन् अनचि।

अर्थ—[अचः यरः वा द्वे] अच उत्तरस्य यरो वा द्वे भवतः न तु अचि। (अच् के पश्चात् यर् का विकल्प से द्वित्व होता है अच् परे रहने पर नहीं)

उदा०—दधि अत्र। द ध् य् अत्र। द ध् ध् यत्र। दद्ध्यत्र। दध्यत्र।

झलां जश्झशि ८।४।५३

प० वि०—झलाम् ६।३ जश् १।१ झशि ७।१

अर्थ—झलां स्थाने झशि परतः जश् आदेशो भवति। (झल् के स्थान में झश् के परे रहने जश् आदेश होता है)

उदा०—लब्धा। लब्धुम्। लब्धव्यम्।

सि०—साधनं तु झषस्तथोर्धोऽध इत्यत्र द्रष्टव्यम्।

अभ्यासे चर्च्च ८।४।५४

प० वि०—अभ्यासे ७।१ चर् १।१ च अ०।

अर्थ—[झलाम्] अभ्यासे वर्त्तमानानां झलां चरादेशो भवति चकाराज्जश् च। (अभ्यास में वर्तमान झल् के स्थान में चर् आदेश होता है और चकार से जश् भी)

उदा०—×प्रकृतिचरां प्रकृतिचरो भवन्ति। प्रकृतिजशां प्रकृतिजशो भवन्ति× चिचीषति। जिजनिषति।

खरि च ८।४।५५

अर्थ—[झलाम् चर्] खरि च परतो झलां चरादेशो भवति। (खर् के परे रहने पर झल् के स्थान में चर आदेश होता है)

उदा०—भेत्ता । भेत्तुम् । भेत्तव्यम् ।

वावसाने ८।४।५६

प० वि०—वा अ० । अवसाने ७।१

अर्थ—[झलां चर्] अवसाने वर्त्तमानानां झलां वा चर् आदेशो भवति । (अवसान में झल् का विकल्प से चर् आदेश होता है)

उदा०—वाच् । वाक् । वाग् । वाक् ।

अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः ८।४।५७

प० वि०—अणः ६।१ अप्रगृह्यस्य ६।१ अनुनासिकः १।१

अर्थ—[अवसाने वा] अप्रगृह्यस्य अणो वावसाने अनुनासिकादेशो भवति । (अप्रगृह्य अण् का अवसान में विकल्प से अनुनासिक आदेश होता है)

उदा०—दधि । दधिँ । मधु । मधुँ ।

अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः ८।४।५८

अर्थ—अनुस्वारस्य ययि परतः परसवर्णादेशो भवति । (अनुस्वार का यय् के परे रहने पर परसवर्ण आदेश होता है)

उदा०—नन्दिता । नन्दितुम् । नन्दितव्यम् । शङ्किता । शङ्कितुम् । शङ्कितव्यम् ।

सि०—टुनदि । नद् । न नुम् द् । नन्द् । नंद् । नन्द् तृच् । नन्द् इट् तृ । नन्दिता । शकि । शक् । श नुम् क् । शन्क् । शंक् । शङ्क् तृच् । शङ्क् इट् तृ । शङ्कितृ । शङ्किता । शङ्कितारौ ।

वा पदान्तस्य ८।४।५९

प० वि०—वा० अ० । पदान्तस्य ६।१ ।

स०—पदस्य अन्तः पदान्तः तस्य पदान्तस्य ।

अर्थ—[अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः] पदान्तस्यानुस्वारस्य ययि परतो वा परसवर्णादेशो भवति । (पदान्त अनुस्वार का यय् के परे रहने पर विकल्प से परसवर्ण आदेश होता है)

उदा०—तं कथं चित् । तङ्कथञ्चित् ।

तोर्लि ८।४।६०

प० वि०—तोः ६।१ लि ७।१

अर्थ—[परसवर्णः] तवर्गस्य लकारे परतः परसवर्णादेशो भवति ।

(लकार के परे रहने पर तवर्ग का परसवर्ण आदेश होता है)

उदा०—अग्निचित् लुनाति । अग्निचिल्लुनाति । भवान् लुनाति । भवाँल्लुनाति ।

उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य ८।४।६१

प० वि०—उदः ५।१ स्थास्तम्भोः ६।२ पूर्वस्य ६।१

अर्थ—[सवर्णः] उद उत्तरयोः स्थास्तम्भ इत्येतयोः पूर्वसवर्णादेशो भवति । (उत् के पश्चात् स्था और स्तम्भ का पूर्वसवर्ण आदेश होता है)

उदा०—उत्थ्थाता । उत्थ्थातुम् । उत्थ्थातव्यम् । उत्थाता । उत्थातुम् । उत्थातव्यम् । स्तम्भेः । उत्तम्भिता । उत्तम्भितुम् । उत्तम्भितव्यम् ।

सि०—उत् स्थाता । उत्थ्थाता । उत्थाता । ॐ अत्राघोषस्य महाप्राणस्य सस्य तादृशः एव थकारः तस्य झरो झरि सवर्णे इति पाक्षिको लोपः लोपाभावपक्षे तु थकारस्यैव श्रवणं भवति । न तु खरि च इति चर्त्वम् । चर्त्वम्प्रति थकारस्यासिद्धत्वात् ॐ

झयो होऽन्यतरस्याम् ८।४।६२

प० वि०—झयः ५।१ हः ६।१ अन्यतरस्याम् अ० ।

अर्थ—[पूर्वस्य सवर्णः] झय उत्तरस्य हकारस्य पूर्वसवर्णादेशो भवति अन्यतरस्याम् ।

(झय् के पश्चात् हकार का विकल्प से पूर्वसवर्ण आदेश होता है)

उदा०—वाग् हसति । वाग्घसति । ॐ घोषवतो नादवतो महाप्राणस्य हस्य तादृशो वर्गचतुर्थ एवादेशः ।

शश्छोऽटि ८।४।६३

प० वि०—शः ६।१ छः १।१ अटि ७।१

अर्थ—[झयः अन्यतरस्याम्] झय उत्तरस्य शकारस्य अटि परतश्छकारादेशो भवत्यन्यतरस्याम् । (झय् के पश्चात् शकार के स्थान में विकल्प से छकार आदेश होता है अट् के परे रहने पर)

उदा०—अग्निचित् शेते । अग्निचिच् शेते । अग्निचिच्छेते ।

× छत्वममीति वक्तव्यम् × तच्छ्लोकेन ।

[हलो] यमां यमि लोपः ८।४।६४

झरो झरि सवर्णे ८।४।६५

प० वि०—झरः ६।१ झरि ७।१ सवर्णे ७।१

अर्थ—[हलः अन्यतरस्याम्] हल उत्तरस्य सवर्णे झरि परतो झरो लोपो भवति अन्यतरस्याम् । (हल् के पश्चात् सवर्ण झर् के परे रहने पर झर् का विकल्प से लोप होता है)

उदा०—उत्थाता । उत्थातुम् । उत्थातव्यम् । उत्थ्थाता । उत्थ्थातुम् । उत्थ्थातव्यम् ।

उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः ८।४।६६

प० वि०—उदात्तात् ५।१ अनुदात्तस्य ६।१ स्वरितः १।१

अर्थ—उदात्तात्परस्य अनुदात्तस्य स्वरितो भवति ।
(उदात्त के पश्चात् अनुदात्त का स्वरित होता है)

उदा०—कर्त्तव्यम् । पचति, पठति, चिकीर्षति । भङ्गुरम्, भासुरम् । कौञ्जायनाः । नाडायनः । चिकीर्ष्यम्, जिहीर्ष्यम् । चिकीर्षकः, जिहीर्षकः । राजपुरुषः ।

सि०—कृ[१] । कृ तव्य[२] । कृ तव्य[३] । कर्त्तव्य । कर्त्तव्य[४] । कर्त्तव्य सु । कर्त्तव्य अम्[५] । कर्त्तव्यम्[६] । पच्[१] । पच् शप् तिप् । पच् अ[७] ति[१] । पचति[८] । पचति[४] । पचति[९] । भास्[१] । भास् घुरच् ।

१—भूवादयो धातवः (१. ३. १) धातोरित्यन्तोदात्तः (६. १. १५६) २—प्रत्ययः, परश्च, आद्युदात्तश्चेति (३. १. ३) प्रत्ययस्वरेण आद्युदात्तः । ३—धातुस्वरः प्रत्ययस्वरो वा भवेत् इति विचारणायां सति शिष्टः स्वरो बलीयान् इति परिभाषया प्रत्ययस्वरो भवति । उदात्तस्य किमपि चिह्नं नास्ति । इति कृते, अनुदात्तं पदमेकवर्जम् (६. १. १५२) इति अनेन परिशिष्यमाणौ ककारयकारोत्तरवर्त्तिनोरकारयोरनुदात्तः कर्त्तव्यः । चिह्नमपि यद्दत्तं तदनुदात्तस्य । ४—उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः (८. ४. ६५) इति यकारोत्तरवर्त्तिन अकारस्य स्वरितत्वम् । कथं व्यञ्जनस्य व्यवधाने स्वरो न भवति इति तदुच्यते—स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवदिति वचनात् ५—अनुदात्तौ सुप्पितौ (३. १. ४) ६—स्वरितोदात्तयोरेकादेशः स्थानेन्तरतमः (१।१।४९) इत्यनेन उभयधर्मविशिष्टः स्वरितो भवति । ७—अनुदात्तौ सुप्पितौ (३. १. ३) ८—धातुस्वर एव भवति । ९—उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः, (८. ४. ६५) स्वरितात्संहितायामनुदात्तानाम् (१. २. ३९) इति एकश्रुतिः एकश्रुतेरपि उदात्तवत् किमपि चिह्नं नास्ति । यदि एकश्रुतेः किमपि चिह्नं नास्ति तदा कथं ज्ञायेत क उदात्तः का एकश्रुतिः, तदुच्यते—स्वरितात् परस्य एकश्रुतिरेव भवति न तु उदात्तः इति नियमः साधारणतया ज्ञातव्यः ।

भासुरम्[1] । कुञ्ज[2] । कुञ्ज च्फञ् । कुञ्ज आयन[3] । कौञ्जायनः । नड[2] । नड फक् । नड आयन[4] । नाडायनः । कृ । कृ सन् । चिकीर्ष[5] । चिकीर्ष यत्[6] । चिकीर्ष्यम् । चिकीर्ष अक । चिकीर्षक[7] । चिकीर्षकः । राजपुरुषः[8] ।

अ अ ८।४।६८

प० वि०—अ अ० । अ अ० ।

अर्थ—अकारो विवृतः संवृतो भवति । (विवृत अकार संवृत होता है)

॥ एकोऽत्र विवृतोऽपरः संवृतस्तत्र विवृतस्य संवृतः क्रियते । संवृतस्त्वकारः इति शिक्षासूत्रेण अकारस्य संवृतप्रयत्नत्वमुक्तम् दीर्घ आकारः प्लुतश्च विवृतकरणाश्चरा इत्यनेन विवृतप्रयत्नत्वम् । तयोः ह्रस्वदीर्घयोः प्रयत्नभेदात् सवर्णसंज्ञा न प्राप्नोति ततः अ इ उ ण् सूत्रे कार्यार्थमकारो विवृतः प्रतिज्ञातस्तस्य तथाभूतस्यैव प्रयोगो मा भूद् इति संवृतप्रत्यापत्तिरियं क्रियते ॥

उदा०—वृक्षः । प्लक्षः ।

इतिश्रीमत्पदवाक्यप्रमाणज्ञमहावैयाकरणपण्डितब्रह्मदत्ताचार्याणामन्तेवासिना देवप्रकाशपातञ्जलेन विरचितायामष्टाध्यायी-प्रकाशिकायाम्

अष्टमाध्याये चतुर्थः पादः

इति अष्टमोऽध्यायः

———

१—चितः (६. १. १५६) २—फिषोन्त उदात्तः (फिट् सूत्रम् १) ३—तद्धितस्य (६. १. १५८) ४—कितः (६. १. १५९) ५—ञ्नित्यादिर्नित्यम् (६. १. १६१) ६—तित्स्वरितम् (६. १. १७९) ७—लिति (६. १. १८०) साधनं न पदान्तेति० (१. १. ५७) सूत्रे द्रष्टव्यम् ८—समासस्य (६. १. २१७)

नामप्रकरणम्

(अजन्तपुल्लिङ्गाः)

१—कृतः[1] एवं पुरुषादयोऽप्यदन्ताः। २—सर्वः, सर्वौ, सर्वे[2]। एवं विश्वादयोऽप्यदन्ताः॥ ३—उभशब्दो नित्यं द्विवचनान्तः। उभौ २। उभाभ्याम् ३। उभयोः॥ उभयशब्दस्य द्विवचनं नास्ति। उभयः—उभये। उभयम्—उभयान्। उभयेन—उभयैः। उभयस्मै-उभयेभ्यः। उभयस्मात्-उभयेभ्यः। उभयस्य-उभयेषाम्। उभयस्मिन्-उभयेषु॥ ४—विश्वपाः, हे विश्वपाः, विश्वपौ, विश्वपाः, विश्वपाम्, विश्वपौ, विश्वपः[3]॥ ५—मुनिः[4], मुनी, मुनयः एवं ऋष्यादयः॥ साधुः, साधू, साधवः एवं भान्वादयः॥ ६—सखि[5]—सखा, सखायौ, सखायः॥ पति[6]—पतिः, पती, पतयः॥ ७—कति[7]—कति, कतिभिः, कतिभ्यः २ कतीनाम्, कतिषु॥ कतिशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः॥ ८—त्रि—त्रयः। त्रीन। त्रिभिः। त्रिभ्यः २। त्रयाणाम्[8]। त्रिषु॥ द्वौ २। द्वाभ्याम् ३। द्वयोः २॥ ९—ग्रामणीः। ग्रामण्यौ। ग्रामण्यः[9]॥ १०—पितृ[10]—पिता, पितरौ, पितरः॥ ११—धातृ—धाता। धातारौ[11]। धातारः। हे धातः॥ १२—ना। नरौ। नरः। नृणाम्—नॄणाम्[12]॥ १३—गो[13]—गौः। गावौ। गवः। गाम्। गावौ। गाः॥ १४—राः[14]। रायौ। रायः।

(अजन्तस्त्रीलिङ्गाः)

१५—रमा[15]-रमा। रमे। रमाः। लतादयोऽप्यादन्ताः। १५-सर्वा।

१—निष्ठा (३. २. १०२) कृतवद् रामशब्दस्य रूपाणि। २—जश्शसोः शिः (७. १. २०) ३—आतो धातोः (६. ४. १४०) ४—उणादयो बहुलम् (३. ३. १) साधुवत् साधनम् ५—सख्युरसम्बुद्धौ (७. १. ९२) ख्यत्यात्परस्य ६—ख्यत्यात्परस्य (६. १. १०८) ७—षड्भ्यो लुक् (७. १. २२) ८—त्रेस्त्रयः (७. १. ५३) ९—ङेराम्नद्याम्नीभ्यः (७. ३. ११६) १०—ऋदुशन० (७. १. ९४) ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः (७. ३. ११०) ११—अप्तृन्तृच्० (६-४-११) १२—नृ च (६. ४. ६) १३—गोतो णित् (७. १. ९०) औतोऽम्शसोः (६. १. ९०) १४—रायो हलि (७. २. ८५) १५—ङ्याप्प्रातिपदि-

सर्वे । सर्वाः । १७—जरा[1] । जरसौ । जरसः । जरा । जरे । जराः ॥ १८—मतिः[2] ॥ १९—तिस्रः[3] २ तिसृभिः । तिसृभ्यः । तिसृणाम् । तिसृषु ॥ द्वि । द्विऔ । द्व् अ टाप् औ । द्वा औ । द्वा शी । द्वे । द्वे । द्वाभ्याम् ॥ द्वयोः २ ॥ २०—कुमारी[4] ॥ एवं नद्यादयोऽपीदन्ताः । लक्ष्मीः (अङ्यन्तत्वान्न सुलोपः) शेषं गौरीवत् ॥ २१—स्त्री[5]—स्त्री—हे स्त्रि । स्त्रियौ । स्त्रियः ॥ २२-श्री[6]-श्रीः । श्रियौ । श्रियः ॥ २३—स्वसृ[7]—स्वसा । स्वसारौ । स्वसारः ॥ मातृ—माता । मातरौ । मातरः । मातरम् । मातरौ । मातॄः । शेषस्तु पितृवत् ॥

स्वसा तिस्रश्चतस्रश्च ननान्दा दुहिता तथा ।
याता मातेति सप्तैते स्वस्रादय उदाहृताः ॥

(अजन्तनपुंसकलिङ्गाः)

२४—फल[8]—फलं । फले । फलानि । एवं ज्ञानादयोऽप्यदन्ताः ॥ २५—वारि[9]—वारि । वारिणी । वारीणि ॥ दधि[10]—अन्यत्सर्वं वारिवत् विशेषस्तु दध्ना । दध्ने । दध्नः २ । दध्नोः २ । दधनि[11]—दध्नि । २५—मधु—मधु । मधुनी । मधूनि ॥ २६—धातृ—धातृ । धातृणी । धातॄणि ॥

(हलन्तपुल्लिङ्गाः)

२७—लिह्[12]-लिट्-लिड् । लिहौ । लिहौ । २८-दुह्—धुक्[13]—धुग् । दुहौ । दुह ॥ धुग्भ्याम् ॥ धुक्षु ॥ २९-अनडुह्[14]—अनड्वान् । अनड्वाहौ ॥ ३०—दिव्[15]-द्यौ । दिवौ । दिवः । ३१—चतुर् । चत्वारः । चतुरः । चतुर्भिः ॥ चतुर्ण्णाम्-चतुर्णाम् ॥ चतुर्षु ॥

कात् (४. १. १)

१—जराया जरसन्यतरस्याम् (७. २. १०१) २—स्त्रियां क्तिन् (३. ३. ९४) ३—त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ (७. २. ९९)

४—ङ्याप्प्रातिपदिकात् (४. १. १) ५—स्त्रियाः (६. ४. ७९) ६—अचि श्नुधातु० (६. ४. ७७) ७—अप्तृन्तृच्० (६. ४. ११) ८—अतोऽम् (७. १. २४) ९—इकोऽचि विभक्तौ (७. १. ७३) १०—अस्थिदधि० (७. १. ७५) ११—विभाषा ङिश्योः (६. ४. १३६) १२—हो ढः (८.२. ३१) १३—एकाचो० (८. २. ३७) १४—चतुरनडुहोरामुदात्तः (७. १. ९८) १५—दिव औत (७. १. ८४)

३२—किम्[1]-कः । कौ । के ॥ ३३-इदम्-अयम् । इमौ । इमे ॥ ३४-राजन्—राजा । राजानौ । राजानः । राजानम् । राजानौ । राज्ञः[2] ॥ ३५—यज्वन्—अन्यत्सर्वं राजन् इतिवत् विशेषस्तु यज्वनः । यज्वना । यज्वभ्याम् । ३६—गुणिन्—गुणी[3] । गुणिनौ । गुणिनः । गुणिनम गुणिनौ । गुणिनः । गुणिना । गुणिभ्याम् ॥ एवं यशस्विनादयोऽपि इन्नन्ताः ॥ ३७-मघवन्[11]-मघवा । मघवानौ । मघवानः ॥ मघवानम् । मघवानौ । मघोनः ॥ ३८—श्वन्—श्वा । श्वानौ । श्वानः ॥ युवन्-युवा । युवानौ । युवानः ॥ ३९—पथिन्[5] -पन्था । पन्थानौ । पन्थानः ॥ ४०—पञ्चन् । पञ्चन्शब्दो नित्यं बहुवचनान्तः । पञ्च । पञ्च । पञ्चभिः । पञ्चभ्यः । पञ्चानाम् । पञ्चसु ॥ अष्टन् । अष्ट । अष्ट । इति सर्वं पञ्चवत् ॥ आत्वे कृते तु—अष्टा । अष्टा[6] । अष्टाभिः । अष्टानाम् । ४१—ऋत्विग्—ऋत्विग्-ऋत्विक् । ऋत्विजौ । ऋत्विजः ॥ युज्[7]—युङ् । युञ्जौ । युञ्जः । युञ्जम् । युञ्जौ । युजः । युग्भ्याम् । राज्-राट्-राड् । राजौ । राजः । राजम् । राजौ । राजः । राजा । राड्भ्याम् ॥ ४२—तद्[8]—सः । तौ । ते ॥ ४३—युष्मद्[9], अस्मद—त्वम् । युवाम् । यूयम् । अहम् । आवाम् । वयम् ॥ ४४—प्राच्[10]—प्राङ् । प्राञ्चौ । प्राञ्चः । प्राञ्चम् । प्राञ्चौ । प्राचः । प्राग्भ्याम् । प्रत्यच्-प्रत्यङ् । प्रत्यञ्चौ । प्रत्यञ्चः । प्रत्यञ्चम् । प्रत्यञ्चौ । प्रतीचः । उदच्—उदङ् । उदञ्चौ । उदञ्चः । उदञ्चम् । उदञ्चौ । उदीचः । उदीचा । उदग्भ्याम् । ४५—महत्[11]—महान् । महान्तौ । महान्तः । महान्तम् । महान्तौ । महतः ॥ हे महन् ॥ धीमत्—धीमान् । धीमन्तौ । धीमन्तः । धीमतः । धीमद्भ्याम् । धीमत्सु ॥ हे धीमन् ॥ भवत्—भवान्[12] । भवन्तौ । भवन्तः । ४६—तादृश्—तादृक्-तादृग् । तादृशौ । तादृशः । विश्[13]—विट-विड् । विशौ । विशः । विड्भ्याम विट्सु ॥

१—त्यादादीनामस्य प्रकरणं द्रष्टव्यम् २—अल्लोपोऽनः (६.४. १३४) ३—सौ च (६. ४. १३) ४—श्वयुवमघोनामतद्धिते (६. ४. १३३) ५—पथिमथि० (७. १. ८५)६—अष्टन आ विभक्तौ (७. १. ८४) ७—युजेरसमासे (७. १. ७१) ८—तदोः सः० (७. २. १०६) ९—त्यादादीनामस्य प्रकरणं द्रष्टव्यम् १०—उगिदचां० (७. १. ७०) अचः (६. ४. १३७) ११ —सान्तमहतः संयोगस्य (६. (६. ४. १०) १२—अत्वसन्तस्य चाधातोः (६. ४. १४) १३—व्रश्चभ्रस्ज० (८.

घृतस्पृश्—घृतस्पृक्–घृतस्पृग् । घृतस्पृशौ ॥ ४७—षष्[1]—षट्–षड् । षड्भिः ॥ षण्णाम् । षट्सु ॥ ४८—विद्वस्[2]—विद्वान् ॥ विदुषः ॥ ४९—पुंसि[3]—पुमान् । पुमांसौ । हे पुमन् ॥ ५०—अदस्[4]—असौ । अमू । अमी ॥

(हलन्तस्त्रीलिङ्गाः)

५१—उपानह्[5]—उपानत्–उपानद् । उपानहौ । उपानहः ॥ ५२—दिव् । द्यौः । दिवौ । दिवः ॥ द्युभ्याम् ॥ ५३—गिर्—गीः[6] । गिरौ । गिरः । ५८—चतसृ—चतस्रः ॥ ५९–किम् टा । का । के । काः ॥ ६०—इदम्–इयम् ॥ ६१—वाच्—वाक् । वाचौ । वाचः ॥ ६२—अप्[7] शब्दो नित्यं बहुवचनान्तः । आपः । अपः । अद्भिः । अपाम् । अप्सु ॥ ६३—दिश्–दिक्–दिग् । दिशौ । दिशः । दिग्भ्याम् । दिग्भिः ॥ दिशाम् । दिक्षु ॥ ६४—अदस्—असौ । अमू । अमूः ॥ ६५—आशिष्-आशीः । आशिषौ । आशीर्भ्याम् ॥

(हलन्तनपुंसकलिङ्गाः)

६६—वार् जलार्थे—वाः । वारी । वारि ॥ वार्भ्याम् ॥ चतुर्[8]—चत्वारि ॥ शेषं पुंवत् ॥ इदम्—इदम् । इमे । इमानि । इदम् । इमे । इमानि । शेषं पुंवत् ॥ ६७—तद्—तत् । ते । तानि । एतत् । एते । एतानि ॥ यत् । ये । यानि ॥ ७६—ददत्[9]—ददत् । ददति । ददन्ति–ददति । तुदत्—तुदत् । तुदन्ती-तुदती । तुदन्ति ॥ पचत्—पचत् पचन्ती । पचन्ति ॥ दीव्यत्[10]—दीव्यत् । दीव्यन्ती । दीव्यन्ति ॥ ७०—धनुष्—धनुः । धनुषी । धनूंषि ॥

---

२. ३६)

१—षड्भ्यो लुक् (७. १. २२) २—वसोः सम्प्रसारणम् (६. ४. १३१) ३—पुंसोऽसुङ् (७. १. ८९) ४—अदसोऽसेर्दादुदो मः (८. २ ८०) ५—नहो धः (८. २. ३४) ६—हलि च (८. २. ७७) ७—अपो भि (७. ४. ४८) ८—चतुरनडुहोरामुदात्तः (७. १. ९८) ९—नाभ्यस्ताच्छतुः (७. १. ७८) वा नपुंसकस्य (७. १. ७९) १०—शप्श्यनोर्नित्यम् (७. १. ८१)

आख्यातप्रकरणम्

भू सत्तायाम् (होने में) उदात्तः उदात्तेत्

(शुद्धकर्तृप्रक्रियायाम्)

लटि[1]। लिटि[2] लुटि[3]। लृटि[4]। लेटि[5] लोटि[6]।। लङि[7]। लिङि[8]। आशिषि लिङि[9]। लुङि[10]। लृङि[11]।

(कर्मप्रक्रियायाम्)

लटि—(अकर्मकोऽप्युपसर्गवशात्सकमर्कः) अनुभूयते सुखं प्रकाशेन। अनुभूयेते। अनुभूयन्ते। त्वमनुभूयसे मया। अहमनुभूये त्वया।

लिटि—अनुबभूवे[12]। अनुबभूवाते। अनुबभूविरे। अनुबभूविषे। अनुबभूवाथे। अनुबभूविध्वे। अनुबभूविढ्वे[13]।

लुटि—अनुभाविता[14] अनुभविता।

लृटि—अनुभाविष्यते-अनुभविष्यते।

लेटि—अनुभविषते, अनुभविषाते। अनुभविषतै-अनुभविषातै। अनुभूयते-अनुभूयाते। अनुभूयतै-अनुभूयातै।

लोटि—अनुभूयताम्। अनुभूयेताम्। अनुभूयन्ताम्। अनुभूयस्व। अनुभूयेथाम्। अनुभूयध्वम्। अनुभयै। अनुभूयावहै। अनुभूयामहै।

लङि—अन्वभूयत। अन्वभूयेताम्। अन्वभूयन्त। अन्वभूयथाः। अन्वभूयेथाम्। अन्वभूयध्वम्। अन्वभूये। अन्वभूयावहि। अन्वभयामहि।

विध्यादिलिङि—अनुभूयेत। अनुभूयेयाताम्। अनुभूयेरन्। अनु-

१—वर्तमाने लट् (३. २.१२३) २—परोक्षे लिट् (३.२.११५) ३—अनद्यतने लुट् (३. ३.१५) ४—लृट् शेषे च (३. ३.१३) ५—लिङर्थे लेट् (३.४.७) ६—लोट् च (३. ३.१६२) ७—अनद्यतने लङ् (३. २.१११) ८—विधिनिमन्त्रण० (३. ३.१६१) ९—आशिष लिङ्लोटौ (३. ३.१७३) १०—लुङ् (३. २.११०) ११—लिङ्निमित्तो० (३. ३. १३९) १२—भुवो वुक् लुङ्लिटोः (६. ४.८८) १३—विभाषेटः (८. ३. ७९) १४—स्यसिच्सीयुट् (६. ४. ६२)

भूयेथाः । अनुभूयेयाथाम् । अनुभूयेध्वम् । अनुभूये । अनुभूयावहि । अनुभूयामहि ।

आशिषि लिङि—अनुभाविषीष्ट अनुभविषीष्ट ।

लुङि –अन्वभावि[1] । अन्वभाविषाताम्–अन्वभविषाताम् । अन्वभविषत–अन्वभाविषत । अन्वभविषथाः—अन्वभाविषथाः । अन्वभविषाथाम्–अन्वभाविषाथाम् । अन्वभविध्वम्–अन्वभाविध्वम्[2], अन्वभविढ्वम्–अन्वभाविढ्वम् । अन्वभाविषम्-अन्वभविषम् । अन्वभविष्वहि, अन्वभाविष्वहि । अन्वभविष्महि-अन्वभाविष्महि ।

अन्वभविष्यत–अन्वभाविष्यत ।

(भावप्रक्रियायाम्)

अत्र प्रत्ययेन कर्त्तुरनभिधानात् कर्तृकरणयोस्तृतीया । तत्र भावस्य युष्मदस्मदर्थाविशेष्यत्वात्प्रथमपुरुष एवात्र व्याख्याने, स्वतः क्रियाया निवृत्तभेदाया अभिधानादेकवचनमेव भवति ।

(भवद्भ्यां, भवद्भ्यः, त्वया, युवाभ्यां, युष्माभिः, मया, आवाभ्यामस्माभिर्वा भूयते)

भूयते । बभूवे । भविता–भाविता । भविष्यते-भाविष्यते । भाविषते-भाविषातै, भविषते-भविषातै, भूयते-भूयाते, भूयतै-भूयातै । भूयताम् । अभूयत । भूयेत । भविषीष्ट-भाविषीष्ट । अभावि । अभविष्यत-अभाविष्यत ।

(कर्मकर्तृप्रक्रियायाम्)

शत्रुः देवदत्तमभिभवति । शत्रुणा देवदत्त अभिभूयते । देवदत्त अभिभूयते[3] स्वयमेव । एवं सर्वत्र कर्मवदुदाहरणानि । लुङि तशब्दे तु "अचः कर्मकर्त्तरि" इति चिणादेशविकल्पनात् पक्षे सिच्, तस्य पूर्ववच्चिण्वदिट् तत्पक्षे वृद्धौ (अभ्यभावि) । (अभ्यभाविष्ट अभ्यभविष्ट इति त्रैरूप्यम् ।

(कर्मव्यतिहारे)

कर्मव्यतिहारस्तु[4] प्रक्रियाशब्देन नोच्यते । अत्र केवलमात्मनेपदत्वमेव

१—चिण्भावकर्मणोः (३. १. ६६) २—धि च (८. २. २५) ३—कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः (३. १. ८७) कर्मस्थभावकानां कर्मस्थक्रियाणां च कर्त्ता कर्मवद् भवति । ४–कर्त्तरि कर्मव्यतिहारे (१. ४. ११४)

वैशिष्ट्यम् । अत एव सर्वत्र आत्मनेपद कृत्वा कर्तृवद् रूपाणि ज्ञेयानि । दिङ्मात्रमुदाह्रियते—व्यतिभवते । व्यतिभवेते । व्यतिभवन्ते । व्यतिभवसे । व्यतिभवेथे । व्यतिभवध्वे । व्यतिभवे । व्यतिभवावहे । व्यतिभवामहे । व्यतिभविता । व्यतिभविष्यते । व्यतिभविषते-व्यतिभविषाते, व्यतिभाविषते-व्यतिभाविषाते, व्यतिभविषतै-व्यतिभविषातै, व्यतिभाविषतै-व्यतिभाविषातै, व्यतिभवते-व्यतिभवाते, व्यतिभवतै-व्यतिभवातै । व्यतिभवताम् । व्यत्यभवत । व्यतिभवेत । व्यतिभविषीष्ट । व्यतिभविषीयास्ताम् । व्यतिभविषीरन् । व्यतिभविषीष्ठाः । व्यतिभविषीयास्थाम् । व्यतिभविषीध्वम्, व्यतिभविषीढ्वम् । व्यतिभविषीय । व्यतिभविषीवहि । व्यतिभविषीमहि । व्यत्यभविष्ट । व्यत्यभविष्यत ।

(सन्नन्तस्य-बुभूष)

भू सन्=बुभूष[1]—कर्तृप्रक्रियायाम्—बुभूषति । बुभूषाञ्चकार[2] । बुभूषामास । बुभूषाम्बभूव । बुभूषिता । बुभूषिष्यति । बुभूषिषति-बुभूषिषाति, बुभूषिषत्-बुभूषिषात्, बुभूषिषद्-बुभूषिषाद् । बुभूषति-बुभूषाति, बुभूषत्-बुभूषात्, बुभूषद्-बुभूषाद् । बुभूषतु । अबुभूषत् । बुभूषेत् । बुभूष्यात् । अबुभूषीत्[3] । अबुभूषिष्यत् ।

(भावकर्मकर्मकर्तृप्रक्रियासु)

बुभूष्यते त्वया । अनुबुभूष्यते सुखम् । अभिबुभूष्यते देवदत्तः स्यमेव । अन्यत्सर्वं कर्तृवज्ज्ञेयम् ।

(कर्मव्यतिहारे)

व्यतिबुभूषते । व्यतिबुभूषां चक्रे-व्यतिबुभूषां बभूव—व्यतिबुभूषामास । व्यतिबुभूषिता । व्यतिबुभूषिष्यते । व्यतिबुभूषिषते-व्यतिबुभूषिषाते । व्यतिबुभूषताम् । व्यत्यबुभूषत । व्यतिबुभूषेत । व्यतिबुभूषिषीष्ट । व्यत्यबुभूषिष्ट । व्यत्यबुभूषिष्यत । ❀ सर्वत्र पूर्ववत्सनः इति तङ् इति धातुवृत्तौ सायणः । तन्न, बुभूष धातोः कर्मव्यतिहारसंबन्धात् । तेन कर्तरि कर्मव्यतिहारे इत्यनेनैव तङ् ❀ ।

१—धातोः कर्मणः समान० (३. १.७) २—कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि (३.१.३५) ३—इट ईटि (८. २. २८) ×एकादेशे सिज्लोपः सिद्धो वक्तव्यः× (८. २. १) अकः सवर्णे दीर्घः ६. १. ९७)

(यङन्तस्य-बोभूय)

भू यङ् = बोभूय[1]

कर्त्तरि—बोभूयते। भावे—बोभूय्यते[2]। कर्मणि—अनुबोभूय्यते सुखम्। कर्मकर्त्तरि—अभिबोभूय्यते शत्रुः स्वयमेव। लुङि तशब्दे तु अचः कर्मकर्त्तरि इत्यनेन अभ्यबोभूयि शत्रुः स्वयमेव, अभ्यबोभूष्ट इति च। एवं सर्वासु प्रक्रियासु सनन्तवत्प्रक्रिया।

(यङ् लुङन्तस्य बोभू)

लटि— बोभवीति—बोभोति[3]। बोभूतः। बोभुवति[4]। बोभवीषि—बोभोषि। बोभूथः। बोभूथ। बोभवीमि—बोभोमि। बोभूवः। बोभमः। लिटि—बोभवांचकार। लुटि–बोभविता। लृटि–बोभविष्यति। लेटि—बोभविषति–बोभविषाति, बोभविषत्—बोभविषात्, बोभविषद् बोभविषाद्, बोभवति—बोभवाति, बोभवत्–बोभवात्, बोभवद्-बोभवाद्। लोटि—बोभोतु बोभूतात्। बोभूताम्। बोभुवतु। बोभूहि—बोभूतम्। बोभूत। बोभवानि। बोभवाव। बोभवाम। लङि—अबोभवीत्–अबोभोत्–अबोभवुः। अबोभवम्। अबोभवाव। अबोभवाम। लिङि—बोभूयात्। बोभूयाताम्। बोभूयुः। बोभूयाः। बोभूयातम्। बोभूयात। बोभूयाम्। बोभूयाव। बोभूयाम।

आशिषि लिङि—बोभूयात्। बोभूयास्ताम्। बोभूयासुः। बोभूयाः। बोभूयास्तम्। बोभूयास्त। बोभूयासम्। बोभूयास्व। बोभूयास्म।

लुङि—अबोभूवीत्—अबोभोत्। अबोभताम् अबोभूवुः। लृङि—अबोभविष्यत्।

भावकर्मकर्मकर्तृषु प्रक्रियासु (बोभूयते त्वया इत्यादि) सर्वं यङ्वज्ज्ञेयम्। कर्मव्यतिहारे—व्यतिबोभूते, व्यतिबोभुवाते इत्यादीनि रूपाणि अवगन्तव्यानि।

(णिजन्तस्य भावय)

लटि—भावयति।

१—धातोरेकाचो हलादेः० (३. १. २२) २—अतो लोपः (६. ४. ४८) ३–यङो वा ७.३. ९४) वर्तमाने लट् (३. २. १२३) भूसुवोस्तिङि (७.३.८८) इति गुणनिषेधोऽत्र न भवति दाधर्त्ति (७. ४. ६५) इति सूत्रे बोभूतु इति गुणाभावार्थान्निपातनाज् ज्ञापकात्। इदमेव प्रकृति ग्रहणे यङ्लुगन्तस्यापि ग्रहणं भवति इत्यत्र ज्ञापकम्। ४—अचिश्नुधातु० (६. ४. ६५)

लिटि— भावयांचकार[1]। भवायांबभूव। भावयामास।

लुटि—भावयिता इत्यादि प्रकृतिवत्। आशिषि लिङि—भाव्यात[2]। लुङि—अबीभवत्।

(भावकर्मकर्मकर्तृ प्रक्रियासु)

सकर्मकत्वाद्भावासंभवः। तत्र लट्लोट्लङ्विध्यादिलिङ्क्षु यकि विकरणे णिलोपः (भाव्यते। भाव्यताम्। अभाव्यत। भाव्येत) अतोऽन्येषु लुङ्व्यतिरिक्तेषु कर्तृवद्रूपम्। लुङि तु चङः कर्त्तरि विधानात्। अन्यत्र सिजेव। तशब्दे तु चिणि (अभावि। अभावयिषाताम् इत्यादि) स्यादिषु चिण्वदिट्पक्षे असिद्धवदत्राभात् इति चिण्वदिटोऽसिद्धत्वाण्णिलोपे (भाविष्यते। अभाविष्यत। अभाविषाताम्। भाविषीष्ट। भाविता। कर्मकर्त्तरि तु यक्चिणो प्रतिषेधे × णिश्रन्थिग्रन्थिब्रूञात्मनेपदाकर्मकाणामुपसंख्यानम् × इति यक्चिणोर्निषेधाद्यथायोगं सर्वत्रकर्तृवद्रूपं स्यादिषु तु कर्मवत्।

२. (एध वृद्धौ उदात्तः अनुदात्तेत्)

लटि[3]—लिटि—लुटि—लृटि—लेटि—लोटि—लङि—लिङि—आशिषि लिङि—लुङि—लृङि भावे लट्लोट्लङ्विध्यादिलिङ्क्षु यगुदाहार्यः। (एध्यते भवता) इत्यादि। लुङि तशब्दे एधि भवता। शेषे तु कर्त्तृवद्रूपम्।

सनि (एदिधिषते) इत्यादि सर्वत्र प्रकृतिवत् एदिधिष्यत इत्यादि कर्त्तृवत्। णिचि एधयते—एधयति। लङि ऐदिधत—ऐदिधत्।

कर्मणि लुङि तशब्दे ऐधि। ऐधयिषाताम् इत्यादि।

३. (अत सातत्यगमने)

अतति। आत। आततुः। आतुः। आतिथ। आतथुः। आत। आत। आतिव। आतिम। अतिता। अतिष्यति। अतिषति-आतिषति। अततु-अततात्। सिपि—अत—अततात्। आतत्। अतेत्। अत्यात्। आतीत्। आतिष्टाम्। आतिषुः। आतीः। आतिष्टम्। आतिष्ट। आतिषम्। आतिष्व। आतिष्म। आतिष्यत्।

१—अयामन्ताल्वाय्येत्न्विष्णुषु (६. ४. ५५) इति अय् आदेशः। २—णेरनिटि (६. ४. ५१) ३—लडादीनामुदाहरणानि भूधातुवत् तत्तद्विधायकसूत्रेषु द्रष्टव्यानि।

४. (षिध गत्याम्)

सेधति ॥ सिषेध[1] । सिषिधतुः[2]। सिषिधुः । सिषेधिथः। सिषिधथुः। सिषिध। सिषेध। सिषिधिव। सिषिधिम ॥ सेधिता ॥ सेधिष्यति ॥ सेधिषति । सेधिषाति । सेधिषत् । सेधिषात् । सेधिषद् । सेधिषाद् । सेधति । सेधाति । सेधत् । सेधात् । सेधद् । सेधाद् ॥ सेधतु-सेधतात् ॥ असेधत् । सेधेत् । सिध्यात् । असेधीत् । असेधिष्यत् ॥

५. (खादृ भक्षणे)

खादति ॥ चखाद ॥ चखादतुः । चखादुः । चखादिथ । चखादथुः । चखाद । चखाद । चखादिव । चखादिम ॥ खादिष्यति। अखादीत् ।

६. (गद व्यक्तायां वाचि)

गदति । जगाद । जगदतुः । जगदुः । जगदिथ। जगाद—जगद[3] ॥ अगदीत्[4] । अगादीत् ॥ अगदिष्यत् ।

७. (णद अव्यक्ते शब्दे)

नदति । ननाद । नेदतुः[5] । नेदुः । नेदिथ[6] । नेदथुः । नेद । ननाद-ननद । नेदिव । नेदिम ॥ अनदीत्-अनादीत्[4] ॥

८. (टुनदि समृद्धौ)

नन्दति । ननन्द ॥ अनन्दीत् ॥

९. (इदि परमैश्वर्ये)

इन्दति । इन्दाञ्चकार[8] । इन्दांबभूव । इन्दामास ॥ इत्युदात्ता उदात्तेतः ॥

१०. (लोकृ दर्शने)

लोकते ॥ लुलोके ॥ लोकिषीष्ट । अलोकिष्ट ॥

१—आदेशप्रत्यययोः (८. ३. ५९) २—असंयोगाल्लिट् कित् (१. २. ५) क्ङिति च (१. १. ५) इति गुणस्य निषेधः ३—णलुत्तमो वा (७. १. ९१) ४—अतो हलादेर्लघोः (८. २. ७) ५—अत एकहल्मध्ये० (६. ४. १२०) ६—थलि च सेटि (६. ४. १२१) ७—इदितो नुम्धातोः (७. १. ५८) ८—इजादेश्च० (७. १. ३६)।

११. (शकि शंकायाम्)

शङ्कते ॥ शशङ्के ॥ शङ्किषीष्ट । अशङ्किष्ट ॥ इत्युदात्ता: अनुदात्तेत:

१२. (वर्च दीप्तौ)

वर्चते ॥ ववर्चे ॥ वर्चिषीष्ट ॥ अवर्चिष्ट ॥ अवर्चिष्यत ।

१३. (लोचृ दर्शने)

लोचते ॥ लुलोचे ॥ लोचिषीष्ट । अलोचिष्ट । इत्युदात्तौ अनुदात्तौ

१४. (अर्च पूजायाम्)

अर्चति ॥ आनर्च[1] । आनर्चतु: । आनर्चु: । आनर्चिथ । आनर्चथु: । आनर्च । आनर्च । आनर्चिव । आनर्चिम ॥

१५. (कूज अव्यक्ते शब्दे)

कूजति । चुकूज ॥ चोकूज्यते । कूजयति अचुकूजत् ।

१६. (व्रज गतौ)

व्रजति । वव्राज । अव्राजीत्[2] ।। इत्युदात्ता उदात्तेत: ॥

१७. (वेष्ट वेष्टने)

वेष्टते ॥ विवेष्टे ॥ अवेष्टीत अवेष्टिष्ट ॥

१८. (चेष्ट चेष्टायाम्)

चेष्टते ॥ चिचेष्टे ॥

१९. (पडि गतौ)

पण्डते । पपण्डे । पण्डिषीष्ट ॥ अपण्डिष्ट ॥ इत्युदात्ता। अनुदात्तेत: ॥

२०. (कटे वर्षावरणयो:) २१. (रट परिभाषणे)

कटति । चकाट । अकटीत्[3] ।

रटति ॥ रराट । रेटतु: । रेटु: । रेटिथ । रेटथु: । रेट । रराट-ररट । रेटिव । रेटिम ॥ रट्यात् । रट्यास्ताम् । रट्यासु: । अरटीत्-

१—अत आदे: (७. ४. ७०) तस्मान्नुड्द्विहल: (७.४. ७१) २—वदव्रज-हलन्तस्याच: (७. ३. ३) ३—ह्म्यन्तक्षणश्वस० (७. २. ५)

अराटीत् ॥

२२. (मडि भूषायाम्)

मण्डति ॥ ममण्ड ॥

२३. (पठ व्यक्तायां वाचि)

पठति । पपाठ । पठेतुः । पेठुः । पेठिथ । पेठथुः । पेठ । पपाठ-पपठ । पेठिव । पेठिम । अपठीत्—अपाठीत् ।

२४. (क्रीडृ विहारे)

क्रीडति । चिक्रीडतुः । चिक्रीडुः । इत्युदात्ता उदात्तेतः

२५. (टुवेपृ कम्पने)

वेपते । विवेपे ।

२६. (त्रपूष् लज्जायाम्)

त्रपते । त्रेपे[1] । त्रेपाते । त्रेपिरे । त्रेपिषे । त्रेपाथे । त्रेपिध्वे । त्रेपे । त्रेपिवहे । त्रेपिमहे । त्रपिता-त्रप्ता[2] । त्रपिष्यते-त्रप्स्यते । त्रपिषते-त्रप्सते, त्रापिषते-त्राप्साते । त्रपते-त्रपाते । त्रपतै-त्रपातै । त्रपताम् । अत्रपत । त्रपेत । त्रपिषीष्ट । त्रप्सीष्ट । अत्रपि-अत्रप्त ।

तित्रपिषते-तित्रप्सते । तात्रप्यते । तात्रपीति । तात्रप्ति । त्रपयति[3] । अतित्रपत् । कृत्प्रत्ययाः—त्रपित्वा । त्रप्त्वा । त्रप्तः । त्रप्तवान् ।

२७. (कपि चलने)

कम्पते । चकम्पे । इत्युदात्ता उदात्तेतः ।

२८. (पण व्यवहारे स्तुतौ च)

पणते । पेणे । पेणाते । पणिरे । पणिता । पणिष्यते । पणिषते । पणिषाते । पाणिषते । पाणिषाते । पणिषतै । पणिषातै । पाणिषतै । पाणिषातै । पणते । पणाते । पणतै । पणातै । पणताम् । अपणत । पणिषीष्ट । अपणिष्ट । अपणिष्यत । पिपणिषते । पम्पण्यते[4] । पम्प-

---

१—तृफलभजत्रपश्च (६. ४. १२२) एतेषामत एत्त्वमभ्यासलोपश्च किति लिटि सेटि थलि च । २—स्वरतिसूति० (७.२.४४) इतीड्विकल्पः ३—घटादित्वान्मित्वम्, मितां ह्रस्वः (६. ४. ९२) ४—नुगतोऽनुनासिकान्तस्य (७.४.८५)

णीति । पम्पणिट । पम्पाण्टः । पम्पणति[1] । अपम्पणीत् । अपम्पण् । पाणयति । अपीपणत् । इति उदात्त अनुदात्तेत्

२९. (चर गतिभक्षणयोः)

चरति । चचार । चेरतुः । चेरुः । चेरिथ । चेरथुः । चेर । चचार-चचर । चेरिव । चेरिम । चरिता । चरिष्यति । चरिषति–चारिषति । चरतु–चरतात् । अचरत् । चरेत् । चर्यात् । अचारीत्[2] । अचरिष्यत । चिचरिषति । चञ्चूर्यते[3]। चञ्चुरीति–चञ्चूर्ति । चञ्चूर्तः । चञ्चूरति । चारयति । अचीचरत् । इति उदात्त उदात्तेत् ।

३०. (जि जये)

जयिर्जयाभिभवयोराद्येऽर्थेऽसावकर्मकः ।
उत्कर्षप्राप्तिराद्योऽर्थोऽद्वितीयेऽर्थे सकर्मकः ॥

जयति । जिगाय[4] । जिग्यतुः[5] । जिग्युः । जिगयिथ–जिगेथ[6] । जिग्यिव । जेता । जेष्यति । जेषति–जेषाति । जैषति-जैषाति । जयतु । अजयत् । जयेत् । जीयात् । अजैषीत् । जिगीषति । जेजीयते । जेजयीति–जेजेति । जेजितः । जेज्यति । जापयति[7] । अजीजपत् । विजयते[8], पराजयते । इति अनुदात्त अनुदात्तेत् ।

३१. (शिक्ष विद्योपदाने)

शिक्षते । शिशिक्षे ।

३२. (भिक्ष भिक्षायामलाभे लाभे च)

भिक्षते । अयं द्विकर्मकः ॥

३३. (ईक्ष दर्शने)

ईक्षते । ईक्षांचक्रे । ईक्षिता । ईक्षिष्यते । ईक्षताम । ऐक्षत । ईक्षेत । ईक्षिषीष्ठ । ऐक्षिष्ट । ईचिक्षिषते । ईक्षयति । ऐचिक्षत् ।

१—अदभ्यस्तात् (७. १. ४) २—अतो ल्रान्तस्य (७. २. २) ३–चरफलोश्च (७. ४. ८७) उत्परस्यात (७. ४. ८८) हलि च (८. २. ७७) ४–सन्लिटोर्जेः (७. ३. ४७) ५–एरनेकाचो० (६. ४. ८२) इति अजादौ क्ङिति यण् ६—अजन्तत्वादनिट्त्वे क्रादिनियमादिड् विकल्पः ७—क्रीङ्जीनां णौ (६.१.४७) इत्येचः स्थाने आत्वे पुगागमः ८–विपराभ्यां जेः (१. ३. १९)

३४. (भाष व्यक्तायां वाचि)

भाषते। बभाषे। भाषिता। भाषिष्यते। बाभाष्यते। भाषयति। अबभाषत्[1]। अबीभषत्।

(कासृ शब्दकुत्सायाम्)

कासते। कासांचक्रे[2]। इति उदात्ता अनुदात्तेतः।

३६. (द्युत दीप्तौ)

द्योतते। दिद्युते[3]। द्योतिता। द्योतिष्यते। द्योतिषते। द्योतिषाते। द्योतिषतै। द्योतिषातै। द्योतते। द्योताते। द्योततै। द्योतातै। द्योतताम्। अद्योतत। द्योतेत। द्योतिषीष्ट। अद्योतिष्ट। अद्युतत्[4]।

३७. (ञिमिदा स्नेहने)

मेदते। मिमिदे। मेदिता। अमिदत्[4]।

३८. (वृतु वर्त्तने)

वर्त्तते। ववृते। वर्त्तिता। वर्त्तिष्यते। वर्त्स्यति[5]। वर्त्तिषते। वर्त्तिषाते। वर्त्तताम्। अवर्त्तत। वर्त्तेत। वर्तिषीष्ट। अवृतत। अवर्त्तिष्ट। अवर्त्तिष्यत। अवर्त्स्यत्।

३९. (वृधु वर्धने)

पूर्ववत्। वृत्। इति द्युतादय उदात्ता अनुदात्तेतः।

४०. (राजृ दीप्तौ)

राजते। रराजे। इत्यादि पूर्ववत्। राजति। रराज। रेजतुः[6]।

१—भ्राजभाष० (७. ४. ३५) इति वा णौ चङ्युपाधा ह्रस्वः २—कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि (३. १. ३५) ३—द्युतिस्वाप्योः सम्प्रसारणम् (७. ४. ६७) इति हलादिशेषं बाधित्वा सम्प्रसारणमभ्यासस्य ४—द्युद्भ्यो लुङि (१. ३. ९१) इति लुङि वा पदस्मैपम्। पुषादि० (३. १. ५५) इति अङ्। ५—वृद्भ्यः स्यसनोः (१. ३. ९२) वा परस्मैपदम्। न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः (७. २. ५९) ६—फणां च सप्तानाम् (६. ४. १२५) इति एतेषां धातूनामवर्णस्य स्थाने व एकारादेशो भवति, अभ्यासलोपश्च लिटि क्ङिति परतस्थलि च सेटि।

रराजतुः। रेजुः। । रेजिथ। रराजीति। रराष्टि[१]। राजयति। अरराजत्[२]। उदात्तः स्वरित्तेदुभयतोभाषः।

४१. (पत्लृ गतौ)

पतति। पपात। पेततुः। पेतुः। पतिता। पतिष्यति। पातिषति। पातिषाति। पततु—पततात्। पतताम्। पतन्तु। पत-पततात्। पततम्। पतत। पतानि। पताव। पताम। पतेत्। पत्यात्। अपप्तत्[३]। पिपतिषति[४]। पित्सति[४]। पनीपत्यते[५]। पनीपत्ति। इति उदात्त उदात्तेत्।

४२. (षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु)

सीदति[६]। ससाद। सेदतुः। ससत्थ[७]—सेदिथ। सेदिव। सेदिम। सत्ता। सत्स्यति। असीदत्। सीदेत्। सद्यात्। असदत्[८]। सिषत्सति। सासद्यते। सासदीति—सासत्ति। सादयति। असीषदत्।

४३. (बुध अवगमने)

४४. (रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च)

बोधति। इति उदाता उदात्तेतः सहिस्तु अनुदात्तः।

४५. (श्रिञ् सेवायाम्]

श्रयति। शिश्राय। शिश्रियतुः। शिश्रियुः। शिश्रयिथ। शिश्राय। शिश्रय। शिश्रियिव। शिश्रियिम। श्रयिता। श्रयिष्यति। श्रयतु। अश्रयत्। आशिषि-श्रीयात्[९]। लुङि—अशिश्रियत्[१०]। तङि—श्रयते। शिश्रिये इत्यादि। शिश्रयिषति[११]। शिश्रीषति। शेश्रीयते। शेश्रयीति। शेश्रेति। श्राययति। अशिश्रयत्।

१—व्रश्चभ्रस्ज० (८. २. ३६) ष्टुना ष्टु (८. ४. ४०) २—नाग्लोपि० (७. ४. २) इति ऋदित्त्वादुपधाह्रस्वनिषेधः। ३—पतः पुम् (७. ४. १९) पुषादिद्युतादिलृदितः परस्मैपदेषु (३. १. ५५) इति अङ् ४—तनिपतिदरिद्राणामुपसंख्यानम् इति वेट्। अनिट्पक्षे सनि मीमाघु० (७. ४. ५४) इति इस् भावः। इस्भावे सः स्यार्धधातुके इति तत्वे पितशब्दस्य द्विर्वचनम् ५—नीग्वञ्चु० (७.४. ८४) इति अभ्यासस्य नीक्। ६—पाघ्रा० (७. ३. ७८) ७—खरि च (८.४. ५४) ८—पुषादि० (३. १. ५५) ९—अकृत० (७. ४. २५) १०—णिश्रि० (३. १. ४८) ११—सनी० (७. २. ४९)

४६. (भृञ् भरणे)

भरति । बभार । बभ्रतुः । बभर्थ । बभृव । क्रादिनियमादिड्भावः ॥ भर्ता । भरिष्यति । भरतु । अभरत् । भरेत् । आशिषि-भ्रियात्[1] । अभार्षीत् ॥

भरते । बभ्रे । भर्त्तासे । भरिष्यते । भरताम् । अभरत । भरेत आशिषि-भृषीष्ट[2] । अभृत[3] । बिभरिषति । बुभूर्षति । बेभ्रीयते[4] ।

४७. (हृञ् हरणे) ४८. (धृञ् धारणे)

हरति । जहार । हारयति । अजीहरत् ॥ धरति । धरते ।

४९. (णीञ् प्रापणे)

नयति । निनाय (वृद्ध्यायौ) "द्विर्वचनेऽचि" इति स्थानिवद्भावान्नीशब्दो द्विरुच्यते । निन्यतुः । निन्युः । निनयिथ-निनेथ । निन्यथुः । निन्य । निनाय-निनय । निन्यिव । निन्यिम । (क्रादिनियमादिट् । थलि भारद्वाजनियमाद्विकल्पः) नेता । नेष्यति । नयतु । अनयत् । नयेत् । नीयात् । अनैषीत् । निनीषति । नेनीयते । नेनयीति । नेनेति । नेनीतः । नाययति अनीनयत् । इति भरत्यादयोऽनुदात्ताः स्वरित्तेतः ॥

५०. (धेट् पाने)

धयति । दधौ[5] । दधतुः । दधुः । दधाथ । दधिथ । दधिव । धाता । धास्यति । धयतु । अधयत् । धयेत् । आशिषि-धेयात्[6] । अदधत्[7] । अदधताम् । चङभावे अधासीत्[8] । अधासिष्टाम् । अधासिषुः । यदा "विभाषा घ्राधेट्शाच्छासः" अधात् । अधाताम् । अधुः । आत (३. ४. ११०) इति झेर्जुस् ।

१—रिङ्शयग्लिङ्क्षु (७. ४. २८) २—उश्च (१. २. १२) इति कित्त्वादगुण । ३—उश्च (१. २. १२) ह्रस्वादङ्गात् (८. २. २७) ४—रीङ् ऋतः (७. ४. २७) इति परत्वाद् रीङि कृते द्विर्वचनम् ।

५—आदेच उपदेशेऽशिति (६. १. ४४) आत औ णलः (७. १. ३४) इति औत्वे वृद्धि, अन्यत्र क्ङिति अजादावार्द्धधातुके आतो लोप इत्याल्लोपः । इटि च तस्य द्विर्वचनेऽचि इति स्थानिवत्त्वाद् धा शब्दस्य द्विर्वचनम् । ६—एर्लिङि (६. ४. ६७) ७—विभाषा धेट्श्व्योः इति विभाषा चङ् । चङि आतो लोप० (६. ४. ६४) इति आल्लोपे स्थानिवत्त्वाद धाशब्दस्य द्विर्वचनम् । ८—चङभावे-सिचि यमरमनमाताम् इति सक् ।

५१. (ग्लै म्लै हर्षक्षये)

ग्लायति । जग्लौ । जग्लतुः । जग्लुः । जग्लाथ । जग्लिथ । जग्लथुः । जग्ल । जग्लौ । जग्लिव । जग्लिम । ग्लाता । ग्लास्यति । ग्लायतु । अग्लायत् । ग्लायेत् । आशिषि–ग्लायात्[1]—ग्लेयात् । अग्लासीत् ।

५२. (पा पाने)

पिबति । पपौ । पपतुः । पपुः । पपिथ । पपथुः । पप । पपौ । पपिव । पपिम । पाता । पास्यति । पिबतु । अपिबत् । पिबेत् । पेयात्[2] । अपात्[3] । पिपासति । पेपीयते[4] । पापेति । पापाति । पापीतः[5] । पापति । पाययति[6] । अपीपयत् ।

५३. (घ्रा गन्धोपादाने, ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः ष्ठा गतिनिवृत्तौ. म्ना अभ्यासे, दाण् दाने)

जिघ्रति । धमति । तिष्ठति । मनति । यच्छति ॥

५४. (सृ गतौ)

सरति । ससार । सस्रतुः । सस्रुः । ससर्थ । सस्रुव । क्रादिपाठादनिट्त्वम् । सर्त्ता । सरिष्यति । ऋद्धनोः स्ये इतीट् । असरत् । सरेत् । स्रियात्[7] । असार्षीत् । असार्ष्टाम् । सीषीर्षति । अज्झन०इति दीर्घे 'ऋतः' इति इत्वे रपरे हलि चेति दीर्घे द्विर्वचने कृते । सेस्रियते । सर्सर्ति । सर्सृतः । सारयति । असीसरत् ।

५५ (ऋ गतिप्रापणयोः)

ऋच्छति[8] । आर[9] । आरतुः । आरुः । आरिथ । आरिव । अर्ता ।

१—वान्यस्य संयोगादेः (६. ४. ६८) २—एर्लिङि (६. ४. ६७) ३—गाति स्था० (२. ४. ७७) ४—घुमास्था० (६. ४. ६६) इत्यनेनेत्वे कृते द्विर्वचनम् । ५—ई हल्यघोः (६. ४. ११३) ६—शाच्छासा० (७. ३. ३७) इति युक् । ७—रिङ्शयग्लिङ्क्षु (७. ४. २८) ८—पाघ्रा० (७. ३. ७८) ९—णलि वृद्धिः, स्थानिवत्त्वाद् ऋशब्दस्य द्विर्वचनम्, उरत् इति अत्वं रपरत्वं, हलादिशेषः, अत आदेः इति दीर्घत्वं, सवर्णदीर्घत्वं चेति एष क्रमः । अन्यत्र सर्वत्र ऋच्छत्यताम् (७. ४. ११) इति गुणः क्रादिनियमादिट् थलि तु ऋतो भारद्वाजस्य इति नियमं बाधित्वा इडत्यर्तिव्ययतीनाम् (७. २. ६३) इति इट् ।

अरिष्यति[1]। ऋच्छतु। आर्च्छेत ऋच्छेत्। आशिषि अर्यात्[2]। आर्षीत्। आर्ष्टाम्। अरिरिषति[3]। अरायते। अर्पयति[4]। मा भवानर्पिपत्। इति घेटादेयाऽनुदात्ताः।

५६. तॄ (प्लवनसंतरणयोः)

तरति। ततार। तेरतुः[5]। तेरिव। तेरिम। ऋच्छत्यॄताम् इति गुणः। तरिता[6]-तरीता। तरिष्यति। तरतु। अतरत्। तरेत्। आशिषि-तीर्यात्[7]। अतारीत्। अतारिष्टाम्। अतारिषुः। अतारीः। अतारिष्टम्। अतारिष्ट। तितीर्षति[8]। तितरिषति। तितरीषति इति उदात्तः परस्मैभाषः॥

५७. (गम्लृ सृप्लृ गतौ, त्यज हानौ)

गच्छति। अगमत्। त्यजति। तत्याज।

५८. (दृशिर् प्रेक्षणे, दह भस्मीकरणे)

पश्यति। दहति। इति अनुदात्ता उदात्तेतः॥

५९. (डुपचष् पाके)

पचति। पपाच। पेचतुः। पेचुः। पपक्थ। पेचिथ। पक्ता। पक्ष्यति। पचतु। अपचत्। पचेत्। पच्यात्। अपाक्षीत्। तङि पचते। पेचे। पेचाते। पेचिरे। पक्ता। पक्ष्यते। पचताम्। अपचत। पचेत। पक्षीष्ट। अपक्त। अपक्षाताम्। अपक्ष्यत। पिपक्षति। पिपक्षते। पापच्यते। पापचीति। पापक्ति। पापक्तः। पापचति। पाचयति। अपीपचत्।

१—ऋद्धनोः स्ये (७. २. ७०) २—गुणोर्त्ति संयोगाद्योः (७. ४. २९) इति गुणः ३—स्मिपूङ्रञ्ज० (७. २. ७४) ४—अर्त्तिह्री० (७. ३. ३६) ५—तॄफलभजत्रपश्च (६. ४. ११२) ६—वॄतो वा (७. २. ३८) ७—ॠत इद्धातोः (७. १. १००) इति इत्वरपरत्वयोः हलि चेति दीर्घः ८—इट् सनिवा (७. २. ४१) इति इटो विकल्पनात् सनि ग्रहगुहोश्च (७. २. १२) इति सनः कित्त्वादगुणत्वे ॠत इद्धातोरिति इत्वे हलि चेति दीर्घत्वे तीर् शब्दस्य द्विर्वचनम्।

६०. (यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु)

यजति—यजते। इयाज। ईजतुः। ईजुः। इयजिथ। इयष्ठ। ईजिव[1]। यष्टा[2]। यक्ष्यति। आशिषि--इज्यात्। अयाक्षीत्। अयाष्टाम्। तङि--यजते। ईजे।

६१. (वह प्रापणे)

वहति। उवाह। ऊहतुः। ऊहुः। उवहिथ—उवोढ। ऊहथुः। ऊह। उवाह—उवह। ऊहिव। ऊहिम। क्रादिनियमादिट्, थलि भारद्वाजनियमादिडभावे। धत्वढत्वष्टुत्वढलोपेषु "सहिवहोरोदवर्णस्य" इत्योत्वे उवोढेति भवति। एवमन्यत्रापि तवर्गादौ ढत्वादि। यजिवत्संप्रसारणम्। वोढा। वक्ष्यति। वहतु। अवहत्। वहेत्। आशिषि कित्त्वात्संप्रसारणे उह्यात्। अवाक्षीत्। अवोढाम्।

तङि—वहते। ऊहे। ऊहिषे। वोढा। वक्ष्यते। वहताम्। अवहत। वहेत। वक्षीष्ट। अवोढ। अवक्षाताम्। अवक्षत। अवोढाः। अवोढम्। विवक्षते। वावह्यते। इति पचादयोऽनुदात्ताः स्वरितेतः

६२. (वस निवासे)

वसति। उवास। ऊषतुः। ऊषुः। उवसिथ—उवस्थ। ऊषिव। संप्रसारणम् यजिवत्। वस्ता।

वत्स्यति[3]। वसतु। अवसत्। वसेत्। उष्यात्! अवात्सीत्। अवात्ताम्। अवात्सुः। अवत्स्यत्। विवत्सति। वावस्यते। वावसीति। वावस्ति। वासयति। अवीवसत्। इति अनुदात्त उदात्तेत्।

६३. (वद व्यक्तायां वाचि)

वदति। उवाद। ऊदतुः। ऊदुः। उवदिथ। उवाद—उवद। ऊदिव। यजादित्वात्किति संम्प्रसारणम्। वदिता। वदिष्यति। वदतु। अवदत्। वदेत्। उद्यात्। अवादीत्[4]। (इति यजादिर्गणः समाप्तः)

इति उदात्त उदात्तेत्।

१—क्रादिनियमादिट्, भारद्वाजनियमाद् इड्विकल्पः किति वचिस्वपियजादीनां किति (६. १. १५) इति संप्रसारणम्, संप्रसारणे च कृते लिट्भ्यासस्य० (६. १. १७) इति अकिति अभ्यासस्य संप्रसारणम्। २—व्रश्चभ्रस्ज० (८. २. ३६) ष्टुना ष्टुः (८. ४. ४०) ३—सः स्यार्द्धधातुके (७. ४. ४९) ४—वदव्रजहलन्तस्याचः (७. २. ३)

अथादादिर्गणः

१. (अद भक्षणे)

अत्ति । अत्तः । अदन्ति । अत्सि । अत्थः । अत्थ । अद्मि । अद्वः । अद्मः । आद[1] । आदतुः । आदुः । आदिथ । आदथुः । आद । आद । आदिव । आदिम ।

जघास । जक्षतुः । जक्षुः[2] । जघसिथ । जक्षथुः । जक्ष । जघास—जघस । जक्षिव । जक्षिम[2] । अत्ता । अत्स्यति । अत्सति । अत्साति । अत्सत् । अत्सात् । अत्सद् । अत्साद् । आत्सति । आत्साति । आत्सत् । आत्सात् । आत्सद् । आत्साद् । अत्तु—अत्तात् । अत्ताम् । अदन्तु । अद्धि—अत्तात् । अत्तम् । अत्त । अदानि । अदाव । अदाम ।

आदत्[3] । आत्ताम् । आदन् । आदः । आत्तम् । आत्त । आदम् । आद्व । आद्म । अद्यात् । अद्याताम् । अद्युः । अद्यात् । अद्यास्ताम् । अद्यासुः । अघसत्[4] । अघसताम् । अघसन । आत्स्यत् ।

२. (हन हिंसागत्योः)

हन्ति । हतः[5] । घ्नन्ति । हंसि । हथः । हथ । हन्मि । हन्वः । हन्मः ।

जघान । जघ्नतुः[6] । जघ्नुः । जघनिथ[7]—जघन्थ । जघ्नथुः । जघ्न । जघान–जघन । जघ्निव । जघ्निम । हन्ता । हनिष्यति[8] ।

हंसति । हंसाति । हंसत् । हंसात् । हंसद् । हंसाद् । हांसति । हांसाति । हांसत् । हांसात् । हांसद् । हांसाद् ।

हन्तु—हतात् । हताम् । घ्नन्तु । जहि[9] । हतम् । हत । हनानि ।

१—अत आदेः (७.४.७०) २—लिट्यन्यतरस्याम् (२.४.४०) न पदान्त० (१.१.४७) क्रादिनियमादिट् । थलि भारद्वाजनियमः इडत्त्यर्ति० इत्यनेन बाध्यते । ३—अदः सर्वेषाम् (७.३.१००) ४—लुङ्सनोः घस्लृ (२.४.३७) लृदित्वादङ् । ५—अनुदात्तोपदेश० (६-४-३४)

६—गमहन० (६.४.९८) ७—भारद्वाजनियमाद् विकल्पः ८—ऋद्धनोः स्ये (७.२.७०) ९—हन्तेर्जः (६.४.३६.) इति आदेशः । अस्य असिद्धवदत्राभात् (६.४.२२) इत्यसिद्धत्वात् अतो हेरिति लुङ् न भवति ।

हनाव । हनाम । अहन् । अहताम् । अघ्नन् । अहन् । अहतम् । अहत । अहनम् । अहन्व । अहन्म । हन्यात् । हन्याताम् । हन्युः । वध्यात्[1] । वध्यास्ताम् । वध्यासुः । अवधीत्[2] । अवधिष्टाम् । अवधिषुः । अहनिष्यत् जिघांसति[3] । जङ्घन्यते[4] । जङ्घनीति-जङ्घन्ति । जङ्घतः । जङ्घ्नति । ×हन्तेर्हिंसायां घ्नीभावो वक्तव्यः× जेघ्नीयते । घातयति । अजीघतत् । कर्मणि–हन्यते । जघ्ने । हन्ता–घानिता[5] । हनिष्यते–घानिष्यते । हन्यताम् । अहन्यत । हन्येत । आशिषि–घानिषीष्ट–वधिषीष्ट ॥ लुङि-अवधि-अघानि । अवधिषाताम्–अहसाताम्—अघानिषाताम् । इति उदात्तावनुदात्तेतौ ॥

३. (ईड स्तुतौ)

ईट्टे । ईडाते । ईडते । ईडिषे[6] । ईडाथे । ईडिध्वे । ईडे । ईड्वहे । ईड्महे । ईडांचक्रे । ईडिता, ईडितासे । ईडिताहे । ईडिष्यते । ईट्टाम् । ईडाताम् । ईडिष्व । ईडिध्वम् । ईडै । ऐट्ट । ऐडाताम् । ऐट्ठाः । ऐड्ध्वम् । ऐडि । ऐड्वहि । ऐड्महि । ईडीत । ईडीथाः । ईडिध्वम् । ईडिय । आशिषि–ईडिषीष्ट । ईडिषीष्ठाः । ईडिषीध्वम् । ईडिषीय । ऐडिष्ट । ऐडिध्वम् । ऐडिषि । कर्मणि—ईड्यते । सनि—ईडिडिषते । ईडयति । मा भवान् ईडिडत् ।

४. (आस उपवेसने)

आस्ते । आसाते आसते । आस्से । आसाथे । आध्वे । आसे । आस्वहे । आस्महे । आसांचक्रे ।

५. (आङः शासु इच्छायाम्)

आशास्ते । आशासाते । आशासते । आशास्से । आशासाथे । आशाध्वे । आशासे । आशास्वहे आशास्महे ॥ इति उदात्ता अनुदात्तेतः

१—हनो वध लिङि (२. ४. ४२) २—लुङि च (२.४.४३) ३—अज्झनगमां सनि (६. ४. १६) ४—नुगतोऽनुनासिकान्तस्य (७.४. ८५) ५–स्यसिच्० (६. ४. ६२) ६—ईडजनोर्ध्वे च (७. २. ७८)

६. (षूङ् प्राणिगर्भविमोचने)

सूते। सुवाते[१]। सुवते। सूषे। सुवाथे। सूध्वे। सुवे। सूवहे। सूमहे। सुषुवे। सुषुवाते। सुषुविरे। सुषुविषे। सुषुविध्वे—सुषुविढ्वे।

७. (शीङ् स्वप्ने)

शेते। शयाते[२]। शेरते[३]। शेषे। शयाथे। शेध्वे। शये। शेवहे। शेमहे। शिश्ये। शिश्याते। शिश्यिरे। शिश्यिषे। शिश्याथे। शिश्यिध्वे—शिश्यिढ्वे। शिश्ये। शिश्यिवहे। शिश्यिमहे[४]। शयिता। शयिष्यते। शेताम्। शयाताम्। शेरताम्। शेष्व। शयाथाम्। शेध्वम्। शयै। शयावहै। शयामहै। अशेत। अशयाताम्। अशेरत। अशेथाः। अशयाथाम्। अशेध्वम्। अशयि। अशेवहि। शयीत। शयीयाताम्। शयीरन्। शयीथाः। शयीय॥ आशिषि—शयिषीष्ट। शयिषीढ्वम्—शयिषीध्वम्। शयिषीय। अशयिष्ट। अशयिष्ठाः। अशयिढ्वम्—अशयिध्वम्॥ अशयिषि। शिशयिषते। शाशय्यते[५]। शेशयीति। शेशेति। शेशीतः। शेश्यति। शाययति। अशीशयत्॥ इति उदात्तावनुदात्तेतौ॥

८. (ष्टुञ् स्तुतौ)

स्तुते। स्तुवाते। स्तुवते। स्तुषे। स्तुध्वे। स्तुवे। स्तुवहे। तुष्टुवे। तुष्टुवाते। तुष्टुविरे। तुष्टुषे[६]। तुष्टुध्वे। तुष्टुवहे।

स्तोता। स्तोष्यते। स्तुताम्। स्तुवाताम। स्तुष्व। स्तुध्वम्। स्तवै।

अस्तुत। अस्तुवाताम्। अस्तुथाः। अस्तुवि। स्तुवीत। स्तुवीयाताम्। स्तुवीथाः। स्तुवीय। आशिषि—स्तोषीष्ट। लुङि—अस्तोष्ट। अस्तोषाताम्। अस्तोष्ठाः। अस्तोढ्वम्। अस्तोषि। यदा "तुरुस्तुशम्यमः" इतीट तदा स्तुवीते। स्तुवीषे। स्तुवीध्वे। स्तुवीवहे। स्तुवीताम्। स्तुवीष्व। स्तुवीध्वम्। अस्तुवीत। अस्तुवीथाः। अस्तुवीध्वम्। अस्तुवीवहि। परस्मैपदेषु—स्तौति[७]—स्तवीति। स्तुतः—स्तुवीतः। स्तौषि—

१—अचि श्नुधातु० (६. ४. ७७) २—शीङः सार्वधातुके गुणः (७. ४. २१) ३—शीङो रुट् (७. १. ६) ४—एरनेकाचो० (६. ४. ८२) ५—अयङ् यि क्ङिति (७. ४. २२) ६—क्रादिपाठादिडभावः। ७—तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुके (७. ३. ९५)

स्तवीषि। स्तौमि[1] स्तवीमि। स्तुवः—स्तुवीवः। तुष्टाव। तुष्टोथ। तुष्टव। स्तोता। स्तोष्यति। स्तौतु—स्तवीतु। स्तुतात्-स्तुवीतात्। स्तुताम्-स्तुवीताम्। स्तुवन्तु। स्तुहि-स्तुवीहि। स्तवानि। अस्तौत्[1]-अस्तवीत्। अस्तुताम्-अस्तवीताम्। अस्तुवन्। अस्तौः। अस्तवीः। अस्तवम्। अस्तुव। अस्तुवीव। स्तुयात्। स्तुवीयात्।

स्तुयाताम्—स्तुवीयाताम्। स्तुयुः—स्तुवीयुः। स्तुयाः—स्तुयावीः। स्तुयाताम्-स्तुवीयाताम्-स्तुवीयुः। स्तुयाम्—स्तुवीयाम। आशिषि—स्तूयात्। अस्तावीत्[2]। अस्ताविष्टाम्।

९. (ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि)

ब्रूते, ब्रुवाते, ब्रुवते। ब्रूषे, ब्रुवाथे, ब्रूध्वे। ब्रुवे, ब्रूवहे, ब्रूमहे। ऊच[3], ऊचाते, ऊचिरे। ऊचिषे, ऊचाथे, ऊचिध्वे। ऊचे, ऊचिवहे, ऊचिमहे। वक्ता, वक्तासे, वक्ताहे। वक्ष्यते। ब्रूताम्, ब्रुवाताम्, ब्रूध्वम्, ब्रवै, ब्रवावहै। अब्रूत, अब्रूथाः, अब्रुवि। ब्रुवीत, ब्रुवीयाताम्, ब्रुवीय, ब्रुवीवहि। आशिषि—वक्षीष्ट। वक्षीष्ठाः, वक्षीय। अवोचत[4], अवोचेताम्, अवोचन्त।

ब्रवीति[5], ब्रूतः, ब्रुवन्ति। ब्रवीषि, ब्रूथः, ब्रूथ। ब्रवीमि, ब्रूवः, ब्रूमः। आह[6], आहतुः, आहुः। आत्थ, आहथुः।

उवाच[7], ऊचतुः, ऊचुः। अवचिथ—उवक्थ, ऊच। उवाच-उवच, ऊचिव। वक्ता। वक्ष्यति। ब्रवीतु—ब्रूतात्, ब्रूताम्, ब्रूहि, ब्रूतम्, ब्रवाणि। अब्रवीत्, अब्रूताम्, अब्रवीः, अब्रवम्, अब्रूव। ब्रूयात्, ब्रूयाताम्। उच्यात्[8], उच्यास्ताम्। अवोचत्, अवोचताम्, अवोचन्। अनुदात्तौ उभयतोभाषौ।

१०. (इण् गतौ)

एति, इतः, यन्ति[9]। एषि, इथः, इथ। एमि, इवः, इमः।

१—उतो वृद्धिर्लुकि हलि (७. ३. ८७) २—स्तुसुधूञ्भ्यः परस्मैपदेषु (७. २. ७२) इति इट्, सिचि वृद्धिः (७. २. १) इति वृद्धिः ३—ब्रुवो वचिः (२. ४. ५३) वचिस्वपि० (६. १. १५) ४—वच उम् (७. ४. २०) ५—ब्रुव ईट् (७.३. ९३) ६—ब्रुव पञ्चनामादित० (३.४.८४) ७—लिट्यभ्यासस्य० (६. १. १७) ८—किदाशिषि (३. ४. १०४) वचिस्वपि० (६. १. १५) ९—इणो यण् (६. ४. ८१)

इयाय, ईयतुः, ईयुः । इययिथ—इयेथ । ईयथुः, इय । इयाय—इयय, ईयिव । एता । एष्यति । एतु-इतात्, इताम्, यन्तु । इहि, अयानि । ऐत्, ऐताम्, आयन् । ऐः, आयम् । इयात्, इयाताम् । ईयात्[1], ईयास्ताम् । अगात्[2], अगाताम्, अगुः । अगाः, अगातम्, अगात । अगाम्, अगाव, अगाम । ऐष्यत् । इत्यनुदात्तः परस्मैभाषः ।

११. (इङ् अध्ययने)

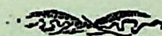
अधीते, अधीयाते, अधीयते । अधिजगे[3], अधिजगाते, अधिजगिरे । अध्येता । अध्येष्यते ।

अधीताम्, अधीयाताम्, अधीयताम् । अधीष्व, अधीयाथाम्, अधीध्वम् । अध्ययै, अध्ययावहै, अध्ययामहै । अध्यैत, अध्यैयाताम्, अध्यैयत । अध्यैथाः, अध्यैयाथाम्, अध्यैध्वम् । अध्यैयि, अध्यैवहि, अध्यैमहि । अधीयीत, अधीयीयाताम्, अधीयीरन् । अध्येषीष्ट । लुङि—अध्यगीष्ट[4]—अध्यैष्ट । अध्यगीष्यत—अध्यैष्यत । इति अनुदात्त-आत्मनेभाषः ।

१२. (अस भुवि)

अस्ति, स्तः[5], सन्ति । असि[6], स्थः, स्थ । अस्मि, स्वः, स्मः ।

बभूव[7], बभूवतुः, बभूवुः । भविता । भविष्यति । अस्तु—स्तात्, स्ताम्, सन्तु । एधि[8]—स्तात्, स्तम्, स्त । असानि, असाव, असाम । आसीत्[9], आस्ताम्, आसन्, आसीः, आस्तम्, आस्त, आसम्, आस्व, आस्म । स्यात्, स्याताम्, स्युः । भूयात्, भूयास्ताम् । अभूत्[10] । अभविष्यत् । चर्करीतञ्च । यङ्लुगन्तमप्यदादिकम् ।



१—अकृत्सार्वधातु० (७. ४. २५) २—गातिस्था० (२. ४. ७७) ३—गाङ् लिटि (२. ४. ४९) आतो लोप० (६. ४. ६४) ४—विभाषा लुङ्लृङोः (२. ४. ५०) ५—श्नसोरल्लोपः (६. ४. १११) ६—तासस्त्योर्लोपः (७. ४. ५०) ७—अस्तेर्भूः (२. ४. ५२) ८—ध्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च (६. ४. ११९) ९—अस्तिसिचोऽपृक्ते (७. ३. ९६) १०—गातिस्थाघु० (२. ४. ७७)

अथ जुहोत्यादिर्गणः

१. (हु दानादादयोः)

लटि[1] । जुहाव, जुहुवतुः[2], जुहुवुः । जुहविथ—जुहोथ, जुहुवथुः, जुहुव । जुहाव—जुहव, जुहुविव ।

जुहवांचकार[3] । होता । होष्यति । जुहोतु, जुहुताम्, जुहवतु । जुहुधि[4] । जुहवानि । अजुहोत्, अजुहुताम्, अजुहवुः[5] । अजुहोः, अजुहुतम्, अजुहुत । अजुहवम् । जुहुयात्, जुहुयाताम्, जुहुयुः । आशिषि—हूयात्, हूयास्ताम् । अहौषीत्, अहौष्टाम्, अहौषुः । अहौषीः, अहौष्टम्, अहौष्ट । अहौषम, अहौष्व ।

जुहूषति[6] । जोहूयते । जोहवीति जोहोति । हावयति । अजूहवत् ।

२. (ञिभी भये)

बिभेति, बिभितः—बिभीतः[7], बिभ्यति । बिभयांचकार[3]-बिभाय । भेता । भेष्यति । बिभेतु—बिभितात्—बिभीतात्, बिभ्यतु—बिभीहि-बिभिहि—बिभितात्; बिभीतम् । बिभयानि । अबिभेत्. अबिभीताम् । अबिभयुः । अबिभेः, अबिभीतम्—अबिभितम् । अबिभयम्, अबिभीव—अबिभिव ॥ बिभियात्—बिभीयात्, बिभियाताम्, बिभीयाताम् बिभियाः—बिभीयाः । बिभियाम् बिभीयाम् ॥ आशिषि—भीयात्, भीयास्ताम्, भीयासुः । अभैषीत्, अभैष्टाम्, अभैषुः । अभैषीः, अभैषम् । बिभीषति । बेभीयते । बेभयीति बेभेति, बेभीतः—बेभितः (प्रकृतिग्रहणे यङ्लुगन्तस्यापि ग्रहणं भवतीति वेत्त्वम्) ।

३. (ह्री लज्जायाम्)

जिह्रेति, जिह्रीतः, जिह्रियति । जिह्रयांचकार—जिह्राय । ह्रेता । ह्रेष्यति । जिह्रेतु । अजिह्रेत् ।

जिह्रीयात् । ह्रीयात् । अह्रैषीत् । अह्रेष्यत् । इत्यनुदात्ताः परस्मैभाषाः ।

१—जुहोत्यादिभ्यः श्लुः (२. ४. ७५) २—अचिश्नु० (६. ४. ७७) ३—भीह्रीभृहुवां श्लुवच्च इति पक्षे आम् प्रत्ययः श्लुवद्भावाद्द्विर्वचनं च । ४—हुझल्भ्यो हेर्धिः (६. ४. १०१) ५—हुश्नुवोः सार्वधातुके (६. ४. ८७) ६—अज्झनगमां सनि (६. ४. १६) ७—भियोऽन्यतरस्याम् (६. ४. ११५)

४. (पॄ पालनपूरणयोः)

लटि[1]। पपार; पप्रतुः[2]—पपरतुः, पप्रुः—पपरुः। पपरिथ। पप्रथुः, पपरथुः पप्र—पपर, पपार—पपर, पप्रिव–पपरिव। परिता[3]—परीता। परिष्यति—परीष्यति। पिपर्तु—पिपूर्तात्, पिपूर्ताम्। पिपुरतु। पिपूर्हि, पिपूर्तम्, पिपूर्त। पिपराणि, पिपराव। अपिपः, अपिपूर्ताम्, अपिपरुः, अपिपः, अपिपूर्तम्, अपिपूर्त। अपिपरम्, अपिपूर्व। पिपूर्यात्, पिपूर्याताम्, पिपूर्युः॥

आशिषि—पूर्यात्[4], पूर्यास्ताम्। पूर्यासुः। अपारीत्, अपारिष्टाम्, अपारिषुः। अपारीः, अपारिष्टम्, अपारिष्ट। अपारिषम्, अपारिष्व, अपारिष्म।

पिपूर्षति, पिपरिषति—पिपरीषति। पोपूर्यते। पापरीति—पापर्ति, पापूर्तः, पापुरति। इत्युदात्तः परस्मैभाषः

५. (डुभृञ् धारणपोषणयोः)

बिभर्ति, बिभृतः[5], बिभ्रति। बभार, बभ्रतुः, बभ्रुः। बभर्थ, बभ्रिव। बिभरांचकार। भर्ता। भरिष्यति। बिभर्तु, बिभृताम्, बिभराणि। अबिभः, अबिभृताम्, अबिभरुः। बिभृयात्। भ्रियात्। अभार्षीत्। अभरिष्यत्।

बिभृते, बिभ्राते, बिभ्रते। बभ्रे—बिभराञ्चक्रे। बिभृताम्। अबिभृत। बिभ्रीत। भृषीष्ट। अभृत। अभरिष्यत। इत्यनुदात्त उभयतोभाषः।

६. (ओहाङ् गतौ)

जिहीते, जिहाते, जिहते। जिहीषे, जिहीध्वे। जिहे, जिहिवहे।

७. (ओहाक् त्यागे)

जहाति, जहितः[6]—जहीतः, जहति, जहासि, जहीथः—जहिथः, जहीथ—जहिथ। जहामि, जहिवः—जहीवः, जहिमः—जहीमः। जहौ, जहतुः, जहुः। जहाथ—जहिथ, जहथुः, जह। जहौ, जहिव। हाता। हास्यति।

१—अर्त्तिपिपर्त्योश्च (७. ४. ७७) २—ऋच्छत्यृताम् (७. ४. ११) ३—वॄतो वा (७.२. ३८) ४—उदोष्ठ्यपूर्वस्य (७. १. १०२) ५—भृञामित् (७. ४. ७६) ६—जहातेश्च (६. ४. ११६)

जहातु—जहितात्, जहीतात् जहिताम्—जहीताम्, जहतु। जहिहि—जहीहि-जहाहि, जहानि, जहाव। अजहात्, अजहिताम्, अजहीताम्, अजहुः[1]। अजहाः। अजहाम्।
जह्यात्, जह्याताम्, जह्युः। हेयात्[2], हेयास्ताम्, हेयासुः॥ अहासीत्,[3] अहासिष्टाम्। अहासीः॥
जिहासति। जेहीयते। हापयति। अजीहपत्॥ इत्यनुदात्त परस्मैभाषः।

८. (डुदाञ् दाने)

ददाति, दत्तः[4], ददति[5]। ददासि, दत्थः, दत्थ। ददामि, दद्वः, दद्मः॥ ददौ, ददतुः, ददुः। ददाथ—ददिथ, ददथुः, दद॥ ददौ, ददिव, ददिम॥ दाता। दास्यति। ददातु—दत्तात्, दत्ताम्, ददतु। देहि[6] दत्तात्, दत्तम्, दत्त। ददानि॥ अददात्, अदत्ताम्, अददुः। अददाः, अदत्तम्, अदत्त। अददाम्, अदद्व॥ दद्यात्, दद्याताम्, दद्युः। देयात्, देयास्ताम्, देयासुः, अदात्[7], अदाम्, अदाव, अदाम। अदास्यत्॥
दत्ते, ददाते, ददते, दत्से, ददाथे, दध्वे। ददे, दद्वहे, दद्महे॥ ददे, ददाते, ददिरे। ददिषे, ददाथे, ददिध्वे। ददे, ददिवहे, ददिमहे॥ दातासे। दास्यते। दत्ताम्, ददाताम्, ददताम्। दत्स्व, ददाथाम्, दध्वम्। ददै, ददावहै, ददामहै। अदत्त, अददाताम्, अददत। अदत्थाः, अददाथाम्, अदध्वम्। अददि, अदद्वहि॥ ददीत, ददीयाताम्, ददीरन्। दासीष्ट॥
अदित[8], अदिषाताम्, अदिषत। अदिथाः, अदिषि॥ दातुमिच्छति दित्सति-दित्सते[9]। देदीयते। दादाति-दादेति। दापयति। अदीदपत्॥ अनुदात्त उभयतोभाषः।

९. (डुधाञ् धारणपोषणयोः)

दधाति, धत्तः, दधति, दधासि, धत्थः, धत्थ, दधामि, दध्वः। दध्मः। दधौ। धाता। धास्यति। दधातु—धत्तात्, धत्तां, दधतु। धेहि,

१—सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च (४. ३. १०९) २—एर्लिङि (६. ४. ६७) ३—यमरमनमातां सक् च (७. २, ७३) ४—श्नाभ्यस्तयोरातः (६. ४. ११२) ५—अदभ्यस्तात् (७. १. ४) ६—घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च (६. ४. ११९) ७—गातिस्थाघु० (२. ४. ७७) ८—स्थाघ्वोरिच्च (१. २. १७) ९—सनि मीमाघु० (७.४. ५४)

दधानि । अदधात्, अधत्ताम्, अदधुः । अदधाः । अदधाम, अदध्व । दध्यात्, दध्याताम् दध्युः । दध्याः, दध्यातम् । धेयात्, धेयास्ताम् । अधात्, अधाताम्, अधुः । अधाः, अधातम्, अधात । अधाम्, अधाव, अधाम ॥धत्ते, दधाते, दधते । धत्से, धध्वे, दधे, दध्वहे । दधे, दधाते, दधिरे । दधिषे, दधे । धाता । धास्यते । धत्ताम्, धत्स्व, धध्वम्, दधै, दधावहै । अधत्त, अधत्थाः, अदधि, अदध्वहि । दधीत । धासीष्ट । अधित, अधिषाताम्, अधिषत । अधिथाः । अधिषि । धित्सति-धित्सते । देधीयते । दाधाति—दाधेति, धत्तः, दाधति । धापयति-धापयते । इत्यनुदात्त उभयतोभाषः ।

अथ दिवादिगणः

१. (दिवु क्रीड़ा-विजिगीषा—व्यवहार-द्युति—स्तुति—मोद—मद—स्वप्न— कान्ति—गतिषु)

लटि[1] । दिदेव, दिदिवतुः, दिदिवुः । देविता, देविष्यति । दीव्यतु । अदीव्यत् । दीव्येत् । दीव्यात् । अदेवीत् । अदेविष्यत् ।

२. (नृती गात्रविक्षेपे)

नृत्यति । ननर्त । नर्तिता[2] । नर्तिष्यति—नर्त्स्यति । नृत्यतु । अनृत्यत् । नृत्येत् । नृत्यात् । अनर्तीत् । अनर्तिष्यत्—अनर्त्स्यत् । इति उदात्तावुदात्तेतौ ॥

३. (षूङ् प्राणिप्रसवे)

सूयते । सुषुवे । सोता—सविता[3] । सोष्यते—सविष्यते । सूयाम् । असूयत । सूयेत । सोषीष्ट— सोषीयास्ताम् । सविषीष्ट सविषीयास्ताम् । असोष्ट । असविष्ट । इत्युदात्त आत्मनेभाषः ।

४. (शो तनूकरणे)

श्यति[4], श्यतः, श्यन्ति । शशौ, शशतुः, शशुः । शशाथ-शशिथ । शाता, शास्यति । श्यतु । अश्यत् । शायात् । शायास्ताम् । अशात्[5], अशाताम् अशुः अशाः । अशासीत्[6] । अशासिष्टाम् ।

१—दिवादिभ्यः श्यन् (३. १. ६९) २—सेऽसिचि० (७. २. ५७) ३—स्वरतिसूतिसूयति० (७. २. ४४) ४—ओतः श्यनि (७. ३. ७१) ५—विभाषा घ्राधेट्शाच्छासः (२. ४. ७७) ६—यमरमनमातां सक् च (७. २. ७३)

५. (छो छेदने) ६. (षोऽन्तकर्मणि)

छ्यति । चच्छौ । इत्यादि सर्वं श्यतिवत् । स्यति । ससौ । इत्यादि सर्वं श्यतिवत् ।

७. (दो अवखण्डने)

द्यति । ददौ । इत्यादि सर्वं श्यतिवत् । श्यतिप्रभृतयोऽनुदात्ताः परस्मैभाषाः ।

(जनी प्रादुर्भावे)

जायते[1] । जज्ञे, जज्ञाते, जज्ञिषे, जज्ञिवहे । जनिता । जनिष्यते । जायताम् । अजायत । जायेत । जनिषीट । लुङि--अजनि---अजनिष्ट[2] अजनिषाताम् । दीपजन० (३. १. ६१) कर्त्तरि तशब्दे च्लेर्वा चिण् । जनिवध्योश्च (७. ३. ३५) इति वृद्धिनिषेधः । जाजायते । जञ्जन्यते । जञ्जनीति-जञ्जन्ति । इत्युदात्त अनुदात्तेत् ।

८—(पद गतौ)

पद्यते । पेदे । पत्ता । पत्स्यते । पद्यताम् । अपद्यत । पद्येत । पत्सीष्ट । अपादि, अपत्साताम् । चिण् ते पदः (३. १. ६०) इति कर्त्तरि तशब्दे चिण् । पित्सते । पनीपद्यते । पनीपत्ति ।

९. (खिद दैन्ये) १०. (विद सत्तायाम्)

खिद्यते । चिखिदे । खेत्ता । खेत्स्यते । खित्सीष्ट । अखित्त । लिङ्सिचौ० (१.२.११) इति कित्त्वाद् गुणो न ॥ विद्यते । इत्यादि खिदिवत् ।

११. (बुध अवगमने) १२. (युध सम्प्रहारे)

बुध्यते । बुबुधे । बोद्धा । भोत्स्यते । बुध्यताम् । अबुध्यत । बुध्येत । भुत्सीष्ट । अबोधि–अबुद्ध । अभुत्साताम् । दीपजनेति तशब्दे वा चिण् ॥ युध्यते । इत्यादि बुधिवत् । लुङि ते तु अयुद्ध इति सिजेव । इत्यनुदात्ता अनुदात्तेतः ॥

१३. (व्यध ताडने)

विध्यति[2] । विव्याध, विव्यधतुः, विव्यधुः । विव्यधिथ—विव्यद्ध,

१—ज्ञाजनोर्जा (७. ३. ७९) २—ग्रहिज्येति (६. १. १६) ।

विव्यधथुः, विव्यध। विव्याध—विव्यध, विव्यधिव, विव्यधिम। व्यद्धा। व्यत्स्यति। विध्यतु। अविध्यत्। विध्येत्। विध्यात्। किदाशिषि (३. ४. १०४) इति कित्त्वात्संप्रसारणम्। अव्यात्सीत्। अव्याद्धाम्। अव्यात्सुः। अव्यत्स्यत्।

१४. (पुष पुष्टौ)

पुष्यति। पुपोष, पुपोषिथ, क्रादिनियमान्नित्यमिट्। भारद्वाजनियमस्तु उपदेशेऽजन्तानामत्वतां चेडिह न प्रवर्तते। पोष्टा। पोक्ष्यति। पुष्यतु। अपुष्यत्। पुष्येत्। पुष्यात्। अपुषत्।

१७. (शुष शोषणे, तुष प्रीतौ, दुष वैकृत्ये)

शुष्यति। तुष्यति। दुष्यति। इत्यादि पुषिवत्।

१८. (क्रुध क्रोधे) १९. (क्षुध बुभुक्षायाम्)

क्रुध्यति चुक्रोध, चुक्रोधिथ। क्रोद्धा। क्रोत्स्यति। क्षुध्यति। चुक्षोध। क्षोद्धा। इत्यनुदात्ता उदात्तेतः।

२१. (शमु उपशमे, श्रमु तपसि खेदे च)

शाम्यति[1]। शशाम। शेमतुः, शेमुः। शेमिथ, शेमथुः, शेम। शशाम—शशम, शेमिव, शेमिम। शमिता। शमिष्यति। शाम्यतु। अशाम्यत्। शाम्येत्। शम्यात्। अशमत्[2]। अशमिष्यत्। श्राम्यति।

२५. (असु क्षेपे, ञितृष पिपासायाम्, हृष तुष्टौ, कुप क्रोधे)

अस्यति। आस, आसिथ। असिता। असिष्यति। अस्यतु। आस्यत्। अस्येत्। अस्यात्। आस्थत्[3], आस्थताम्। तृष्यति।

२६. (ञिमिदा स्नेहने)

मेद्यति[4]। मिमेद, मेदिथ। मेदिता। मेदिष्यति। मेद्यतु। अमेद्यत्। मेद्येत्। मिद्यात्। अमिदत्[5]।

२७. (गृधु अभिकांक्षायाम्=लालच करने में)

गृध्यति। जगर्ध, जगृधतुः, जगर्धिथ, जगृधिव। गर्धिता। गर्धि-

१—शमामष्टानां दीर्घः श्यनि (७. ३. ७४) २—पुषादित्वादङ् (३. १. ५५) ३—अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ् (३. १. ५२) ४—मिदेर्गुणः (७. ३. ८२) ५—द्युतादिपाठादेव अमिदत्, अमेदिष्टेति सिद्धे पुषादिपाठोऽमेदीत् इति निवृत्त्यर्थः।

ष्यति । गृध्यतु । अगृध्यत् । गृध्येत् । गृध्यात् । अगृधत् । अगर्धिष्यत् । जिगर्धिषति । जरीगृध्यते । जगर्धि । लङि सिपि अजर्धाः[1] । इति पुषादयः । इति शमादय । उदात्ता उदात्तेतः ।

अथ स्वादिर्गणः

१—२. (षुञ् अभिषवे, चिञ चयने)

षुञ—लटि[2] । सुषाव, सुषुवतुः, सुषुवुः । सुषविथ—सुषोथ, सुषुवथुः, सुषुव । सुषाव—सुषव, सुषुविव, सुषुविम । क्रादिनियमादिट्, थलि तु भारद्वाजनियमादिड् विकल्प । उवङ् अगुणवृद्धिविषये ।

सोता । सोष्यति । सुनोतु—सुनुतात्, सुनुताम्, सुन्वन्तु । सुनु—[3] सुनुतात्, सुनुतम्, सुनुत । सुनवानि, सुनवाव, सुनवाम । आदि पित्त्वादङित्वात् यणं बाधित्वा गुणः । असुनोत्, असुनुताम्, असुन्वन् । असुनोः, असुनुतम्, असुनत । असुनवम्, असुन्व, असुन्म । लोपश्चास्यान्यतरस्यां म्वोः (६. ४. १०७) सुनुयात् । सूयात्, सूयास्ताम् । असावीत्, असाविष्टाम्, असाविष्ट । असावीः असाविषम् ।

सुनुते सुन्वाते, सुन्वते । सुनुषे, सुन्वाथे, सुनुध्वे । सुन्वे, सुन्वहे—सुनुवहे । पूर्ववद्यण्-उकारलोपौ । सुषुवे, सुषुविषे, सुषुविध्वे—सुषुविढ्वे । विभाषेटः (८—३—७९) सुषुवे सुषुविवहे । सोता । सोष्यते । सुनुताम्, सुन्वाताम्, सुन्वताम् । सुनुष्व, सुन्वाथाम्, सुनुध्वम् । सुनवै, सुनवावहै, सुनवामहै । असुनुत, असुन्वाताम् । असुन्वि, असुन्वहि असुनुवहि । सुन्वीत । सोषीष्ट, सोषीयास्ताम । सोषीढ्वम् (इणः षीध्वम्० ८—३—७८) असोष्ट; असोषाताम् । अषोष्ठाः । सुसूषति—सुसूषते । सोषूयते । सोषुवीति-सोषोति, सोषुतः, सोषुवति । सावयति-असूषुवत् । चिञ्-चिनोति । चिकाय, चिक्यतुः, चिक्युः । चिकयिथ-चिकेथ, चिक्यिव । विभाषा चेः (७—३—५८) अन्यदा चिचाय इत्यादि । चेष्यति चिनोतु । अचिनोत् । चिनुयात् । चीयात् । चेषीष्ट । अचैषीत् । चिनुते । चिक्ये-चिच्ये । चेता । चेष्यते । चिनुताम् । अचिनुत । चिन्वीत । चेषीष्ट । अचेष्ट । इत्यनुदात्तावुभयतोभाषौ ।

१—एकाचो बशो० (८. २. ३७) २—स्वादिभ्यः श्नुः (३. १. ७३)
३—उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात् (६. ४. १०६)

४. (आप्लृ व्याप्तौ, शक्लृ शक्तौ)

आप्नोति। आप्नुतः आप्नुवन्ति। लोपश्च स्य० इत्युकारलोपः संयोगपूर्वत्वान्न भवति। हुश्नुवोः सार्वधातुके इति यणपि असंयोगपूर्वस्येत्यादौ 'अचिश्नुधातु० इत्युवङ्'। आप, आपतुः आपुः। आपिथ, आपिव। आप्ता। आप्स्यति। आप्नुहि। उतश्च प्रत्ययात् इति हेर्लुक् संयोगपूर्वत्वान्न। आशिषि-आप्यात्। आपत् लृदित्त्वादङ्। शक्नोति, शक्नुवन्ति। शक्नुहि। अशक्नोत्। शक्नुयात्। अशकत, लृदित्त्वादङ्। इत्यनुदात्तावुदात्तेतौ।

५. (अशूङ् व्याप्तौ संघाते च)

अश्नुते, अश्नुवाते, अश्नुवते। अश्नुषे, अश्नुध्वे। अश्नुवे, अश्नुवहे॥ शात् इति तवर्गस्य श्चुत्वनिषेधः। आनशे, आनशाते, आनशिषे-आनक्षे, आनशिध्वे-आनड्ढ्वे। आनशिवहे-आनश्वहे, आनशिमहे-आनश्महे। ऊदित्त्वादिड्विकल्पः। व्रश्च भ्रस्ज० इत्यादिना षत्वं, षढोः कः सि ष्टुना ष्टुः इति कत्वषत्वे। अत आदेः इति अभ्यासस्य दीर्घत्वे 'अश्नोतेश्च इति नुडागमे रूपाणि। अष्टा-अशिता। अशिष्यते-अक्ष्यते। अश्नुताम् अश्नुष्व। आश्नुत, आश्नुथाः, आश्नुवि। आश्नुवीत। अशिषीष्ट-अक्षीष्ट। आशिष्ट-आष्ट। अशिशिषते "स्मिपूङ्० (७-२-७४) अशाश्यते सूचिमूत्रि० इति यङ्। उदात्त अनुदात्तेत्।

अथ तुदादिगणः

(तुद व्यथने, णुद प्रेरणे, दिश अतिसर्जने, भ्रस्ज पाके, क्षिप प्रेरणे, कृष विलेखने)

तुदति। तुतोद, तुतुदतुः, तुतुदुः। तुतोदिथ। क्रादिनियमादिट्। तोत्ता। तोत्स्यति। तुदतु-तुदतात्। अतुदत्, अतुदताम्, अतुदन्। तुदेत्। तुद्यात् तुद्यास्ताम्। अतौत्सीत्, अतौत्ताम्; अतौत्सुः। अतौत्सीः अतौत्त। अतौत्सम्। अतौत्स्व, अतौत्स्म।

तुदते। तुतुदे। तुदताम्, तुदेताम्। तुदन्ताम्। तुदस्व। अतुदत। तुदेत। तुत्सीष्ट, तुत्सीयास्ताम् लिङ्सिचावात्मनेपदेषु (१-२-११) इति कित्त्वान्न गुणः। अतुत्त, अतुत्साताम्। तुतुत्सति। तुतु-

त्सते। तोतुद्यते। तोतुदीति-तोतोत्ति तोतुत्तः तोतुदति। णुद-नुदति इत्यादि तुदिवत्।

दिश—दिशति, दिशते। देष्टा, देक्ष्यति देक्ष्यते। अन्यत्सर्वं तुदिवत् विशेषस्तु लुङि शल इगुपधात्० (३-१-१३५) इति क्सः, 'क्सस्याचि' (७.३. ७२) इत्यल्लोपः अदिक्षत् अदिक्षताम् अदिक्षन्।

दिदिक्षति। दिदिक्षते। हलन्ताच्च इति कित्त्वम्। देदिश्यते। देदिशीति-देदेष्टि। देशयति अदीदिशत्।

भ्रस्ज—भृज्जति। शस्य सार्वधातुकमपित् इति ङित्त्वात् ग्रहिज्या० इति संप्रसारणम्, पररूपत्त्वम्। झलां जश् झशि इति सकारस्य दकारस्तस्य श्चुत्वं जकारः, न च श्चुत्वे दत्वमसिद्धम् इति वाच्यम्, भृज्जतीनामिति निर्देशाद् इति माधवीयधातुवृत्तिः। बभर्ज्ज, बभर्ज्जतुः। बभर्ज्जुः बभर्ज्जिथ-बभर्ष्ठ, बभर्ज्जथुः। क्रारिदनियमादिड् थलि भारद्वाजनियमादिड्विकल्प। भ्रस्जोरोपधयोरमन्यतस्याम् (६-४-४७) इति रेफोपधयोर्निवृत्तिः। रमागमश्च विकल्पेन। आगमे अकार उच्चारणार्थः। अन्यदा बभ्रज्ज, बभ्रज्जतुः, बभ्रज्जुः बभ्रज्जिथ, बभ्रष्ठ, बभ्रज्जथुः, बभ्रज्ज। बभ्रज्जिव। भर्ष्टा-भ्रष्टा। रमभावे स्कोः० इति सकारलोपः। 'व्रश्च०' आदिनोभयत्र जकारस्य षत्वे ष्टुत्वम्।

भर्क्ष्यति-भ्रक्ष्यति। भृज्जतु। अभृज्जत्। भृज्जेत्, भृज्ज्यात् भृज्ज्यास्ताम्। यासुटः कित्त्वात्संप्रसारणम्। रमागमश्चानेन पूर्वविप्रतिषेधेन बाध्यते। अभार्क्षीत्, अभार्ष्टाम्, अभार्क्षुः। अभार्क्षीः, अभार्ष्टम्, अभार्ष्ट। अभार्क्षम्, अभार्क्ष्व, अभार्क्ष्म। अभ्राक्षीत्, अभ्राष्टाम्, अभ्राक्षुः इत्यादि। वदव्रज० इति वृद्धिः। झलि सिचा लोपे सकारस्याभावात् षढोः कः सि इति न। बिभर्क्षति-बिभर्ज्जिषति, बिभ्रक्षति, बिभ्रज्जिषति। अनेनैव प्रकारेण आत्मनेपदे रूपाणि अभ्यस्तव्यानि।

क्षिप— क्षिपति। चिक्षेप। इत्यादि तुदिवत्। कृष–कृषति। कृषते। चकर्ष। चकृषे। क्रष्टा-कर्ष्टा कृक्षीष्ट×स्पृशमृशकृषतृपदृपां च्लेः सिज्वा वक्तव्यः×अक्राक्षीत्-अकार्क्षीत्। शल इगुपधादनिट क्सः इति क्सः। क्सस्याचि इत्यल्लोपे अकृक्षत्। इत्यनुदात्ता स्वरित्तेतः।

१२. (ओव्रश्चू छेदने)

वृश्चति। ग्रहित्येति संप्रसारणे, श्चुत्वे रूपम्। वव्रश्च, वव्रश्चतुः,

१. अनुदात्तस्यचर्दुपधस्य० (६-१-५८)

वव्रश्चुः । वव्रश्चिथ—वव्रष्ठ । ऊदित्त्वात् सर्वत्रेड् विकल्पः । क्रादिनियमः प्रतिषिद्धविषय इति थल्यपि विकल्प एव ।

व्रष्टा—व्रश्चिता । व्रक्ष्यति—व्रश्चिष्यति । वृश्चतु । अवृश्चत् । वृश्चेत् । वृश्च्यात् । अव्रश्चीत । अव्रश्चिष्टाम्, अव्रश्चिषुः । अव्रश्चीः, अव्रश्चिष्टम्, अव्रश्चिष्ट । अव्रश्चिषम् । नेटि (७. २. ४) इति न वृद्धिः । अनिटि तु अव्राक्षीत् ।

१३. (इष इच्छायाम्, मिल श्लेषणे, लिख अक्षरविन्यासे)

इच्छति । इयेष[1] ईषतुः । एषिता—एष्टा[2] । एषिष्यति । इच्छतु[3] । ऐच्छत् । ऐषीत् ।

मिलति इत्यादि । लिखति । लिलेख । लेखिता । लेखिष्यति । लिखतु । अलिखत् । लिखेत् । लिख्यात् । अलेखीत् । इत्युदात्ता उदात्तेतः ।

१४. (मृङ् प्राणत्यागे)

म्रियते (म्रियतेर्लुङ्लिङोश्च इति (१. ३. ६१) तङ् । ममार, मम्रतुः मम्रुः । ममर्थ । मम्रिव । क्रादिनियमादिट् थलि तु अचस्तास्वत्थल्यनिटो नित्यम् इतीण् न । मर्ता मरिष्यति । म्रियताम् । अम्रियत । म्रियेत । मृषीष्ट । अमृत । उश्च (१. २. १२) इति लिङ्सिचोः कित्त्वान्न गुणः ।

इत्यनुदात्तः आत्मनेभाषः ।

१५. (कॄ विक्षेपे)

किरति । चकार, चकरतुः[4], चकरुः । चकरिथ, चकरथुः, चकर । चकार—चकर, चकरिव, चकरिम ।

करिता—करीता[5] । करिष्यति—करीष्यति । किरतु । अकिरत् । किरेत् । कीर्यात् । इत्वे हलि चेति दीर्घः । अकारीत् । अकारिष्टाम् । चिकरिषति—सनि ग्रहगुहोश्च इति इण्निषेधे प्राप्ते, तदपवाद इट् सनि वा इति विकल्पिते, किरश्च पञ्चभ्यः इति नित्यमिट् । चेकीर्यते । चाकरीति—चाकर्ति, चाकृतः, चाकरति । कारयति । अचीकरत् । इत्युदात्त उदात्तेत् ।

१. अभ्यासस्यासवर्णे (६-४-७८) २. तीषसह० (७-२-४८) ३. इषुगमियमांछः (७-३-७७) ४—ऋच्छत्यृताम् (७. ४. ११) ५—वृतो वा (७. २. ३८)

१६. (प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्)

पृच्छति। पप्रच्छ, पप्रच्छतुः, पप्रच्छुः। पप्रच्छिथ पप्रष्ठ, पप्रच्छथुः पप्रच्छ। पप्रच्छ, पप्रच्छिव, पप्रच्छिम। क्रादिनियमादिट्। थलि तु भारद्वाजनियमाद् इड्विकल्पः। प्रष्टा। प्रक्ष्यति। पृच्छतु। अपृच्छत्। पृच्छेत। पृच्छ्यात्। अप्राक्षीत्, अप्राष्टाम्, अप्राक्षुः।

इत्यनुदात्त उदात्तेत्।

—

अथ रुधादिर्गणः

१. (रुधिर् आवरणे)

अयं द्विकर्मकः। रुणद्धि। रुरोध, रुरुधतुः, रुरोधिथ। रोद्धा। रोत्स्यति। रुणद्धु, रुन्धात्, रुन्धाम्, रुन्धन्तु। रुन्द्धि, रुन्धम्, रुन्ध। रुणधानि, रुणधाव, रुणधाम। अरुणत्—अरुणद्, अरुन्धाम्, अरुन्धन्। अरुणत्—अरुणद्—अरुणः, अरुन्धम्, अरुन्ध। अरुणधम्, अरुन्ध्व, अरुन्ध्म। हल्ङ्यादिना तिस्यालोपः। जश्त्वे वा चर्त्वञ्च। सिपि "दश्च" इति वा रुत्वमपि। रुन्ध्यात्, रुन्ध्याताम्, रुन्ध्युः। रुध्यात्, रुध्यास्ताम्। रुध्यासुः। लुङि इरितो वा (३. १. ५७) इति अङ् पक्षे—अरुधत्, अरुधताम्। अन्यदा—अरौत्सीत्, अरौद्धाम्, अरौत्सुः। अरौत्सीः, अरौद्धम्, अरौद्ध। अरौत्सम्, अरौत्स्व, अरौत्स्म।

रुन्धे, रुन्धाते, रुन्धते। रुरुधे, रुरुधिषे। रोद्धा। रोत्स्यते। रुन्धाम्। अरुन्धत। रुन्धीत। रुत्सीष्ट। लिङ्सिचौ० (१. २. ११) इति कित्वम्। अरुद्ध, अरुत्साताम्, अरुत्सत। अरुद्धाः, अरुत्सि, अरुत्स्वहि॥

२. (भिदिर् विदारणे)

भिनत्ति, भिन्तः, भिन्दन्ति। भिनत्सि, भिन्थः भिन्थ। भिनद्मि, भिन्द्वः, भिन्द्मः। बिभेद, बिभिदतुः, बिभिदुः। बिभेदिथ। भेत्ता। भेत्स्यति। भिनत्तु-भिन्तात्, भिन्ताम्, भिन्दन्तु। भिन्धि। अभिनत्-अभिनद्-अभिन्ताम्, अभिन्दन्। अभिनः, अभिन्तम्, अभिन्त। भिन्द्यात्, भिन्द्याताम्, भिन्द्युः। भिद्यात्, भिद्यास्ताम्। लुङि—अभिदत्। अभैत्सीत्, अभैत्साम्, अभैत्सुः। भिन्ते। बिभिदे, बिभिषे।

३. (छिदिर् द्वैधीकरणे)

छिनत्ति इत्यादि भिदिवत् "इति अनुदात्तास्वरितेतः।

४. (खिद दैन्ये, विद विचारणे)

खिन्ते, खिन्दाते, खिन्दते। खिन्त्से, खिन्दाथे, खिन्ध्वे। खिन्दे, खिन्द्वहे, खिन्द्महे। खिन्ताम्, खिन्दाताम्, खिन्दन्ताम् खिन्त्स्व, खिन्दाथाम्, खिन्ध्वम्। खिनदै, खिनदावहै, खिनदामहै। अखिन्त, अखिन्दाताम्, अखिन्दत। अखिन्दि। खिन्दीत। चिखिदे। खेत्ता। विन्ते इत्यादि खिदिवत्। इत्यनुदात्तावनुदात्तेतौ

५. (भुज पालनाभ्यवहारयोः)

भुनक्ति, भुङ्क्तः, भुञ्जन्ति। भुनक्षि, भुङ्क्थः, भुङ्क्थ। भुनज्मि, भुञ्ज्वः, भुञ्ज्मः। बुभोज, बुभुजतुः, बुभोजिथ। भोक्ता। भोक्ष्यति। भुनक्तु। अभुनक्। भुञ्ज्यात्। भुज्यात्। अभौक्षीत्, अभौक्ताम्। भुजोऽनवने (१-३-६६) इति तङ्। भुङ्क्ते, भुञ्जाते। भुङ्क्षे भुञ्जथे, भुङ्ध्वे, भुञ्जे, भुञ्ज्वहे, भुञ्ज्महे। बुभुजे। भोक्ता, भोक्ष्यते। भुङ्क्ताम्। अभुङ्क्त, अभुञ्जाताम्।

भुञ्जीत, भुञ्जीयाताम्, भुञ्जीरन्। भुक्षीष्ट। अभुक्त, अभुक्षाताम्। लिङ्सिचावात्मनेपदेषु (१.२.११)

६. (हिसि हिंसायाम्)

हिनस्ति, हिंस्तः, हिंसन्ति। हिनस्सि, हिनस्मि। जिहिंस, जिहिंसतुः, जिहिंसिथ। हिंसिता। हिंसिष्यति। हिनस्तु, हिंस्तात्, हिंस्ताम्, हिंसन्तु। हिन्धि। सलोपेऽनुस्वारपरसवर्णौ हिनसानि। अहिनत्, अहिंस्ताम्, अहिंसन्। अहिनत्-अहिनद्-अहिनः. अहिनसम्, अहिंस्व। तिपि तिप्यनस्तेः इति सस्य दः। सिपि धातोरुर्वा, इति दत्वरुत्वे। हिंस्यात्, हिंस्याताम्, हिंस्युः। हिंस्यात् हिंस्यास्ताम्। अहिंसीत्, अहिंसिष्ट। इत्युदात्त उदात्तेत्।

अथ तनादिगणः

१. (तनु विस्तारे, षणु दाने)

तनोति। ततान, तेनतुः, तेनुः। तेनिथ, तेनथुः, तेन। ततान-ततन,

तेनिव, तेनिम। तनिता। तनिष्यति। तनोतु—तनुतात्, तनुताम्, तन्वन्तु। तनु, तनवानि। उतश्च प्रत्ययात्० (६. ४. १०३) इति हेर्लुक्। अतनोत्, अतनुताम्, अतन्वन्। अतनोः, अतनुतम्. अतनुत। अतनवम् अतन्व—अतनुव। तनुयात्, तनुयाताम्, तनुयुः। तनुयाः, तनुयातम्, तनुयात। तनुयाम्। तन्यात्, तन्यास्ताम्, तन्यासुः। अतनीत्—अतानीत्। तनुते, तन्वाते, तन्वते। तनुषे, तन्वाथे, तनुध्वे। तन्वे, तनुवहे, तनुमहे। तेने, तेनाते, तेनिरे। तेनिषे, तेनाथे. तेनिध्वे। तनिता। तनिष्यति। तनुताम्, तन्वाताम् तन्वन्ताम्। तनुष्व; तनवै। अतनुत, अतन्वाताम्, अतन्वत। अतनुथाः। तन्वीत, तन्वीयाताम्, तन्वीरन्। तनिषीष्ट, तनिषीयास्ताम्, तनिषीरन्। अतत—अतनिष्ट, अतथाः—अतनिष्ठाः, अतनिध्वम्। तनादिभ्यस्तथासोः इति पक्षे सिचो लुक्।

षणु दाने—सनोति—सनुते इत्यादि तनोतिवत्। इत्युदात्तौ स्वरितेतौ।

२. (मनु अवबोधने)

मनुते, मेने इत्यादि। इत्युदात्त अनुदात्तेत्।

३. (डुकृञ् करणे)

करोति, कुरुतः, कुर्वन्ति। करोषि, कुरुथः, कुरुथ। करोमि, कुर्वः, कुर्मः अत उत्सार्वधातुके इति उकारलोपः। चकार, चक्रतुः, चक्रुः। चकर्थ, चक्रथुः, चक्र। चकार—चकर, चकृव, चकृम।

कर्त्ता। करिष्यति ऋद्धनो स्ये इति इट्। करोतु-कुरुतात्, कुरुताम्, कुर्वन्तु। कुरु-कुरुतात्, कुरुतम्, कुरुत। करवाणि, करवाव, करवाम।

अकरोत्, अकुरुताम्, अकुर्वन्। अकरोः, अकुरुतम्, अकुरुत।

अकरवम्, अकरवाव, अकरवाम। कुर्यात्, कुर्याताम्, कुर्युः। ये चेति नित्यं उपकारस्य लोपः। क्रियात्, क्रियास्ताम्, क्रियासुः—रिङ्शयग्लिङ्क्षु (७. ४.२८) अकार्षीत्, अकार्ष्टाम्, अकार्षुः। अकार्षीः, अकार्ष्टम्, अकार्ष्ट। अकार्षम्, अकार्ष्व, अकार्ष्म। अकरिष्यत्।

कुरुते, कुर्वाते, कुर्वते। कुरुषे, कुर्वहे, कुर्महे। चक्रे, चक्राते, चक्रिरे। कुरुताम्, कुरुष्व, करवै। अकुरुत। कुर्वीत। कृषीष्ट। अकृत्। इत्यत्र तनादिभ्यस्तथासोः इति विकल्पितो लुङ् न भवति।

—(०)—

अथ क्र्यादिर्गणः

१–३—(डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये, प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च, श्रीञ् पाके)

क्रीणाति । क्रीणीते, क्रीणाते, क्रीणते, क्रीणीषे, क्रीणाथे, क्रीणीध्वे । क्रीणे, क्रीणीवहे, क्रीणीमहे। श्निश्नयोः परत्वान्नित्यत्वादन्तरङ्गत्वादीत्वात्पूर्वमन्तादेशात् श्नाभ्यस्तयोराल्लोपः ॥

चिक्राय, चिक्रियतुः, चिक्रयिथ चिक्रेथ, चिक्रियथुः, चिक्रिय । चिक्राय-चिक्रय, चिक्रियिव, चिक्रियिम । चिक्रिये, चिक्रियाते, चिक्रियिषे, चिक्रियाथे, चिक्रियिध्वे । क्रेता । क्रेष्यते-ति ॥

क्रीणातु-क्रीणीतात्, क्रीणीताम्, क्रीणन्तु । क्रीणीहि-क्रीणीतात्, क्रीणीताम्, क्रीणीत । क्रीणानि, क्रीणाव, क्रीणाम । क्रीणीताम्, क्रीणाताम्, । क्रीणताम् । क्रीणीष्व, क्रीणावहै । अक्रीणात्, अक्रीणीताम्, अक्रीणाः अक्रीणीतम्, अक्रीणीत, अक्रीणाम्, अक्रीणीव । अक्रीणीत, अक्रीणीथाः, अक्रीणाथाम्, अक्रीणीध्वम् । अक्रीणि, अक्रीणीवहि ।

क्रीणीयात्, क्रीणीयाताम्, क्रीणीयाः, क्रीणीयाम्, क्रीणीयाव । क्रीणीत, क्रीणीयाताम्, क्रीणीथाः, क्रीणीय, क्रीणीवहि, क्रीणीमहि । क्रीयात्, क्रीयास्ताम् । क्रेषीष्ट, क्रेषीयास्ताम् इत्यादि । अक्रैषीत्, अक्रैष्टाम्, अक्रैषुः । अक्रैषीः, । अक्रैष्टम्, अक्रैष्ट । अक्रैषम्, अक्रैष्व अक्रैष्म । अक्रेष्ट, अक्रेषाताम्, अक्रेष्ठाः, अक्रेषि ।

चिक्रीषति—चिक्रीषते । चेक्रीयते । क्रापयति[२], अचिक्रपत् ।

श्रीञ् प्रीञ् इत्यादि क्रीणातिवत् । इत्यनुदात्ता उभयतोभाषाः ।

४—७. (पूञ् पवने, मूञ् बन्धने, लूञ् छेदने, स्तॄञ् आच्छादने)

पुनाति, पुनीतः. पुनन्ति । पुनासि, पुनीथः, पुनीथ । पुनामि, पुनीवः, पुनीमः ।

पुपाव, पुपुवतुः पुपुवुः । पुपविथ, पुपुवथुः, पुपव । पुपाव-पुपव पुपविव, पुपविम । पविता । पविष्यति-पविष्यते पुनातु - पुनीतात्,

पुनीताम् पुनन्तु, पुनै । अपुनात अपुनीताम्, अपुनाः, अपुनाम्, अपुनीव । पुनीयात् पुनीयाः, पुनीयाम् । पूयात्, पूयास्ताम्, पूयासुः । अपावीत् ।

पुनीते, पुनाते, पुनते । पुनीषे, पुने । पुपुवे, पुपुवाते, पुपुविरे । पुपुविषे, पुपुवे । पुनीताम् । अपुनीताम्, पुनीत । पविषीष्ट ॥ अपविष्ट

लूञ्-लुनाति इत्यादि पुनातिवत् । लिटि-तस्तार, तस्तरतुः, तस्तरुः तस्तरिथ, तस्तरिव । ऋच्छत्यृताम् इति गुणः ।

स्तरिता-स्तरीता वॄतो वा इत्यलिटीटो दीर्घविकल्पः । स्तरीष्यति, स्तरिष्यति ।

स्तृणातु; स्तृणीहि, स्तृणानि, स्तृणाव । अस्तृणात्, अस्तृणीताम्, अस्तृणाः । अस्तृणाम् । स्तृणीयात्, स्तृणीयाताम्, स्तृणीयुः । स्तृणीयाः, स्तृणीयातम्, स्तृणीयात । स्तृणाम, स्तृणीव, स्तृणीम । स्तीर्यात्, स्तीर्यास्ताम्, स्तीर्यासुः, अस्तारीत, अस्तारिष्टाम्, अस्तारिषुः अस्तारीः, अस्तारिष्टम्; अस्तारिष्व । अस्तारिष्यत्—अस्तारीष्यत् ।

स्तृणीते । तस्तरे, तस्तरिषे, तस्तरिवहे । स्तृणीताम्, स्तृणीध्व, स्तृणै । अस्तृणीत अस्तृणाताम् । स्तृणीत् । स्तीर्षीष्ट—स्तरिषीष्ट लिङ्सिचोरात्मनेपदेषु (७. २. ४२) इतीड्विकल्पः, उश्च इति कित्त्वम्, इट्पक्षे वॄतः इति दीर्घस्य न लिङि (७. २. ३९) इति निषेधः । अस्तीर्ष्ट—अस्तरीष्ट अस्तरिष्ट—लिङ्सिचोः इतीड् विकल्पः, इटि वॄतः इति वा दीर्घः, अनिटि उश्च (१. २. १२) इति कित्त्वम् । इत्युदात्ता उभयतोभाषाः ।

१३. (शॄ हिंसायाम्, पॄ पालनपूरणयोः, जॄ वयोहानौ, दॄ विदारणे, मॄ हिंसायाम्, गॄ शब्दे)

शृणाति इत्यादि पुनातिवत् । लिटि असंयोगाल्लिट इत्यपितो लिटः कित्त्वे शॄदॄप्रां ह्रस्वो वा (७. ४ १२) इति ह्रस्वपक्षे यणादेशः । अन्यदा ऋच्छत्यॄताम् (७. ४. ११) इति गुणः । अपितो लिटः कित्त्वेन श्र्युकः किति (७. २.११) इति प्राप्तस्येण्निषेधस्य क्रादिनियमेन बाधः । शशार, शश्रतुः, शश्रुः, शशरतुः शशरुः । शशरिथ, शश्रथुः, शश्र, शशरथुः, शशर । शशार-शशर, शश्रिव, शशरिव । अन्यत्र स्तृणातिवत् । आशिषि शीर्यात्, शीर्यास्ताम्, शीर्यासुः । अशारीत्, अशारिष्टाम् । इटो दीर्घस्य सिचि च परस्मैपदेषु (७. २. ४०) इति निषेधः । इत्युदात्ता उदात्तेतः ।

१४. (ज्या वयाहानौ)

जिनाति, जिज्यौ, जिज्यतुः, जिज्युः । जिज्यिथ-जिज्याथ । ज्याता । ज्यास्यति-अन्यत्सर्वं पूर्ववत् लुङि तु यमरमनमातां सक् च (७.।२.७३) इति सगिटो । अज्यासीत्, अज्यासिष्टाम् । ग्रहिज्येति संप्रसारणे कृते दीर्घः पुनश्च प्वादीनां ह्रस्वः इति ह्रस्वः ॥

१५. (ज्ञा अवबोधने)

जानाति, जानीतः, जानन्ति । जज्ञौ, जज्ञतुः, जज्ञुः, जज्ञिथ—जज्ञाथ । आशिषि, ज्ञायात्-ज्ञेयात् वाऽन्यस्य संयोगादेः, इति इत्वविकल्पः । अज्ञासीत् अज्ञासिष्टाम् । इति प्वादयो ल्वादयश्च । इत्यनुदात्तौ उदात्तेतौ ॥

(मन्थ विलोडने, अश भोजने, विष विप्रयोगे, मुष स्तेये पुष पुष्टौ)

मथ्नाति । मुष्नाति, पुष्णाति । इति उदात्ता उदात्तेतः ।

१६. ग्रह उपादाने)

गृह्णाति, गृह्णीतः । ग्रहिज्येति सम्प्रसारणम् । गृह्णीते ।

जग्राह, जगृहतुः, जगृहुः । जग्रहिथ, जगृहथुः । जगृहे, जगृहाते, जगृहिषे, जगृहिढ्वे—जगृहिध्वे । ग्रहीता—ग्रहीष्यति, ग्रहीष्यते । ग्रहोऽलिटि दीर्घः । गृह्यात्, गृह्यास्ताम् । गृह्यासुः । ग्रहीषीष्ट, ग्रहीषीयास्ताम् । अग्रहीत्, अग्रहीष्टाम्-अग्रहीष्ट, अग्रहीषाताम् । ह्म्यन्तेति वृद्धिनिषेधः । इत्युदात्तः स्वरितेत् ।

चुरादिगणः

१. (चुर स्तेये)

चोरयति । णिचश्चेति (१. ३.७४) आत्मनेपदम् । चोरयते । चोरयाचकार चोरयां चक्रे । चोरयिता । चोरयिष्यति-चोरयिष्यते ।।

चोर्यात्-चोरयिषीष्ट । अचूचुरत्-इत्युदात्त उदात्तेत् ।

२. (कथ वाक्यप्रबन्धे)

कथयति । अचकथत् । कथयांचकार । अदन्तोऽयम् ।।



संशोधनपत्रम्

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८	१३	येषां वर्णानां	यस्य वर्णस्य
१५	१	षष	षष्
१७	१	वक	वक्
१७	६	शब्दरूपम	शब्दरूपम्
१७	१५	विरप्शिन	विरप्सिन्
१८	१४	राजान	राजान्
१८	१५	राजान	राजान्
२३	१७	आदेश	आदेशः
२५	१६	परस्प	परस्य
३२	१७	वत्वभावात	वत्वाभावात्
३३	३६	कण्ड्ूतिः	कण्डूतिः
६५	१२	कीर कीर	कीर् कीर्
३६	१	रुध् तस	रुध् तस्
४२	१५	दीर्घंल्पुत	दीर्घप्लुत
४६	८	देवित्वा स	देवित्वा स्
४८	४	अल	अल्
५०	१	निर कौशाम्बी	निर् कौशाम्बी
५३	१४	भिन्नः	भिन्नः
५४	१४	कुरुचर१०	कुरुचर्१०
५७	१३	शप	शप्
५८	२१	अनुक्रीड	अनुक्रीड्
५८	२१	अनुक्रीड त	अनुक्रीड् त
६२	२८	अनुकर ओ	अनुकर् ओ
६५	२४	भ्रणाम्	भ्रूणाम्
६७	१३	कर् अ त्	कर् अ त
६८	१	हुड	हुड्
६८	१	नुम् ड हुन्ड	नुम् ड् हुन्ड्
६८	२	हुंड हुण्ड	हुंड् हुण्ड्
६९	७	दा लट	दा लट्
६९	७	दा दा तिप	दा दा तिप्
७०	१	यचि भम्	यचि भम् १।४।१८
७०	१२	सोमप अस्	सोमप् अस्
७१	५	कियायां	क्रियायाः
७५	२	क्रुधद्रुहो ६।१	क्रुधद्रुहोः—६।२
७६	६	क्रियायां	क्रियायाः
७७	३	क्रियायां	क्रियायाः
७२	२०	ग्रामम	ग्रामम
८०	३	हृक्रु (समा०)	हृकरौ (इतरे०)
८०	२३	प्रयुन्ते	प्रयुङ्ते
८१	१३	दुस	दुस्
८२	२५	वेदित्तव्यः	वेदितव्यः
९३	२३	धान्यर्थः	धान्यार्थः
९६	१०	पञ्चनां	पञ्चानाँ
९६	३१ १५	गोस्त्रियो०	ह्रस्वो० (१.२.४७)
१०४	२०	रुक्मणी	रुक्मिणी
११५	१२	स्र॰ षतृ	स्र॰ ष्तृ
११७	६	बुभुक्षः	बुभुक्षुः
१२०	१७	बुवो	ब्रुवो
१२६	१४	अप्सरस	अप्सरस
१३७	५	लौलूय	लोलूय
१३९	२७	अद्	अट्
१४४	४	उप् पद्	उद् पद्
१४६	७	पच य	पच् य
१४७	२१	तुद अ	तुद् श
१४९	८	कर	कर्

१४६	६ उ तस। कुर	उतस्. कुर्	२७३	६ निदंश	निर्देश
१५७	१५ क का।क	कृ क । कृ	२७६	१२ डट	डट्
१६०	७ शते	शेते:	२७८	अर्थ	अर्श
१६०	८ शेते क्रिया।	शेते: ५ । १	२७६	वहव:	बहव:
१७३	१४ रुन्ध	रुन्ध:	२६६	३ द्रोग्घ्री	दोग्घ्री
१७६	२२ सा।वदितान	स् । वदितान्	३३०	२४ माता सु पिता सु	मातृ सु पितृ सु
१७६	२३ प्रतिभू	प्रतिभू:			
१८०	११ यस्य सो	यस्य स	३४०	१४ अचि	ऋचि
१८७	१० विश:	वेश:	३४७	१६ आदेशो	आदेशौ
१६१	२२ आट	आट्	३३७	२५ हिरण्ध:	हिरण्यद्यू:
१६७	३ माग:	मार्ग:	३५५	२५ कै गौ	कै गे
१६७	११ दुखम्	दु:खम्	३७०	२० परत	परत:
१६७	१५ सर्व	साधनं सर्वं	३७६	४ तस्य:	तस्य
१६८	२६ देवदत्त:	देवदत्त	३७६	१७ ईन इय	ईन् इय्
१६८	२७ देवदत्त:	देवदत्त	३७८	६ एम ऐस्	राम ऐस्
२००	१ भ्फ।भवेय	भ्फि भवेय	२८३	२० अश	अश्
२००	६ लिङ्लोटो	लिङ्लोटौ	३८५	युस्मद्	युष्मद्
२०२	१३ एधावहि	एधावहै	३८६	८ प्^{3} औ।पा	प्–पा^{3} औपापा
२०२	१३ एधामहि	एधामहै	३८६	१६ ३–आतो…६४-वृद्धिरेचि	
२१०	७ पेचिथ:	पेचिथ	३७६	२६ ४–द्विवं० स्थानेऽन्तरतम:	
२१०	११ पच् ईट्	पच् इट्	३८८	२४ मृच्ल	मुच्लृ
२१०	२२ वेंद्मि	वेद्मि	३९२	१७ शतृ और शप् और	
२१२	८ सेह्यि	सेह्यं	३६३	६ परतौ	परतो
२१२	२० ओ	जो	३६४	१७ पन्थानो	पन्थानौ
२१६	१३ स्को	स्को:	३९५	१८ गो ओ	गो औ
२२३	२६ कुमारीष	कुमारीषु	३६३	१४ सिचि:	सिचि
२३३	२८ र्याणी	र्यानी	४०६	१३ वलोद	वलादे
२५७	८ अस्माकीन:	आस्माकीन:	५०६	हश्चस	सहश्च
२५७	११ अस्माकीन:	आस्माकीन:	४०८	११ ईर्तसं	ईर्तस्
२५६	२७ प्राह्णतनम्	प्राह्णेतनम्	४०८	१६ बभ्रस्ज	बभ्रस्ज्
२६२	तवगीयम्	तवर्गीयम	४०६	६ श्री^{c}	श्री^{c} सन् ।

४११	२	तस्यत्	तस्यंत्
४१२	२०	सस्मथ	सस्मर्थं
४१३	२५	ऋ	ऋ
४१३	२८	व्यथि	व्ययिथ
४१४	१	ऋृथल्	ऋृथल्
४२०	१६	सोत्रत्व	सौत्रत्व
४२०	१७	विभक्तौ	विभक्तो
४२०	२२	अष्टन	अष्टन्
४२३	११	वादेशो	वादेशौ
४२६	१४	परत	परतो
४३०	१०	द्वौवार	दौवार
४३२	४	क्रूयीश्च	क्नूयीश्च
४३४	४	उक	उक्
४३६	१	णल	णलि
४३६	१६	हाय्ँ	हाय्ँइ लुङ्
४४१	१२	लज्ञणा	लक्षणा
४४३	१४	ऊर्णुञ	ऊर्णुञ्
४४७	५	आम्बार्थ	अम्वार्थं
४५३	१४	ग	गॄ
४५३	२५	प	पॄ
४५५	७	पत्लृ	पत्लृ
४६४	२८	आय अ	आय् अ
४६६	२२	इयति	इयृति
४६६	२३	पर्पषि	पिपर्षि
४७१	१०	चरीकर्ती	चाकर्ती
४८१	४	सश्च	स च
४८२	१	गृध् स	गृध् स्
४८६	१८	अदस्	अद
४६७	३१	जिह्वामल	जिह्वामूल
४६४	१३	वण	वण्
४६८	२३	सर्पिस	सर्पिस्
५००	२६	पुश्ना	पुश्ना
५०५	७	ब्रह्मा	ब्रह्म्मा
५०८	२३	स्वरो न	स्वरो
५१०	१७	गव:	गाव:
५११	२०	द्यौ	द्यौ:
५१२	८	पन्था	पन्था:
५१२	११	अष्टा। अष्टा	अष्टौ / अष्टौ
५१३	२२	अम	अम्
५१३	३६	इदम	इदम्
५१४	१०	विढवे	विढवे
५१५	१६	बभवे	बभूवे
५१५	१७	भय	भूय
५१६	२०	स्यमेव	स्वयमेव
४१७	७	यङ्लुङन्तस्य	यङ्लुगन्तस्य
५१७	९	बोभम:	बोभूम:
५१७	२०	अबोभताम्	अबोभूताम्
५२१	१५	अत्रपि	अत्रपिष्ट
५२३	२३	वत्तते	वर्त्तते

नोट— अष्टाध्यायी-प्रकाशिका में संस्कृत होने के कारण कुछ टाइप छापने के समय टूट गये अधिकतर कृ, द्रु, वर्त्तते, गम सु तस् का क, द्र, वत्तते, गम स तस रह गया। इसी प्रकार की अशुद्धियाँ रह गई थी। हमने इनको शुद्ध कर दिया है। और जहाँ कहीं और अशुद्धि मालूम पड़े वहाँ उसके समीपवर्ती शब्दों को देखना चाहिये और तुलना करके शुद्ध कर लेना चाहिये।

॥ समाप्तोऽयं ग्रन्थः ॥

गुणमुक्तवानिति गुणवचनः। कृतेरि सूतेलुग।

सम्मती

अनुवृत्तिक्रममाश्रित्य संग्रथिता वैज्ञानिकी पाणिनिसूत्रपद्धतिर्वस्तुतो न दुर्बोधा नापि च व्यर्थघोषणश्रमसाध्या, किन्तु कियतः कालान्नूतनग्रन्थेषु सूत्राणां व्यत्ययस्तत् पठनपाठनप्रकारः दुर्बोधः कठिनतरः, समयसाध्यश्च संवृत्तः। येन संस्कृतव्याकरणस्य काठिन्यप्रवादस्तत्र प्रविविक्षूणां कृते अतिभयावहो भवति।

अतएव कियतः कालात् श्रीब्रह्मदत्त जिज्ञासुमहोदयैरष्टाध्यायी-पाठनक्रमः सञ्चालितः, वाराणस्यां देहलीनगरे च तत्पठनपाठनाय पाणिनिमहाविद्यालयस्थापनं कृतम्।

तद्देहलीस्थपाणिनिमहाविद्यालयस्याचार्येण परमोत्साहिना श्रीदेवप्रकाश पातञ्जलेन तामेव सरणिमनुसृत्य प्रकाशिता अष्टाध्यायी-प्रकाशिका संस्कृतव्याकरणाध्यायिनां कृते नूनमेव वरदानस्वरूपा भवेदिति विश्वसिमः।

१७२ डी०, कमला नगर,
देहली
१-११-५५

केदारनाथशर्मा सारस्वतः
मन्त्री—
अखिल-भारतीय-संस्कृत-साहित्य-सम्मेलनस्य
काशी-विद्वन्मण्डलस्य च

पातञ्जलोपाह्व-श्रीदेवप्रकाशशास्त्रिभिः प्रणीताऽष्टाध्यायी-प्रकाशिका यत्र तत्र स्थलेष्ववालोकि। अत्र प्रणेतृमहाभागैर्लोकवेदयोर्बहुलमुपयोगं यान्ति, सूत्राणि संगृहीतानि सरलया रुचिरया वृत्त्या च सनाथितानि हिन्दीभाषान्तरेण च समलङ्कृतानि। एष संग्रहो लघुकौमुद्यादिभ्यः पाणिनीयसंग्रहान्तरेभ्यो विशिष्यतेतराम्। नेहान्यत्रदृष्टः सूत्रक्रमव्युत्क्रमो दृश्यते, येनानुवृत्त्याद्यनुसन्धाने वृथायासः परिहृतो भवति। प्रकरणश उपनिबन्धनं सूत्राणामिति प्रतिपत्तिरिष्टा सुकरा भवति। यत्र तत्र विषयवैशद्यकराणि न्यासकाशिकादीनां वचनरत्नानि समाहृतानि नितरामुपचिन्वन्त्युपयोगिताम्। सर्वत्रामुक्तसंशयव्यक्तं चोदितोऽर्थ इति नन्दति नश्चेतः। आशासे कृतिरेषा शास्त्रिणां स्थाने विनियोक्ष्यते येन यथेष्टमुपकुर्याद्वि विनेयवृन्दस्य।

देहली

चारुदेवशास्त्री
एम० ए० एम० ओ० एल०

प्राप्तिस्थानम्—देवप्रकाशपातञ्जलः शास्त्री, बी० ए०
१ जी, जवाहरनगर, देहली